भारतीय विद्या ग्रन्थमाला * हिन्दी ग्रन्थांक १

भारतीय संस्कृति

लेखक

प्रो. शिवदत्त ज्ञानी, एम्. ए.

[अध्यापक, इतिहास-विभाग, भारतीय विद्याभवन]

भारतीय विद्या-भवन

बंबई

प्राक्कथन

ज्ञानीजी की यह पुस्तक मेरी सूचना से लिखी गई है। आर्यसंस्कृति का समग्र दिग्दर्शन एक ही पुस्तक में हो जाय इस उद्देश को लेकर लेखक ने यह पुस्तक लिखी है। ज्ञानीजी ने इस पुस्तक के लिये बहुत मेहनत उठाई है।

'भारतीय विद्या-भवन' का परम लक्ष्य है कि आर्यसंस्कृति को जागृत करे व उसे दृढ़ बनावे। इस कार्य में यह पुस्तक मदद करेगी ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। संस्कृति सम्बन्धी परीक्षाओं के लिये भी इसका पूरा उपयोग हो सकेगा।

बम्बई
५ सितम्बर, १९४४

क. मा. मुन्शी

लेखक के दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक पू. मुंशीजी की प्रेरणा का फल है। लेखक ने इस पुस्तक द्वारा जनसाधारण के सन्मुख भारत की प्राचीन संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उक्त संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन करके उसने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन कालीन अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक सर्वतोमुखी, लोककल्याणकारी व उपादेय है, क्योंकि वह सत्य सनातन सिद्धान्तों पर स्थित है।

भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास का विवेचन करते हुए लेखक को कितने ही विवादास्पद विषयों का विवेचन करना पड़ा है, यथा आर्यों का आदिम निवासस्थान, वेदकाल-निर्णय, भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव आदि। ऐसे अवसर पर विभिन्न मतों को समझाते हुए लेखक ने अपना भी मत दिया है, किन्तु उसका यह आग्रह कदापि नहीं रहा है कि उसका मत ही ग्राह्य माना जाय। सुज्ञ पाठकों को स्वयं निर्णय करने का पूर्ण अधिकार व स्वातन्त्र्य है। लेखक की तो यही इच्छा रही है कि गुरुजनों की कृपा से जिस प्रकार उसने भारत मां के प्राचीन गौरव के दर्शन किये हैं, उसी प्रकार जन-साधारण भी दर्शन करे।

पू. मुंशीजी के अतिरिक्त गुरुवर्य्य डॉ. अ. स. अळतेकर (काशी विश्व-विद्यालय) भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। अनेकों आवश्यकीय कार्य रहते हुए भी आपने अपने शिष्य की प्रार्थना मानकर प्रस्तुत पुस्तक की हस्तलिखित प्रति आदि से अन्त तक पढ़कर कितनी ही बहुमूल्य बातें सुझाई थीं, जिनका लेखक ने पूरा पूरा लाभ उठाया, यद्यपि कहीं कहीं विचार-भिन्नता के लिये भी स्थान था। गुरुवर्य्य डॉ. अळतेकर की इस कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये लेखक के पास शब्द नहीं हैं।

निर्णयसागर मुद्रणालय के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिसने इतनी योग्यता के साथ पुस्तकमुद्रण का कार्य्य सम्पादित किया। साथ ही वहां के पण्डित भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने समय समय पर कुछ बातें सुझाईं जिनसे लेखक को बहुत लाभ हुआ।

सुज्ञ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत पुस्तक रखते लेखक को आनंद होता है। यदि यह पुस्तक पाठकों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति सच्चा प्रेम व सच्ची लगन उत्पन्न करने में सफल होसके तो लेखक अपने प्रयत्नों को कृतकृत्य समझेगा।

बम्बई
भाद्रपद शुक्ल १,
वि. सं. २०००

विनीत
शिवदत्त ज्ञानी

विषय-सूची

अध्याय १

भौगोलिक विवेचन

विस्तार व सीमा—भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक छोटा महाद्वीप ही है। यूरोप में से यदि रूस निकाल लिया जाय तो क्षेत्रफल में यह यूरोप के बराबर होजायगा। यह एशिया महाद्वीप के ठीक दक्षिण में है। इसका क्षेत्रफल १०००००० वर्गमील है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग २००० मील है व ब्रह्मदेशको सम्मिलित करने पर पूर्व से पश्चिम तक इसकी चौडाई २५०० मील है।

इसके उत्तर में पर्वतराज हिमालय है, जो हमेशा बर्फ से ढका रहता है। उत्तर छोर पर वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला गया है। आजकल की परिभाषा में ब्रह्मपुत्रा और सिन्धु नदियों के दक्षिणी मोडों को उसकी पूर्वी व पश्चिमी सीमा माना जाता है। हिमालय शब्द मुख्यतः उन दोनों के बीच सनातन हिम से ढकी उस परम्परा के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें नांगा, नुनकुन, बन्दरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसाईंथान, गौरीशङ्कर, काञ्चनगङ्गा, चुमलारी आदि प्रसिद्ध पहाड हैं। उसके और उत्तरीय भारतीय मैदान के बीच के पहाड-पहाडियों को दो और श्रृङ्खलाओं में बांटा गया है, जिन्हें क्रम से भीतरी या छोटी हिमालय-श्रृङ्खला और बाहरी या उपत्यका-श्रृङ्खला कहते हैं, और जिन्हें असली हिमालय की निचली सीढ़ियां कहना चाहिये। भीतरी श्रृङ्खला का नमूना काश्मीर की पीरपञ्चाल-श्रृङ्खला, कांगड़ा-कुल्लू की धौलाधार आदि हैं। उपत्यका-श्रृङ्खला का अच्छा नमूना शिवालक पहाड़ियाँ हैं[1]। यह हिमालय कम से कम १४०० मील लम्बाई में है और लगभग १९००० फुट ऊँचाई में है। इसकी चोटियें २५००० से २९००० फुट ऊँची हैं। इस पर्वतमालामें से उत्तर की ओर जाने का मार्ग भी कहीं २ है, जैसे गिलजिट से पामीर, लेहसें तिब्बत आदि जाने का रास्ता[2]।

भारत के पश्चिमोत्तर में भी हिन्दुकुश, सुलेमान आदि पर्वतश्रेणियें हैं। इन्हीं में प्रसिद्ध खेबर, कुर्रम, बोलन आदि की घाटियें हैं, जिनके द्वारा कितने ही विदेशी व आक्रमणकारी भारत में आकर बसे थे व उन्होंने यहां के राजनैतिक व सामाजिक जीवन में उथलपुथल मचाई थी। कहा जाता है कि ये घाटियें पहिले पहाड़ी नदियें थीं[3]।

पूर्व की ओर भी भारत घने जंगलों व नांगा, पतकुई, आराकान आदि पर्वतों के कारण दुर्गम है; अतएव सुरक्षित है। साधारण आवागमन के लिये इनमें से मार्ग अवश्य है, किन्तु बड़ी २ सेनाएँ तो नहीं आ सकतीं। यही कारण है कि इस दिशा से भारत पर कोई भी विदेशी आक्रमण नहीं हुआ।

दक्षिण में पूर्व व पश्चिम की ओर झुकता हुआ समुद्र है। ठीक दक्षिण में हिन्दमहासागर लहराता है व पूर्व व पश्चिम में क्रमशः बङ्गाल की खाड़ी व अरब का समुद्र है। इस प्रकार दक्षिण-भारत भौगोलिक-दृष्टि से प्रायःद्वीप कहा जा सकता है। यह भाग भी प्राचीन कालमें विदेशियों के आक्रमणों से सुरक्षित ही था। किन्तु व्यापार आदि के लिये विदेशियों का नौकाद्वारा आना जाना प्राचीन कालसेही जारी था। समुद्रके किनारे रहनेवाले भारतीय अत्यन्तही प्राचीन काल से दूर २ के देशों से व्यापार करते थे।

जलवायु, पर्वत, नदी आदि—यहां का जलवायु उष्ण है, क्योंकि भूमध्य-रेखा इसके पास से ही जाती है, व उष्ण-कटिबद्ध इसके दो त्रिकोण बनाता है। समुद्रतटवर्ती प्रदेशों का जलवायु समशीतोष्ण व हिमालयतटवर्ती का अत्यन्त ही शीत है। इस प्रकार यहां हरप्रकार के जलवायु का अनुभव किया जा सकता है। पर्वत व नदियों के कारण भी जलवायु पर प्रभाव पड़ता है। पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश साधारणतया शीतप्रधान रहते हैं।

यहां कितने ही छोटे बड़े पर्वत हैं। मध्य में विन्ध्य है, जो भारत के दो भाग करता है, यथा उत्तर-भारत व दक्षिण-भारत जो कि प्राचीनकाल में क्रमशः उत्तरापथ व दक्षिणापथ कहाते थे। इसके दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत है, जो दक्षिण की उच्चसमभूमि पर फैला हुआ है। पश्चिम में राजपूताने के मध्य में अरावली पर्वत है। पश्चिमोत्तर, उत्तर व पूर्व के पर्वतों का उल्लेख तो पहिले ही कर दिया गया है। दक्षिण के दोनों किनारों पर पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) पर्वत स्थित हैं। मैसूर के दक्षिण में नीलगिरि पर्वत है।

इन पर्वतों से कितनी ही छोटी बड़ी नदियें निकलकर भारत के विभिन्न भागों को सींचती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। सिन्धुनदी हिमालय में तिब्बतवर्ती कैलाशपर्वतश्रेणी के निकट से निकलकर आधी दूर तक उत्तर–पश्चिम की ओर बहती है, फिर हिमालय के छोर से घूमकर दक्षिण की ओर बहती हुई अरब-समुद्र में गिरती है। यह अपने उद्गम से मुख तक लगभग १५०० मील लम्बी है[४]। यह जिस भाग में से बहती है उसीको इससे जीवन मिलता है। प्राचीनकाल में पञ्जाब व सिन्ध अत्यन्त ही उपजाऊ प्रदेश थे। इसके किनारे कितने ही बडे २ शहर थे। शकलोग तो इसी के किनारे आकर बस गये थे। यही कारण है कि इसका कछार "शाकद्वीप" नाम से जाना जाता था। पञ्जाब में इसमें झेलम, चिनाब, सतलज, रावी, ब्यास आदि नदियें भी मिल जाती हैं। इस प्रकार यहां एक नदियों का जालसा बिछ गया है। यहां की भूमि अत्यन्त ही उपाजाऊ है। यही कारण है कि वैदिक काल से ही यह भाग बहुत आबाद था। यही नदीजाल ऋग्वेद में "सप्त-सिंधवः" नाम से जाना जाता था, जहां कि आर्य्य लोग बस गये थे। मोहन्जोदाड़ो के स्थान पर प्राचीन सुसंस्कृत नगर भी सिन्धु नदी के ही किनारे पर स्थित था।

गङ्गा नदी हिमालय में गंगोत्री से निकलकर दक्षिण–पूर्व की ओर बहती हुई, आधुनिक संयुक्तप्रान्त, बिहार व बङ्गाल होती हुई, बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है। यह गोआलंद के पास ब्रह्मपुत्रा की सब से बड़ी धारा मेघना से मिल जाती है[७]। इसकी लम्बाई लगभग १५४० मील है। भारतके सांस्कृतिक इतिहास में यह नदी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृतिका विकास अधिकांश इसी के किनारे हुआ है। यह और इसकी सहायक नदी यमुना, दोनों ही भारत के धार्मिक जीवन में ऊँचा स्थान रखती हैं। राम और कृष्ण इन्हीं नदियों के किनारे खेले व कूदे हैं। अधिकतर तीर्थस्थान इन्हीं के किनारे हैं। प्राचीन ऋषि, मुनि भी अधिकांश इन्हीं के किनारे अपने २ आश्रमों को बसाते थे। कितने ही बड़े २ साम्राज्य इन्हीं के किनारे बने व बिगड़े व इनके द्वारा कितना ही व्यापार किया गया। इस प्रकार भारतीय जीवन के हरएक पहलूमें इन का महत्त्व अधिक है।

ब्रह्मपुत्रा मानसरोवर के पूर्वसे निकलकर तिब्बतमें पूर्व की ओर बहती हुई हिमालय के छोर से घूमकर पश्चिम दिशा में ढाका की ओर बहती हुई बङ्गाल की खाडी में गिरती है। यह लगभग १८०० मील लम्बी है। नर्मदा विन्ध्याचल में अमरकंटक से निकलकर, उत्तर दिशा में जबलपुर की ओर बहती हुई, पश्चिम में मुडती है और भरौंच के पास खंबात की खाड़ी में गिरती है। यादव, हैहय आदि के साम्राज्य इसीके किनारे पुष्पित व पल्लवित हुए। सहस्त्रार्जुन-कार्तवीर्य की प्रसिद्ध नगरी माहिष्मती भी इसीके किनारे थी। तापी नदी मध्यप्रान्त के बैतूल जिले में मुलताई के तालाब से निकलकर पश्चिम की ओर बहती हुई, सूरत के पास अरब-समुद्र में जा गिरती है। गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि दक्षिण की नदियें पश्चिमीघाट पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। महानदी छत्तीसगढ (मध्यप्रांत) से निकलकर, पूर्व-दक्षिण की ओर बहती हुई पुरी के पास बंगाल की खाडी में गिरती है।

प्राकृतिक सम्पत्ति—प्राकृतिक सम्पत्ति की दृष्टि से भारत की बराबरी और कोई देश नहीं कर सकता। यह उष्णप्रधान देश होने से और हिमालय के समान पर्वत के कारण यहां मौसमी हवा का खूब दौर-दौरा रहता है, व वर्षा भी पर्य्याप्त मात्रा में होती है। इसीलिये यह कृषिप्रधान देश है। नाना प्रकार के अन्न, कपास, आदि यहां बहुतायत से होते हैं।

पञ्जाब, संयुक्तप्रान्त आदि गेहूं के लिये, बङ्गाल मद्रास आदि चांवल के लिये, गुजरात बराड़ आदि कपास के लिये प्रसिद्ध हैं। गोपालनादि द्वारा यहां घी, दूध भी बहुतायतसे होता है। दक्षिण भारत में कालीमिर्च, दालचीनी, आदि गरममसाले खूब होते हैं, जिसके व्यापार के लिये पाश्चात्य लोग पहिलेपहल यहां आये थे। समस्त भारतमें नाना प्रकार के फल, फूल आदि भी बहुत होते हैं। इसके अतिरिक्त लोहा, कोयला, सोना, मैंगेनीज़, आदि कितने ही खनिजपदार्थ भी यहां होते हैं। इस प्रकार हमारी भारत-भूमि हरतरह से 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' प्रमाणित होती है।

प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक दृष्टि से भारत के तीन विभाग किये जा सकते हैं, जैसे उत्तरीय मैदान, दक्षिण की उच्च समभूमि व दक्षिण-

भारत। भारत के प्राचीन इतिहास को समझने के लिये इन विभागों को समझना आवश्यकीय है । उत्तरीय मैदान हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य में स्थित है, व इसमें पञ्जाब, संयुक्तप्रान्त, बिहार व बङ्गाल का समावेश होता है। इस मैदान में पत्थर का नाम नहीं है व इसमें से बहुतसी नदियें बहतीं हैं । परिणामतः यह बहुत उपजाऊ है । इसीलिये यहां मनुष्यों की आबादी भी बहुत घनी है । प्राचीन काल से ही यह भाग राजनैतिक परिवर्तनोंका केन्द्र रहा है । आर्यों ने इसीमें अपनी संस्कृतिको विकसित किया, अपने बड़े २ साम्राज्य स्थापित किये व यहींसे दक्षिण पर अधिकार जमाया था। यहींपर मानव व ऐलवंशीय, इक्ष्वाकु व पुरूरवस् के वंशजों ने अपने २ राज्य का विस्तार किया था । बार्हद्रथ, शैशुनाग, नंद, मौर्य्य, गुप्त आदि साम्राज्य यहीं पर बने व बिगड़े । इस प्रकार भारत के राजनैतिक इतिहास में उत्तरीय मैदान का अधिक महत्त्व है। दक्षिण की उच्च-समभूमि के दोनों सिरोंपर, पूर्वी व पश्चिमी घाट पहाड़ हैं व विन्ध्याचल से तुङ्गभद्रा तक इसका विस्तार है। यह भाग उत्तरीय मैदान के समान उपजाऊ नहीं है। इसके मध्यभाग में घना जंगल है, जो कि आजकल मध्यप्रान्त के बैतूल, भंडारा, बालाघाट, मंडला आदि जिलों में स्थित है । इसे आजकल 'गोंडवाना' कहते हैं। प्राचीन कालमें यह "महाकान्तार" कहाता था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तम्भलेख में किया गया है । इस भागने भी भारत के प्राचीन राजनैतिक इतिहास में अपना हाथ बँटाया था; यह उत्तरीय मैदान की बराबरी तो नहीं कर सका । चंद्रवंशी ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदुने यहीं पर राज्य स्थापित कर अपना वंश चलाया था। राष्ट्रिक, आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राज्यवंशों ने यहां राज्य किया व भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बटाया । यहां के राजाओंने साधारणतया उत्तरभारत को जीतने के वैसे प्रयत्न नहीं किये जैसे कि उत्तरीय भारतीयों ने दक्षिण के लिये किये थे। अशोक, समुद्रगुप्त, अकबर आदि के इस दिशा में प्रयत्न सफल रहे। दक्षिण-भारत में प्राचीन कालसे ही पांड्य, चोल, केरल आदि राज्य स्थापित हुए थे। पुराण तो इन्हें भी उत्तर भारतीयों से ही सम्बन्धित करते हैं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कथन कहां तक ठीक है, यह कहना कठिन है। इस भाग का सिंहलद्वीपसे राजनैतिक सम्बन्ध विशेष रूपसे रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से

तो यह भाग भी अत्यन्तही प्राचीन काल से भारत का एक अविकल अङ्ग बन गया था। इस भाग का वैदेशिक व्यापार बहुत चढ़ा बढ़ा था।

भौगोलिक-परिस्थिति व सांस्कृतिक विकास—सांस्कृतिक दृष्टि से यदि भारत की भौगोलिक अवस्था पर विचार किया जाय तो कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होंगीं। नदियों का पवित्र माना जाकर पूजा जाना स्पष्टतया बताता है कि सांस्कृतिक-जीवन में नदियों का कितना महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के बारे में तो यह बात बिलकुल ही ठीक सिद्ध होती है। आज भी भारत में नदियाँ देवियों के समान पवित्र मानी जाती व पूजी जाती हैं। इन सब में गंगा तो साक्षात् माता ही समझी जाती है। इसी नदी के किनारे तो प्राचीन आर्यों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया था, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। चीन, बाबुल, मिश्र आदि की प्राचीन संस्कृतिएँ भी नदियों के किनारे ही विकसित हुई थीं।

निसर्ग ने भारत पर जितनी कृपा की है उतनी कदाचित् ही किसी देश पर की हो। अच्छे से अच्छा जल वायु, सुन्दर नदियें व झरने, मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु आदि इसे प्राप्त हैं। अन्न, वस्त्र, फल, फूल आदि यहां बहुत ही सरलता से प्राप्य हैं। प्रकृतिदेवी ने अपने सौन्दर्य को यहीं के जंगलों, नदियों, पर्वतों आदि में बिखेर दिया है, जिससे कितने ही कवि-हृदयों ने प्रेरणा प्राप्त की है। इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि कालिदास, भवभूति, बाण आदि श्रेष्ठ कवियों ने प्रकृतिदेवी के ही सौन्दर्य को अपनी रचनाओं में भर दिया है? यदि भारत में घने जंगल, नदी, पर्वत आदि न होते तो कदाचित् यहां काव्य विकसित ही न हो पाता।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही, भारतभूमि सस्यश्यामला रहती है। यहां रोटी का सवाल बिलकुट जटिल नहीं हो सकता, यदि कोई बाहिरी शक्ति यहां न रहे। प्राचीनकाल में यही हाल था। अन्न, वस्त्र बहुत ही सरलता से प्राप्त होते थे, इसीलिये यहां के निवासी जीवन के अन्य पहलुओं पर भी अच्छी तरह से विचार कर सके। पेट खाली रहने पर ईश-भजन भी नहीं सूझता। पेटभर खाने के पश्चात् यहां के निवासी जीवन की पहेलियों को सुलझाने लगे। जीवन, मरण, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि सम्बन्धी प्रश्न उन्हें क्षुब्ध करने

लगे। परिणामतः, इस दिशा में अथक प्रयत्न किये गये, जिनको हम उपनिषद् आदि दार्शनिक ग्रन्थों में देख सकते हैं। इन्हीं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म, ब्रह्म, जीव, योग आदि पारलौकिक तत्त्वों व सिद्धान्तों को समझा गया। भारतीय संस्कृति में जो पारलौकिक जीवन को महत्त्व दिया गया है, उसका यही कारण है। इस प्रकार भारतीय-संस्कृति दार्शनिक भूमिपर स्थित है। यहां के निवासियों ने जीवन के हरएक अङ्ग को विकसित किया। अन्न, वस्त्रादि के सरलता से मिलने पर, वे आलसी व निकम्मे नहीं बने, किन्तु उन्होंने अपने आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन को अधिक सुन्दर, व्यवस्थित व सुसंगठित बनाया। इस प्रकार, मानवहित को सामने रख कर एक सुन्दर सर्वाङ्गीण संस्कृति का विकास हुआ, जिसका प्रचार विदेशों में भी किया गया।

भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने उसके सांस्कृतिक विकास में पूरी २ सहायता दी है। यदि हिमालय, गंगा, यमुना, समुद्र-किनारा, पर्वत आदि भारत में न रहते तो कदाचित् भारत का वही हाल होता जो आज अधिकांश आफ्रिका का है व भारतीय-संस्कृति 'हब्शी-संस्कृति' से कुछ बढ़कर न रहती।

अध्याय २

ऐतिहासिक दृष्टि
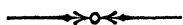
इतिहास-निर्माण की सामग्री—भारत इतना प्राचीन देश है कि उसका क्रमबद्ध इतिहास लिखना कोई सरल काम नहीं है। फिर भी प्राचीन भारतीय इतिहास-निर्माण के लिये जितनी सामग्री वर्तमान है, उसका विनियोग अच्छी तरह से नहीं किया गया है। वह सामग्री इस प्रकार है।[१]

अनुश्रुति—भारत के प्राचीन इतिहास-निर्माण का सबसे बड़ा व महत्त्वपूर्ण साधन अनुश्रुतियें हैं। इन्हें प्राचीन साहित्य में सुरक्षित रखा गया है। किन्तु इनमें से ऐतिहासिक सामग्री ढूँढ निकालना कोई साधारण बात नहीं है, क्योंकि इनमें कितनी ही कपोलकल्पित बातें मिश्रित रहती हैं।

फिर भी भारत के प्राचीनतम इतिहास के लिये अनुश्रुति ही एक मात्र साधन है। वेद, ब्राह्मण, पुराण, बौद्ध व जैन ग्रन्थों में से बहुतसी ऐतिहासिक अनुश्रुतियें प्राप्त होती हैं, जिनकी सहायता से विभिन्न ऐतिहासिक युगों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पुराणों में दी हुई, सूर्य्य व चन्द्र वंशों की राजवंशावलियों की सहायतासे वैदिक काल का बहुत कुछ इतिहास तैयार किया जा सकता है[२]। प्राचीन राजनैतिक इतिहास का क्रम भी पुराणों से ही प्राप्त होता है[३]। बौद्ध साहित्य से बौद्धकालीन इतिहास बनाया जा सकता है। शैशुनाक, मौर्य्य आदि राजवंशों के इतिहास के लिये इस साहित्य से विशेष सहायता मिलती है[४]।

प्राचीन लेख व सिक्के—मौर्य्यकाल से ही प्राचीन लेखों का प्रारम्भ हो जाता है। ई० स० पू० चौथी शताब्दि व उसके पश्चात् के इतिहास के लिये इन लेखों से बहुत बड़ी मदद मिलती है। अशोक के धर्मलेखों की सहायता से मौर्य्यकाल का इतिहास तैयार किया जा सकता है। खारवेल के उदयगिरि-लेख[५] व सातकरणी के नानाघाट-लेखों[६] से ई० स० पू० द्वितीय शताब्दि के भारत के राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडता है। रुद्रदामन् का जुनागढ-लेख[७] व समुद्रगुप्तादि गुप्तसम्राटों के लेख[८] अपने २ समय की राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

प्राचीन सिक्कों की सहायता से भी इतिहास-निर्माण का कार्य्य सरल बन जाता है। विभिन्न राजाओं के तिथि-क्रम निश्चित करने में प्राचीन सिक्कों से पूरी २ सहायता मिलती है। पश्चिमोत्तर भारत के बैक्ट्रियन, पार्थियन आदि राजाओं के इतिहास का एकमात्र साधन उनके सिक्के ही हैं[९]।

ऐतिहासिक साहित्य—भारत के प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक श्रेणी का साहित्य बहुत कम प्राप्य है। इस कोटि का सर्व-श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कल्हणकृत "राजतरङ्गिणी"[१०] है, जिसका समय ईसा की बारहवीं शताब्दि है। इसमें कश्मीर के इतिहास के साथ २ भारत के प्राचीन इतिहास पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। नेपाल व आसाम के ऐतिहासिक वर्णन का साहित्य व तामिल भाषा की कुछ ऐतिहासिक कविताओं का समावेश

इसी श्रेणी के साहित्य में हो जाता है । बाणभट्टकृत "हर्षचरित्र" (ई० स० ६२० के लगभग) में कन्नौज के हर्षवर्धन के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है तथा बहुतसी प्राचीन अनुश्रुतियों का भी उल्लेख है । भिल्लणकृत "विक्रमाङ्कचरित" (ईसाकी १२ वीं शताब्दि) में दक्षिण-पश्चिम भारत के चालुक्यवंशीय राजा का जीवन-चरित्र वर्णित है, जिसने ई० स० १०७६ से ई० स० ११२६ तक राज्य किया । बङ्गाल के पालवंशीय राजाओं का वर्णन "रामचरित" नामी ग्रन्थ में है ।

विदेशियों द्वारा किया गया भारत-वर्णन—विदेशियों द्वारा भारत का सर्व प्रथम उल्लेख पारसीक राजा 'डेरियस' के 'पर्सिपोलिस' व 'नक्शी-ए-रुस्तम' के लेखों में मिलता है[११] । 'नक्शी-ए-रुस्तम' के लेख का समय ई० स० पू० ४८६ वर्ष माना जाता है । सुप्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार 'हीरोडोटस' द्वारा भी, जिसने ई० पू० पांचवीं शताब्दि के अन्तिम भाग में अपने ग्रन्थ रचे, तत्कालीन पारस व भारत के परस्पर सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पडता है[१२] । यूनान के सिकन्दर द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के परिणाम-स्वरूप यूरोप में भारत-सम्बन्धी ज्ञान का विस्तार हुआ । उसके कर्मचारियों ने भारतसम्बन्धी बहुतसी बातें अपने देश के लोगों को समझाई[१३] । उसकी मृत्यु के बीस वर्ष पश्चात् सिरिया व मिश्र के राजाओं ने अपने राजदूत मौर्य्य-सम्राटों की राज-सभा में भेजे थे, जिन्होंने भारत में जो कुछ देखा व सुना उसको पुस्तक का रूप दिया[१४] । ये ग्रन्थ अब तो प्राप्त नहीं है, किन्तु इन में का बहुतसा भाग बहुतसे यूनानी व रोमी लेखकों के ग्रन्थों में सुरक्षित है । मीगाज़थीनीज़ के भारत-वर्णन का बचा हुआ भाग ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है । ईसा की दूसरी शताब्दि के एरियन नामक एक यूनानी-रोमी राजकर्मचारी ने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर भारत का वर्णन लिखा है तथा सिकन्दर के आक्रमण पर भी अच्छा प्रकाश डाला है । ई० स० पू० चौथी शताब्दि के इतिहास के लिये ये ग्रन्थ, जो कि लेगोसके के पुत्र टोलेमी व सिकन्दर के अन्य कर्मचारियों द्वारा किये गये भारत-वर्णन पर अधिकांश स्थित हैं, व यूनानी राजदूतों के वर्णन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं[१५] । क्विन्टस कर्शियस व अन्य लेखकों के ग्रन्थ भी, जिन्होंने अपने २ ढङ्ग पर सिकन्दर के आक्रमण का वर्णन किया है, इतिहास-निर्माण के लिये उपयोगी हैं[१६] ।

चीनियों द्वारा भारतका उल्लेख—चीनी ऐतिहासिकों में सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार 'शुमाशीन' (ई० स० पू० प्रथम शताब्दि) के ग्रन्थों से भी प्राचीन भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है[१७]। चीनी इतिहासकारों के सच्चे तिथिक्रम विशेषरूपसे महत्त्वपूर्ण हैं। बहुतसे चीनी यात्रियोंने भारत की यात्रा की थी, क्योंकि गौतम-बुद्ध की जन्मभूमि के नाते यह देश उनके लिये अत्यन्त ही पवित्र था। इन चीनी यात्रियों ने भी भारत का वर्णन लिखा है,[१८] जिससे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। फाईयान व ह्यूएनसँग का भारत-वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। फाईयान ने ई० स० ३९९ में अपनी यात्रा प्रारम्भ की व पन्द्रह वर्ष के पश्चात् वापिस लौटा। इस बीचमें उसने भारत, लङ्का आदि की यात्रा की। उसकी यात्रा का वर्णन आज भी उपलब्ध है। इसमें गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 'द्वितीय' के राजत्वकाल में उत्तरी भारत की धार्मिक व राजनैतिक अवस्थाका सुन्दर वर्णन है। ह्यूएनसँग ने ई० स० ६२९ व ई० स० ६४५ के बीच भारत की यात्रा की व उसका वर्णन भी लिखा। इस वर्णन से ईसा की सातवीं शताब्दि के भारत की राजनैतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। हर्षवर्धन के राजत्वकाल के लिये यह वर्णन विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। सुप्रसिद्ध अरब गणितज्ञ व ज्योतिषी अलबरुनी, जो कि संस्कृत का अध्ययन करने वाला एकमात्र ही मुसलमान था, महमूद गज़नवी के साथ भारत आया था व उसने ई० स० १०३० के लगभग "तहक़ीक़ाते-हिन्द" नामी एक ग्रन्थ रचा, जिसमें भारतीय रीतिरिवाज़, विज्ञान, साहित्य आदि का सुन्दर वर्णन है[१९]। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिये इसका महत्त्व स्पष्ट ही है।

भारतीय इतिहास का ढाँचा—आजकल भारतीय इतिहास का जो ढाँचा है, उसमें भारतीय दृष्टि-बिन्दु को ध्यान में नहीं रखा गया है। वह तो एक वैदेशिक विजेता की अपनी दृष्टि से लिखा गया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारत के प्राचीन काल से आजतक के इतिहास में आधे से ज़्यादा स्थान ब्रिटिशकाल को दिया जाता है व भिन्न २ गव्हर्नरजनरलों के कारनामों के वर्णन में कितने ही पृष्ठ रङ्ग दिये जाते हैं। इसी प्रकार मुस्लिम-काल को

भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। हिन्दुओं के इतिहास के लिये, जो कि अत्यन्त ही प्राचीन काल से सम्बन्धित है, बहुत कम पृष्ठ दिये जाते हैं। 'हिन्दू'-काल में भी सिकन्दर के आक्रमण को खूब ही महत्त्व दिया जाता है[२०]। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसीलिये भारत के प्राचीन साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है। सचमुचमें तो भारतीय इतिहास का ऐसा विभाजन बिलकुल उपयुक्त नहीं है। उसमें भारतीय दृष्टि की कमी है।

भारतीय इतिहास के विभाग—भारत की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए भारतीय इतिहास के दो विभाग किये जा सकते हैं—महाभारत-काल के पूर्व का इतिहास, व महाभारत-काल के पश्चात् का इतिहास। पुराणों ने भी भारतीय इतिहास का विभाजन इसी प्रकार किया है[२१]। उनमें भूत व भविष्य काल के प्रयोग द्वारा, इस विभाजन को कायम रखा गया है।

भारत-युद्ध का समय—भारत-युद्ध के समय के बारे में निश्चितरूप से कहना बहुत मुश्किल है, फिर भी इतिहास के विद्वानों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है, उस पर प्रकाश डालना आवश्यकीय है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार कलियुगका प्रारम्भ ईसापूर्व ३१०१ वर्ष में होता है[२२]। महाभारत में विभिन्न स्थलों में कहा गया है कि कलियुग का प्रारम्भ या तो युद्ध के समय हुआ अथवा युधिष्ठिर के राज्यारोहण के समय या कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् हुआ। इसलिये कुछ विद्वान् भारत-युद्ध को ई० स० पू० ३००० वर्षतक ले जाते हैं। किन्तु यहां यह ध्यान देने योग्य है कि कलियुग के प्रारम्भ सम्बन्धी सिद्धान्त को सर्वप्रथम, आर्य्यभट्ट (भारतयुद्ध के ३५०० वर्ष पश्चात्) ने प्रतिपादित किया। कोई २ विद्वान् महाभारत में वर्णित नक्षत्रों व ग्रहों की स्थिति के सहारे भारत-युद्ध का समय जानने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उक्त ग्रन्थमें बादमें जो मिलावट हुई है, उसके कारण यह कहना मुश्किल है कि कौनसा उल्लेख प्राचीन व कौनसा अर्वाचीन है।

वैदिकसाहित्यमें वर्णित ऋषियों की परम्परा व भारत-युद्ध के पश्चात् तथा शैशुनाग-वंश के पूर्व के राजाओं की संख्या की सहायता से रायचौधरी[२३]

इस युद्ध को ई० स० पू० ९ वीं सदी में रखते हैं। पार्जिटर[२४] के अनुसार भारत-युद्ध का समय ई० स० पू० १० वीं सदी है। राजा नंद व जनमेजय 'द्वितीय' के नाती अधिसीमकृष्ण के बीचके समय में जिन वंशों ने राज्य किया, उनके काल का निश्चय पुराणों की सहायता से निश्चित कर, पार्जिटर कहते हैं कि इन दो घटनाओं के बीच में २६ राजा हुए, जिनमें से प्रत्येक को १८ वर्ष दिये गये हैं। डॉ० अल्टेकर[२५] ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में दीगई गुरु-शिष्य-परम्परा के सहारे यह सिद्ध करते हैं कि पुराणों के आधार पर स्वीकृत भारत-युद्ध-काल, जोकि ई० स० पू० १४०० वर्ष के लगभग आता है, बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार जायसवाल[२६] आदि विद्वान् पुराणों के सहारे, भारतयुद्ध को ई० स० पू० १४२४ या उससे भी पूर्व ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इन विभिन्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि भारत-युद्ध के समय के बारे में निश्चितरूप से अभी तक कुछ कहा नहीं गया है।

महाभारत के पूर्व का काल—इस काल का क्रमबद्ध इतिहास लिखना बड़ा कठिन काम है। कपोल-कल्पित कथाओं में मिश्रित ऐतिहासिक सामग्री को पृथक करना कोई साधारण बात नहीं है। पुराण, महाभारत आदि से हमें मालूम होता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल में भारत में दो राजवंश[२७] प्रसिद्ध थे-सूर्यवंश व चन्द्रवंश। आज भी भारत के क्षत्रिय अपने को इन वंशों से सम्बन्धित करते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार, ये वंश सूर्य व चन्द्र से उत्पन्न हुए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा का इतना ही महत्व है कि इसके द्वारा, उक्त राजकुलों की प्राचीनता का पता चलता है। सूर्यवंश को मानव-वंश भी कहा जाता है क्यों कि विष्णु आदि पुराणों के अनुसार उक्त वंश का सर्व प्रथम राजा मनु[२८] था।

मानव (सूर्य)वंश के राजा—मनु के दस पुत्रों में केवल इक्ष्वाकु, शर्याति, नभाग, दिष्ट आदि चार का वंश-विस्तार हुआ, व कारूष ने 'कारूष क्षत्रियों' को जन्म दिया[२९]। दिष्ट के पुत्र नाभाग के बारे में कहा गया है कि वह वैश्य बन गया[३०], व दसवां पुत्र पृषध्र गुरु-गोवध के कारण शूद्र बन गया[३१]। इसी प्रकार नाभाग के पांचवें वंशज रथीतर की सन्तान ब्राह्मण बन गई व आङ्गिरस कहलाई[३२]। उन्हें 'क्षत्रोपेतद्विजातयः' कहा गया है अर्थात् वे

ब्राह्मण बन गये। इक्ष्वाकुवंशज प्रसिद्ध क्षत्रिय थे ही। इस प्रकार यहां चारों वर्णों की उत्पत्ति को भी मनु से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। शर्याति के तीन वंशज दिये गये हैं-आनर्त, रेवत, व ककुद्मि। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टाओं में "शार्यातो मानवः"[३३] नाम का एक ऋषि है। इस उल्लेख से पता चलता है कि इस वंश में मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि भी उत्पन्न हुए थे। इस वंश के इतिहास पर आलोचनात्मक दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि अत्यन्त ही प्राचीनकाल से शर्याति-वंश पश्चिमी भारत में राज्य करता था व इसके बहुतसे राजाओं में से तीन, चार ही नाम अवशेष रहे, क्योंकि बाकी के राजा कदाचित् समप्रदेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होंगे। दिष्ट के नाभाग, बलंधन आदि ३८ वंशजों का उल्लेख है[३४]। इस वंश का चौदहवां राजा 'मरुत्त' था, जिसे चक्रवर्ती कहा गया है, २७ वां विशाल था, जिसने विशाला (बिहार में वैशाली) नगरी की स्थापना की[३५] व ३५ वां राजा सोमदत्त था, जिसने सौ अश्वमेध-यज्ञ किये। इन सब को "वैशालिक राजा" कहा गया है। इन का राज्य पूर्वी भारत में बहुत दिनों तक रहा।

इक्ष्वाकुवंश—यह वंश[३६] भारत के प्राचीन इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हरिश्चन्द्र, राम आदि नरपुङ्गवों ने, जिनके कारण आज भी हिन्दूजाति गौरव से अपना सिर ऊँचा उठा सकती है, इसी वंश में जन्म लिया था। यह वंश भारतीय राजवंशों में प्राचीनतम प्रतीत होता है। महाभारत-काल तक इस वंश के लगभग ९८ राजाओं का उल्लेख है[३७]। वशिष्ठ, इस वंश के कुलगुरु थे। महाभारत-युद्ध के पश्चात् भी इस वंश के राजा राज्य करते रहे।

निमिवंश—इक्ष्वाकु-वंश की एक शाखा और थी, जिसका प्रारम्भ इक्ष्वाकु के द्वितीय पुत्र निमि से होता है। इसी वंश में रामदाशरथि की पत्नी सीता के पिता सीरध्वज जनक ने जन्म लिया था। इस वंश के राजाओं को "आत्मविद्यारत"[३८] कहा गया है, जो कि उपयुक्त ही है।

चन्द्रवंश—पुराणों ने चन्द्र को इस वंश का संस्थापक माना है। इस वंश का प्रारम्भ मनु की पुत्री इला[३९] से होता है, क्योंकि इला का पुत्र पुरूरवस् ऐल ही इस वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक राजा था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है[४०]। पार्जिटर का कथन है कि यही वंश आर्य-वंश

है, जो कि हिमालय पर्वत से भारत में आकर प्रतिष्ठान (अलाहबाद के निकट) में बस गयीं। उसके मन्तव्यानुसार सूर्य्यवंशी यहां के आदिम निवासी द्रविड थे[४२]। इस सिद्धान्त के अनुसार कितने ही ऋषियों व राजाओं को, यहां तक कि हरिश्चन्द्र, राम आदि सबको अनार्य्य प्रमाणित किया जा सकता है। इस विचित्र मन्तव्य की पुष्टि में चन्द्र-वंश का विस्तार व कितने ही चक्रवर्ती तथा प्रतापी राजाओं का हवाला दिया गया है। किन्तु यदि जरा विचार से काम लिया जाय तो स्पष्ट होगा कि यह मन्तव्य किस प्रकार भ्रमपूर्ण है। चन्द्रवंश व सूर्यवंश के राजादि के आचार, विचार, रहन, सहन आदि में कोई भी भेद नहीं दिखाई देता। उनमें परस्पर विवाहादि सम्बन्ध भी वर्तमान था। पार्जिटर के पूर्व कभी भी किसी को यह आभास नहीं हुआ कि सूर्य्यवंशी अनार्य्य थे। यदि चन्द्र-वंश का विस्तृत वर्णन मिलता है तो इस का यही कारण हो सकता है कि यह वंश इतना पुराना नहीं है जितना कि सूर्य्यवंश। इसीलिये इसके सम्बन्ध में बहुतकुछ लिखा जासका। स्थानाभाव से, इस विषय की अधिक विवेचना यहां नहीं की जा सकती। इस वंश के सम्बन्ध में विष्णुपुराण में कहा गया है कि "यह वंश अतिबलपराक्रमद्युतिशीलचेष्टावाले व अतिगुणान्वित नहुष, ययाति, कार्तवीर्य-अर्जुन आदि भूपालों द्वारा अलंकृत किया गया है[४३]।" इस वंश की एक विशेषता यह भी है कि इसके कितने ही राजा ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों के द्रष्टा भी थे[४४]।

चन्द्रवंश के राजा—ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूलपुरुष पुरूरवस् ऐल प्रतीत होता है, जिसने उर्वशी नामी एक अप्सरा को ब्याहा था। इन दोनों के प्रेमसम्बन्ध का उल्लेख ऋग्वेद में आता है तथा इसकी विस्तृत कथा पुराणों में दी है[४५]। कविकुलगुरु कालिदास ने "विक्रमोर्वशीय" नाटक द्वारा इस प्रतापी राजा की प्रेम-कहानी को अमर बना दिया है[४६]। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि पुरूरवस् ऐल ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण राजा था। इसकी पत्नी व यह स्वतः ऋग्वेद में मन्त्रद्रष्टा भी हैं[४७]। इसके ६ पुत्र थे-आयुस्, अमावसु, विश्वावसु, श्रुतायु, शतायु व अयुतायु। इन में से आयुस् व अमावसु का वंश आगे चला। आयुस् के पांच पुत्र थे-नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ, रजि व अनेनाः। इनमें रम्भ अनपत्य था। बाकी के चारों के वंश फले व फूले। किन्तु आयुस् के ज्येष्ठ पुत्र नहुष का

वंश खूब फला फूला। उसके पुत्र ययाति के पांच पुत्रों-यदु, दुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु आदि ने समस्त भारत में अपना शासन स्थापित किया था[४९]। इनमें से यदु ने जो कि दक्षिण में था, एक ऐसे राजवंश को स्थापित किया, जिसमें कृष्ण के समान योगीराज उत्पन्न हो सके व जो वंश आज तक भी जीवित जागृत है, चाहे अपने पूर्वगौरव से भले ही वञ्चित हो[५०]। इस वंश की और भी शाखाएँ व उपशाखाएँ थीं।

इस प्रकार भिन्न २ राजवंशों ने इतिहास के प्रारम्भ से लेकर महाभारत-काल तक राज्य किया। अब हमें महाभारत-काल के पश्चात् के राजवंशों पर विचार करना चाहिये।

महाभारत-काल के पश्चात् के राजवंश—इस काल के राजवंशों में परीक्षितवंश, इक्ष्वाकुवंश, व बार्हद्रथादि मागधेयों के वंश विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं[५१]। परीक्षितवंश में २७ राजा हुए। इक्ष्वाकु-वंश में २८ राजा हुए। इस वंश का राजा बृहद्बल महाभारत-युद्ध में मारा गया था। बार्हद्रथ-मागधेयों के वंश में २२ राजा हुए। इस वंश के राजाओं ने सब मिलकर एक हज़ार वर्ष तक राज्य किया। इस वंश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय अपने मन्त्री मुनिक द्वारा मारा गया व उस मन्त्री का पुत्र प्रद्योत राज-गद्दी पर बैठा। इस प्रद्योतके बलाक, विशाखयूप, जनक, नन्दीवर्धन, नन्दी आदि पांच वंशज हुए, जिन्होंने लगभग १४६ वर्षतक राज्य किया। इसके पश्चात् शिशुनाक राजा बना। इसके वंश में १० राजा हुए, जिन्होंने लगभग ३६२ वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् मौर्य्यवंश के १० राजाओंने १३७ वर्ष तक राज्य किया। इसी वंश में चन्द्रगुप्त, अशोक आदि प्रतापी राजा हुए, जिन पर आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

शुङ्ग-वंश—मौर्य्यों के पश्चात् दस शुङ्गों का राज्य हुआ। अन्तिम मौर्य्य राजा के सेनापति पुष्यमित्र ने राजा को मार अपना राज्य स्थापित किया। अग्निमित्र आदि इसके नौ वंशज हुए, जिन्हों ने ११२ वर्ष तक राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा देवभूति को, जो कि व्यसनी था, उसके मन्त्री वसुदेव ने मार डाला व उसने राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इस नये वंश के वसुदेव, भूमित्र, नारायण, सुशर्मा आदि चार राजा हुए। इन सब ने ४५ वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम राजा सुशर्मा को उसके आन्ध्रजातीय

मन्त्री बलिपुच्छक ने मार डाला व स्वयं राजा बन गया। इसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण राजा हुआ।

आन्ध्र-वंश—इस वंश में २४ राजा हुए, जिन्हों ने लगभग ४८६ वर्ष तक राज्य किया। इनमें शान्तकर्णि, यज्ञश्री, चन्द्रश्री, पुलोमाविहि आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस वंश के राजाओं के सिक्के, शिलालेख आदि भी मिलते हैं, जिनकी सहायता से इनका व्यवस्थित इतिहास बन जाता है। इस वंश ने दक्षिण भारत पर अपना प्रभुत्व जमाया था।

उपसंहार—इस प्रकार पुराणों की सहायता से भारत के प्राचीन राज-वंशों का शृङ्खला-बद्ध इतिहास तैयार किया जा सकता है। इस दिशामें अभी विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। साधारणतया ऐसा माना जाता है कि भारत का शृङ्खलाबद्ध प्राचीन इतिहास मौर्य्यवंश से ही प्रारम्भ होता है।

क्रम-बद्ध इतिहास का प्रारम्भ—प्राचीन भारत का क्रमबद्ध इतिहास आधुनिक ऐतिहासिकों के मतानुसार सिकन्दर के आक्रमण (ई० स० पू० ३२६ वर्ष) के पश्चात् से प्रारम्भ होता है, जब कि मौर्य्य-साम्राज्य का सूत्रपात हुआ था[५२]। किन्तु जैन, बौद्ध व पौराणिक साहित्य के सहारे, इस इतिहास को ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दि तक भी ले जाया जा सकता है, जैसा कि स्मिथ ने अपने इतिहास में किया है।

उत्तर भारत के सोलह जनपद्—बौद्ध साहित्य में प्रत्यक्षरूप से तो किसी प्रकार के इतिहास का वर्णन नहीं है, किन्तु परोक्षरूप से कुछ इतिहास-सम्बन्धी बातों का उल्लेख अवश्य है, जिससे हमें ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के कार्य्य में सहायता मिलती है। इस साहित्य में उत्तर भारत के लग-भग सोलह जनपदों[५३] का उल्लेख आता है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अङ्ग
(२) मगध
(३) काशी
(४) कोशल
(५) वज्जी
(६) मल्ल
(७) चेति
(८) वंश
(९) कुरू
(१०) पाञ्चाल
(११) मच्छ
(१२) सूरसेन
(१३) अस्सक
(१४) अवन्ती
(१५) गान्धार
(१६) काम्बोज

एक स्थानपर कलिङ्ग भी उल्लिखित है।

इस उल्लेख के सहारे यह कहा जा सकता है कि ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दि में उत्तर भारत लगभग १६ स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था, जिनका विस्तार आधुनिक बङ्गाल से पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तक था। इसी प्रकार गौतम बुद्ध के समकालीन (ई० पू० छठवीं सदी) कुछ प्रजातन्त्र राज्यों का भी उल्लेख[५४] है जैसे—

बौद्धकाल में प्रजातन्त्र.

(१) साकिय	राजधानी	कपिलवत्थु
(२) बुलि	,,	अल्लकप्प
(३) कालाम	,,	केसपुत्त
(४) भग्ग	,,	सुंसुमारगिरि
(५) कोलिय	,,	रामगाम
(६) मल्ल	,,	पावा
(७) मल्ल	,,	कुसीनारा
(८) मोरिय	,,	पिप्पलीवन
(९) विदेह	,,	मिथिला
(१०) लिच्छवी	,,	वेसाली

ये सब प्रजातन्त्र कोसल के पूर्व में हिमालय व गङ्गा के मध्य में स्थित थे। ये सब आपस में लड़ते थे व इन्हें आसपास के शक्तिशाली राज्यों की वक्र दृष्टि का सामना भी करना पड़ता था, जिसके परिणामस्वरूप इनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी जाता रहा। इन सब में शाक्यप्रजातन्त्र का वर्णन विस्तृतरूप से दिया गया है, क्योंकि गौतमबुद्ध वहीं के नागरिक थे।

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि इस प्रजातन्त्र में राजधानी के अतिरिक्त कितनेही नगर थे जैसे चातुमा, सामगाम, खोमदुस्स, सिलावती, मेदलुम्प, नगरक, उलुम्प, देवदह, सक्कर इत्यादि। इसमें ८०,००० परिवार रहते थे। शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब कार्य्य सार्वजनिक सभाभवन में सम्पादित किये जाते थे, जहां वृद्ध व नवयुवक सब ही समता के भाव से एकत्रित होते थे। सभा-भवन को "संथागार" कहा जाता था। इस प्रकार के "संथागार" बहुतसे नगरों में थे। ग्राम्यजीवन भी सुसंगठित रूप से

सञ्चालित किया जाता था। प्रत्येक ग्राम में भी सार्वजनिक कार्य्य सब ग्रामीणों द्वारा सञ्चालित किये जाते थे। इनकी भी सार्वजनिक सभाएँ हुआ करती थीं। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम एक छोटा प्रजा-तन्त्र ही था।

कोसल-राज्य—राजतन्त्र वाले राज्यों में कोसल का राज्य अधिक महत्त्व-पूर्ण था। इस समय के राजनैतिक जीवन का केन्द्र यही था। यहां के शक्तिशाली राजाओं ने आसपास के छोटे २ राज्यों को जीतकर इस राज्य की शक्ति को खूब बढ़ादिया था। इस सम्बन्ध में कोसलनरेश कंस द्वारा काशीराज्य का जीता जाना विशेष उल्लेखनीय है। गौतम बुद्ध के समय यहां का राजा पसेन्दी (प्रसेनजित्) था, जो मगधराज अजातसत्तु (अजातशत्रु) से कितनी बार लड़ा व अन्त में अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। इसकी अनुपस्थिति में प्रजाने इसके पुत्र विदुदाभ को राज्यगद्दी पर बैठा दिया। इस नये राजाने शाक्यों पर आक्रमण किया व कितने ही बालकों व कितनी ही स्त्रियों को तलवार के घाट उतारा। अजातसत्तु ने कोसलपर आक्रमण किया व इसके परिणाम-स्वरूप कुछ समय पश्चात् यह राज्य मगध-राज्य में मिला लिया गया।

बौद्ध साहित्य के अनुसार उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थिति—(ई० पू० सातवीं सदी) बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि ग्रामों का संगठित जीवन उत्तर भारत के आर्थिक जीवन[५५] की भूमिका था। यद्यपि राजाओं के अधिकार एक प्रकार से निरङ्कुश थे, फिर भी वे ग्राम्य जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे केवल खेतों की उपज के दशांश के मालिक थे, जिसकी वसूली प्रतिवर्ष होती थी। राजभाग कभी २ षष्ठांश से द्वादशांशतक भी रहता था। ग्रामीण अपनी जमीनके पूर्णतया मालिक थे, व उनका दैनिक जीवन भी उनकी अपनी पञ्चायत द्वारा ही सञ्चालित होता था। गांव के बाहिर चारागाह, जंगल आदि रहते थे। सावत्ती का 'जेतवन' व साकेत का 'अजमवन' इसी प्रकार के थे। खेती के लिये नहरों की व्यवस्था भी की गई थी। चांवल भोजन का मुख्य अन्न था, किन्तु सात प्रकार के अन्य अनाज भी बौद्धसाहित्य में उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त गन्ना, फल, शाक-भाजी, फूल आदि की भी खेती होती थी। इन गांवों में सहकारिता के सिद्धान्त के अनुसार

कार्य्य करने की प्रथा प्रचलित थी, जिससे तत्कालीन नागरिकता के भाव की जागृति का पता चलता है। गांवों के ऊपरी अधिकारी को "भोजक" कहाजाता था, जो केन्द्रीय-शासन में अपने गांव का प्रतिनिधित्व करता था।

खेती के अतिरिक्त विभिन्न कलाएँ व दस्तकारियें भी द्रव्योत्पादन के निमित्त प्रयुक्त की जाती थीं, जिससे तत्कालीन औद्योगिक विकास का पता भी चलता है। इनमें से कुछ का ब्यौरा इस प्रकार है:—

(१) धनुष्बाण बनाने वाले।

(२) अनाज उड़ाने का धन्दा करने वाले।

(३) धातु का काम करने वाले।

(४) जहाज बनाना, गाड़ी बनाना, घर बनाना आदि काम करनेवाले, तथा 'थपति' 'थच्छक' 'भमकार' आदि।

(५) पत्थर का काम करने वाले।

(६) चमड़े का काम करने वाले।

(७) चितेरे, लकड़ीका काम करने वाले, सुनार लुहार आदि।

ये सब व्यवसाय 'सेणि' आदि द्वारा संगठितरूप से चलाये जाते थे। इनके अतिरिक्त हाँथीदात का काम, कपड़े बुनना, मिठाई बनाना, मणिकार का काम, फूलों की माला आदि बनाने काम इत्यादि भी पूर्णतया प्रचलित थे।

इस समय व्यापार भी खूब चढ़ाबढ़ा था जिसपर यथास्थान विवेचन किया जायगा।

मगध का शिशुनाग-वंश—पुराणों के अनुसार इस वंश[५६] का संस्थापक शिशुनाग या शिशुनाक था, जो कि कदाचित् आधुनिक पटना व गया जिलों के भूमिभाग पर राज्य करता था व उसकी राजधानी राजगृह थी जो कि गया के निकट पहाड़ियों पर बसी हुई थी। इस राजा के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात है कि इसने अपने पुत्र को बनारस में रखा व स्वतः राजगृह के 'गिरिव्रज' में रहने लगा।

बिम्बीसार—(ई० पू० ६४२–५५४) इस वंश के पांचवे राजा बिम्बीसार या श्रेणिक (जैनियों के अनुसार) के बारे में बहुत कुछ मालूम होता है। पुराणों के अनुसार इसने २८ वर्षतक राज्य किया। इसके राज्य-

काल को ई० पू० ५८२ से ई० पू० ५५४ तक रखा जाता है। इसने नये राजगृह का सूत्रपात किया व अङ्गदेश को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मगध के राजनैतिक महत्त्व का प्रारम्भ इसी के समय से होता है। इसने कोशल तथा लिच्छवी राज्यों की राजकुमारियों से विवाहकर, अपने पड़ोसी राज्यों से अच्छा सम्बन्ध स्थापित किया। यह गौतम बुद्ध व महावीर दोनों का समकालीन था।

अजातशत्रु—(ई० पू० ५५४–५२७) अजातशत्रु बिम्बीसार की लिच्छवीवंशीय पत्नी से उत्पन्न पुत्र था। इसे जैन-साहित्य में कुणिक कहा गया है। पुराणों के अनुसार इसने २७ वर्षतक राज्य किया। बौद्ध दन्तकथा के अनुसार बुद्ध के विरोधी व चचेरे भाई देवदत्त द्वारा उकसाये जाने पर इसने अपने पिता की हत्या की व बाद में पश्चात्ताप से परितप्त होकर यह गौतम बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा में कितना तथ्यांश है, यह कहना मुश्किल है। कोशल-राज्य से इसने कितने ही युद्ध किये, जिनमें इसकी हार भी हुई थी, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि अन्त में कोशल-राज्य मगध में मिला लिया गया था। इसके पश्चात् इसने गंगाके उत्तरवर्ती लिच्छवी-प्रदेश को जीता व उसकी राजधानी वैशाली को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार गङ्गानदी व हिमालय के बीच का सब प्रदेश मगधसाम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। उसने सोन नदी के उत्तरी किनारे पर, जहां कि वह गङ्गा से मिलती है, पाटली गांव में किला बनवाकर, पाटलीपुत्र के भावी गौरव का सूत्रपात किया। पुराणों के अनुसार उसके पश्चात् उसका पुत्र दर्शक (ई० पू० ५२७–५०३) राज्यगद्दी पर बैठा, जिसने २४ वर्ष तक राज्य किया। भासकृत "स्वप्नवासवदत्ता" नाटक में इस राजा का उल्लेख है। इसके पश्चात् उदय (ई० पू० ५०३–४००) राजा हुआ जिसने लगभग ३३ वर्ष तक राज्य किया। इसने पाटलीपुत्र नगर को बसाया.

नंदवंश—पुराणों की वंशावलियों के अनुसार उदय के पश्चात् नंदीवर्धन व महानंदिन राजा हुए, जिन्होंने क्रमशः ४० व ४३ वर्ष तक राज्य किया। महानंदिन का शूद्रा-पत्नी से उत्पन्न महापद्मनंद नामी पुत्र था, जो पिता के पश्चात् सिंहासन पर बैठ गया; इस प्रकार नंदवंश[५७] की स्थापना हुई। पुराणोंके अनुसार इसने ८८ वर्ष व इसके आठ पुत्रों ने १२ वर्ष तक राज्य

किया। ये ही राजा पुराणों में "नवनन्द" कहे गये हैं। इन के राज्य-काल के बारे में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है, किन्तु सिकन्दर के आक्रमण को ध्यान में रखते हुए नंदकाल को साधारणतया ९१ वर्ष का बताया जाता है।

ई० पू० चौथी शताब्दि में पश्चिमी भारत व सिकन्दर का आक्रमण—जब कि पूर्व में एक शक्तिशाली साम्राज्य विकसित किया जा रहा था, उस समय पश्चिम व विशेषकर पश्चिमोत्तर में एक प्रकार की राजनैतिक अराजकता छाई हुई[५८] थी। भारत के इस भूभाग में कितने ही प्रजातन्त्र व राजाद्वारा शासित राज्य वर्तमान थे, जो कि राज्य-पिपासा के कारण आपस में लड़ते झगड़ते थे। हिन्दुकुश पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश में 'शशिगुप्त' (यूनानियों का "सिसिकोट्टस") नामी भारतीय राजा राज्य करता था व काबुल के उत्तर में पर्वतीय प्रदेश में भारतीय जातिएँ बसी हुई थीं। यह सिकन्दर के विरुद्ध लड़ने के लिये ईरान गया था, किन्तु बादमें उसका मित्र बनगया। 'आम्भी' नामी राजा सिन्धु व झेलम नदी के मध्यवर्ती प्रदेश में राज्य करता था व उसकी राजधानी तक्षशिला थी। झेलम व रावी के मध्यवर्ती प्रदेशपर पौरव (यूनानियों का "पोरस") राजा राज्य करता था। उत्तर में 'अभिसार' (कश्मीर के पञ्च व नौशेरा जिलों का भूमिभाग) का राज्य था, जहां का राजा पौरव का मित्र था। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रजातन्त्र भी वर्तमान थे, जिनका तत्कालीन राजनैतिक उथलपुथल में काफी हाथ था। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-अधृष्ट, क्षत्रिय, मालव, क्षुद्रक, शिबि इत्यादि।

सिकन्दर का आक्रमण—मेसिडोनिया के फिलिप का पुत्र सिकन्दर यूनान, मिश्र, सिरिया, ईरान आदि जीतता हुआ ई० पू० ३२६ में 'ओहिन्द' के निकट सिन्धु को पार कर भारत में[५९] आया। सिन्धु नदी को पार कर भारत में घुसते ही, तक्षशिला के राजा आम्भी द्वारा उसका स्वागत किया गया। इस प्रकार एक भारतीय ने ही विदेशी के लिये भारत का दरवाजा खोल दिया। आम्भी ने ऐसा इसलिये किया क्योंकि उसे अपने शत्रु पौरव राजा से बदला लेना था। किन्तु पौरव साधारण व्यक्ति नहीं था। उसने अभिसार आदि के राजाओं से इस आक्रमण का सामना करने के बारे में विचार-विनिमय किया व सिकन्दर से लड़ने की ज़ोरों से तैयारियें कीं। उधर सिकन्दर

भी अपनी सेना लेकर झेलम के पश्चिमी किनारे पर आ डटा । इस किनारे पर पौरव की सेना ने मोर्चा बाँधा । झेलम नदी में, वर्षा के कारण भयंकर पूर था, फिर भी सिकन्दर ने एक रात्रि को चुपचाप नदी पार कर ही ली। परिणामस्वरूप दोनों सेनाओं में खूब घमसान हुआ । पौरव की सेना खूब बहादुरी से लड़ी, किन्तु विजय यूनानियों की रही । पौरव, अन्त तक, बहादुरी से लड़ता ही रहा । उसकी वीरता ने सिकन्दर को भी खूब प्रभावित किया। पौरव को अपना राज्य वापिस मिल गया, किन्तु उसे सिकन्दर का आधिपत्य स्वीकार लेना पड़ा था । इसके पश्चात् सिकन्दर और आगे बढ़ा । अधृष्ट, क्षत्रिय आदि प्रजातन्त्रों ने उसका सामना किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए। इस प्रकार विजयपताका फहराता हुआ, सिकन्दर व्यास नदी के किनारे पहुँचा, जहां उसे पता लगा कि पूर्व में एक अत्यन्त ही शक्तिशाली साम्राज्य है। उसके सिपाही बहुत थक गये थे, उन्होंने आगे बढ़ने से साफ इनकार कर दिया । सिकन्दर को अपनी इच्छा के विपरीत वापिस लौटना पड़ा । झेलम व सिन्धु नदी से होता हुआ वह सिन्ध में आया । मार्ग में मालव, क्षूद्रक आदि प्रजातन्त्रों से उसे खूब लड़ना पड़ा । इसके पश्चात् वह स्थलमार्ग से ईरान लौट गया, जहां कि उसकी मृत्यु हो गई ।

सिकन्दर के आक्रमणका प्रभाव—सिकन्दर ने जीते हुए प्रदेशों में अपने क्षत्रपोंका निर्वाचन किया था, इनमें आम्भी व पौरव भी सम्मिलित थे। उसकी इच्छा थी कि उसके जाने के पश्चात् उन प्रान्तों पर उसका अधिकार रहे, किन्तु उसकी पीठ फिरते ही विदेशी शासकों के विरुद्ध देशभक्ति की इतनी ज़बरदस्त लहर उठी कि उसके सामने सिकन्दर की व्यवस्था न ठहर सकी; भारतीय पूर्णतया स्वतन्त्र होगये । इसी लहर ने चन्द्रगुप्त मौर्य्य को प्रभावित किया व उसने एक बहुत बड़े व शक्तिशाली साम्राज्य का सूत्रपात किया।

कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारतने यूनान से बहुत कुछ सीखा[६०] । यूनानी कला, साहित्य, सभ्यता आदिने भारत को प्रभावित किया। किन्तु यदि निष्पक्षवृत्ति से विचार किया जाय तो पता लगेगा इस मन्तव्य में कोई तथ्य नहीं है। सिकन्दर कुल उन्नीस मास भारत में रहा व वह भी केवल पञ्जाब व सिन्ध में । इस अल्पकाल में उसे कितने ही युद्ध करने पडे । पञ्जाब के भारतीय उसे एक राज्यलोलुप विजेता

के रूप में देखते थे। इसलिये उन्होंने, उससे कोई भी बात सीखना पसन्द नहीं किया होगा। इस के अतिरिक्त भारत का सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक विकास तो इस समय भी खूब चढ़ा बढ़ा था । इसलिये भारतीयों को सिकन्दर से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत उसे ही तक्षशिला के नंगे संन्यासियों से बहुत कुछ सीखने को मिला।

सिकन्दर के प्रभाव को कुछ अंशों में परोक्षरूप से देखा जा सकता है। उसके द्वारा बैक्ट्रिया में बसाये गये यूनानियों ने वहां अपनी संस्कृति का प्रचार किया। ये बैक्ट्रियन यूनानी आगे चलकर भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बसगये, जिसके परिणामस्वरूप सिक्कों की कला, व गान्धार-कला भारत को प्राप्त हुई।

मौर्य्य-साम्राज्य (ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८५ तक)-**चन्द्रगुप्तमौर्य्य** (ई० पू० ३२२-२९८) दन्तकथा के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य्य मगध के राजघराने से सम्बन्धित था व इसकी माता या दादी मुरा नाम की शूद्रा स्त्री थी। इसी से यह मौर्य्य कहलाया । कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त पिप्पलीवन के 'मोरिय' का वंशज था, जिनका उल्लेख प्राचीन बौद्ध साहित्य में है व जो गौतम बुद्ध के समय में हिमालय के निकटवर्ती प्रदेश में रहते थे।

चन्द्रगुप्त ने अपने मन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य की सहायता से नन्दराजा को हराकर मगधपर कब्जा किया व पश्चात् पञ्जाब आदि प्रान्तों को भी जीत लिया। किन्तु कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि पहिले इसने पञ्जाब को जीता व पश्चात् मगध आदि राज्यों को । यहां यह बताना उपयुक्त ही होगा कि जब सिकन्दर पञ्जाब में था, तब चन्द्रगुप्त उसे मिला था । इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने एक बड़े साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया।

पश्चिमी एशिया में सिकन्दर का उत्तराधिकारी सेल्युकस निकॉटर हुआ। उसने सिकन्दर द्वारा जीते गये भारतीय प्रान्तों को पुनः जीतने का निश्चय किया व ई० पू० ३०५ के लगभग सिन्धु को पारकर भारत में आया । इस समय पहिले जैसी अराजकता नहीं थी । चन्द्रगुप्त की सुसंगठित सेना ने विदेशी आक्रमणकारी के दाँत खट्टे कर दिये । परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त को पेरोपेनीसेदाय (राजधानी काबुल), एरिया (राजधानी हेरात), व एरेकोसिया

(राजधानी कंदहार) के प्रान्त प्राप्त हुए । इस प्रकार मौर्य्य साम्राज्य का विस्तार हिन्दुकुश पर्वत तक होगया[६१] व उसमें आधुनिक अफगानिस्तान आदि सुदूरवर्ती प्रदेश भी सम्मिलित कर लिये गये । इन प्रान्तों के अतिरिक्त सेल्युकस ने अपनी लड़की का विवाह चन्द्रगुप्त से किया व मीग़ाज़थीनीज़ नामी अपना राजदूत मौर्य्य-राजधानी पाटलीपुत्र में रखा । कदाचित् दक्षिणभारत को भी चन्द्रगुप्त ने जीता हो क्योंकि जैनकथाओंके अनुसार वह जैन था व भद्रबाहु के साथ दक्षिण में श्रावणबेलगोला (मैसूर राज्य में) गया था । पुराणों के अनुसार उसने चौबीस वर्ष राज्य किया ।

चन्द्रगुप्त की शासनव्यवस्था—चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था के बारे में यूनानी लेखकों[६२] व कौटिलीय अर्थशास्त्र[६३] से बहुत कुछ ज्ञात होता है । यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि मौर्य्य-सेना का सञ्चालन तीस सदस्यों की एक 'युद्ध-समिति' द्वारा होता था, जिसको पांच २ सदस्यों की ६ उपसमितियों में विभाजित किया गया था, जिनके आधिपत्य में नौका सेना, सेनासम्बन्धी सामानादि ले जाने वाले, पैदल, घुड़सवार, युद्ध के रथ व हाथी आदि से सम्बन्धी पृथक् २ विभाग थे । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मौर्य्य सेना सुसंगठित रूप से सञ्चालित की जाती थी । यहां, उसका चतुरङ्गिणी होना विशेष उल्लेखनीय है । इस समय नगर के शासन को भी अच्छी तरह विकसित किया गया था । यूनानी लेखक पाटलीपुत्र की व्यवस्था के बारे में लिखते हैं, जिससे मालूम होता है कि नगर की व्यवस्था तीस सदस्यों की एक समिति द्वारा की जाती थी । इसकी भी ६ उपसमितियें थीं; प्रत्येक में पांच २ सदस्य थे । इन उपसमितियों को निम्नाङ्कित कार्यों की देख भाल रखनी पड़ती थी:—

पहिली	उपसमिति	—	विभिन्न उद्योगधन्दे,
दूसरी	,,	—	विदेशियों की देखरेख
तीसरी	,,	—	जन्ममरण का लेखा
चौथी	,,	—	वाणिज्य
पांचवी	,,	—	नाना प्रकारका तैयार किया हुआ माल,
छठी	,,	—	बिके हुए माल पर दशांश की वसूली

नगर की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र से भी पता लगता है ।

नगर का मुख्य अधिकारी नागरक कहलाता था। स्थानिक, गोप आदि कर्मचारी उसके हाथ के नीचे काम करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही कर्मचारी थे।

साम्राज्य के शासन के लिये सम्पूर्ण राज्य को विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया गया था जिनकी देखरेख के लिये स्थानिक (प्रान्तका ऊपरी) गोप (५ या १० गांव का ऊपरी), ग्रामणी (गांव का ऊपरी) आदि कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। केन्द्रीयशासन पर राजा का पूर्ण अधिकार था किन्तु उसकी सहायता के लिये मन्त्रीमण्डल रहता था जिसके सदस्य अर्थशास्त्र के अनुसार इस प्रकार थे:—

(१) समाहर्तृ
(२) सन्निधातृ
(३) प्रदेष्टृ
(४) प्रशास्तृ
(५) दौवारिक
(६) आन्तर्वंर्षिक
(७) मन्त्रिन्
(८) पुरोहित
(९) सेनापति
(१०) युवराज

इस प्रकार चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था सुव्यवस्थित व सुसंगठित थी, जैसी कि आजकल भी नहीं है।

बिन्दुसार—(ई० स० पू० २९८–२७३) बौद्ध साहित्य में चंद्रगुप्त के पुत्र व उत्तराधिकारी का नाम बिन्दुसार दिया है; पुराणों में नंदसार या भद्रसार नाम आता है, व यूनानियों के अनुसार उसका नाम "अमित्रघात" (Amitrachates) था। बौद्ध साहित्य का नाम अधिक प्रमाणयुक्त माना गया है। इसके राजत्वकाल के बारे में कुछ अधिक नहीं मालूम होता। बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि तक्षशिला में बलवेको दबाने के लिये इसने अपने पुत्र अशोक को भेजा था। यूनानी इतिहासकार लिखते हैं कि बिन्दुसार का सम्बन्ध सेल्युकस निकॉटर से भी था, जिसने अपने दूत 'डायामेकस' को

भारतीय राजा के दर्बार में भेजा था। इसी प्रकार मिश्र के 'टोलेमी फिलाडेलफेस' ने भी डॉयोनिसियस को दूत बनाकर भारत भेजा था। सेल्युकस ने बिन्दुसार से भारतीय ऋषि (दार्शनिक) की भी माँग की थी।

इस प्रकार बिन्दुसार भी एक शक्तिशाली राजा था व उसने अपने पिता के साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाया रखा। कदाचित् उसने दक्षिण भारत को भी जीता हो, व इसीलिये "अमित्रघात" कहलाया हो। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पुराणों के अनुसार इसने २५ वर्ष तक राज्य किया।

अशोक—(ई० स० पू० २७३–२३२) बिन्दुसार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक राज्यगद्दी पर बैठा। युवराजकी हैसियत में ही उसे तक्षशिला व उज्जयिनी में शासन-कार्य्य का पर्य्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका था। अशोक के राजत्वकाल के बारे में उसके शिला व स्तम्भोंपर के लेखों से बहुत कुछ मालूम होता है। इन लेखों में वर्षगणना अभिषेक के वर्ष से की गई है। सिंहलद्वीप की दन्तकथा के आधार पर ऐतिहासिक यह मानते हैं कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिंहासनारूढ़ होने के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० स० पू० २६९ वर्ष में हुआ।

अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में कलिङ्ग को जीता, किन्तु इस विजय ने उसके जीवन को बिलकुल पलट दिया। कलिङ्ग-युद्ध में अगणित निरपराध जीवों की हत्या का उसके मन पर इतना जबरदस्त असर पड़ा कि उसने भविष्य में राज्यवृद्धि के लिये रक्तपात को हमेशा के लिये बन्द करने का निश्चय किया व "धम्म विजय" का मार्ग ग्रहण किया, जिसके कारण उसे विश्व के इतिहास में एक अद्वितीय स्थान प्राप्त होगया।

कलिङ्ग-युद्ध के परिणामस्वरूप, अशोक बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होगया व उसके कार्य्य में उत्साहपूर्वक दिलचस्पी लेने लगा। राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष, उसने विभिन्न स्थानों की यात्रा की व ब्राह्मण, श्रमण, वृद्ध आदि को बहुत दान दिया व विद्वानों के संसर्ग से बौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया। यात्रा के पश्चात् उसने अपने कर्मचारियों के लिये आज्ञा जारी की कि मेरे समान तुम लोग धर्म–मार्ग में अधिक उत्साहशील बनो व मेरी धर्म–आज्ञाएँ

शिलाओं व स्तम्भों पर खुदवा दी जायँ। राज्याभिषेक के १४ वें वर्ष, उसने अपनी १६ धर्म-आज्ञाएँ घोषित कीं। इनमें से चौदह गिरनार (काठियावाड़) मानसेरा, शाहबाज़ गढ़ी (पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त) आदि स्थानों में चट्टानों पर खुदवाई गईं। इन्हीं में से बारह व अन्य दो, उड़ीसामें धौली व जौगड़ा स्थानों में शिलाओं पर अङ्कित की गईं। इसी समय प्रजा के धर्मोत्कर्ष के लिये "धर्ममहामात्य" के नये पद पर योग्य विद्वानों की नियुक्ति की गई। 'धर्ममहामात्य' की नियुक्ति के पहिले ही उसने सब कर्मचारियों के लिये यह आवश्यकीय कर दिया था कि वे प्रति पांचवें वर्ष दौरे के लिये जायँ व अपने कार्य्यों के साथ २ धर्मप्रचार का काम भी करें। इसी समय के क़रीब व इससे कुछ पहिले इसने अपने प्रचारक सिरिया, मिश्र, सायरिनी, मेसिडोनिया, एपिरस आदि विदेशों में भेजे थे, जहां कि क्रमशः एन्टिऑकस थिओस, टोलेमी फिलेडेलफोस, मगस, एन्टिगोनस व एलेक्जन्डर[६४] आदि राज्य करते थे। उसके बौद्ध प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार इन देशों में किया व इस प्रकार ईसाईमत के लिये भूमिका तैयार की। इस प्रकार एशिया, आफ्रिका, यूरोप आदि महाद्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। काम्बोज, गान्धार, यवन, भोज, पुलिन्द, पिटेनिक आदि अर्धसभ्य जातियों में भी धर्मप्रचारक भेजे गये, साथ ही सिंहल आदि द्वीपमें भी धर्मप्रचार किया गया।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि अशोक ने कितनी ही धार्मिक विशेषकर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित इमारतें भी बनवाईं। इनकी संख्या ८४,००० मानी जाती है। किन्तु इसमें तथ्यांश कितना है, यह कहना मुश्किल है। राज्याभिषेक के १३ वें व २० वें वर्ष में इसने आजीविकों के लिये बिहार की बराबर पहाड़ी में "वर्षावास" बनवा दिये व १५ वें वर्ष, कपिलवस्तु के निकट बुद्ध कनकमुनि के स्तूप को सुधरवा दिया। राज्याभिषेक के २१ वें वर्ष वह बुद्ध के जन्मस्थान में गया व वहां स्मारकरूप स्तम्भ बनवाये, व उन पर लेख खुदवाये; २७ वें वर्ष, उत्तरभारत के विभिन्न स्थानों में स्तम्भ बनवाकर उन पर अपनी सात धर्म-आज्ञाएँ खुदवाईं।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि अशोक ने काश्मीर में श्रीनगर व नेपाल में देवपाटन आदि नगरों को बसाया। उसके राजत्वकाल में पाटलीपुत्र के

अशोकाराम में तृतीय बौद्ध-महासम्मेलन हुआ था, जिसमें बड़े २ बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया था।

अशोक के कार्य्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने उदात्त विचारों व भावनाओं के कारण, जिनको व्यवहार में लाने में उसने कोई बात उठा न रखी, उसका स्थान विश्व के सम्राटों में सर्वोपरि है। मार्कस एरुलियस, व कान्सटेन्टिन के समान सम्राट भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते।

अशोक के धर्मलेख—अशोक ने अपने लेखों को "धम्म लिपि" कहा, है। उनकी जो दो प्रतियें पेशावर व हज़ारा ज़िलों में हैं वे खरोष्ठी लिपि में हैं बाकी सब ब्राह्मी में। ये लेख स्तम्भ, चट्टान, पर्वत आदि पर खुदे हुए हैं। प्रधान शिलालेख १४ हैं व एकके बाद एक, ऐसे सब खुदे हुए हैं। सात विभिन्न स्थानों में उनकी पूरी या अधूरी प्रतियें मिली हैं; एक आठवीं प्रति और मिली है। सब प्रतियों की इबारत लगभग एकसी है। पुरानी सात प्रतियें इन स्थानों में मिली हैं—(१) शाहबाज़गढ़ी, तहसील यूसुफ़ज़ई, जिला पेशावर, (सीमाप्रान्त) (२) मनसेहरा, जि० हज़ारा, (सीमाप्रान्त) (३) कालसी, ज़िला देहरादून, (संयुक्तप्रान्त) (४) गिरनार, जूनागढ़ से एकमील पूर्व की ओर, काठियावाड़, (५) सोपारा, तालुका बसई, जिला थाना, (बम्बई); (६) धौली, तालुका खुर्दा, जिला पुरी, भुवनेश्वर से सातमील (उड़ीसा); (७) जौगड़ा, बरहमपुर, जि० गंजाम, (उड़ीसा)। आठवीं प्रति अब आन्ध्र के कुर्नूल जिले से मिली है। धौली और जौगड़ा की चट्टानों पर, १२ वें, व १३ वें लेखों के स्थान में दो अन्य लेख हैं, जिन्हें कलिङ्ग-लेख कहा जाता है।

प्रधान स्तम्भ लेख सात हैं, जो कि इन स्थानों पर मिलते हैं—(१) दिल्ली, दिल्लीदरवाज़े के बाहर फ़ीरोज़शाह के कोटले पर। यह पहले अम्बाला जिले में तोपरा गांव में था, जहाँ से फीरोज़ तुगलक (ई० स० १३५१-८८) इसे बड़ी मुश्किल से उठवा लाया था, इसीलिये इसे दिल्लीतोपरा-स्तम्भ कहते हैं। (२) दिल्ली के उत्तर पश्चिम में; यह भी पहले मेरठ में था, जहांसे फीरोज़ इसे उठवा लाया था। (३,४) चम्पारन (बिहार) जिले में अरराज के शिवालय तथा नन्दनगढ़ के किले के पास दो गाँवों में, जो दोनों लौड़िया कहलाते हैं।

(५) चम्पारन ज़िले में रामपुरवा में, (६) प्रयाग के किले में, इसमें कौशाम्बी का नाम है; इसलिये इसे प्रयाग-कोसम-साम्भ कहते हैं। सात प्रधान-स्तम्भ लेखों में से सातवाँ जो सबसे लम्बा है, केवल दिल्ली-तोपरा-स्तम्भ पर है। प्रयाग-कोसम-स्तम्भ पर दो गौण लेख भी हैं—एक रानी कारुवाकी का दानविषयक, दूसरा कौशाम्बी के महामात्यों के नाम संघ में भेद डालने के बारे में। कौशाम्बी वाले उस लेख की एक प्रति भिलसा के निकट सांची (भोपाल राज्य) में तथा एक सारनाथ (बनारस) में भी है। इन दो के अतिरिक्त, दो और गौण स्तम्भ-लेख नेपाल—तराई में तौलिहवा तहसील, बुटौल ज़िले में है; एक रुम्मिन्देई में, जिसका केवल ठूंठ बचा है, और जिसमें यह लिखा है कि राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष राजा प्रियदर्शी शाक्यमुनि बुद्ध की इस जन्मभूमि में आया; एक उसके १३ मील उत्तर पश्चिम निगलीवा गाँव के निकट है, जिसमें लिखा है कि कोनाकमन बुद्ध के इस स्तूप को प्रियदर्शीने दूना करवाया।

गौण-शिलालेख इन स्थानों पर हैं—(१) रूपनाथ, जिला जबलपुर (मध्यप्रान्त), (२) सहसराम, जिला शाहबाद; (३,४) बैराट, जयपुर-राज्य; (५) मस्की, लिंगसुगुर तालुका, जिला रायचूर (दक्षिण-भारत, मद्रास); (६,७,८) मैसूर के चीतलद्रुग ज़िले में एक सिद्धापुर में व दो उसके निकट ब्रह्मगिरि में, और जटिंग-रामेश्वर पहाड़ पर।

इन सब के अतिरिक्त गया (बिहार) जिले की बराबर नामक पहाड़ियों की तीन गुफाओं में अशोक के तीन दानसूचक लेख हैं। इस प्रकार उसके कुल ३३ छोटे बड़े अभिलेख हैं।

धर्म-लेखों के कुछ नमूने—अशोक के धर्म-लेखों को भलीभाँति समझने के लिये, कुछ लेख यहां पर दिये जाते हैं, जिनके पढ़ने से अशोक की उदात्त-वृत्ति भली-भाँति समझ में आजायगी।

प्रधान शिलालेख-१—

"यह धर्मलिपि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने खुदवाई है। यहां किसी प्राणी की हत्या या होम न करना चाहिये, और न समाज करना चाहिये, क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है।

किन्तु एक प्रकार के समाज हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है । पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में सूप के लिये प्रतिदिन सैकड़ों हजारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब जब यह धर्म्मलिपि लिखी गई केवल तीन प्राणी–दो मोर और एक मृग–मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं । आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायँगे" ।

प्रधान-शिला-लेख–८—

"बीते ज़मानों में राजालोग विहारयात्रा के लिये निकला करते थे । उस (यात्रा) में मृगया और वैसी ही अन्य मन बहलाने की बातें होतीं थीं । देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के दसवें वर्ष संबोधि (बोधिवृक्ष) को गया । तब से धर्मयात्रा चली । इसमें यह होता है–श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन, दान, वृद्धों का दर्शन और (उनके लिये) सुवर्णदान, जानपद लोगों का दर्शन, धर्म का अनुशासन, और धर्म की परिपृच्छा (जिज्ञासा) । तब से लेकर देवताओं के प्रियदर्शी राजा को इस (धर्म-यात्रा) में बहुत ही आनंद मिलता है" ।

प्रधान शिलालेख २—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित में सब जगह, और वैसेही जो अन्त है–जैसे चोळ, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरळपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक योनराजा और जो दूसरे उस अन्तियोक के समीप राजा हैं—सब जगह देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो चिकित्सायें चला दी हैं—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा । मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी ओषधियाँ जहाँ २ नहीं हैं वहाँ २ लाई गईं और रोपी गईं । जहाँ २ फल और मूल नहीं हैं वहाँ २ लाये और लगाये गये । मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के प्रतिभोग के लिये वृक्ष रोपे गये और कुएँ खुदवाये गये" ।

स्तम्भलेख–७—

"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है–मैंने मार्गों पर बरगद रोपवा दिये हैं कि पशुओं और मनुष्यों को छाँह देंगे, आमों की वाटिकाएँ रोपवाई हैं; आठ २ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाये हैं, और सरायें बनवाई हैं । जहाँ तहाँ पशुओं और मनुष्यों के प्रतिभोग के लिये बहुतसे प्याऊ बैठा दिये

हैं। किन्तु ये सब प्रतिभोग बहुत थोड़े हैं। पहले राजाओं ने और मैंने भी विविध सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इसलिये किया है कि वे धर्म का आचरण करें"।

प्रधानशिलालेख-१३—

"जो धर्म की विजय है उसे ही देवताओंका प्रिय मुख्य विजय मानता है। और वह देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने विजित में) और सभी अन्तों में-सैकड़ों योजन परे अषों (पश्चिमी एशिया) में भी जहां अन्तियोक नामी योन राजा है, और उस अन्तियोक के परे चार राजा हैं, तुरमय नामक, अन्तिकिन् नामक, मक-नामक और अलिकसुन्दर नामक, (तथा) नीचे (दक्खिन तरफ) चोळ, पाण्ड्य (और) ताम्रपर्णी वालोंतक, ऐसे ही इधर राजविषयों में, योन-कम्बोजों में, नाभक में, नाभपंक्तियों में, भोज-पितिनिकों में, अन्ध्र-पुलिन्दों में, (सभीजगह)-प्राप्त हुआ है। सभी जगह देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी जाते वे भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत्त को, विधान को और धर्मानुशासन को सुनकर धर्म का अनुविधान (आचरण) करते हैं और करेंगे। और इस प्रकार सब जगह जो विजय प्राप्त हुआ है, वह प्रीति-रस पूर्ण है"।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य्य साम्राज्य एक प्रकार से छिन्न भिन्न होगया। कुनाल, जलौक, तिवर आदि उसके पुत्रोंके बारे में कुछ पता नहीं लगता, केवल उनके नामों का उल्लेख मिलता है। उसके नाती दशरथ का पता नागार्जुन (बराबर गुफाओं के पास) गुफाओं के लेख से चलता है, जो कि आजीविकों के लिये बनवाई गईं थीं। जैनदन्त-कथाओं से मालूम होता है कि उसका सम्प्रति नामी एक ओर नाती उज्जयिनी में राज्य करता था। इसपर से स्मिथने यह निष्कर्ष निकाला है कि अशोक के पश्चात् मौर्य्यसाम्राज्य के दो टुकड़े हुए। पूर्व में दशरथ व पश्चिम में सम्प्रति राज्य करने लगा, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलीपुत्र और उज्जयिनी थीं। पुराणों से ज्ञात होता है कि इस वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ अपने सेनापति पुष्यमित्र (पुष्पमित्र) द्वारा मारा गया और शुङ्गवंश (ई० स० पू० १८५-७३) की स्थापना हुई। इसके पश्चात् कण्ववंश (ई० स० पू० ७३-२८) का आगमन हुआ। परन्तु मौर्य्य-साम्राज्य की बराबरी कोई न कर सका।

मौर्य्यकाल का सांस्कृतिकविकास—मौर्य्य-काल भारत के सर्वाङ्गीण विकास का समय था। कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्म आदि का पर्य्याप्त विकास हुआ था। कला के क्षेत्र में अशोक के स्तम्भ, व गुफाएँ (बराबर आदि की) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब पहलुओं पर यथास्थान विवेचन किया जायगा।

कुशान-वंश—(ई० स० ४०–२६०) यह वंश यूशी नाम की एक विदेशी जातिका था। इसके संस्थापक केडफिसेस 'प्रथम' (ई० स० ४०–७८) ने हिन्दुकुश के कापिश आदि प्रान्त जीते थे व इसके पुत्र केडफिसेस, 'द्वितीय' (ई० स० ७८–१२०) ने, पञ्जाब, सिन्ध, संयुक्तप्रान्त आदि भारत के भागों पर अपना राज्य स्थापित किया था, क्योंकि इसके सिक्के इन स्थानों में पाये जाते हैं[६५]। इसके पश्चात् कनिष्क (ई० स० १२०–१६०) राजा हुआ। इसके भी सिक्के दूर २ तक मिलते हैं तथा इसकी एक मूर्ति बनारस के पास सारनाथ में मिली है[६६]। इसने मध्यएशिया के काशगर, यारकन्द, खोटान आदि देश भी जीते थे। इस प्रकार यह एक विस्तृत साम्राज्य का शासक था। यह पूर्णतया भारतीय रङ्ग में रङ्गा गया था। अशोक के समान बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके प्रचार में इसने कोई कसर न उठा रखी[६७]। इसके समय में, बौद्ध धर्म के तत्त्वों को निश्चित करने के लिये काश्मीर में एक बौद्ध विद्वानों की सभा भी बुलवाई गयी थी। इसने अपने राज्य में स्थान २ पर कितने ही बौद्ध मठ बनवाये थे, जहां बौद्ध भिक्षुओं के रहने की उत्तम व्यवस्था रहती थी। आज भी इन मठों के खण्डहर अफगानिस्तान में पाये जाते हैं। इसके राजत्वकाल में 'गान्धार-कला'[६८] ने खूब विकास किया। अश्वघोषादि बौद्ध विद्वान् भी इसकी छत्रछाया में रहते थे। इसके पश्चात् वाज़ेष्क, हुविष्क आदिने राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा का नाम वासुदेव था, जिससे मालूम होता है कि यह वंश पूर्णतया भारतीय बन गया था[६९]।

गुप्तवंश—(ई० स० ३२०–६०६)

गुप्तवंश का प्रारम्भ—इस वंश का आदि पुरुष श्रीगुप्त था, जिसका उल्लेख इस काल के लेखोंमें आता है, जहां इसे 'महाराज' नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार इसके पुत्र घटोत्कच गुप्त को भी सम्बोधित किया गया है। इससे मालूम होता है कि ये दोनों किसी छोटे से राज्य पर शासन

करते होंगे। किन्तु घटोत्कचगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम (ई० स० ३२०-३३०), को पहिली बार 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इस वंशकी राजनैतिक महत्ता इसी से प्रारम्भ होती है। इसने लिच्छवी वंशीय कुमारदेवी से विवाह किया, व इसी विवाह के पश्चात् गुप्तवंश का उत्कर्ष शुरू होजाता है। इसने 'गुप्त संवत्' को भी चलाया, जिसका प्रारम्भ ई० स० ३२० में होता है। इसके राज्य के अन्तर्गत आधुनिक तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध, आदि थे। इस विस्तृत भूभाग पर उसने एकछत्र राज्य किया व अपने वीर पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

समुद्रगुप्त—(ई० स० ३३०-३७५) राज्यसिंहासनपर आते ही समुद्रगुप्त ने राज्यवृद्धि की महत्त्वाकाङ्क्षा को कार्य्यरूप में लाने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये, जिनका उल्लेख प्रयागस्थित उसके स्तम्भलेख में आता है। इस लेख से समुद्रगुप्त की व्यक्तिगत व राजनैतिक महत्ताका स्पष्ट ज्ञान होता है। उसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति, नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि, बलवर्मा आदि आर्यावर्त (उत्तरभारत) के राजाओं को हराकर उनका राज्य छीन लिया। कोसलक महेन्द्र, माहाकान्तारक व्याघ्रराज, कैरलक मण्टराज, पैष्टपुरक महेन्द्र, गिरिकौट्टुरक स्वामिदत्त, ऐरण्डपल्लक दमन, काञ्चेयक विष्णुगोप, अवमुक्तक-नीलराज, वैङ्गेयक हस्तिवर्मा, पालक्कक उग्रसेन, दैवराष्ट्रक कुबेर, कौस्थलपुरक धनञ्जय आदि सब दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) के राजाओं को उस ने जीता; किन्तु उनसे अपना आधिपत्य स्वीकार कराकर उनके राज्य वापिस लौटा दिये। इनके अतिरिक्त समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमा-राज्य, मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि व दैवपुत्र शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, सैंहलकादि सब उसके प्रभुत्त्व को स्वीकार उसकी आज्ञा शिरोधार्य्य करते थे। इस प्रकार उत्तर भारत का सम्पूर्ण प्रदेश उसके प्रत्यक्ष अधिकार में था, जिसका विस्तार पूर्व में ब्रह्मपुत्रा से लेकर पश्चिम में चम्बल तक, उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में नर्मदातक था[७०]। इसके अतिरिक्त आसामादि पूर्वी सीमा के राज्य, राजपूताना व मालवा के प्रजातन्त्र, व दक्षिण भारत के लगभग समस्त राज्य उसके प्रभुत्त्व को स्वीकार कर उसकी आज्ञा शिरोधार्य्य करते थे। उसकी अनेक विजयों को ध्यान में रखकर, स्मिथ ने उसे "भारतीय नेपोलियन" की

पदवी से विभूषित किया है। पश्चिमोत्तर के विदेशी कुशान राजाओं व सिंहलद्वीप के बौद्ध राजा मेघवर्मा (ई० स० ३५२-३७९) से भी उसका सम्बन्ध था। उन राजाओं को गुप्त-दर्बार में अपने राजदूत भेजने पड़ते थे।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त एक धार्मिक राजा था। विजय के पश्चात् उसने 'अश्वमेध' यज्ञ किया, जिसमें ब्राह्मणों को कितना ही दान दिया। इस यज्ञ की स्मृति में उसने सुवर्ण-पदक भी बनवाये थे। हरिषेण की प्रशस्ति (स्तम्भलेख) से हमें मालूम होता है कि समुद्रगुप्त गायनकला में निपुण था व एक सिद्धहस्त कवि था। उसके कुछ सोने के सिक्कों पर वह वीणा बजाता हुआ बतलाया गया है। उसकी कवित्वशक्ति के सम्बन्ध में तो उसे 'कविराज' कहा गया है। इसके अतिरिक्त वह धार्मिक साहित्य आदि का भी पठन-पाठन खूब करता था।

चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य', 'द्वितीय'—(ई० स० ३७५-४१३) समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश का प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त 'द्वितीय'[७१] था। देवीचन्द्रगुप्त नाटक के प्राप्त उद्धरणों के अनुसार समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका ज्येष्ठपुत्र रामगुप्त सिंहासन पर बैठा था। शकों के आक्रमण से डरकर इसने अपनी रानी शकराज को सौंपना स्वीकार किया। किन्तु इसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने रानी का रूप धारण कर, शत्रुका वध किया व रामगुप्त को मारकर, वह स्वतः राज्यसिंहासन पर बैठ गया[७२]। उसने 'विक्रमादित्य' की पदवी भी धारण की थी। उसने अपने पिता के पदचिह्नों में चल कर मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र या काठियावाड़ आदि राज्यों को जीत लिया, जहां पर विदेशी शक-राजा राज्य करते थे, जिन्हें इतिहास में "पश्चिमीय क्षत्रप" कहा गया है। इन राज्यों को जीतने के कारण, मिश्र आदि विदेशों से गुप्तसाम्राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होगया।

फाहियान का भारतवर्णन—(ई० स० ४०५-११) चन्द्रगुप्त-'विक्रमादित्य' के राजत्वकाल में बौद्धधर्म का अनुयायी सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान भारत-यात्रा के लिये आया था। वह यहां के विभिन्न भागों में गया व वहां जो कुछ देखा व सुना उसको उसने अपनी "भारतयात्रा" नामी पुस्तक में लिख दिया। उसके वर्णन से मालूम होता है कि उस समय देश बहुत समृद्धिशाली था, शासन-व्यवस्था उत्तम थी, व लोगों का नैतिक जीवन भी

बहुत चढ़ा बढ़ा था । उसने पाटलीपुत्र की समृद्धि व सौन्दर्य का वर्णन किया है, जहां अशोक के सुन्दर महल वर्तमान थे । उत्तर भारत में मुफ्त अस्पताल, तथा यात्रियों के लिये सराय आदि की अच्छी व्यवस्था थी । उसने मालवा की समृद्धि व सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है । फाहियान के अनुसार उस समय भारतवासी बौद्धधर्म के अहिंसा आदि सिद्धान्तों को अपने जीवन में ओतप्रोत करते थे ।

कुमारगुप्त 'प्रथम'—(ई० स० ४१३-४५५) चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के पश्चात् रानी ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमारगुप्त 'प्रथम' सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके राजत्वकाल के बारे में अधिक पता नहीं लगता । किन्तु इसके राजत्वकाल के अन्त में पश्चिमोत्तर से हूणों का जबरदस्त आक्रमण हुआ, जिसने गुप्त-साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया । यों तो मालवा, मगध आदि में गुप्तराजा बहुत समय तक राज्य करते रहे, किन्तु गुप्तसाम्राज्य पुनः अस्तित्व में न आसका ।

गुप्तों की शासनव्यवस्था—गुप्तराजाओं के स्तम्भलेख, ताम्रपत्र, मुद्रा, सिक्कों आदि से उनकी शासन-व्यवस्था के बारे में बहुत कुछ मालूम होता है । समस्त साम्राज्य को प्रान्तों में बाँटा गया था, जिन्हें "विषय" कहा जाता था। प्रान्तों के सर्वोपरि अधिकारी को साधारणतया "उपरिक" कहा जाता था। ये प्रान्तीय शासक अपने २ कर्मचारियों की नियुक्ति स्वतः कर लेते थे। केन्द्रीय शासन में राजा सर्वोपरि रहता था, किन्तु उसके मन्त्रीमण्डल का महत्व भी कुछ कम नहीं था । मन्त्रीमण्डल के सदस्य वंश-परम्परागत रहते थे, जिनमें से कुछ इस प्रकार थे-दण्डग्राहक, संधिविग्राहक, विनयस्थिति-स्थापक आदि। बड़े २ राजकर्मचारियों के चार दर्जे थे-(१) कुमारामात्य, (२) युवराजपदीयकुमारामात्य, (३) श्रीयुवराजभट्टारकपदीयकुमारामात्य, (४) परमभट्टारकपदीयकुमारामात्य। कितनी ही मुद्राओं से 'दण्डनायक', 'महाप्रतिहार' 'दण्डपाशाधिकरण' आदि राजकर्मचारियों के अस्तित्व का पता लगता है। स्थानीय शासन प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर विकसित किया गया था। नगर व ग्रामों में पञ्चायत द्वारा शासन होता था। श्रेणी, पूग आदि द्वारा समाज के आर्थिक जीवन को भी व्यवस्थित किया गया था। देहातों तक में शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब पत्र सुरक्षित रखे जाते थे । राजनियम आदि को लेखबद्ध

किया जाता था। लिखने आदि के काम करनेवाले को "पुस्तकपाल" कहा जाता था। इस प्रकार गुप्तों की शासन-व्यवस्था बहुत ही विकसित थी[७३]।

गुप्तकाल का सुवर्णयुग—गुप्तकाल को साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म आदि के विकास का सुवर्णयुग[७४] कहा जाता है। इस काल में संस्कृति का सर्वाङ्गीण विकास हुआ था। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में खूब विकास हुआ। कालिदास के समान साहित्यक दिग्गजने इसी काल में जन्म लिया। मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस आदि नाटक भी इसी समय बने। पौराणिक साहित्य ने भी अपना बहुत कुछ स्वरूप इसी समय धारण किया। मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण आदि प्राचीन महापुराणों को इसी काल की देन माना जाता है। स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला आदि का भी खूब विकास हुआ। अजन्टा व सिग्रिया (सीलोन) आदि की गुफाओं में इस समय की चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सङ्गीतकला को भी विकसित किया गया था, जिसमें समुद्रगुप्त स्वतः खूब दिलचस्पी लेता था। गणित, ज्योतिष आदि के क्षेत्रों में भी अच्छी प्रगति की गई थी। इस सम्बन्ध में आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मिश्र, रोम आदि से वैदेशिक व्यापार भी खूब चढ़ा बढ़ा था। धर्म के क्षेत्र में भक्तिमार्ग का विकास हुआ था। विष्णु की आराधना विशेषरूपसे की जाती थी। गुप्त-सम्राट् अपने को "परमभागवत[७५]" कहते थे। दर्शन के क्षेत्रमें सांख्य, बौद्ध आदि दर्शन का विकास विशेष उल्लेखनीय है।

वर्धनवंश—इस वंश का संस्थापक प्रभाकरवर्धन था, जिसने गुप्तों का अन्त करने वाले व उत्तर-भारत में अराजकता का वातावरण फैलाने वाले हूणों को मार भगाने के लिये अपने पुत्र राज्यवर्धन को पञ्जाब की ओर भेजा था। राज्यवर्धन के गौड़-नरेश शशाङ्क द्वारा मारे जाने पर, उसके छोटे भाई हर्ष ने उत्तर भारत के छोटे २ राज्यों को जीत कर, हिमालय व नर्मदा के बीच में अपना साम्राज्य स्थापित किया था[७६]। इसने दक्षिण जीतने का भी प्रयत्न किया किन्तु वहां चालुक्यवंशी पुलकेशिन् 'द्वितीय' राज करता था। वह अधिक शक्तिशाली था। उसने हर्ष को पराजित किया था। हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इस के राजत्व-काल में चीनी यात्री 'यूएनच्वेङ्' भारत में आया व उसने यहां का अच्छा वर्णन किया है[७७]।

गुर्जरप्रतिहारवंश—हर्ष के पश्चात् उत्तरीय भारत पुनः छोटे २ भागों में विभाजित हो गया। किन्तु नवीं शताब्दि के लगभग कन्नौज का गुर्जरप्रतिहारवंश आधुनिक संयुक्तप्रान्त व बिहार में अपना साम्राज्य स्थापित कर सका[७८]। इस समय बङ्गाल में पालवंश शक्ति-शाली था। सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

दक्षिण-भारत

उत्तर व दक्षिण का सांस्कृतिक व राजनैतिक सम्बन्ध—उत्तर व दक्षिण भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त ही प्राचीन काल से स्थापित हो गया था, जिसके बारे में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ इतिहासकारों का मत है कि आर्य संस्कृति ई० पू० ७ वीं या ६ वीं शताब्दि में दक्षिण भारत में फैली। किन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'दक्षिणापथ' 'दक्षिण' आदि का उल्लेख आता है, जिससे पता चलता है कि कदाचित् बहुत पहिले से ही दक्षिण भारत ने आर्य्यसंस्कृति का पाठ पढ़ा था। दक्षिण-भारत की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग अभीतक अच्छी तरह से नहीं किया गया, इसलिये दक्षिण भारत की प्राचीनता का स्पष्ट पता नहीं लग सकता। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर व दक्षिण दोनों, कितने ही पहिले से एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं। उत्तर-भारत के राजाओं ने कितनी ही बार दक्षिणको जीतने का प्रयत्न किया जैसा कि कभी २ दक्षिण के राजाओं द्वारा भी किया गया था।

दक्षिण भारत के दो भाग—भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण भारत के साधारणतया दो भाग किये जाते हैं-(१) दक्खन, व (२) दूरस्थ दक्षिण। पहिले भाग के अन्तर्गत नर्मदा के दक्षिण का भाग है जिसमें महाराष्ट्र, हैद्राबाद रियासत आदि सम्मिलित किये जाते हैं। कृष्णा व गोदावरी नदियें इसी भूभाग में से बहती हैं। इस भाग का जब से व्यवस्थित इतिहास प्रारम्भ होता है तब से यहांपर आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि शक्तिशाली राष्ट्रों ने राज्य किया।

आन्ध्र वंश (ई० पू० २३०-ई० स० २२५) आन्ध्र लोगों का सर्व प्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण[७९] में आता है, जहां उन्हें विश्वामित्र के भ्रष्ट पुत्रों में

सम्मिलित कर दस्यु कहा गया है। यूनानी राजदूत मीगास्थीनीज ने (ई० पू० ३०० के करीब) आन्ध्रों को एक शक्तिशाली राष्ट्र कहा है। अशोक के लेखों में (ई० पू० २५६) भी इनका उल्लेख है। इसके पश्चात् पुराणों में इस वंश की विस्तृत वंशावली दी है और कहा गया है कि काण्वायन वंश के पश्चात् इस वंश ने पाटलीपुत्र में अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु इस वंश के तृतीय राजा सातकरणी का उल्लेख कलिङ्गराज खारवेल के हाथीगुम्फालेख (ई० पू० १७१) में आता है। इससे ज्ञात होता है कि यह वंश काण्वायनों के पहिले से ही दक्षिण भारत में शक्तिशाली था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के पश्चात् इन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया था व पुराणों के अनुसार इनका सर्वप्रथम राजा सिमुक था, जिसने कृष्णा के दक्षिणी कछार में स्वतन्त्र आन्ध्र-राष्ट्र की स्थापना की। इस वंश के दूसरे राजा कृष्ण के राजत्वकाल में आन्ध्रराज्य गोदावरी नदी के उद्गमस्थान तक फैल गया। तीसरा राजा श्रीसातकर्णी था, जिसका उल्लेख खारवेल के लेख में है।

ई० पू० २८ या २७ वें वर्ष के लगभग आन्ध्रों द्वारा काण्वायनों का नाश किया गया। इससे मालूम होता है इस वंश का राज्य-विस्तार खूब हुआ होगा। इस वंश के राजा साधारणतया 'सातकरणी' पदवी धारण करते थे व अपने को सातवाहन वंश का कहते थे। इसलिये इन नामों की सहायतासे किसी निश्चित राजा का बोध नहीं हो सकता। अतएव काण्ववंश के उच्छेदक राजा का निश्चित पता नहीं लग सकता। इस वंश के १७ वें राजा हाल का उल्लेख महाराष्ट्री प्राकृत के काव्यग्रन्थ "सप्तशती" के लेखक के रूप में आता है।

आन्ध्रों का विदेशियों से सङ्घर्ष—इस वंश का २३ वां राजा गौतमी-पुत्र श्रीसातकर्णी व २४ वां राजा वाशिष्टीपुत्र श्रीपुलुमायी था[८०]। इनके राजत्व-काल में आन्ध्रों को क्षहरातवंशीय शक-क्षत्रपों से लड़ना पड़ा, जिनकी शक्ति का विकास दक्षिण-भारत में भी होने लगा था। ई० स० ११९ के करीब गौतमीपुत्र सातकर्णी ने क्षहरातवंश का उच्छेदन किया व उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। गोदावरी का कछार, बराड़, मालवा, काठियावाड़, गुजरात व उत्तरीय कोंकण आदि उसके राज्य में सम्मिलित थे।

उसने शक, पह्लव आदि विदेशियों का नाश कर हिन्दू व बौद्ध धर्म को फिर से उन्नत किया व ब्राह्मण व बौद्धों को कितना ही दान दिया।

ई० स० १२८ के लगभग गौतमीपुत्र श्रीसातकर्णी का पुत्र वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायी राजगद्दी पर बैठा व उसने लगभग ३० वर्ष तक राज्य किया। उसका विवाह उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् 'प्रथम' की कन्या से हुआ था। इस महाक्षत्रप ने अपने दामाद को दोबार हराया व गौतमीपुत्र द्वारा जीते गये सब प्रान्तों को वापिस ले लिया। ई० स० १५० तक रुद्रदामन् ने इस काम को पूरा कर लिया होगा, क्योंकि उस वर्ष उसने गिरनार में अपना एक शिलालेख खुदवाया, जिसमें आन्ध्र-राजा पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है।

वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी के पश्चात् महत्त्व का राजा यज्ञश्री (ई० स० १६६-१९६) हुआ, जिसके कुछ चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो कि शकक्षत्रप के सिक्कों के समान हैं। इससे मालूम होता है कि कदाचित् उसने क्षत्रपों से कुछ प्रान्त पुनः जीत कर आन्ध्रराज्य में मिला लिये गये होंगे। इस प्रकार, पुराणों के अनुसार इस वंश के ३० राजाओं ने लगभग ४५६ या ४६० वर्ष तक राज्य किया।

आन्ध्रराज्य में सांस्कृतिक विकास—आन्ध्र राजाओं के शिला व गुफाओं के लेखों के सहारे तत्कालीन सांस्कृतिक विकास का स्पष्ट ज्ञान होता है व सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति का बोध होता है[८१]। इस समय बौद्ध व हिन्दू-धर्म दोनों की खूब प्रगति हुई। दक्षिण की लगभग सब बौद्ध गुफाएँ इसी समय बनवाई गई व उनमें रहनेवाले भिक्षुओं के उदरनिर्वाह के लिये कितने ही गांव दान में दिये गये थे। आन्ध्रराजा स्वतः ब्राह्मणों के अनुयायी थे। उन्होंने अश्वमेध, गवामयन आदि कितने ही यज्ञ किये तथा ब्राह्मणों को कितनी ही दक्षिणा दी। इस समय भक्ति-मार्ग का ज़ोर था। शिव, कृष्ण (संकर्षण, वासुदेव), इन्द्र, धर्म आदि देवताओं की आराधना की जाती थी। कितने ही शक व आभीरों ने हिन्दू-धर्म स्वीकार लिया था। आर्थिक दृष्टि से समाज के साधारणतया चार वर्ग थे। पहिले में महारथी, महाभोज, व महासेनापति थे, जो कि 'राष्ट्र' (जिला) के ऊपरी थे। दूसरे वर्ग में अमात्य, महामात्र, भाण्डागारिक, नैगम, सार्थवाह, श्रेष्ठिन् आदि थे।

तीसरे में लेखक, वैद्य, हालकीय (किसान), सुवर्णकार, गान्धिक आदि व चौथे में वर्धकी (बढ़ई), मालाकार, लोहवणिक, दासक (मछुआ) आदि का समावेश होता है। चांदी व तांबे के कार्षापन आदि इस समय के सिक्के थे। भिन्नभिन्न व्यवसायों को श्रेणी, पूग आदि द्वारा व्यवस्थित व सुसंगठित किया गया था। इस समय वैदेशिक व्यापार भी खूब चढ़ा बढ़ा था। पश्चिम से व्यापारी जहाज लालसागर होते हुए भारत के पश्चिमी किनारे के बन्दरस्थानों पर आते थे। इस प्रकार आन्ध्रकाल में पर्य्याप्त रूप से समाज का आर्थिक विकास हुआ था।

चालुक्य-वंश—(ई० स० ५५०-७५३) आन्ध्रों के पश्चात् दक्खन के राजनैतिक इतिहास के बारे में निश्चितरूप से कुछ नहीं मालूम होता, किन्तु ईसा की ६ वीं सदी के मध्यभाग में पुलकेशिन् 'प्रथम' ने इस भूभाग में चालुक्य (सोलंकी) वंश[८२] की स्थापना की व अपनी राजधानी 'वातापि' (बीजापुर ज़िलेका बादामी) में स्थापित कर राज्यविस्तार प्रारम्भ किया। उसके पुत्र कीर्तिवर्म्मा व मंगलेश ने पूर्व व पश्चिम में राज्य का विस्तार किया। पुलकेशिन् 'द्वितीय' (ई० स० ६०८-६४२, कीर्तिवर्म्मा का पुत्र) राजा बना व उसने लगभग २० वर्ष तक लड़कर लाट (दक्षिण गुजरात), गुर्जर (उत्तर गुजरात व राजपूताना), मालवा, कोंकण आदि देशों को अपनी शक्ति का परिचय दिया। पूर्व में उसने कृष्णा व गोदावरी के मध्यवर्ती वेङ्गी को जीत लिया। चोल, पाण्ड्य, केरल आदि सुदूर दक्षिण के राजाओं से भी उसने युद्ध किये। नर्मदा के दक्षिण में निस्संदेह वह सबसे शक्तिशाली राजा था।

ई० स० ६२० के लगभग उसने हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति को रोक दिया व हर्ष को नर्मदा नदी को अपने साम्राज्य की सीमा मानना पड़ा। प्रसिद्ध चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग पुलकेशिन् के दर्बार में आया था व उसने उसके राज्य की समृद्धि का सुन्दर वर्णन भी किया है।

ई० स० ६४२ के लगभग पल्लवराजा नरसिंहवर्म्मा ने पुलकेशिन को बुरी तरह हराया व कदाचित् चालुक्यराज की मृत्यु भी इसी युद्ध में होगयी। इसके परिणामस्वरूप लगभग १३ वर्ष तक चालुक्यशक्ति का अस्तित्व न रहा, किन्तु ई० स० ६५५ में पुलकेशिन् के पुत्र विक्रमादित्य 'प्रथम' ने पल्लवों को

बुरी तरह हरा कर, चालुक्यवंश को पुनः शक्तिशाली बना दिया। किन्तु पल्लवों से चालुक्यों का युद्ध तो जारी ही रहा। ई० स० ७४० के लगभग विक्रमादित्य 'द्वितीय' ने पुनः पल्लव-राजधानी पर अधिकार जमा लिया। ई० स० ७५३ के लगभग प्राचीन राष्ट्रकूट वंश के दन्तिदुर्ग ने विक्रमादित्य 'द्वितीय' के पुत्र व उत्तराधिकारी कीर्तिवर्म्मा 'द्वितीय' को हरा दिया। इस प्रकार चालुक्य-वंश का अन्त हो गया व दक्खन की राजनैतिक बागडोर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई[८३] और लगभग सवा दो सौ वर्ष तक उन्हीं के हाथ में रही। किन्तु चालुक्यवंश की उपशाखाएँ पूर्व व पश्चिम में के छोटे २ भागों में बहुत समय तक जीवित रहीं।

चालुक्य-राज्य में धार्मिक परिवर्तन—चालुक्यवंश के दो सौ वर्ष के राज्य में बहुतसे धार्मिक परिवर्तन हुए। बौद्ध मत की अबनति प्रारम्भ हो गई थी। हिन्दू व जैन धर्म उत्कर्ष की ओर कदम बढ़ा रहे थे। यज्ञादि से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का अच्छा विकास होने लगा व इस सम्बन्ध के ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। पुराणों में वर्णित हिन्दू-धर्म का स्वरूप अधिक लोकप्रिय होने लगा व विष्णु, शिव आदि पौराणिक देवताओं के कितने ही भव्य मन्दिर बनवाये गये। बौद्ध व जैन की देखादेखी हिन्दू भी गुफा-मन्दिर बनवाने लगे। मंगलेशचालुक्य द्वारा बनवाया हुआ विष्णुमन्दिर गुहा-मन्दिरों का सुन्दर नमूना है। इसी काल में ई० स० ७३५ के करीब ज़रतुश्त धर्म के अनुयायी पारसी लोग भी सर्व प्रथम पश्चिमी भारत में आकर बसे।

राष्ट्रकूट-वंश—(ई० स० ७५३-९७३) दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसका काका कृष्ण 'प्रथम' राजगद्दी पर बैठा व उसने चालुक्यवंश के अधिकार में जितने प्रान्त थे उन सबों पर अपना अधिकार जमा लिया। इसी के राजत्व-काल में निजामराज्यान्तर्गत इलोरा का सुप्रसिद्ध "कैलाश मन्दिर" बनवा गया। इस मन्दिर को पहाड़ में कोरा गया है, जोकि कला का उत्कृष्ट नमूना है। गोविन्द 'द्वितीय' व ध्रुव का राजत्वकाल विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था। गोविन्द 'तृतीय' (ई० स० ७९३-८१५) ने विन्ध्यपर्वत व मालवा से लेकर दक्षिण में काँची तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके पश्चात् अमोघवर्ष (ई० स० ८१५-७७) ने लगभग ६२ वर्ष तक राज्य किया व वह पूर्वी चालुक्य राजाओं से हमेशा लड़ता रहा। वह अपनी राजधानी को नासिक

से मान्यखेत (मालखेड़) में ले आया। इस समय दिगम्बर-जैन मत का खूब विकास हुआ। इन्द्र 'तृतीय' (ई० स० ९१४-१६) ने कन्नौज पर सफल आक्रमण किया। इस वंश का अन्तिम राजा कक्क द्वितीय था, जिसे चालुक्य-वंशीय तैलप 'द्वितीय' ने हराया व पुनः चालुक्यवंश की स्थापना की। इस वंश को कल्याणी के चालुक्य कहा जाता है। इस वंश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया।

कल्याणी के चालुक्य (ई० स० ९७३-११९०)—चालुक्यवंश के उद्धारक तैलप ने लगभग २४ वर्ष तक राज्य किया और इस काल में उसने गुजरात के अतिरिक्त प्राचीन चालुक्य राज्य के सब प्रान्त जीत लिये। धारा के परमार राजा मुञ्ज से उसको बहुत लड़ना पड़ा। उसके पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय राजा बना, जिसके राजत्वकाल में चोल-राजा राजराज ने चालुक्य-राज्य पर आक्रमण किया। ई० स० १०५२ में चालुक्य-राजा सोमेश्वर 'प्रथम' जो 'आहवमल्ल' भी कहाता था, कृष्णा के किनारे चोल-राजा राजाधिराज से लड़ा। इस युद्ध में चोल-राजा की मृत्यु हुई। विक्रमादित्य 'षष्ठ' या 'विक्रमाङ्क' जिसके जीवनचरित्र का वर्णन बिल्हण द्वारा "विक्रमाङ्कदेव चरित" में किया गया है, अपने भाई सोमेश्वर 'द्वितीय' को हराकर स्वतः राजगद्दीपर बैठ गया। उसने ई० स० १०७६ से ई० स० ११२६ तक राज्य किया। उसने काँची जीता व वह दोरासमुद्र (मैसूर) के 'होयसाल' राजा से खूब लड़ा। उसकी मृत्यु के पश्चात् चालुक्य-शक्ति क्षीण होने लगी। ई० स० ११५६-६२ के दरम्यान तैलप 'तृतीय' के सेनापति विज्जनकालचुर्य ने विद्रोह किया व अधिकांश राज्य पर कब्जा कर लिया। ई० स० ११८३ में चालुक्य-वंशीय सोमेश्वर 'चतुर्थ' ने विज्जन के उत्तराधिकारियों से अपना राज्य छीन लिया, किन्तु थोड़े ही समय बाद देवगिरि के यादवों ने आक्रमण किया व ई० स० ११९० में कल्याणी के चालुक्य-वंश का अन्त होगया।

देवगिरि के यादव (ई० स० ११९०-१३१८)—देवगिरि (आधुनिक निज़ामराज्यस्थ दौलताबाद) के यादवराजा चालुक्यों के सामन्तकों के वंशज थे। देवगिरि व नाशिक के मध्यवर्ती भूभाग पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया[८४]। भिल्लम यादव ने सर्वप्रथम महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। वह

११९१ में होयसाल राजा द्वारा युद्ध में मारा गया। सबसे अधिक शक्तिशाली राजा सिंघन था, जो ई० स० १२१० में राजगद्दी पर बैठा। उसने गुजरात व अन्य राज्यों पर आक्रमण कर यादव-राज्य का विस्तार किया। ई० स० १२९४ में दिल्ली के अलाउद्दीन खिलजी ने इस राज्य पर आक्रमण किया व यादव राजा रामचन्द्र को उसके सामने झुकना पड़ा। ई० स० १३०९ में मलिक काफूर ने पुनः आक्रमण किया और रामचन्द्र को पुनः झुकना पड़ा। इस प्रकार यादव-शक्ति क्षीण हो गई व ई० स० १३१८ में उसका अन्त होगया। सुप्रसिद्ध संस्कृत लेखक हेमाद्रि रामचन्द्र के राजत्त्व-काल में हुआ, जिसने धर्मशास्त्रसम्बन्धी कितने ही साहित्य का निर्माण किया।

दूरस्थ दक्षिण के राज्य

तामिल देश—दूरस्थ दक्षिण के अन्तर्गत कृष्णा व तुङ्गभद्रा के दक्षिण का भारत आ जाता है। आधुनिक मद्रासप्रान्त (विजगापट्टम व गंजामके जिलों को छोड़कर) तथा मैसूर, कोचीन, त्रावणकोर आदि देशीराज्य इसमें सम्मिलित किये जासकते हैं। इसका ऐतिहासिक विकास शेष भारत के विकास से साधारणतया अलग रहा है। यह भाग पूर्णतया तामिल जाति व भाषा का है। इसलिये प्राचीनकाल में इस का अधिकांश "तामिलकम" (तामिल देश) कहलाता था। प्राचीन काल से ही यहां तीन शक्तिशाली राज्य पाण्ड्य, चोल, चेर या केरल विकसित हुए थे[८५], जिनका ब्यौरा नीचे दिया जाता है।

पाण्ड्यराज्य—आधुनिक मदुरा व तिन्नवल्ली के जिले तथा त्रिचन्नापल्ली व त्रावणकोर का कुछ भाग इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। कात्यायन, मीगास्थीनीज़ आदि ने पाड्यों को उल्लिखित किया है। ई० पू० २० वें वर्ष के लगभग किसी पाण्ड्य (पेण्डियन) राजा ने अपने दूत, ऑगस्टस सीज़र के राजत्वकाल में रोम भेजे थे। प्लिनी द्वारा ज्ञात होता है कि ईसा की पहिली सदी में इस राज्य की राजधानी मदुरा या कूदल थी। इसके पूर्व कदाचित् कोरकई अधिक महत्त्वशाली रहा हो।

पाण्ड्यवंश के राजा—प्राचीन तामिल साहित्य में कितने ही प्राचीन राजाओं का उल्लेख आता है, किन्तु इनके बारे में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नेदुम-चेलियन राजा ही सर्वप्रथम राजा है, जिसके बारे

में तिथिक्रम की दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। उसका समय ईसा की दूसरी सदी बताया जाता है व वह चोल-राजा नेदुमुदि कीली, चेर-राजा चेंकुत्तुवन व सिंहल के गजबाहु का समकालीन था। एक शिलालेख से ईसा की ५ वीं शताब्दि के मध्य से तो १० वीं के प्रारम्भ तक के राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका और कोई वर्णन नहीं है। ८ वीं सदी के अरिकेसरिन् के बारे में कहा जाता है कि उसने पल्लवों को हराया। ९ वीं सदी के उत्तरार्ध में वरगुनवर्म्मन् को अपराजित पल्लव ने हराया। इस समय चोल-राज्य बहुत ही अशक्त था, इसलिये पल्लवों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की सब जिम्मेवारी पाण्ड्यों पर आपड़ी थी। १० वीं सदी के प्रारम्भ से चोल-शक्ति बढ़ने लगी, जिसके सामने पाण्ड्य राजाओं को झुकना पड़ा। ई० स० ९९४ चोल-राजा राजराजा के समय पाण्ड्यों का राज्य बहुत घटा दिया गया था व उन्हें चोलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। यह परिस्थिति लगभग दो सौ वर्ष तक रही। १३ वीं सदी के उत्तरार्ध में पाण्ड्यों के उत्कर्ष का पुनः प्रारम्भ होने लगा।

सांस्कृतिक विकास—पाण्ड्यों के राजत्वकाल में समाज में बहुत से धार्मिक परिवर्तन भी हुए। हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रचार प्राचीन काल से ही होगया था। यहां कलादि का भी विकास किया गया था। वैदेशिक व्यापार भी खूब उन्नत था। मोती आदि के उद्योगधन्दे तो विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। कोरकाई, कायल आदि प्राचीन नगर व्यापार के ज़बरदस्त केन्द्र थे।

केरल-राज्य—केरल का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के लेखों में आता है। प्लिनी, 'पेरिप्लस' के लेखक आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। प्राचीन तामिल साहित्य में, जिसका प्रारम्भ ईसा की पहिली सदी से होता है, लिखा है कि केरलराज्य के पांच 'नाडु' (ज़िले) थे जैसे पूली, कुदम, कुद्दम, वेन, व कर्का। ये सब पोनानी नदी से कन्याकुमारी तक फैले हुए थे। तामिल साहित्य में चेनकुट्टुवन आदि राजाओं के नाममात्र उल्लिखित हैं। १२ वीं सदी के प्रारम्भ में चोल-साम्राज्य में दक्षिण केरल (त्रावणकोर) सम्मिलित कर लिया गया था। केरल-राज्य का वैदेशिक व्यापार बहुत चढ़ा बढ़ा था, व आर्थिक दृष्टि से यह राज्य समृद्धिशील था।

चोल-राज्य—चोलों का उल्लेख भी अशोक के लेखों में है। उनका

राज्य, जो कि "चोलामंडलम्" कहलाता था, पेन्नार व वेल्लूर नदी के मध्य में पाण्ड्य–राज्य के उत्तर–पूर्व में था। चोलों के प्रारम्भिक इतिहास के लिये संगम–साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है, जिसमें कुछ प्राचीन राजाओं का अस्पष्ट उल्लेख है। महावंश के अनुसार ई० पू० दूसरी सदी में 'एलार' नामी चोलराजा ने सिंहलद्वीप को जीता था। ईसा की दूसरी सदी के मध्य में करिकाल राजा के राजत्वकाल से चोलों का ऐतिहासिक युग शुरू होता है। इस राजाने केरल व पाण्ड्यों को हराया था। उसने सिंहल द्वीप पर भी आक्रमण किया। उसने कावेरीपट्टनम् को बसाकर वहां अपनी राजधानी रखी। इसके राजत्वकाल में चोल–शक्ति का खूब विकास हुआ।

करिकाल का उत्तराधिकारी उसका नाती नेदुमुदी–किल्ली था। उसके राजत्वकाल में चोल–शक्ति क्षीण होने लगी। पाण्ड्य, केरल, पल्लव आदि ने चोलराज्यपर आक्रमण किये। इसके पश्चात् कुछ सदियों तक चोलों का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा। किन्तु ईसा की ८ वीं सदी में पल्लवों के पतन के पश्चात् चोलशक्ति का पुनः उत्थान हुआ। विजयालय ने पल्लव व पाण्ड्यों के झगड़ों का लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विकास किया व अपनी राजधानी तंजौर में रखी। उसका पुत्र आदित्य ई० स० ८८० में राजा बना व उसने पल्लवों को बुरी तरह से हराया। उसके पुत्र परान्तक 'प्रथम' ने पाण्ड्यों को हराया व उनकी राजधानी मदुरा पर कब्जा कर लिया। इसके राजत्वकाल के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूटों ने चोलराज्य पर आक्रमण शुरू किये, यहां तक कि वे लोग काञ्ची व तंजौर तक भी पहुँच गये थे। उत्तरमल्लूरके लेख परान्तक के राजत्वकाल के हैं, जिनसे तामिल देश की पञ्चायतादि की व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

ई० स० ९८५ में जब चोलराजा राजराज सिंहासन पर आया, तब चोल–राज्य का उत्तर का भय जाता रहा, क्योंकि चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों को हरा दिया था। अब चोलवंश के सुवर्ण–युग का प्रारम्भ हुआ। अपने राजत्व-काल के पहिले दस वर्षों में राजराज ने पाण्ड्य–राज्य पर अपना अधिकार मजबूत किया व केरल–राज्य को भी जीत लिया। उसने उत्तर दिशा में अपने राज्य की वृद्धि की व वह कलिङ्ग तक भी पहुँच गया। इस प्रकार ईसा की ११

वीं सदी के प्रारम्भ में चोलों का राज्य समस्त दक्षिण भारत में फैला हुआ था व सिंहलद्वीप भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया था । अपने राजत्वकाल के अन्तिम काल में राजराज को चालुक्यों से भी लड़ना पड़ा । अपने राज्य के १२ वें वर्ष में उसने तंजौर में राजराजेश्वर का महान् मन्दिर बनवाया ।

ई० स० १०१२ में राजेन्द्र उत्तमचोल राजा बना । उसने चालुक्यों से लड़ाई की, सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया व केरल-राजको हराया । ई० स० १०२० में चालुक्य-राजा जयसिंह 'तृतीय' को हरा कर वह उत्तर की ओर बढ़ा व कलिङ्ग, कोशल आदि जीतता हुआ बङ्गाल पहुँचा, जहां के राजा गोविन्द्रचंद्र व महीपाल को भागना पड़ा । इस प्रकार वह गङ्गा तक पहुँच गया व उसने "गङ्गाईकोन्डा" की पदवी धारण की । कदाचित् उसने अपनी नौका-सेना मलाया प्रायःद्वीप में भी भेजी थी । उसने चोलापुरम् नाम की नयी राजधानी बसाई, जिसमें सुन्दर मन्दिर, महल, नहरें आदि बनवाईं गईं थीं । उसने ई० स० १०४२ तक राज्य किया ।

राजेन्द्र का पुत्र व उत्तराधिकारी राजाधिराज था । उसे पड़ोस के विद्रोही राजाओं से लड़ना पड़ा, जोकि उसके पिता का बदला उससे लेना चाहते थे । पाण्ड्य, केरल, चालुक्य, सिंहल आदि के राजाओं को उसने हराया । इसके पश्चात् उसने अश्वमेधयज्ञ किया व 'जयकोण्ड चोल' की पदवी धारण की । चालुक्यों से पुनः युद्ध शुरू हुआ व तुङ्गभद्रा के किनारे कोप्पम की लड़ाई में चोल-राजा मारा गया । इसके पश्चात् चोल-राज्य की बागडोर राजाधिराज के भाई राजेन्द्र ने अपने हाथों में ली व उसे भी चालुक्यों से लड़ना पड़ा । ई० स० १०६३ में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई वीर राजेन्द्र राजा बना । उसे भी चालुक्यों से लड़ना पड़ा । सिंहल के राजा विजयबाहुने भी चोलों के विरुद्ध विद्रोह किया । ई० स० १०७० में राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र राजा बना व केवल चार वर्ष बाद उसकी हत्या हुई । इसके पश्चात् चोलों का महत्त्व घट गया ।

पल्लववंश—ईसा की ५ वीं से ९ वीं सदी में दक्षिण-भारत में पल्लव-वंश अत्यन्त ही शक्तिशाली रहा । सबसे अधिक विस्तार के समय पल्लव-राज्य में चोलराज्य का पूर्वी किनारे का अधिकांश भाग व आन्ध्र-सातवाहन राज्य

का भाग सम्मिलित किया गया था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि पल्लव लोग विदेशी थे।

प्राचीन पल्लवराजा—गुंटुर जिले में पाये गये पल्लव-वंश के ताम्रपत्रों से मालूम होता है कि प्राचीन काल में काञ्ची में एक राजा राज्य करता था व उसका राज्य कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। ये ताम्रपत्र प्राकृत में है व ईसा की तीसरी व चौथी शताब्दि के मालूम होते हैं। यह राजा कदाचित् "काञ्ची का विष्णुगोप" हो, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तम्भ-लेख में आता है। ईसा की ६ वीं शताब्दि से ८ वीं शताब्दि के उत्तरार्ध तक पल्लव व चालुक्य स्वाभाविक शत्रुओं के समान खूब लड़ते रहे। ई० स० ५७५ के करीब सिंहविष्णु पल्लवों का राजा था। कहा जाता है कि इसने तामिल राजाओं व सिंहल–राज को हराया था। इसका पुत्र व उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्म्मन् 'प्रथम' (इ० स० ६००–२५) था, जिसने त्रिचनापल्ली, चिंगलपेट, उत्तरअर्काट, दक्षिण अर्काट आदि जिलों में चट्टानों में मन्दिर खुदवाये। इ० स० ६०९–१० के लगभग पुलकेशिन् 'द्वितीय' ने इसे हराया व वेङ्गी का प्रान्त चालुक्यराज्य में मिला लिया। यह पहिले जैन था, बाद में शैव बन गया।

नरसिंहवर्म्मन् 'प्रथम' (इ० स० ६२५–४५) महेन्द्रवर्म्मन् का उत्तराधिकारी था। इसके राजत्व-काल में पल्लव–शक्ति व पल्लव–कला अपने उत्कर्ष को पहुँच गइ थी। इसने चालुक्य–राजा पुलकेशिन् को हरा कर उसकी राजधानी वातापि पर अधिकार कर लिया। इ० स० ६४० के करीब चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग काञ्ची आया था। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में काञ्ची का अच्छा वर्णन किया है। कितने ही अच्छे २ मन्दिर भी इस राजा के काल में बनवाये गये। परमेश्वरवर्म्मन् के राज्य में चालुक्यों की शक्ति बढ़ी व उन्हों ने काञ्ची पर भी अधिकार कर लिया था। चालुक्य व पल्लवों की लड़ाई नंदीवर्म्मन् आदि के राजत्वकाल में भी चालू रही। अपराजित पल्लव ने पाण्ड्य राजा को हराया किन्तु चोल–राजा ने उसे ही हरा दिया। इसके पश्चात् इ० स० ७४० के लगभग चालुक्यों की विजय के परिणामस्वरूप पल्लवों की शक्ति क्षीण होगई व उनका स्थान चोलों ने ग्रहण किया। इस पतन के काल में भी पल्लवों ने राष्ट्रकूटों से, जिन्हों ने अब चालुक्यों का स्थान ग्रहण कर लिया था, युद्ध जारी रखा। किन्तु धीरे २ उनकी शक्ति का ह्रास होगया।

राजपूतवंश—ईसा की दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दि में विभिन्न राजपूत-वंश भी भारत के अधिकांश भागों में शक्तिशाली हुए थे। दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, कन्नौज के गहरवार, धारके परिमार, चित्तौर के गुहिलौत, जोधपुर के राठौर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं[८६]। इसी प्रकार पञ्जाब में भी छोटे २ स्वतन्त्र राज्य थे। ये राजवंश आपस में भी लड़ा करते थे। परिणामस्वरूप महमूद गज़नवी, मुहम्मद गौरी आदि को भारत में पैर जमाने का अच्छा अवसर मिल गया। इस प्रकार ईसा की १२ वीं शताब्दि के पश्चात् से मुस्लिमों के पैर भारत में जमने लगे। आधुनिक इतिहासकार यह मान बैठे हैं कि मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीयों के लिये बहुत ही शक्तिशाली थे व उन्होंने थोड़े ही समय में भारत में मुस्लिमसाम्राज्य स्थापित कर लिया। इस साम्राज्य को पठानसाम्राज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। किन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। मुसलमानों ने अपना पैर भारत में जमा लिया था, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था। दिल्ली, आगरा आदि बड़े २ शहरों व उनके आसपास के कुछ स्थानों पर अधिकार कर लेने से साम्राज्य नहीं बन जाता। अकबर के पूर्व कोई भी मुस्लिम भारत में साम्राज्य स्थापित न कर सका था। मुहम्मद तुगलक, अलाउद्दीन खिलजी आदि दूर २ तक जाते थे व अपनी विजय-पताका फहराते थे, किन्तु उनकी पीठ फिरते ही उन जीते हुए स्थानों के लोग पुनः स्वतन्त्र हो जाते थे। यहां तक कि इन मुस्लिम विजेताओं द्वारा नियुक्त किये गये प्रान्तीय मुस्लिम शासक भी स्वतन्त्र हो जाते थे। इस काल में भारत का अधिकांश भाग हिन्दुओं के ही अधिकार में था।

मुस्लिमों से राजपूतों का विरोध—इस समय हिन्दू-राजा विशेष कर राजपूतराजा चुपचाप नहीं थे। उन्हों ने लगातार मुस्लिमों का विरोध किया। इस समय का इतिहास तो राजपूतों द्वारा किये गये विरोधों से भरा हुआ है[८७]। उनकी वीरगाथाएँ आज भी राजपूताने में गाई जातीं हैं। राजपूत-रमणियों ने अपने सतीत्त्व की रक्षा के लिये किस प्रकार अग्नि का आलिङ्गन कर जौहर-व्रत किया, यह कौन नहीं जानता? इस प्रकार अकबर के समय तक याने ईसा की सोलहवीं शताब्दि तक इस सतत वीरतापूर्ण विरोध के कारण मुस्लिमसाम्राज्य स्थापित न होसका। मुस्लिमों के आपसी झगड़े भी

इसके कारण हो सकते हैं। अकबर इस पहेली को समझ गया व उसने कुटिल-नीति से काम लिया। जो राजपूत मुस्लिम-तलवार से वश में न किये जा सके, वे अकबर के मीठे व चुपड़े शब्दों पर फिसल गये। जो राजपूत रमणियें सतीत्त्वरक्षा के लिये हँसते २ अग्नि का आलिङ्गन करतीं थीं, उन्हीं में से कुछ अब मुगल-हरम की सजावट[८८] बन गईं। जहांगीर, शाहजहां आदि में माता की ओर से राजपूतरक्त ही प्रवाहित होता था। जो राजपूत योद्धा 'तुरकड़े' का विरोध करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे, अब उन्हीं में से मानसिंह, जयसिंह, यशवन्तसिंह आदि के समान मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ बन गये[८९]। मुगलों की ओर से जयसिंह का वीरवर शिवाजी से लड़ने जाना क्या हमारे राष्ट्रीय, नैतिक व राजनैतिक अधःपात का उदाहरण नहीं है? किन्तु ऐसे समय में भी चित्तौड़ के प्रताप ने राजपूतों की व स्वतन्त्र-भारत की नाक रख ही[९०] ली। उसने जीवन भर अनेकों विपदाओं को झेला, बच्चों को जंगलों भटकाया, उन्हें घांस की रोटी तक नसीब न होती थी, किन्तु फिर भी उस वीर प्रताप ने मातृभूमि की सेवा से मुख नहीं मोड़ा।

मुगलों का अधःपतन—इस प्रकार अकबर द्वारा स्थापित मुस्लिम-साम्राज्य भी यथार्थ में हिन्दू-मुस्लिम दोनों के प्रयत्नों का फल था[९१]। जब तक इस साम्राज्य के राजपूतस्तम्भ दृढ़ रहे, तब ही तक यह टिका रहा। जब औरङ्गज़ेब ने अपनी धर्मान्धता की कुल्हाड़ी से इन स्तम्भों को तोड़ डाला, तब एकदम यह साम्राज्य भी गिरकर टूक २ होगया[९२]। इसी धर्मान्धता ने भारतीयों में पुनः राष्ट्रभाव व क्षात्रतेज जागृत कर दिया। पञ्जाब में सिक्खों ने, राजपूताने में राजपूतों ने व दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्त्व में वीर मरहटों ने विधर्मियों को हराकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का बीड़ा उठाया। इस काम में उत्तर व दक्षिण में खूब सफलता प्राप्त हुई।

मरहटों का उदय—दक्षिण में शिवाजी ने औरङ्गज़ेब के छक्के छुड़ा दिये थे। उसके पश्चात् पेशवाओं ने भी शिवाजी के कार्य को आगे बढ़ाया व 'हिन्दूपदपादशाही' के सूचक भगवे झंडे को अटक से कटक तक फहराया[९३]। माहादजी सिंधिया के समान वीर मरहटों ने दिल्ली जाकर तत्कालीन मुगल-सम्राट को भी अपनी देखरेख में लेलिया। पानीपत की तीसरी लड़ाई

(ई० स० १७६१) में यदि सदाशिवभाऊ अपने मन की न करता, तो विजय मरहटों की ही होती व भारत का इतिहास कुछ और ही होता। किन्तु हमारा दुर्भाग्य, ऐसा न होसका।

सिक्खों का उत्कर्ष—उधर पञ्जाब में सिक्खों ने भी अपने पैर खूब जमाये। पहिले तो उन्हें मुगलशासकों की धर्मान्धता के कारण आत्मबलि देनी पड़ी। इसके पश्चात् जब स्वतन्त्रता की अग्नि उनके हृदयों में जलने लगी, तब उनका सामना कोई न कर सका। अपने राजा रणजीतसिंह के नेतृत्व में इन्होंने तमाम सीमाप्रान्त, सिन्धु के कछार आदि पर अपनी धाक जमाली। पठान-स्त्रियों पर वीरवर हरिसिंह नलुआ की धाक इसतरह जमी कि आज भी पठान-स्त्रियें अपने रोते बच्चों को 'नलुए' का नाम लेकर चुप करती हैं।

अंग्रेज़ों का प्रभुत्व—वणिक्-वृत्ति अंग्रेज़ भी ईसा की सत्रहवीं शताब्दि से भारत में बसने लगे थे। उन्हों ने यहां की राजनैतिक उथल-पुथल में भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। ज्यों २ समय बीतने लगा, त्यों २ भारतीय अराजकता में इनकी बन बैठी। इनके वीर तथा कुटिल नेताओं ने बङ्गाल आदि में अपना राज्य जमाना प्रारम्भ किया। अन्त में जब तक इन्हों ने मरहटों व सिक्खों को परास्त नहीं किया, तब तक ये भारत के शासक कहलाने की हिम्मत न कर सके। इस प्रकार १८५८ के पश्चात् अंग्रेजों का राज्य समस्त भारत में पूर्णतया स्थापित होगया व भारतीयों का क्षात्रतेज भी बिदा होगया। साम्राज्य संस्थापकों के वंशज, क्या अकबर के, क्या शिवाजी के, नाममात्र को भी शेष न रहे। इस प्रकार इक्ष्वाकु, पुरुरवस्, सगर, भरत, मान्धाता, अर्जुनकार्तवीर्य, राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप, शिवाजी आदि के प्रिय भारत ने एक अननुभूतपूर्व जीवन में पदार्पण किया, साथही क्षात्रतेज का सूर्य्य भी अस्त होगया। किन्तु अब सत्य, अहिंसा व तप के अवतार महात्मागान्धी के रूप में जो 'ब्राह्म सूर्य्य' उदित हुआ है, उस की उज्ज्वल किरणें अपने पुनीत प्रकाश से भारत को पुनः देदीप्यमान कर रहीं हैं। कदाचित् उन किरणों का प्रकाश विश्व में भी फैल जाय।

अध्याय ३

संस्कृति

संस्कृति का भावार्थ—'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति' 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है[१]। यह अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से हुआ। किन्तु इस का भावार्थ अधिक विशद व विस्तृत है। 'संस्कृति' से मानव-समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे 'सुधरा हुआ' 'ऊँचा' 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। देश २ के आचार विचार भिन्न रहने से सुधार सम्बन्धी भावना भी भिन्न रहती है। इसी लिये अलग २ देशों की संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। यदि इस पर अच्छी तरह विचार किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि इस भिन्नता के अन्तर्गत एकता अवश्य है। इसलिये भिन्नता केवल बाह्य है, न कि आन्तरिक। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक से रहते हैं; देश-काल के अनुसार बाह्य स्वरूप में अन्तर होना स्वाभाविक ही है[२]।

संस्कृति का उद्देश्य—ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का सम्यक् विकास—मनुष्य को जिस परमात्मा ने उत्पन्न किया है, उसी ने उसमें प्रारम्भ से ही बीजरूप से तीन प्रकार की शक्तियें भरदी हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर, मन व आत्मा से है। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्ति का विकास ही संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है। जिस संस्कृति में इस विकास का जितना आधिक्य है, वह उतनी ही ऊँची मानी जायगी। इसे 'संस्कृति' की कसौटी भी कहा जा सकता है।

परमात्मा ने मनुष्य-मात्र को शरीर दिया है, जिसको चर्मचक्षुओं से देखा जा सकता है, व जिसे भारत की दार्शनिक भाषा में "स्थूलशरीर" कहते हैं। गर्भस्थिति से लेकर चितारोहण या गर्तप्रवेश तक इस पांच तत्त्व के पुतले का कैसा विकास होता है, यह एक पहेली है। इस विकास का व शरीर के विभिन्न अङ्गों का सम्यक् अध्ययन किया जाय तो यह रहस्य कुछ

२ समझ में आने लगेगा। इसी प्रकार तो 'शरीरशास्त्र' के भिन्न २ अङ्गों (Physiology, Anatomy etc.) का विकास हुआ है। इन शास्त्रों को समझ कर, ऐसा जीवनक्रम तैयार किया जाना चाहिये, जिससे शारीरिक शक्ति का विकास अच्छी तरह से हो सके। किन्तु यह विकास ऐसा न हो जिससे अन्य शक्तियों के विकास में किसी प्रकार की भी बाधा पहुँचे। अगर ऐसा हुआ तो संस्कृति अधूरी ही रह जायगी, जैसाकि प्राचीन स्पार्टा में हुआ था। वहां शारीरिक-विकास को ही सब कुछ माना गया था। राजनियम के अनुसार बालक छः महीने का हुआ कि सर्कार को सौंप दिया जाता था। यदि बालक अशक्त पाया जाता तो उसे नगर के बाहिर की टेकडी पर से नीचे फेंक कर मार डाला जाता था। इस प्रकार स्पार्टा में केवल शारीरिक शक्ति के वीर ही पनप पाते थे[३]। इसके परिणाम-स्वरूप संसार को 'लियोनिदास' व उसके वीर सिपाही अवश्य प्राप्त हुए, जिन्होंने अपनी वीरता से 'थर्मोपली' को अमर बना दिया, किन्तु मानसिक व आत्मिक विकास को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने समय पर अपनी कोई छाप न छोड़ी व मानवविकास में अपना हाथ न बटाया। एथेन्स की संस्कृति में मानसिक विकास पर ही अधिक ज़ोर दिया गया था[४]। रोम, मिश्र, बाबुल आदि की प्राचीन संस्कृतियों में भी यही अधूरापन दीखता है[५]। इसीलिये वे संस्कृतियें काल की कसौटी पर सच्ची न उतर सकीं व आज केवल स्मर्तव्य-शेष ही हैं। यूरोप की आधुनिक संस्कृति भी सर्वाङ्गीण नहीं है। आत्मिक-शक्ति को तो इसने पहिचानना भी नहीं सीखा। स्वार्थ से प्रेरित होकर यह भौतिक चकाचौंधी में अन्धी हुई जाती है। इसे तो संस्कृति नाम से सम्बोधित करना भी आत्मवञ्चना के समान प्रतीत होता है[६]।

यदि भारत की प्राचीन संस्कृति को इस कसौटी पर कसें, तो वह बिलकुल ही ठीक उतरेगी। क्योंकि प्राचीन भारत में शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्ति के सामञ्जस्यपूर्ण विकास को मानव-जीवन का ध्येय माना गया था। मानव-जीवन को ऐसे ढांचे में ढाला गया था, जिससे ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का सानुपातिक विकास हो सके।

इन शक्तियों के विकास के साधन—प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिये ऐसे नियम व इस प्रकार का जीवनक्रम बनाया

गया था, जिससे शारीरिक विकास मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग में रोडा न अटका कर उनका सहायकही बने। शरीर के विकास के लिये शरीर-शास्त्र को समझना आवश्यकीय माना गया था। व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य्य आदि के द्वारा शरीर के भिन्न २ अङ्गों को पुष्ट किया जाता था[७]। यही कारण है कि प्राचीन काल के भारतीय दीर्घजीवी रहते थे। वेद में "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्[८]" आदि द्वारा कम से कम सौ वर्ष तक जीवित रहने का दृढ़ संकल्प दर्शाया है। आज तो भारतीयों की औसत आयु बावीस वर्ष के लगभग है, व उन्हें साठ या सत्तर वर्ष की अवस्था में ही ऐहिक-यात्रा समाप्त कर इस दुनियां से सिधारना पड़ता है।

व्यायाम के द्वारा शारीरिकशक्ति का विकास होता है, जो यम, नियम आदि के द्वारा नियन्त्रण में रहता तथा संचालित किया जाता है। यह विकास मानसिक-शक्ति के विकास के लिये भूमिका भी तैयार करता है। हम यम, नियम द्वारा इन्द्रियों को अपने अधिकार में सफलतापूर्वक रखना सीखते हैं[९]। प्राणायाम व आसन चंचल चित्तवृत्ति का निरोध कर उसे एकाग्र बनाते हैं। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्तिप्रदान करता है, जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिले। मस्तिष्क में शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में पहुँचनेसे विचार-शक्ति बढ़ जाती है[१०]। इस प्रकार प्राचीन भारतने शारीरिक शक्ति के विकास की एक ऐसी आयोजना बनाई थी, जिससे मानसिक व आत्मिक विकास को पूरी २ सहायता मिले। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं नहीं दीखती।

सांस्कृतिक विकास में मानसिक शक्ति का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विश्व के प्राचीन व अर्वाचीन सभी राष्ट्रों व देशोंने इसके महत्त्व को पहिचानकर, अपनी २ योग्यतानुसार उस दिशा में प्रयत्न किया है। प्राचीन बाबुल, मिश्र, यूनान, रोम आदि में इस शक्ति के विकास का उत्तरदायित्व साधारणतया धर्माचार्यों पर ही था[११]। यूनान, रोम आदि में राज्य की ओर से भी नियन्त्रण रहता था, किन्तु मानसिक विकास सर्वाङ्गीण नहीं हो पाता था। इस का कारण यही था कि इन देशों में ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया था। जिन २ बातों की उन्हें आवश्यकता हुई, उन

सब की पूर्ति के लिये जितने मानसिक विकास की आवश्यकता थी उतना ही उन्होंने किया। अन्य संस्कृति के संसर्ग से प्राप्त नयी सामग्री को भी उन्होंने स्वीकार लिया। प्राचीन यूनान, रोम, मध्यकालीन यूरोप आदि की संस्कृतियें इसी सिद्धान्त के उदाहरण हैं।

प्राचीन भारत में मनुष्य के अंतरङ्ग व बहिरङ्ग को अच्छी तरह से समझा गया था। सांख्य, योग आदिने इस दिशा में विशेष प्रगति की थी[१२]। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर आदि के ज्ञान द्वारा भारत में मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई गई थी, जिसे आश्रमव्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। मानसिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है।

भारत के ऋषियों ने विश्व की पहेलियों को समझना ही मानसिक विकास का उद्देश्य माना[१३]। उन्होंने जीव व ब्रह्म की गुत्थियों को सुलझाकर उनमें भी एकत्व के दर्शन करने का प्रयत्न किया, जैसा कि वेद[१४], उपनिषदादि[१५] में उल्लिखित है। परमात्मा को समझने के लिये पश्चिम के मध्यकालीन सनकियों के समान किसी मीनार पर बीस २ वर्ष तक खड़े रहना या और किसी प्रकार शरीर को कष्ट देना उन्होंने ठीक न समझा[१६]। उन्होंने परमात्मा को उसकी कृति से समझने की कोशिस की, मानव-सेवा को ही परमात्मसेवा समझा, जिस प्रकार कविसम्राट रवीन्द्रने तेज़ धूप में खेत जोतनेवाले किसानों में परमात्मा के दर्शन किये[१७] न कि किसी मन्दिर, मस्जिद या गिरजे में।

परमात्मा की महिमा को उसकी कृति से समझने के भाव से प्रेरित होकर इन ऋषियोंने जंगल में बसना उचित समझा[१८], क्योंकि वहीं तो परमात्मा के रहस्यों को समझाने वाली प्रकृति-देवी के साक्षात्कार हो सकते हैं, वहीं पुरुष व प्रकृति का नग्न अट्टहास देख व समझ सकते हैं। यही कारण है कि आश्रम-व्यवस्था की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारियों व वानप्रस्थियों को अपना जीवन जंगल में ही व्यतीत करना पड़ता था[१९]। वहां के शुद्ध वातावरण में गुरुकुल रहते थे, जहां भारत के ब्रह्मचारी ब्रह्मप्राप्ति में प्रयत्नशील होते थे; वे केवल विद्या में ही रत न रहते थे। उपनिषदों के अनुसार केवल विद्या में रत रहनेवाले महान् अँधकार में रहते हैं[२०]। अन्य देश तो केवल विद्यार्थी पैदा

करते थे, किन्तु भारत ब्रह्मचारियों को जन्म देता था। जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, वे समय की गति व इतिहास के पृष्ठों को भी उलट देते थे। हनूमान्, भीष्मपितामह, रामदास, दयानंद आदि ऐसेही ब्रह्मचारी थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी परमात्मा की कृति का अध्ययनकर उसकी लिखी हुई पुस्तक को अच्छी तरह पढ़, मानसिक-विकास में अग्रसर होते थे, जिससे आत्मिक-विकास में पूरी २ सहायता मिले[२१]।

आत्मिक विकास के महत्त्व को जितना पहिले व जितना अधिक भारत समझा है, उतना और कोई देश न समझ सका। आधुनिक यूरोप तो आत्मचिन्तन की जरा भी परवाह नहीं करता। आत्मिक विकास के लिये भारत के प्राचीन ऋषियों ने जो साधन बनाये थे, उनमें अष्टाङ्गयोग[२२] का स्थान बहुत ऊँचा है; पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आत्मिक-विकास में सहायक बनता है।

सचमुच में जब तक आत्मा को नहीं समझा जाता, तब तक सब ज्ञान अधूरा ही रहता है। हम स्वतः यह भी नहीं जान पाते कि हम कौन हैं, किस प्रकार इस हाड़, मास, चाम के पुतले में समागये व जब निकलते हैं तब कहां जाते हैं! हमने उत्तर व दक्षिण ध्रुव को खोज डाला, आफ्रिका के घने जंगल मथ डाले, दुनियांभर को ढूँढ मारा, जंगल के जानवरों व आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को समझ लिया, किन्तु हम अपने आप को न समझ पाये! भारत के प्राचीन ऋषियों ने यही कहा कि "आत्मानं विजानीहि"[२३]। यूनान के दार्शनिक सुकरातने भी कहा—"Know thyself"[२४] (अपने आपको पहिचानो), जिसके लिये उसे विष का प्याला पीना पड़ा।

आत्मदर्शन व भारतीय संस्कृति—आत्मदर्शन ही भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। आज भी भारत का चरवाहा गाता सुनाई देता है—"प्यारे मन की गठड़ी खोल। उसमें लाल भरे अनमोल"॥ ध्रुव, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर, तुलसी, नरसिंह मेहता, तुकाराम आदि के जीवन-चरित्र भी आत्मजागृति की ओर ही ले जाते हैं। भारतीय-संस्कृति के अनुसार आत्मा को समझ उसे जीवनमरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव-जीवन का एक मात्र ध्येय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति

के लिये ही मनुष्य को जीवित रहना चाहिये,[२५] न कि किसी देशविशेष या राष्ट्रविशेष की राज्यपिपासापूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति के लिये। भारत के दर्शन, साहित्य, काव्य, कला, विज्ञान आदि इसी वर्गचतुष्टय की प्राप्ति के लिये विकसित हुए थे।

आत्म-विकास के मार्ग की कठिनता—आत्म-विकास का मार्ग बहुत ही कठिन था। इस पर चलनेवाले तो बिरले ही रहते थे, जो तप व परिश्रम से आत्मसिद्धि कर जन-साधारण के हित के साधन ढूँढते थे। भले ही जन-साधारण इस मार्ग पर चल न पाते हों, किन्तु उन्हें इस का पता तो अवश्य रहता था। वे यह भी भली-भाँति जानते थे कि उसी मार्ग पर चलना मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय है। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने शारीरिक व मानसिक जीवन को संचालित करते थे।

प्राचीन काल की अन्य संस्कृतियों में आत्म-तत्त्व को कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया था। इस सम्बन्ध में उन का ज्ञान अधूरा ही था व वे अपनी बाल्यावस्था में ही थीं। इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि आत्मतत्त्व के कितने ही सिद्धान्त प्राचीन देशोंने भारत से सीखे[२६]।

इस प्रकार भारत की प्राचीन संस्कृति पर दृष्टि-पात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने सर्वाङ्गीण मानव-विकास को ही अपना ध्येय माना था।

प्राचीन भारत में सांस्कृतिक विकास—सांस्कृतिक विकास भिन्न २ रूपों में देखा जाता है। एक सुसंस्कृत व्यक्ति संसार की पहेलियों को समझने का प्रयत्न करता है तथा प्रकृति के भिन्न २ अङ्गों को जानने का इच्छुक भी रहता है। इस प्रकार विभिन्न विद्या, कला, शास्त्र आदि के विकास का प्रारम्भ होता है। संस्कृति के विकास में इन सबों का अलग २ स्थान है। किसी भी देश की संस्कृति को हम तब तक नहीं समझ सकते, जब तक वहां की भिन्न २ विद्या, कला, शास्त्र आदि भली-भाँति जान न लें। प्राचीन भारत में विद्या, कला आदि का पर्य्याप्त विकास हुआ था, जिस का बीज वेदों में पाया जाता है[२७]। भारत के धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, कला आदि पर आगे विस्तृतरूप से विचार किया जायगा, जिससे भारतीय प्राचीन संस्कृति को सच्चे स्वरूप में देखा जा सके।

बीसवीं शताब्दि की कृत्रिमता—इस बीसवीं शताब्दि में कृत्रिमता ने मानव-समुदाय पर पूरा अधिकार जमा लिया है। दैवी सम्पत्ति के बदले आसुरी सम्पत्ति का साम्राज्य छा गया है। स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का दौर-दौरा है। प्रत्येक बात धन की तराजू पर तौली जाती है। धनवान् ही विद्वान्, कुलीन, ज्ञानवान् आदि माना जाता है। धन से विश्वविद्यालयों की बड़ी २ पदवियें तक खरीदी जाती हैं। सारांश में, जिस के पास धन है, वही सुसंस्कृत माना जाता है। यह बात अवश्य है कि प्रकृति के कुछ रहस्यों को समझ लिया गया है, किन्तु उस ज्ञान का उपयोग भी एक दूसरे के नाश के लिये किया जा रहा है। इतना सब होते हुए भी पाश्चात्य जगत् अपने को सुसंस्कृत तथा अपनी संस्कृति को एक आदर्श संस्कृति मानने में नहीं हिचकिचाता।

आजकल जो बुराइयें दीख रहीं हैं, उनमें से अधिकांश का कारण औद्योगिक क्रान्ति (१८ वीं सदी का उत्तरार्ध) है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की शक्ति का स्थान यन्त्रों की शक्ति ने लिया[२८]। यन्त्रयुग के प्रादुर्भाव ने समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को बदल दिया। इस से समाज में ऐसी विषमता उत्पन्न हो गई है कि उसे दूर करना बहुत ही मुश्किल हो गया है। इन यन्त्रों ने ग़रीबों के सूखे टुकड़े छीनकर धनवानों को हलुआपूड़ी खिलाया है। एक ओर तो निर्धनता अपना नग्न अट्टहास करने लगी व दूसरी ओर धन-बाहुल्य से स्वार्थपूर्ण विलासिता अपना साम्राज्य स्थापित करने लगी। परिणामस्वरूप पूँजीपति व मज़दूरों के झगडे खड़े हुए; शक्तिशाली राष्ट्र अशक्त व असभ्य देशों को व्यापार, वाणिज्य, सत्तादि के क्षेत्र बनाने लगे। यूरोप के राष्ट्रों में यह अहमहमिका इतनी बढ़ी कि वे स्वार्थांध होकर एक दूसरे का गला घोंटने लगे। इससे तो मालूम होता है कि इस बीसवीं शताब्दि में अभी सच्ची संस्कृति का सूर्योदय हुआ नहीं है[२९]।

भारतीय संस्कृति व बीसवीं शताब्दि—ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों के विकास की कसौटी पर चढ़ाने से प्राचीन भारतीय-संस्कृति सच्ची उतरती है, इसलिये वह देश, काल आदि से बाधित नहीं हो सकती। वह सब देशों के लिये व सब समय के लिये उपयोगी हो सकती है। इसलिये इस प्राचीन संस्कृति को केवल ऐतिहासिक बताकर आजकल के लिये अनुपादेय

मानना उचित नहीं है। इस का प्रभाव आज भी केवल भारत में ही नहीं, बल्कि अन्य सभ्य देशों में भी किसी न किसी रूप में दिखाई देता है।

यूरोप की संस्कृति ने आज विश्व को प्रभावित किया है। इस संस्कृति के इतिहास पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि परोक्षरूप से इस पर भी भारतीय संस्कृति की छाप है। इस के विकास की जड़ में फ्रान्स की क्रान्ति (इ. स. १७८९) द्वारा प्रतिपादित समता, स्वातन्त्र्य व भ्रातृत्व के सिद्धान्त हैं, जिनको रूसो ने अपनी पुस्तक तथा 'क्रान्ति की बाइबल' "सोशियल कांट्रेक्ट" में अच्छी तरह समझाया है। इस पुस्तक के लिये रूसो ने प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू से प्रेरणा प्राप्त की थी[३०]। यूरोप की मध्यकालीन शैक्षणिक संस्थाओं पर तत्-कालीन ईसाई-मठों का अधिक प्रभाव था व इन मठों पर बौद्ध-मठों का असर साफ़ २ दिखाई देता है[३१]। ग्यारहवीं, बारहवीं आदि शताब्दि में यूरोप ने भिन्न २ शास्त्र तथा विद्याएँ स्पेन के अरब-विश्वविद्यालयों में सीखीं। इन अरबों ने यह सब ज्ञान भारत से ही सीखा था, जैसा कि वे स्वतः स्वीकार करते हैं[३२]। भारतीय कथासाहित्य ने भी मध्यकालीन यूरोप को खूब प्रभावित किया[३३]। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि आज जिसे हम पाश्चात्य संस्कृति कह कर पूजते हैं, उसकी जड़ों में भारतीय संस्कृति का ही प्रभाव है। इस तरह हमारी संस्कृति का महत्त्व बढ़ जाता है।

इस कृत्रिमता- पूर्ण बीसवीं शताब्दि में तो भारतीय-संस्कृति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जब कि संसार का एक व्यक्ति दूसरे का गला घोंटता हो, एक समाज दूसरे समाज का खून चूसने को तैयार हो, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दासत्व की बेडियाँ पहिराने में लगा हो, जब कि चहुँओर स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य के वातावरण में हिंसा का साम्राज्य छाया हो, ऐसे समय में मानव जाति की रक्षा सनातनसिद्धान्तों पर स्थित भारतीय संस्कृति ही कर सकती है, वह संस्कृति जिस में अहिंसा, सत्य व तप की त्रिवेणी आदि काल से बहती हो। भारतीय-संस्कृति की इसी त्रिवेणीने आज गाँधी का रूप धारण किया है। वह समय निकट है, जब कि हिंसा से परितप्त विश्व अहिंसा, सत्य व तप के अवतार, भारतीय संस्कृति के प्रतीक महात्मा गाँधी के चरणों में शरण लेकर शाश्वत शान्ति का अनुभव करेगा।

अध्याय ४

हिन्दू या आर्य्य ?

आर्य-हिन्दू विवाद—आज हमारा देश हिन्दुस्थान नाम से जाना जाता है, तथा हम लोग हिन्दू नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। साथ ही एक पक्ष इस बात का भी समर्थन करता है कि यह नाम हमारे लिये सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हमारा प्राचीन नाम आर्य है व हमारा देश आर्य्यावर्त व भारतवर्ष कहलाता था। अतएव हमें चाहिये कि हम हिन्दू व हिन्दुस्थान के स्थान में, आर्य आर्यावर्त व भारतवर्ष स्वीकार लें। वास्तविक रूप में हमारे समाज में आर्य शब्द से किसी को घृणा नहीं थी[१]। आर्य्यसमाज के प्रादुर्भाव के पश्चात् उस के विरोधियों ने आर्य शब्द से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप, आज हमारे सामने विवाद उपस्थित है कि हम अपने को आर्य्य कहें या हिन्दू? निष्पक्षभाव से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होगा कि मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व हमारे पूर्वज अपने को आर्य्य ही कहते थे तथा इस देश को आर्य्यावर्त व भारतवर्ष।

वैदिक सप्तसिन्धु—संस्कृत-साहित्य में हिन्दू नाम का उल्लेख नहीं आता। कुछ लोग इस शब्द को ऋग्वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उन के मतानुसार वैदिककालीन आर्य्य जिस देश में रहते थे, उस का नाम सप्तसिन्धु[२] था। उसी सप्तसिन्धु से 'हफ्तहिन्दु' हुआ व बाद में हिन्दुस्थान, हिन्दू आदि शब्द बन गये। किन्तु इस सिद्धान्त के लिये ऐतिहासिक, साहित्यक आदि कोई भी प्रमाण नहीं है। भाषाशास्त्र के नियमों से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में किसी देश-विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है। किन्तु नदी तथा पर्वतों के नाम निर्दिष्ट हैं[३]। इसी प्रकार भरत, द्रुह्यु, अणु, आदि राजाओं के नामों का भी उल्लेख है[४]। इस से यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय में इस देश के लिये कोई नाम ही नहीं था। कदाचित् वैदिक ऋषियों को देश के नाम-निर्देश की कोई आवश्यकता न जान पड़ी हो।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु का उल्लेख कुछ स्थलों पर आता है। सायणादि ने उस का अर्थ 'सात नदियाँ' ही किया है। वे नदियें इस प्रकार हैं-सिन्धु, वितस्ता, शुतुद्री, असिक्नी, परुष्णी, सरस्वती, कुभा (अथवा गङ्गा व यमुना)। कदाचित् यह शब्द सात नदियों से घिरे हुए देशविशेष का भी द्योतक हो, किन्तु इससे यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता कि वैदिक काल में समस्त देश सप्तसिन्धु कहाता था।

मनुस्मृति में वर्णित भौगोलिक सीमा—मनुस्मृति (लगभग ई० पू० २००) में इस देश की भौगोलिक सीमा का वर्णन आता है[५], जो कि इस प्रकार है—

"सरस्वती व दृषद्वती नदियों के मध्य जो है, वह देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है। उस देश में परम्परागत जो आचार है, वही भिन्न २ शाखाओं सहित वर्णों के लिये सदाचार है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेनक ये सब मिलकर ही 'ब्रह्मर्षिदेश' बनता है, जो ब्रह्मावर्त के पश्चात् है। इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से भूमंडल के समस्त मनुष्यों को अपना २ चरित्र सीखना चाहिये। हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य, विनशन के पूर्व व प्रयाग के पश्चिम में, जो देश है वह 'मध्य-देश' कहा जाता है। पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक तथा हिम-विन्ध्या दोनों पर्वतों के मध्य में जो देश है, वह विद्वानों द्वारा 'आर्यावर्त' नाम से जाना जाता है"।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि आज से कम से कम दो हजार वर्ष पूर्व यह देश (केवल उत्तरी भारत) 'आर्यावर्त' कहाता था व 'ब्रह्मर्षिदेश' 'ब्रह्मावर्त' आदि विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया गया था। यहां हिन्दू शब्द का उल्लेख तक नहीं है। क्या यह संभव है कि यदि 'सप्तसिन्धु' या 'हफ्तहिन्दु' के समान कोई नाम प्रचलित होता, तो मनुस्मृति उसका निर्देश किये बिना रहती?

समुद्रगुप्त का लेख व देशों के नाम—गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त (ई. स. ३३०-३७५) के स्तम्भलेख (प्रयाग) में राजकवि हरिषेण द्वारा उस की दिग्विजय का वर्णन है। उस में इस देश के विभिन्न भागों के नामों का उल्लेख है[६]।

"कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टू-

रकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैङ्गेयकहस्तिवर्मपाल-कक्रोग्रसेनदैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमो-क्षानुग्रहजनित······ ।"

"रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवर्माद्यनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः······ ।"

"परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य······ ।"

"समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च··· ।"

"दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिः ।"

इन उद्धरणों में 'आर्य्यावर्त' 'दक्षिणापथ' 'समतट' 'डवाक' 'कामरूप' 'नेपाल' 'कर्तृ-पुर' आदि देशप्रान्तादि के नामों का उल्लेख है । यहां हिन्दू, हिन्दुस्थान, सप्तसिन्धु आदि किसी का भी उल्लेख नहीं है ।

पुराणों में देशसूचक नाम—पुराणों में भी विभिन्न स्थलों पर आर्य्य, आर्य्यावर्त, भारतवर्ष आदि नामों का उल्लेख आता है, हिन्दू शब्द कहीं भी उल्लिखित नहीं है । निम्नाङ्कित कथन से यह स्पष्ट हो जायगा ।

विष्णुपुराण[७] में कहा है कि समुद्र के उत्तर में व हिमालय के दक्षिण में जो 'वर्ष' है, उसका नाम भारत है, जहां 'भारती' सन्तति है । वायुपुराण[८] में कहा है कि यह वही भारतवर्ष है, जिस में स्वायंभुवादिने जन्म लिया हैं । विष्णुपुराण[९] में जम्बूद्वीप के विभागों का वर्णन आता है, जहां हेमकूट, नैषध, इलावृत, गन्धमादन आदि वर्षों का उल्लेख है । इसी प्रकार आगे-चलकर उसी पुराण[१०] में कहा गया है कि भारतवर्ष नौ भेदों से अलंकृत है । वायुपुराण[११] में पुनः एक स्थल पर आया है कि समुद्र के उत्तर व हिमालय के दक्षिण में जो वर्ष है वह 'भारत' है, जहां भारती प्रजा रहती है । प्रजा के भरणपोषण के कारण मनु ही भरत कहाता है । इसलिये वह वर्ष निरुक्त-वचन के अनुसार 'भारत' कहाता है ।

काव्यमीमांसा में भौगोलिक वर्णन—पं. राजशेखर 'कविराज' (ई. स. ८८०–९२०) ने "काव्यमीमांसा[१२]" में भौगोलिक दृष्टि से भारत के विभिन्न भागों का वर्णन किया है, जो कि इस प्रकार है—

हिन्दू शब्द का ऐतिहासिक विवेचन—हिन्दू शब्द का जन्म सिंधु शब्द से होता है। आधुनिक पारसियों के पूर्वज, जो कि इरान देश में बसे थे, भारतीय आर्यों को 'हिन्दू' नाम से ही जानते थे[१४]। वे स्वतः भी आर्य्य-जाति के थे तथा भारतीय भी आर्य थे। ऐसी अवस्था में भारतीयों को विशिष्टरूप से सम्बोधित करना स्वाभाविक ही था। इसलिये कदाचित् उन्होंने भारतीयों को हिन्दु नदी के पारवर्ती आर्य या "हिन्दू-आर्य" कहकर हिन्दू नामको उपयुक्त किया होगा। यहां यह जानना आवश्यकीय है कि प्राचीन ईरान निवासी 'स' के स्थान में 'ह' का उच्चारण करते थे। संस्कृत का 'स' 'जेन्द' में 'ह' हो जाता है[१५]। इस प्रकार प्राचीन इरानियों ने सर्व-प्रथम हमारे लिये 'हिन्दु' शब्द प्रयुक्त किया। उनके धर्मग्रन्थ अवेस्ता में इन सब बातों का स्पष्ट उल्लेख है। यह ग्रन्थ ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दि के लगभग का है।

प्राचीन अरब के निवासी भी हमें 'हिन्दू' व हमारे देशको 'हिन्द' कहते थे। अङ्कगणना का नाम उन्होंने 'हिंसा' रखा था, जो 'हिन्दसा' से बना है, जिसका मतलब होता है, 'हिन्द' अर्थात् भारतवर्ष के समान। यह भी कहा जाता है कि प्राचीन अरबी साहित्य में 'हिन्द' 'हिन्दु' आदि नामों का उल्लेख आता है[१६]। अरब के निवासी भी इरानियों की देखादेखी 'हिन्दू' आदि नामों का प्रयोग करने लगे।

प्राचीन यूनान के निवासी भारतीयों को ईरान के द्वारा जानने लगे थे। इसलिये वे भी भारतीयों को 'इन्डु' अथवा 'इन्डो' व उनके देश को 'इन्डिका' कहने लगे। इसी से 'इन्डिया' व 'इन्डियन' नाम पड़े[१७]। जिन २ विदेशियों से हमारा सम्पर्क हुआ, उन सबों ने हमें इसी नाम से सम्बोधित किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनच्वेङ् (सातवीं शताब्दि का पूर्वार्ध) भी अपने "भारतयात्रा" नामी ग्रन्थ में इस देश के लिये "यिन्टु" नाम उपयुक्त करता है[१८]। वैटर्स के मतानुसार यह शब्द 'इन्दु' का अपभ्रंश है व उस समय यहां के निवासी अपने देश को 'इन्दु देश' कहा करते थे। किन्तु इस कथन के लिये यदि कोई प्रमाण है तो वह उक्त महाशय की कपोल-कल्पित कल्पना ही है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य, शिलालेखादि में कहीं भी इस देश को 'इन्दु देश' नहीं कहा गया। "यिन्टु" शब्द हिन्दु का ही चीनी

रूप है। मुसलमानों ने भी हमें 'हिन्दू' तथा हमारे देश को "हिन्द" अथवा "हिन्दोस्तान" कहा। कतिपय सज्जनों का मत है कि हिन्दू शब्द फारसी भाषा का है तथा इस का अर्थ बदमाश, गुलाम आदि होता है व मुसलमानों द्वारा ही यह नाम सर्वप्रथम हम को दिया गया। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण तो यह सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों के जन्म के पूर्व भी 'हिन्दू' शब्द का अस्तित्व था। यदि किसी शब्द का अर्थ कोई बदल दे तो उससे हमें भयभीत न होना चाहिये।

'हिन्दू' शब्द व हिन्दी आदि भाषाएँ—मुसलमानों के आगमन-काल में हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं ने अपना आधुनिक रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। इस विकास पर मुस्लिम शासकों का भी प्रभाव पड़ा। अरबी, फारसी आदि भाषाओं के कितने ही शब्द हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में पाये जाते हैं। ऊर्दू भाषा का प्रादुर्भाव भी इस प्रभाव का एक उदाहरण कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन भाषाओं ने हिन्दू, हिन्दुस्थान आदि शब्द भी अपनाये। इसी समय हमारा सामाजिक संगठन ढीला सा पड़ गया था। शक, हूण आदि के समान मुस्लिमों को पचालेने के बदले हमारा समाज अपनापन खोकर उन से प्रभावित हुआ व उसने हिन्दू, हिन्दुस्थान आदि नाम अपना लिये।

हिन्दी साहित्य व हिन्दू शब्द—हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य में भी आर्य आदि के बदले हिन्दू शब्द ही प्रयुक्त किया जाने लगा। हिन्दी साहित्य में तो प्रारंभिक काल से ही इन शब्दों को अपना लिया गया था। निम्नाङ्कित उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी।

"अटलनग्र अजमेर, अटल हिन्दव अस्थान, मवि हिन्दु पर साहि, सज्जि आऔ स्वस्थान। जब हिन्दुदल जोर हुअ, छुट्टि मीर धर भ्रम, आज भाग चहुआन, आज भाग हिंदवान॥ इन जीवित दिल्लीश्वर, गंज न सके आन[१९]॥"

"दाढ़ी के रखैयन की, दाढी सी रहति छाति बाढ़ी जस मर्याद, हद्द हिन्दुवाने की। राखी हिंदुवानी, हिंदुवान के तिलक राख्यौ[२०]।"

"सकल जगत् में खालसा पंथ गाजे। जगे धर्म हिन्दु, सकल भंड भाजे[२१]॥"

इसी प्रकार मराठी आदि भाषाओं में भी हिन्दू शब्द का उल्लेख आता है।

उपरोक्त उद्धरणों द्वारा हम इस निर्णय पर आसकते हैं कि हिन्दू तथा हिन्दुस्थान नाम मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् भारतीय साहित्य तथा बोलचाल में प्रचलित हुए। किन्तु संस्कृत साहित्य में तो आर्य्य, आर्य्यावर्त, भारतवर्ष आदि नाम ही प्रयुक्त होते रहे।

भारत के विभिन्न नामों का ऐतिहासिक विवेचन—हमारे देश के भिन्न २ नामों पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता लगेगा कि वे नाम किस प्रकार भिन्न २ ऐतिहासिक युगों के सूचक हैं। आर्य्यावर्त उस अत्यन्त प्राचीन-काल की स्मृति दिलाता है, जब कि आर्य्य-संस्कृति का सूर्य्य निकल रहा था, आर्य ऋषि अपने आत्मिक विकास के द्वारा वैदिक ऋचाओं के दर्शन कर रहे थे व इस प्रकार आश्चर्यजनक वैदिक साहित्य का निर्माण हो रहा था। आर्यावर्त नाम सुनकर ही हमारी मानसचक्षुओं के सामने वैदिककालीन आर्यों का चित्र खिंच जाता है, जिन्हों ने प्राचीन काल में अपनी विजय-पताका विश्व के भिन्न २ भागों में फहराई थी। भारतवर्ष नाम सुविख्यात भरतवंश से सम्बन्धित है। यह एक ऐसे युग का द्योतक है, जब कि आर्य्य-संस्कृति का सूर्य्य ऊँचा उठ चुका था व उसकी तीव्र किरणें चहुँओर फैल रही थीं। प्राचीन साहित्य का विद्यार्थी भरतवंश के ऐतिहासिक महत्त्व को भलीभाँति समझ सकता है। यह नाम आर्यों के राजनैतिक विकास का भी द्योतक है। इस को सुनते ही तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का साक्षात्कार हो सकता है।

हिन्दुस्थान व इन्डिया नाम एक ऐसे युग के सूचक हैं, जब इस देश के निवासी अपने सच्चे अस्तित्व को भूल चुके थे व आर्य्य-संस्कृति का सूर्य्य अस्ताचल के निकट पहुँच रहा था। ये नाम हमारी मानसिक दासता के सूचक हैं और यह दासता राजनैतिक दासता से ही उत्पन्न होती है। विदेशी नाम व रीतिरिवाजों को अपनाना, बताता है कि हमने अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता को भुला दिया था। विजेताओं के द्वारा पद-दलित किये जाने पर हम यह भी मान बैठे कि हमारे विजेताओं का सांस्कृतिक प्रभुत्व भी हम पर स्थापित हो चुका है। आज तक भी इस मनोवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा है। यह कहा जा सकता है कि ये नाम हमारे सांस्कृतिक पतन के द्योतक हैं।

उपसंहार—सारांश में यह कहना चाहिये कि वैदिक काल से ही हमारा

नाम आर्य्य था तथा हमारा देश आर्य्यावर्त, भारतवर्षादि कहाता था। हिन्दू नाम से सर्वप्रथम ईरानियों ने हम को सम्बोधित किया। अरब, यूनान, चीन आदि देशों के निवासियों ने भी इसी शब्द के भिन्न २ अपभ्रंशों से हमें सम्बोधित किया। मुसलमान आक्रमणकारों ने भी इसी नाम को अपनाया। मुस्लिम-शासन में हम लोग अपनी संस्कृति से बिछुड़ने लगे व विदेशियों से प्रभावित होकर हिन्दू, हिन्दुस्थान आदि नामों का प्रयोग करने लगे। किन्तु हमारा परम कर्तव्य है कि हम अपने पहिले के नामों को ही अपनावें, क्योंकि आर्य, आर्यावर्त, भारतवर्ष आदि नाम हमारे हृदय में प्राचीन गौरव की दिव्य छटा का आभास करा सकते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति इन्हीं प्राचीन नामों से हो सकती है, न कि विदेशियों द्वारा दिये गये हिन्दू आदि नामों से। प्रत्येक भारतीय को अपने गौरवान्वित प्राचीन नामों को अपनाना चाहिये।

अध्याय ५

आर्य्य लोग व उनका आदिम निवासस्थान

आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व—ऐतिहासिकों की खोज के परिणाम-स्वरूप आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अब यह लगभग प्रमाणित हो चुका है कि प्राचीन काल में ऐसी कोई भी संस्कृति न थी, जिसको आर्य्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से प्रभावित न किया हो। यूरोप व एशिया की प्राचीन भाषाओं पर आर्यभाषा के प्रभाव का दृष्टिगोचर होना तथा आर्य देवताओं व आर्यराजाओं के नामों का बेबिलोनिया व मिश्र देशों के प्राचीन लेखों में पाया जाना उनके विस्तृत प्रभाव की ही पुष्टि करता है। इन आर्यों के ऐतिहासिक महत्त्व को समझाते हुए सिनोबस[१] लिखता है कि आर्य लोग प्राचीन काल में सर्वश्रेष्ठ थे व वर्तमान काल में भी सर्वश्रेष्ठ हैं-प्राचीन काल में दार्शनिक व धार्मिकवृत्ति के हिन्दू, कला व विज्ञान के जनक यूनानी, बड़े २ साम्राज्यों के स्थापक पारसीक व रोमन, व अर्वाचीन काल में इटली के निवासी, फरासीसी, जर्मन, डच, रूस के निवासी, अंग्रेज़ व अमेरिकानिवासी।

भाषा-साम्य—यूरोप व एशिया के भागों में भूत तथा वर्तमान काल में बोलीजानेवाली कितनी ही भाषाओं का पता लगा है, जिनके रूप व उच्चारण का वैज्ञानिक परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ है कि वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं व उनका आदि मूल एक ही है। इस प्रकार वे भाषाएँ एक ही परिवार की मालूम होती हैं। यह भाषा-परिवार इस प्रकार है-यूरोप की भाषाएँ-हेलेनिक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक, स्लेव्होनिक, लिथ्यूनिक या लेटिक व अल्बेनियन;[२] एशिया की भाषाएँ—इन्डिक, जिसमें संस्कृत से बनी चौदह आधुनिक भारतीय भाषाओं का समावेश होता है, इरानिक जिसमें ज़ेन्द, पर्शियन, पुश्तु या अफगान, बलूची, कुर्दिश व ओसेटिक का समावेश होता है, व आर्मेनियन। पाश्चात्य विद्वानों ने इन भाषाओं को "इन्डोजर्मनिक" या "इन्डोआर्यन" नाम दिया है[३]।

तुलनात्मक भाषाशास्त्र—इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात सन १७८६ में बङ्गाल के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। 'एशियाटिक सोसायटी' के सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए उन्होंने कहाथा कि भारत की पवित्र भाषा संस्कृत, ईरान की भाषा, यूनान व रोम की भाषाएँ, केल्ट, जर्मन व स्लेव्हलोगों की भाषाएँ परस्पर निकटतम सम्बन्ध रखनेवाली हैं[४]। उनके इस युगप्रवर्तक भाषण ने तुलनात्मक-भाषा-शास्त्र को जन्म दिया[५]। ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ विद्वानों ने इस दिशा में अधिक परिश्रम किया, जिसके परिणामस्वरूप वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यूरोप, अमेरिका, भारत आदि की भाषाएँ एक ही परिवार की हैं व ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के बहुत पहिले ही इन की जन्मदात्री भाषाएँ अटलांटिक महासागर से लेकर गंगा व टेरिम नदी तक के प्रदेश में फैली हुई थीं[६]। उन विद्वानों ने यह भी निश्चय किया कि वे सब प्राचीन भाषाएँ किसी एक भाषा से बनी थीं, जो कि उन सब की माता थी[७]। तुलनात्मक भाषाशास्त्र की सहायता से इस मूलभाषा को जानने का प्रयत्न किया गया। उन सब प्राचीन भाषाओं के कुछ शब्दों के प्राचीनतम रूप व सर्वसाधारण धातुओं को लेकर एक मौलिक भाषा बना दी गई[८]। साथ ही यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि उस मौलिक भाषा को बोलनेवाली विशिष्ट-संस्कृतिवाली कोई जातिविशेष रही होगी[९]।

उसी जाति को आर्य्य नाम से सम्बोधित किया गया। यह मत स्थिर किया गया कि ये ही आर्य यूरोप, सिरिया, ईरान, भारत आदि में फैल गये थे[१०]। कुछ ऐतिहासिक आर्य नाम को उचित न समझ, इन्हें "वीरॉस" नाम से सम्बोधित करने लगे[११]।

आर्य्यों का विस्तार व प्रभाव—इस भाषा-साम्य के सहारे इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्य-भाषा ने एशिया व यूरोप की प्राचीन भाषाओं पर एक ज़बरदस्त प्रभाव डाला था। भाषा का प्रभाव व उसका प्रभुत्व सांस्कृतिक प्रभुत्व के (कदाचित् राजनैतिक प्रभुत्व के भी) अस्तित्व को सिद्ध करता है। ऐतिहासिक खोज ने इन देशों पर आर्य्यों के सांस्कृतिक प्रभाव पर भी अच्छा प्रकाश डाला है।

ऋग्वेद व अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्त व प्राचीन भारत व ईरान के सामाजिक संगठन की एकता[१२] यह प्रमाणित करती है कि प्राचीन ईरान के निवासी आर्य ही थे[१३]। इसी प्रकार ज़रतुस्त्र-धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों पर स्पष्ट रूप से दीखता है[१४]। ईसाई धर्म को तो बौद्ध-धर्म ने भी प्रभावित किया था[१५]। प्राचीन बेबिलोनिया व मिश्र के लेखों में आर्य-देवताओं तथा आर्य-राजाओं के नामों का पाया जाना[१६] स्पष्टतया सिद्ध करता है कि ईसा के १६०० व १७०० वर्ष पूर्व आर्य्य लोग बेबिलोनिया आदि देशों तक फैल गये थे व वहां उन के देवता पूजे जाते थे तथा उनके राजा राज करते थे।

सांस्कृतिक साम्य—प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों के आर्य होने के सम्बन्ध में किसी भी ऐतिहासिक को लेशमात्र भी शंका नहीं है। उनके देवता, धार्मिक विश्वास, सामाजिक संगठन, यज्ञ, श्राद्ध, मृतकदाह आदि रीति-रिवाज़ इस मत की पुष्टि करते हैं[१७]। यूनान का प्राचीन साहित्य इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है[१८]। इस सांस्कृतिक साम्य की सहायता से आर्यों के विस्तार व प्रभाव का पता चलता है।

आर्यों का आदिम निवासस्थान—इस प्रकार भाषासाम्य व सांस्कृतिक साम्य के द्वारा आर्यों के बृहत् विस्तार को समझ उनके आदिम निवास-स्थान ढूँढने का भी प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। भिन्न २ विद्वानों ने अपनी २ रुचि के अनुसार इस प्रश्न को हल करने की कोशिस की। परिणामतः आर्यों

के आदिम निवासस्थान के बारे में कितने ही मत व सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने लगे।

विभिन्न मत—आर्यों के आदिम निवासस्थान से सम्बन्धित विभिन्न मतों को दो विभागों में बाटा जा सकता है-(१) एशिया के किसी भाग में उनका आदिम निवासस्थान, (२) यूरोप के किसी भाग में उनका आदिम निवासस्थान।

(१) एशिया में निवासस्थान-

कोई शीतप्रधान प्रदेश—आर्यों के आदिम निवासस्थान ढूँढने के कितने ही तरीके विद्वान् ऐतिहासिकों ने ढूँढ निकाले। सब से पहिले रंग व रूप की सहायता से इस प्रश्न को हल किया जाने लगा। आर्यों के श्वेतरङ्ग, लम्बा कद, लम्बी नाक आदि की सहायता से उनके आदिम निवासस्थान का पता लगाया जाने लगा व विभिन्न शीत प्रधान देशों को निर्दिष्ट किया जाने लगा[१९]। किन्तु अनुभव व साधारणज्ञान ने इन विद्वानों को बताया कि रूप, रंग आदि समय, जलवायु व अन्य भौगोलिक परिस्थिति से प्रभावित होकर बदलते रहते हैं। भारतवर्ष में ही इसका अनुभव हो सकता है। यदि सीमाप्रान्त के किसी पठान को दक्षिण-भारत में लाकर रखा जाय तो दो तीन पीढ़ियों के बाद उसकी सन्तान व सीमाप्रान्त के पठान के रूपरङ्ग में बहुत अन्तर हो जायगा। इस प्रकार रूपरंग की सहायता से आर्यों का निवासस्थान ढूँढना गलत साबित हो जाता है।

मध्यएशिया—मैक्समुलर, पॉट, क्लेप्रॉथ, रिटर, लेसन, ग्रिम प्रभृति ने ऐतिहासिक घटनाओं की सहायता से इस प्रश्न को हल करने की कोशिस की[२०]। इतिहास से पता लगता है कि प्राचीन काल में कितनी ही जातियें पूर्व से निकल कर पश्चिम के देशों में बस गईं, जिनमें शक व हूण विशेष उल्लेखनीय हैं[२१]। ये सब मध्यएशिया की ही रहने वाली थीं; अतएव आर्यलोग भी प्राचीन काल में इसी स्थान से निकल कर विश्व के भिन्न भिन्न भागों में फैल गये। इस मन्तव्य के समर्थन में निम्नाङ्कित युक्तियें दी जाती हैं।

(१) 'बाइबिल' में लिखा है कि मानवसृष्टि का प्रारम्भ एशिया में ही हुआ। मध्यएशिया ही आदिसृष्टि के लिये उपयुक्त स्थान है[२२]।

(२) पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में कहा गया है कि आर्यलोग "ईरान वैज़" के रहने वाले थे। वहां से निकलकर कुछ भारतवर्ष में जा बसे व बाकी के पारस के पन्द्रह, सोलह प्रान्तों में बस गये[२३]। पेहेलवी ग्रन्थ 'दीन अगासी' के अनुसार "ईरान वैज़" पारस के पश्चिमोत्तर में "अज़र बाइज़ान" में कहीं पर था। इसे कास्पियन समुद्र के पास स्थित "अर्रान" से सम्बन्धित किया जाता है। श्री टाईड के मतानुसार "ईरान वैज़" पारस के उत्तरपूर्व में होना चाहिये। आधुनिक 'ख्वारिज्म' व 'खीव्हा' उसका प्रतिनिधि हो सकता है[२४]। इस प्रकार मध्य एशिया में ही आर्यों का आदिम निवासस्थान होना चाहिये।

(३) मध्य एशिया में 'भूर्ज' आदि वृक्ष भी होते हैं, जिन्हें आर्य्यों के आदिम निवासस्थान से सम्बन्धित किया जाता है[२५]।

(४) मध्यएशिया स्थलान्तर्गत प्रदेश है व प्राचीन आर्य भी ऐसे ही स्थान के निवासी होंगे, क्योंकि उन्हें मछली पकड़ने व नमक आदि का ज्ञान नहीं था।

(५) मिट्टानी (ई० पू० १४००) व केसाइट (ई० पू० १७६०) लेखों से पता चलता है कि प्राचीन बेबिलेनिया में आर्यलोग बस गये थे[२६]। वहां वे ज़ेग्रॉस पर्वत को पार करके ही पहुँचे होंगे। इस पर्वत के उसपार से आना याने कास्पियनसमुद्र व मध्यएशिया से ही आना है। इसलिये मध्य-एशिया आर्यों का आदिम निवासस्थान होना चाहिये।

(६) एशिया की सब प्राचीन आर्य्य भाषाएँ 'शतं समुदाय' की है, न कि 'केन्टम' की[२७]। किन्तु स० १९०७ ई० में मध्यएशिया में 'कैन्टम समुदाय' की 'तोखारियन' नाम की एक भाषा ढूँढी गई है।

(७) मध्यएशिया को ही आर्यों का आदिम निवासस्थान मानने से उनपर जो सेमेटिक संस्कृति का प्रभाव हुआ, वह समझ में आ सकता है।

(८) रीछ, सूअर, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, चूहा आदि मध्यएशिया में पाये जाते हैं। भाषासाम्य के सहारे यह निश्चित किया गया है कि प्राचीन आर्य इन जानवरों से परिचित थे।

(९) संस्कृत भाषा की प्राचीनता व भाषा की दृष्टि से उसका शुद्ध स्वरूप भी इस मत की पुष्टि करता है। सब आर्य्यभाषाओं में संस्कृत व झेन्द प्राचीनतमरूपवाली व कम से कम परिवर्तित हैं।

(१०) यूरोप में नवपाषाण-युग के छोटे सिरवाले मानव एशिया से आये हुए आर्यों के वंशज थे।

इन युक्तियों के आधार पर मध्यएशिया को आर्यों का आदिम निवासस्थान बताया जाता है। किन्तु इस मत के विरुद्ध भी युक्तियें दी जाती हैं, जिनमें से कुछ निम्नाङ्कित हैं।

(१) कास्पियन व अरल समुद्र प्राचीन काल में आजसे कहीं अधिक विस्तृत थे। इसलिये मध्यएशिया आर्यों के समान बड़ी व विचरणशील जाति के निवासस्थान के उपयुक्त नहीं हो सकता।

(२) यदि आर्य्य लोगों का आदिम निवासस्थान मध्यएशिया होता तो उन पर मंगोल जाति का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य रहता, जो कि नहीं है।

(३) प्राचीन आर्य्यों को मधु का ज्ञान था। मध्यएशिया में मधुमक्खियें ही नहीं होती, तब मधु की बात ही कहां?

(४) यदि आर्य लोग मध्य-एशिया के रहने वाले होते, तो वे पूर्व में चीन की ओर फैलते, न कि पश्चिम में ऑक्सस नदी के कछार में।

(५) यूरोप को ही आर्य्यों का आदिम निवासस्थान मानना अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि वहां के सब देशों में आर्यभाषाएँ ही हैं व एशिया के केवल एक ही देश भारत में आर्य्य भाषा है।

ये युक्तियें भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतीं, क्योंकि वे एक प्रकार से निर्जीव ही हैं।

कॉकेशस पर्वत का प्रदेश (एशियामायनरकी उच्चसमभूमि)— 'मेयर' ने आर्यों के आदिम निवासस्थान का पता लगाने का एक अनोखा साधन ढूँढ निकाला है। उसने एक विचित्र रथ की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है, जिसे आर्यों का बताया जाता है व जो अब फ्लोरेन्स (इटली) में है तथा प्राचीन मिश्र के अट्ठावीसवें राजघराने की एक कबर में पाया गया था[२८]। यह रथ विदेशी ढङ्ग का मालूम होता है व उसके अक्ष में 'भूर्ज' की छाल बंधी हुई है। मेयर के मतानुसार कॉकेशस पर्वत के सिवाय भूर्जवृक्ष वहां से (मिश्र) अधिक निकट नहीं पाया जाता। अतएव आर्यलोगों का आदिम निवासस्थान कॉकेशस का कोई प्रदेश होगा, जहां से वे लोग बेबिलोनिया आदि देशों में फैले व उन्होंने अपनी रथरूपी विशिष्टता का प्रचार किया[२९]।

प्रो० सेस (Sayce) के मतानुसार एशियामायनर में 'शतम्' व 'कैन्टम' भाषाओं का पाया जाना भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। साथ ही 'मनुष्य-शास्त्र' (Anthropology) के विद्वान् इसी प्रदेश को छोटे सिरवाली 'अल्पाइन जाति' का मूल-निवासस्थान मानते हैं[३०]।

हिमालय पारवर्ती प्रदेश—पार्जिटर[३१] के मतानुसार ऋग्वेद के बनने के पूर्व ही आर्यलोग भारत में आगये थे। पुराणों के 'ऐल' ही आदिम आर्य्य थे[३२]। हिमालय के पारवर्ती प्रदेश से आकर वे आधुनिक संयुक्तप्रान्त के इलाहबाद के आसपास बस गये। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान, जिसका उल्लेख पुराणों में आता है, इलाहबाद के पास ही थी। यहीं से ये लोग धीरे धीरे ईरान, बेबिलोनिया, यूरोप आदि देशों में फैल गये। इसलिये उनका आदिम निवासस्थान हिमालय का कोई प्रदेश होना चाहिये।

भारत—प्रो० दर्मेस्तर[३३] के मतानुसार आर्यलोग भारत से ही दूसरे देशों में फैले। अवेस्ता के लेखक ने धार्मिक सिद्धान्त, धार्मिककृत्य, देवताओं के नाम आदि भारत से ही लिये थे।

उत्तरध्रुव का प्रदेश—लो० तिलक[३४] ने ज्योतिषशास्त्र की सहायता से कुछ वैदिक मन्त्रों का नये ढङ्ग से अर्थ लगाया, जिससे (उनके मतानुसार) वेदों का काल-निर्णय बहुत ही सरल हो गया। साथ ही, उन्होंने आर्यों के आदिम निवासस्थान के सम्बन्ध में भी खोज की। उनके नये दृष्टिबिन्दु के आधार पर उन्हों ने उत्तर ध्रुव के प्रदेश को आर्यों का आदिम निवासस्थान तय किया। किन्तु यह मत ऐतिहासिकों को मान्य न हुआ। जिन मन्त्रों में इन्होंने ज्योतिष के तत्त्वों का समावेश पाया, अन्य विद्वान् उन्हींका दूसरा ही अर्थ लगाने लगे। इस प्रकार यह मत भी सर्वग्राह्य न बन सका।

काल्पनिक आर्य्यजाति—अब हमें उन ऐतिहासिकों के सिद्धान्तों को जानना चाहिये, जो यूरोप के किसी भाग को आर्यों का आदिम निवासस्थान सिद्ध करते हैं। ये लोग तुलनात्मक भाषाशास्त्र को अनावश्यकीय महत्त्व देकर उस मूल-भाषा को (जिससे कि यूरोप व एशिया की भाषाएँ विकसित हुईं, ऐसा माना जाता है) बोलने वाली एक जाति की भ्रमपूर्ण कल्पना करते हैं। इस प्रकार एक काल्पनिक जाति उत्पन्न कर उसके रहनसहन आदि सम्बन्धी ज्ञातव्य बातों को भी कल्पनाशक्ति द्वारा घड़ा गया। यह सब काम उन्हीं

भिन्न भिन्न भाषाओं के कुछ समान शब्दों की सहायता से किया गया, जिनसे उस मूलभाषा का स्वरूप तय किया गया था। उन्हीं शब्दों की सहायता से यह भी निश्चित किया गया कि उन लोगों को किन २ वृक्ष, फल, पशु, पक्षी आदि का ज्ञान था व उनके उदरनिर्वाह के साधन क्या थे। इसी भाषा-साम्य के सहारे निश्चित किया गया कि वे बहुत समय तक किसी एक ही स्थान में रहे होंगे व उनके निवास का प्रदेश ऐसा होगा जो कि समुद्र या पर्वतों से घिरा होगा। वहां 'ओक' 'बीच' 'विलो' आदि वृक्ष ऊगते होंगे। ये 'आर्य' या 'वीरॉस' स्थायी व अस्थायी जीवन व्यतीत करनेवाले थे। बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि पशुओं का उन्हें ज्ञान था। बहुत ही प्राचीन काल में उन्हें हाथी, गधा, ऊँट आदि का पता नहीं था। उन्हें अनाज का भी ज्ञान रहा होगा व वे कृषि भी करते होंगे। पक्षियो में हंसी, बतख आदि का ज्ञान था। गसड़ उनका सबसे बड़ा शिकारी पक्षी था। भेड़िये व रीछ को वे जानते थे, किन्तु सिंह व व्याघ्र को नहीं जानते थे। इस प्रकार आर्यों का काल्पनिक चित्र खड़ाकर उनका आदिम निवास ढूँढने का प्रयत्न किया जाता है[३५]। सर्वप्रथम यह मान लिया जाता है कि भारत कदापि उनका आदिम निवासस्थान नहीं हो सकता, क्योंकि भारत में उस काल्पनिक चित्र के अनुसार वृक्ष, पशु, पक्षी आदि नहीं पाये जाते[३६]। इतना ही नहीं उनके मन्तव्यानुसार एशिया भर में ऐसा कोई स्थान नहीं, जो उक्त काल्पनिक चित्र में बराबर जम सके। ऐसा स्थान तो यूरोप में ही मिल सकता है[३७]।

ऑस्ट्रिया-हंगेरी का प्रदेश—जाइल्स महाशय ने तुलनात्मक-भाषा-शास्त्र की सहायता से यह मत स्थिर किया कि ऐसा ही देश आर्यों का आदिम निवासस्थान हो सकता है, जहां पर भौगोलिक भिन्नता अधिक हो। घोड़ा (जिसका ज्ञान इन प्राचीन आर्यों को था) खुले मैदान में ही रह सकता है। उसका बच्चा पैदा होते ही माँ के साथ दौड़ने लगता है व उसके पीछे २ जाता है। इस के विपरीत बछड़ा (गाय का ज्ञान भी उन्हें था) पैदा होने पर बहुत ही अशक्त रहता है तथा चलने में व स्पष्टतया देखने में भी असमर्थ रहता है। इसलिये उसकी माँ उसे किसी झाड़ी आदि में सुरक्षित स्थान पर रख चरने जायगी। इस प्रकार आर्य लोग ऐसे स्थान के रहनेवाले

होंगे, जहां मैदान हो व जंगल भी हो; मवेशी के चरने की भूमि हो व कृषि के योग्य सब साधन भी हों। क्योंकि भाषासाम्य से यह पता लगता है कि आर्य्य लोग भेड़, बकरी आदि चराते व खेती करते थे। ऐसा स्थान उत्तरी यूरोप में नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन काल में वहां जंगल ही जंगल थे। जहां खेती, चराने आदि की सहूलियतें रहते हुए भाषासाम्यद्वारा ज्ञात पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी हों, ऐसा स्थान यूरोप में केवल एक ही है। इस स्थान के पूर्व में कार्पेथियन पर्वत, दक्षिण में बल्कान, पश्चिम में ऑस्ट्रियन ऑल्प्स व बोहमर वॉल्ड, व उत्तर में एर्ज़बर्ज़ व कार्पेथियन से मिलनेवाले पर्वत हैं। इस का नाम 'ऑस्ट्रिया-हंगेरी' है। यहां से आर्य लोग डेन्यूब नदी के किनारे वेलेशिया होते हुए दूसरे देशों में फैले होंगे[३८]।

बहुतसे विद्वान् इस मत का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि ऑस्ट्रिया-हंगेरी का प्रदेश तो आर्यों के समान एक बड़ी जाति के लिये बहुत ही छोटा पड़ेगा। साथ ही डेन्यूबतटवर्ती प्राचीन संस्कृति व आर्य-संस्कृति में कोई भी समानता नहीं मालूम होती। इसलिये यह प्रदेश आर्यों का आदिम निवासस्थान नहीं हो सकता।

उत्तरयूरोप का कोई प्रदेश—क्यूनो (Cuno), ज़बोरॉस्की (Zaborowskio) प्रभृति विद्वानों के अनुसार आर्यों का आदिम निवासस्थान उत्तरसमुद्र से कास्पियनसमुद्र तक फैले हुए विशाल मैदान में कहीं होना चाहिये, क्योंकि तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि द्वारा प्राप्त आदिम निवासस्थानसम्बन्धी सब शर्तें यहां पूरी हो सकती हैं। यहीं ऊँचे कदवाली सुन्दर नॉर्डिक जाति पाई जाती है। आर्यों में भी ये ही विशेषताएँ थीं। पेंका (Penka), कोसिना (Kossina) प्रभृति विद्वान् स्केन्डिनेव्हिया (Norway and Sweden) को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं।

जर्मनी—कुछ विद्वान्[३९] जर्मनी को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते है, क्योंकि ऐतिहासिक काल में यहीं से गॉल्स आदि जातिएँ यूरोप के भिन्न २ भागों में फैलीं। टेसिटस[४०] के मतानुसार वे सब जातियें आर्य थीं। इस मत के खण्डन में कहा जाता है कि जर्मनी में तो अभी भी घने जंगल हैं। प्राचीन काल में इस प्रदेश का अधिकांश भाग घने जंगलों से ढका हुआ था।

पोलेन्ड व यूक्रेन का प्रदेश—कोई २ पोलेन्ड व यूक्रेन के प्रदेश को आर्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं;[४१] क्योंकि यह प्रदेश 'केन्टम' व 'शतं' समुदाय की भाषाओं को विभाजित करने वाली रेखा पर स्थित है। यहां पर खेती, चराने आदि का सुभीता है व भूर्ज आदि वृक्ष भी होते हैं।

रूसी 'स्टीपीज़' का प्रदेश—रूस के दक्षिणी मैदान (जो कि घांस से हरे भरे रहते हैं) को कतिपय ऐतिहासिक आर्य्यों का आदिम निवासस्थान मानते हैं[४२]। यहां खेती हो सकती है व घोड़े आदि के चरने के लिये भी पर्य्याप्त भूमि है। मिट्टी के बर्तन व हथियारों के सहारे नॉर्डिक जाति को दक्षिण रूस की रहनेवाली सिद्ध किया जा सकता है। इस स्थान में पाये गये "पोस्ट ग्लेशियल" लोगों के अवशेष से प्राचीन आर्य्यों की संस्कृति के समान संस्कृति का पता लगता है। यह मत भी सर्वमान्य न हो सका।

पोलेन्ड व कास्पियन समुद्र का मध्यवर्ती कोई प्रदेश—कुछ अधिक उदारचेता ऐतिहासिक कहते हैं[४३] कि पोलेन्ड व कास्पियन समुद्र के बीच में कहीं आर्यों का आदिम निवासस्थान रहा होगा; क्योंकि प्राचीन काल में सब यूरोपनिवासी हंगेरी के पूर्व में इकट्ठे रहते थे। जलवायु की दृष्टि से भी यह स्थान उपयुक्त प्रतीत होता है। यूराल पर्वत में ताम्बा बहुत होता है व प्राचीन आर्यों को तांबे का ज्ञान था। वह स्थान कास्पियन समुद्र से भी काफी दूर होगा। इसलिये उन्हें नमक का पता नहीं था। बहुत से चौपाये भी, जिन्हें आर्य लोग जानते थे, इस प्रदेश में पाये जाते हैं।

इस प्रकार भाषासाम्य के नाम पर आर्यों के आदिम निवासस्थान को यूरोप के भिन्न २ भागों में सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। यों तो मैक्स-मूलरप्रभृति विद्वानों ने इसी भाषासाम्य की सहायता से मध्य एशिया में आर्य्यों का आदिम निवासस्थान ढूंढने का प्रयत्न किया था, किन्तु १९ वीं शताब्दि के उत्तरार्ध में भूगर्भशास्त्र (Geology), मनुष्य-शास्त्र (Anthropology), मनुष्य की खोपड़ियों की हड्डियों का शास्त्र (Craniology) व प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वविद्या (Pre-historic Archaeology) सम्बन्धी जो खोजे हुईं, उन से यह सिद्ध हुआ कि यूरोप में मानवजाति अन्तिम 'ग्लेशियल युग' के अन्त होने के पहिले से ही वर्तमान थी। तब से यूरोप बराबर आज तक आबाद ही रहा। मनुष्य-शास्त्र (Anthropology) के

विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया कि मध्य-यूरोप के आधुनिक निवासियों की खोपडियें 'नवपाषाण युग' (Neolithic) के प्रारम्भ में उसी स्थान के गुफा आदि में रहने वाले आदमियों की खोपड़ियों के ठीक समान है। इसी प्रकार इंग्लेन्ड, नॉर्वे, स्वीडन, डेनमार्क, पूर्वी यूरोप आदि में भी खोजे की गई व वहां के आधुनिक निवासियों को 'नवपाषाणयुग' के प्रारम्भ के निवासियों की सन्तान प्रमाणित किया गया, जिन के औज़ार, हथियार आदि आज भी यूरोप के संग्रहालयों में रखे हुए हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त गलत साबित हुआ कि यूरोप में बसनेवाली जातियें एशिया से आकर बसी थीं। जबकि यूरोप-निवासी आर्य सिद्ध हो ही चुके हैं, तब वे मूलतः यूरोप के ही निवासी रहने चाहिये।

किन्तु इन विद्वानों ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि 'आर्य' शब्द कभी भी जातिवाचक नहीं रहा, वह तो पूर्णतया एक संस्कृतिविशिष्ट का द्योतक है, जैसा कि "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्"[४३ अ] "आर्य्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि"[४३ ब] आदि ऋग्वेद के वचनों से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'आर्य्य' शब्द के सच्चे अर्थ को समझलेने से कितना ही मतभेद दूर हो सकता है।

मनुष्य-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि की खोजों के सामने भाषा-शास्त्रियों (Philologists) को भी सिर झुकाना पड़ा व उन्होंने 'लिंगुइस्टिक-पेलिऑन्टॉलॉजी' ("Linguistic Paleontology") के सहारे आदिम आर्यों की मूलभाषा का स्वरूप तय किया तथा यूरोप में ही आर्यों के आदिम निवासस्थान को निश्चित किया। इस मन्तव्य के खोखलेपन पर भी आगे चल कर विचार किया जायगा।

भ्रमपूर्ण विचारसरणी—आर्यों के आदिम निवास-स्थान के सम्बन्ध में इतना मतभेद रहना ही यह सिद्ध करता है कि सत्य से अभी ये ऐतिहासिक कोसों दूर हैं। यदि विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा की जिस भूमिका पर इन सिद्धान्तों के बड़े २ भवन खड़े किये गये हैं, वह नितान्त कच्ची व भ्रमपूर्ण है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र इस प्रश्न को कभी भी हल नहीं कर सकता। प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं के कुछ सर्वसाधारण शब्दों को एकत्रित कर उनकी सहायता से उन भाषाओं की जन्मदात्री किसी प्राचीन मूलभाषा का स्वरूप निश्चित करना निरा

काल्पनिक ही होगा व सत्य से कोसों दूर रहेगा। आर्यों के सम्बन्ध में यही किया जा रहा है। भाषासाम्य की सहायता से मूलभाषा व उससे उसको बोलनेवाली एक जाति की कल्पना तथा उसके सांस्कृतिक जीवन का चित्र खींचना हास्यास्पद ही होगा। भाषा की समानता का जाति की समानता तथा संस्कृति की समानता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह सकता[४४]। भिन्न २ जाति व संस्कृति के लोगों के मध्य भी भाषासाम्य पाया जा सकता है। यदि कुछ निग्रो, रेड इन्डियन, चीनी आदि भारत में आकर एकसाथ बस जायँ, तो कुछ वर्षों बाद ही एककी भाषा पर दूसरे की भाषा का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा, साथ ही भारत की भाषा का भी प्रभाव उनकी भाषाओंपर अवश्य पड़ेगा तथा उनकी संस्कृति भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी। दोसौ वर्ष बाद यह प्रभाव बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। इस पर यदि कोई इतिहास का विद्वान् यह कहने लगे कि इन निग्रो, रेड इन्डियन, चीनी आदियों के पूर्वज एक ही जाति व संस्कृति थे, क्योंकि आज उनकी भाषा में बहुत समानता है और वह जाति भारत की ही रहनेवाली होगी, क्योंकि उसकी भाषा व संस्कृतिपर भारतीयता की ज़बरदस्त छाप है, तो यह कथन नितान्त असत्य होगा। सान्निध्य के कारण एक भाषा का दूसरी भाषापर, एक संस्कृति का दूसरी संस्कृतिपर असर पड़ता है। आज भी अंग्रेज़ी भाषा के कितने ही शब्द भारतीय भाषाओं ने अपनाये हैं, इतना ही नहीं किन्तु अंग्रेज़ी रीतिरिवाज़ों ने भी भारतीयों के जीवन में प्रवेश कर लिया है। इस पर से पांचसौ वर्ष के पश्चात् यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीसवीं शताब्दि के भारतीय अंग्रेज़जाति के व अंग्रेज़ी संस्कृति के थे।

यूरोप को आर्य्यों का आदिम निवासस्थान माननेवाले ऐतिहासिक महान् भ्रम में पड़े हैं। उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि के लिये ऐसी दलीलें पेश करनी पड़ती हैं, जो सचमुच में हास्यास्पद ही हैं। उनमें से एक दलील इस प्रकार है। यूरोप आर्य्यों का आदिम निवासस्थान होना चाहिये, क्योंकि उपरोक्त आर्य-परिवार की अधिकांश भाषाएँ यूरोप में ही पाई जाती हैं, एशिया में केवल दो ही मिलती हैं[४५]। यदि इस प्रकार भाषा की बहुसंख्या द्वारा ही आदिम निवासस्थान तय करना है, तब तो एशिया को

बहुमत मिलने के लिये भारतीय प्रान्तिक भाषाओं (हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि) को भी इस परिवार में सम्मिलित कर लेना चाहिये,[४६] क्योंकि भारत भी तो रूस के अतिरिक्त यूरोप के बराबर है! किन्तु यह सत्य की खोज का मार्ग नहीं है। इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि जिन २ देशों को आर्य्यों का आदिम निवासस्थान बताया जाता है, उनमें से एक में भी आर्यत्त्व का कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता, सिवाय इस के कि वहां के लोग जो भाषाएँ बोलते हैं, उनमें कुछ २ शब्द प्राचीन आर्य-भाषा से प्रभावित हैं।

भारत आर्य्यों का आदिम निवासस्थान क्यों नहीं?—यह समझना सचमुच में मुश्किल है कि भारतवर्ष को ही आर्य्यों का आदिम निवासस्थान क्यों नहीं माना जाता? क्योंकि भारत के आदिम निवास-स्थान न होने के सम्बन्ध में जो दलीलें दी जाती हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि भाषा-साम्य की सहायता से जिन २ पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का आर्य्यों के आदिम निवास-स्थान में पाया जाना आवश्यकीय समझा गया है, उन में से लगभग सब भारत में पाये जाते हैं। बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि भारत के लिये नये नहीं हैं। भूर्ज-वृक्ष भी हिमालय-प्रदेश में पाया जाता है। भारत तो ऐसी पुण्यभूमि है कि यहां पर हर प्रकार का जलवायु, हर प्रकार के वृक्ष, फल, पुष्प, पशु, पक्षी आदि पाये जाते हैं। नैसर्गिक व प्राकृतिक दृष्टि से इस से अधिक भाग्यशाली और कोई दूसरा देश इस भूमण्डल पर नहीं है। यूरोप में आर्यों का आदिम निवासस्थान सिद्ध करते समय अक्सर यह दलील भी दी जाती है कि वहां खेती करने व घोड़े आदि के चरने के लिये अच्छी भूमि है[४७]। किन्तु भारत में भी ये सब बातें पाई जाती हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि इतना सब रहते हुए भी भारतवर्ष को आर्यों के आदिम निवासस्थान कहलाने का गौरव नहीं दिया जाता।

भारत के आदिम निवासस्थान होने के पक्ष में सब से जबरदस्त दलील तो यह है कि 'आर्य' नाम, 'आर्य' जाति व 'आर्य' संस्कृति का दुनियां को सर्व-प्रथम ज्ञान भारत से ही हुआ है, न कि और किसी देश से। भारत के ही प्राचीन साहित्य की भाषा के अध्ययन ने १९ वीं शताब्दि में पाश्चात्य विद्वानों

की आँखें खोलीं व उन्हें पाश्चात्य भाषा व संस्कृति पर आर्यत्व की छाप का भास कराया। उन विद्वानों ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया। भारत के ऋग्वेद को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वान् आर्यों के स्वरूप व संस्कृति को समझ पाये। बेबिलोनिया, मिश्र आदि के प्राचीन लेखों में पाये गये इन्द्र, वरुण, अग्नि, नासत्य आदि देवताओं व अर्ततम, दुसरत्त, सुवरदत्त आदि राजाओं के नामों के आर्यत्व को भी विद्वानों ने भारत की सहायता से ही समझा व पहिचाना। प्राचीन काल में यदि किसी देश ने अपने को "आर्यों का निवासस्थान" कहा हो तो वह भी भारत का "आर्य्यावर्त" ही है, जिसका उल्लेख पुराणों व मन्वादि स्मृतियों में आता है[४८]। यूरोप में या और कहीं, ईरान के अतिरिक्त, ऐसा कोई भी देश नहीं है। सारांश में, यह कहना पर्य्याप्त होगा कि आज जो कुछ भी आर्यों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जगत् जानता है, वह सब प्राचीन भारतीय साहित्य के ही कारण है। प्राचीनतम काल से आज तक 'आर्य' 'आर्यत्व' 'आर्य-संस्कृति' आदि को जिस प्रकार निसर्ग की लाडिली भारतभूमि ने अपनाया है, वैसा किसी अन्य देश ने नहीं अपनाया। इसलिये आज की परिस्थिति में, आर्यों का आदिम निवासस्थान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। कदाचित् आर्य लोग बाहिर से भी आये हों, किन्तु ऋग्वेद व संस्कृत भाषा की सहायता से जिन सुसभ्य व सुसंस्कृत आर्य लोगों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विचार करते हैं, वे तो भारत के ही थे, कहीं बाहिर से नहीं आये; क्योंकि उनके प्राचीन साहित्य में उनके बाहिर से आने का यत्किञ्चित् भी उल्लेख नहीं है और न कोई ऐसी ऐतिहासिक खोज ही की गई है, जो इस सम्बन्ध में प्रमाणभूत हो सके। इस प्रकार कम से कम इतना तो निश्चित-रूप से कहा जा सकता है कि जिन आर्यों को व जिनकी संस्कृति के महत्त्व को आज दुनियां मान रही है व जिस संस्कृति ने प्राचीन यूरोप, एशिया आदि की संस्कृतियों को प्रभावित किया था, वे आर्य्य व वह आर्यसंस्कृति भारतवर्ष में ही पैदा हुए, फले व फूले तथा यहीं से अन्य देशों में उन्होने अपनी सांस्कृतिक सौरभ फैलाई। यदि कोई बाहिर से आया हो, तो इन सभ्य आर्यों के असभ्य पूर्वज कहीं से आये होंगे। किन्तु यह सब इतिहास के क्षेत्र के बाहिर की बातें हैं। इस सम्बन्ध में, आज निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस का सम्बन्ध मनुष्य की उत्पत्ति से है। सारांश में, यह कहा

जा सकता है कि आर्यसंस्कृति व सुसंस्कृत आर्यजाति को भारत ने ही जन्म दिया है।

सिन्धु-संस्कृति व आर्य्य लोग—कुछ वर्षों पूर्व सिन्धु नदी के कछार में भारतीय 'पुरातत्त्व विभाग' की ओर से जब खुदाई शुरु हुई, तो पंजाब के मांटगोमरी ज़िले के हरप्पा व सिन्ध के लरकाना जिले के मोहन्जोडारो स्थान पर एक प्राचीन शहर के खंडहर निकले व बहुतसी दूसरी पुरानी चीज़ें निकलीं, जिन के सहारे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आज से पांच हज़ार वर्ष पूर्व उस स्थान पर एक बड़ा शहर था, जिस के मकान पकाईहुई बड़ी २ मज़बूत ईटों के बने थे, सडकें बहुत ही अच्छे ढङ्ग पर बनाई गई थीं व वहांपर कुएँ व स्नानागार भी थे। प्रत्येक घर में नालियों की व्यवस्था थी, जो कि घर के बाहिर गलियों व सड़कों तक बनी हुई थीं, शहर के बाहिर नहीं लेजाई गई थीं। वहां बहुत से बड़े २ मकान थे व सर्वसाधारण लोगों के नहाने के लिये बड़े २ स्नानागार थे।

इस शहर के निवासियों के रहनसहन के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ पता लगा है। ये लोग गेहूं व बाजरा बोते थे व मवेशी, भेड़, सूअर आदि पालते थे तथा भोजन के लिये मुर्गी आदि भी रखते थे। वे सिन्धु नदी की मछलियों को भी भोजन के काम में लाते थे। भैंस, ऊँट, हाथी व कई प्रकार के मृगों के मृतशरीर इस स्थान से प्राप्त हुए हैं। व्याघ्र, घोड़ा व बन्दर तत्कालीन मुद्राओं पर खुदे हुए हैं। कुत्ते व घोड़े के अस्तित्व के भी कुछ २ चिन्ह मिले हैं। सोना, चांदी, तांबा, सीसा, नाना प्रकार के रत्न, हाथीदांत आदि का पता भी यहां के लोगों को था। भाले, फरसे, कटार, धनुष आदि का भी ज्ञान इन्हें था। यहां बच्चों के मिट्टी के खिलौने भी पाये गये हैं।

इन स्थानों में बहुतसी मुद्राएँ भी पायीं गई हैं, जिन पर चित्रलीपि में कुछ लिखा हुआ है[४९]। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि इन मुद्राओं की लीपि सुमेर की प्राचीन लीपि से मिलती है[५०]। बहुतसे मिट्टी के वर्तनादि पर भी कुछ २ लेख मिलते हैं। इन लेखों को अभी तक कोई पढ़ नहीं सका है। अभी तो यह भी निश्चित करना है कि ये लेख हैं या मिट्टी के बर्तन आदि पर बने हुए बेल बूटे, जैसे कि आज भी पाये जाते हैं।

इन लोगों के धर्म के बारे में भी बहुत कुछ मालूम होता है। मूर्तिपूजा

का प्राबल्य था, क्योंकि बहुतसी मूर्तियें भी मिली हैं। पृथ्वी की मूर्तियें बहुतायत से पाई जाती हैं[५१]। इससे मालूम होता है कि पृथ्वी ही मुख्य देवता थी। दो सींगवाले किसी देव की एक मूर्ति पाई गई है, जो कि कुछ विद्वानों के मतानुसार शिव की मूर्ति है[५२]। वृक्ष व पशु भी पूजे जाते थे। मृतकों को गाड़ दिया जाता था या जलाया जाता था।

पाश्चात्य विद्वान् इन खंडहरों में प्राप्त वस्तुओं के सहारे यह कहते हैं कि प्राचीन कालमें कोई विदेशी संस्कृति सिन्धुनदी के किनारे फैली थी, जिसका भारतीय संस्कृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। वह संस्कृति बेबिलोनिया, सुमेर आदि की प्राचीन संस्कृति से मिलती झुलती थी, क्योंकि उनके मध्य बहुतसी समानता पाई जाती है, जो कि इस प्रकार है[५३]।

(१) चित्रलीपि।

(२) सिन्धु-संस्कृति की मुद्राओं व बेबिलोनिया की मुद्राओं में समानता।

(३) मिट्टी के बर्तन व उनके ऊपर खुदी हुई चित्रकला की समानता।

इस समानता के ज़ोर पर पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने यह तय कर लिया कि यह संस्कृति प्राचीन बेबिलोनिया से यहां आई व वहां की संस्कृति के समान ई० पू० ३००० वर्ष पहिले की होनी चाहिये। इन्होंने इस संस्कृति को भारतीय संस्कृति से बिलकुल पृथक सिद्ध करने के बहुत से प्रयत्न किये हैं। संस्कृत के विख्यात विद्वान् सर ए. बी. कीथ नीचे लिखे मुद्दों के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि इस संस्कृति से भारत के आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था[५४]।

(१) इतिहास व संस्कृतसाहित्य का कोई भी विद्वान् यह मानने को तैयार न होगा कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्यलोग भारत में पहुँच गये थे। ई० पू० २००० वर्ष तक भी आर्यलोग भारत में नहीं पहुँचे थे। इसलिये सिन्धु-संस्कृति से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रह सकता।

(२) ऋग्वेद में नगर के जीवन का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-संस्कृति में नगरों का बाहुल्य है।

(३) ऋग्वेद में चांदी का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-संस्कृति में सोने की अपेक्षा चांदी का उपयोग अधिक होता था।

(४) ऋग्वेद में शिरस्त्राण व कवच का उल्लेख है, किन्तु गदा, हथियार के

रूप में कहीं उल्लिखित नहीं है। इसके विपरीत सिन्धुतटवर्ती संस्कृति में गदा का पता लगता है, किन्तु शिरस्त्राण व कवच का कोई पता नहीं।

(५) ऋग्वेद-कालीन आर्य लोग मछली नहीं खाते थे, किन्तु सिन्धु-तटवर्ती लोग मछली बहुत खाते थे।

(६) मोहन्जोदाड़ो में घोड़ा नहीं पाया जाता, किन्तु ऋग्वेद में घोड़े का आधिक्य है।

(७) ऋग्वेद में बैल की अपेक्षा गाय का अधिक सत्कार किया गया है, किन्तु सिन्धुतटवर्ती लोगों के लिये गाय का इतना महत्त्व नहीं था।

(८) ऋग्वेद में मूर्तिपूजा का कोई उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-तटवर्ती संस्कृति में मूर्तिपूजा धर्म का मुख्य अङ्ग थी। पशुपति व योगिराज के रूप में शिवकी पूजा सिन्धु-संस्कृति के लोगों द्वारा की जाती थी, जो ऋग्वेद-काल में ज्ञात नहीं थी।

कीथ के मत का परीक्षण—इन आठ युक्तियों के सहारे कीथ महाशय सिद्ध करना चाहते हैं कि सिन्धुतटवर्ती संस्कृति से आर्य्यों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। किन्तु ये दलीलें पूर्णतया निर्जीव हैं। आश्चर्य होता है कि कीथ के समान बड़ा विद्वान् ऐसी निरर्थक दलीलों का सहारा क्योंकर लेता है? आर्य्य लोग ई० पू० ३००० वर्ष पूर्व भारत में नहीं थे, यह तो अभी तक निश्चित रूप से कोई भी नहीं कह सकता। अभी तो ऋग्वेद के काल का निर्णय ही नहीं हो सका है। ऋग्वेद में नगर का उल्लेख नहीं है, इसलिये यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि उस काल में नगर थे ही नहीं। ऋग्वेद इतिहास का ग्रन्थ तो है ही नहीं कि उस में सब बातों का उल्लेख होना ही चाहिये। वह तो एक धार्मिक ग्रन्थ है, जिस में उन ऋषियों के मन्त्रों को संग्रहित किया गया है, जो जंगलों में आश्रम बसा कर रहते थे। इसलिये उसमें बड़े २ नगरों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख न मिलना स्वाभाविक ही है। किन्तु परोक्षरूप से हमें यह पता अवश्य लगता है कि उस समय में बड़े २ नगर भी थे। ऋग्वेद में सभा व समिति का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। समिति वैदिक कालीन 'पार्लियामेन्ट' थी व कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार जिस विशाल भवन में उसकी बैठक होती थी, वह सभा कहलाता था[५५]। इस सभा में नगरनिवासी अन्य कार्यों के लिये भी एकत्रित

होते थे[५९]। यह वर्णन जिस रूप में किया गया है, उससे मालूम होता है कि वहां का वातावरण एक नगर का ही वातावरण हो सकता है।

इसी प्रकार सिन्धु-संस्कृति में देहाती जीवन का उल्लेख इसलिये नहीं है कि संयोगवशात् किसी प्राचीन शहर के ही खंडहर खोदे गये। शहर में पाई गई चीजें शहर के जीवन का ही पता देंगी, उनसे देहातों का कोई भी पता नहीं लग सकता। फिर भी गेहूं, बाजरा आदि का पायाजाना स्पष्टतया बताता है कि उस समय में देहात भी अवश्य रहे होंगे।

गाय व बैल का कम या अधिक महत्त्व, सोने व चांदी का कम या अधिक उपयोग, शिरस्त्राण, कवच, गदा आदि का पाया जाना या न पाया जाना, मछली खाना या न खाना आदिके सहारे सांस्कृतिक भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती। एकही संस्कृति को माननेवाले समाज में ये सब भेद एक ही समय में पाये जाते हैं। एक ही मातापिता से उत्पन्न चार भाइयों में भी, जिन के परिवार अलग २ रहते हैं, ये सब भेद पाये जा सकते हैं व आज भी पाये जाते हैं। इस पर से यह तो नहीं कह सकते कि वे चारों सगे भाई सांस्कृतिक दृष्टि से बिलकुल ही भिन्न हैं।

यह समझना भी कठिन है कि इसे प्राचीन सुमेर, बेबिलोनिया आदि से क्यों सम्बन्धित किया जाता है? जबतक मुद्राओं पर की कथित चित्र-लिपि को समझा नहीं जाता, तबतक वह लिपि ही है, यह भी कैसे कहा जा सकता है। केवल मिट्टी के बर्तन व उनके ऊपर की चित्रकला की समानता के सहारे तो एकदम यह नहीं कह सकते कि यह संस्कृति प्राचीन बेबिलोनिया, सुमेर आदि से ही आयी थी, जब कि भारतीय संस्कृति के साथ उसकी ज़बरदस्त समानता स्पष्टतया दीखती है। त्रिमूर्ति, योगिराज, पशुपति-शिव, पृथ्वीमाता आदि भारत के अपने देवता हैं; प्राचीन बेबिलोनिया, सुमेर आदि के नहीं है। इन देवताओं के माननेवाले भी भारतीय ही होने चाहिये। वे विदेशी भले ही रहे हों, किन्तु भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रंगे जा चुके थे। सोना, चांदी, गाय, बैल, गेहूं, बाजरा आदि जो कुछ भी मिला है, वह सब पूर्णतया भारतीय ही है।

यह सिन्धु-संस्कृति यथार्थ में सर जॉन मार्शल आदि का कल्पना-प्रसून है। मोहनजोदाड़ो आदि के खंडहरों से कदाचित् पौराणिक काल के किसी प्राचीन

शहर का पता चला है। वहां का धार्मिक जीवन पूर्णतया पौराणिक ही है। महाभारत, वायुपुराण, मत्स्यपुराण आदि से मालूम होता है कि सिन्धु के किनारे शकलोग बस गये थे व वे शिव के उपासक थे[५७]। इतिहास भी इस भाग में शैव मत के प्राबल्य को सिद्ध करता है। कुशान व हूण वंशीय राजाओं ने शैव सम्प्रदाय को अपनाया था[५८]। महाभारत, पुराणादि में सिन्धु-तटवर्ती प्रदेश को 'शाकद्वीप'[५९] कहा गया है, जहां के शक विदेशी होते हुए भी शिव के परम उपासक थे। इस प्रकार, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'सिंधु-संस्कृति' कोई स्वतन्त्र संस्कृति नहीं है, वह पूर्णतया भारतीय है।

उपसंहार—आर्यों के आदिम निवासस्थानसम्बन्धी जो विचार ऊपर दर्शाये गये हैं, उन के सहारे यह कह सकते हैं कि आर्य लोगों के बाहिर से भारत में आने से सम्बन्धित विभिन्न मतों की पुष्टि के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है। तुलनात्मक-भाषाशास्त्र की सहायता से यूरोप को उन का आदिम निवासस्थान सिद्ध करना नितान्त भ्रमपूर्ण है। आर्यसंस्कृतिरूपी वृक्ष की जड़ें यदि किसी देश में अधिक गहरी पहुँची हुई दीखती हैं, तो वह है यह प्राचीन भारतवर्ष या आर्य्यावर्त, न कि यूरोप का कोई देश। 'सिन्धु-संस्कृति' भी आर्यों के भारत में बाहिर से आने के प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डाल सकती, क्योंकि जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यह संस्कृति उतनी पुरानी नहीं है, जितनी कि उसे बताया जाता है।

अध्याय ६

वेद

प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान—भारत के ही नहीं, किन्तु प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है[१]। प्राचीन आर्यों के आदिम निवासस्थान के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, किन्तु उन के व उन की संस्कृति के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में किसी प्रकार की भी विचारभिन्नता नहीं हो सकती। यह बात सर्वमान्य ही है कि इन

आर्यों ने प्राचीन काल में विश्व के विभिन्न भागों में फैलकर अपनी संस्कृति का प्रचार किया व उन्हें संस्कृति का पाठ पढ़ाया। एशिया व यूरोप के सांस्कृतिक विकास पर आर्यत्व की छाप स्पष्टतया दिखाई देती है, जिस के चिह्न आज भी दिखाई देते हैं। इसी आर्य-संस्कृति के सर्वप्रथम दर्शन हमें वेद में होते हैं। यह कथन अत्युक्ति न होगा कि वेद में आर्य-संस्कृति की आत्मा ओत-प्रोत है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण प्रेरणा वेद से ही प्राप्त करती है। भारत के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विद्या आदि की जड़ें वेद में ही पाई जाती हैं। अतः वेद को समझे बिना भारतीय संस्कृति को समझना असंभव है।

वेद का अपौरुषेयत्व—'वेद' शब्द, 'जानना' अर्थवाली संस्कृत की 'विद्' धातु में 'अच्' या 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है[2] व इस का अर्थ 'ज्ञान' होता है। इस की प्राचीनता व पवित्रता के कारण इसे ईश्वरीय ज्ञान भी कहते हैं। धर्मनिष्ठ हिन्दू इसे "अपौरुषेय" मानते हैं, जिस का मतलब यह है कि इस का कर्ता कोई पुरुषविशेष नहीं है, यह तो ईश्वरप्रणीत है। इस में जिन ऋषियों का वर्णन है, वे केवल "मन्त्रद्रष्टा[3]" थे। इसको ईश्वरीय ज्ञान मानने वालों के मन्तव्यानुसार सृष्टि के आदि में प्राणियों के सांस्कृतिक विकास के लिये ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता बिलकुल ही तर्कसिद्ध है, क्योंकि जैसा कि विज्ञान भी मानता है, अभाव से भाव नहीं हो सकता। ईश्वरीय ज्ञान के बिना मानव-संस्कृति का विकास होना असंभव है[4]। वेद के अपौरुषेयत्व का यह मतलब तो कदापि नहीं हो सकता कि साक्षात् परमात्मा ने इसे लिखा हो या किसी दूसरे से लिखवाया हो। उस का तो यही मतलब हो सकता है कि उस में ईश्वरप्रदत्त ज्ञान का वर्णन है। प्रस्तुत विषय के लिये इस विवाद की कोई उपयोगिता नहीं है।

वेद का स्वरूप—वेद या वैदिक साहित्य से साधारणतया तीन प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों का बोध होता है, जिन में से कुछ आज तक सुरक्षित हैं, तथा कई का कोई पता नहीं है। प्राप्यग्रन्थों का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) **संहिता**—इस में ऋक्, सामन्, यजुस्, अथर्व आदि का संग्रह है।

(२) **ब्राह्मण**—इस साहित्य में गद्य के रूप में यज्ञादि से सम्बन्धित बहुत सी बातें हैं। नाना प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है तथा उन का सम्बन्ध संहिता के मन्त्रों से लगाया गया है।

(३) **आरण्यक व उपनिषद्**—इन का समावेश ब्राह्मणग्रन्थों में ही होता है, किन्तु इन में से कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी माने जाते हैं। उन में जंगलों में आश्रम बना कर रहने वाले वानप्रस्थियों के, ईश्वर, जीव, जगत् आदि सम्बन्धी परिपक्व विचार हैं। इन में भारत के प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। किसी समय कदाचित् अनेक संहिताएँ रही होंगी, जिन का उद्भव विभिन्न स्थानों में हुआ होगा, जिन पर आगे चलकर विचार किया जायगा। किन्तु वे सब देश, काल के अनुसार एक ही संहिता के कुछ २ परिवर्तित स्वरूप ही थीं। आजकल नीचे लिखी संहिताएँ प्राप्त हैं–

(१) **ऋग्वेद संहिता**—इस में सब ऋचाओं का संग्रह है।

(२) **यजुर्वेद संहिता**—इस में यज्ञ से सम्बन्धित 'यजुस्' का संग्रह है। इस के दो भेद है।

(क) **कृष्ण यजुर्वेद**—(मन्त्र व ब्राह्मण एक साथ) तैत्तिरीय संहिता व मैत्रायणी संहिता विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ख) **शुक्ल यजुर्वेद**—(केवल मन्त्र) वाजसनेयी संहिता।

(३) **सामवेद संहिता**—इस में 'सामन्' गीतों का संग्रह है, जो सोमयाग के समय गाये जाते थे।

(४) **अथर्ववेद संहिता**—इस में ऋक्, प्रार्थनामन्त्र आदि का समावेश होता है। इस में रोग, ओषधि आदि का भी वर्णन आता है।

ये चारों संहिताएँ चार वेदों के नाम से भी जानी जाती हैं। प्रत्येक संहिता के साथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि सम्बन्धित हैं।

ऋग्वेद—

ब्राह्मण—(१) ऐतरेय
(२) कौशीतकीय या शांखायन

आरण्यक—(१) ऐतरेय आरण्यक
(२) कौशीतकी आरण्यक

उपनिषद्—(१) ऐतरेय उपनिषद्
(२) कौशीतकी उपनिषद्

यजुर्वेद—

तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण)—

ब्राह्मण—(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण

आरण्यक—(१) तैत्तिरीय आरण्यक
उपनिषद्—(१) तैत्तिरीय उपनिषद्
(२) महानारायण या याज्ञिकी उपनिषद्

काठक संहिता (कृष्ण)—

तैत्तिरीय ब्राह्मण व आरण्यक का अंतिम भाग काठकसंहिता से सम्बन्धित था। अब केवल 'कठोपनिषद्' का इससे स्पष्ट सम्बन्ध दर्शाया गया है।

मैत्रायणी संहिता (कृष्ण)—

इसका कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण नहीं है, किन्तु इसका 'मैत्रायणीय उपनिषद्' वर्तमान है।

वाजसनेयी संहिता (शुक्ल)—

ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण। इसका अन्तिम भाग आरण्यक कहाता है।

उपनिषद्—बृहदारण्यकोपनिषद्

सामवेद—

ताण्डिनशाखा—
ब्राह्मण—(१) पंचविंश (ताण्ड्य या प्रौढ़) ब्राह्मण
(२) षड्विंश ब्राह्मण
(३) अद्भुत ब्राह्मण
(४) छान्दोग्य ब्राह्मण
उपनिषद्—(१) छान्दोग्य उपनिषद्

तलवकार या जैमिनीय शाखा—
ब्राह्मण—(१) तलवकार ब्राह्मण
(२) उपनिषद् ब्राह्मण
(केनोपनिषद्)
(३) आर्षेय ब्राह्मण

इनके अतिरिक्त सामवेद से सम्बन्धित चार और ग्रन्थ हैं, जो ब्राह्मण कहलाते हैं, किन्तु यथार्थ में ब्राह्मण नहीं हैं। यथा

(१) सामविधान ब्राह्मण
(२) देवताध्याय ब्राह्मण
(३) वंशब्राह्मण
(४) संहितोपनिषद्

अथर्ववेद—

गोपथ ब्राह्मण—यथार्थ में अथर्ववेद से इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

यह सब साहित्य साधारणतया 'वेद' के नाम से जाना जाता है[५], किन्तु कुछ लोग केवल मन्त्रभाग को ही ईश्वरप्रणीत समझ वेद मानते हैं[६]। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण व उपनिषद् 'वेद' कहाये जाने के अधिकारी नहीं है, क्योंकि उनमें इतिहास है। प्राचीन ग्रन्थों में वेदत्रयी का उल्लेख भी आता है। ऐतिहासिकों के मतानुसार पहिले ऋक्, यजु, साम ये तीन ही वेद माने जाते थे। अथर्ववेद का सम्बन्ध जनसाधारण के विश्वासों से होने के कारण उसे वह अधिकार बहुत समय के पश्चात् मिला। भारतीय जनश्रुतिको मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ में तीन ही वेदों की आवश्यकता पडने के कारण 'वेदत्रयी' नाम प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार वेद में इन सब ग्रन्थों का समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस वैदिक साहित्य से सम्बन्धित वेदाङ्ग साहित्य भी है, जिसमें कल्प, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा आदि का समावेश होता है। इन सब पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

वेद-काल निर्णय—ऊपर जो वैदिक साहित्य का स्वरूप बताया गया, उसमें ऐतिहासिक दृष्टि से संहिता प्राचीनतम हैं; ब्राह्मण, उपनिषद आदि बाद में बने हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि संहिताओं में भी ऋग्वेद-संहिता प्राचीनतम हैं व अन्य उसके बाद की हैं। इसलिये जब वेदकाल-निर्णय किया जाता है, तब ऋग्वेद को ही ध्यान में रख कर सब विचार किया जाता है। अतएव वेदकाल-निर्णय से ऋग्वेद-काल-निर्णय का मतलब होता है।

वेदकाल-निर्णय एक जटिल समस्या है। भाषा की कठिनता व प्राचीनता के कारण वैदिक मन्त्रों के सच्चे अर्थ को समझना भीं मुश्किल होगया है। इसलिये इस सम्बन्ध में कोई मत स्थिर करना सरल नहीं है।

वेदकाल के सम्बन्ध में दो मत विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वेद के अपौरुषेय माननेवालों के मतानुसार वेद-काल-निर्णय करना व्यर्थ है। वेद तो ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वर इस ज्ञान को सृष्टि के प्रारम्भ में मानवजाति के विकास के लिये प्रेरित करता है। इसलिये इसका अस्तित्व सृष्टि के प्रारम्भ

से ही रहता है व सृष्टिक्रम आदि के समान यह भी अनादि व अनन्त है। दूसरा मत आधुनिक ऐतिहासिकों का है, जो वेद को मनुष्यकृत साहित्यविशेष समझ उसके बनने का समय निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं।

मैक्समुलर का मत—इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न मैक्समुलर का है[७]। उसके मतानुसार प्राचीन उपनिषदों में बौद्ध सिद्धान्तों की भूमिका पाई जाती है। छान्दोग्य व बृहदारण्यक उपनिषदों में अहिंसा के सिद्धान्त पर विशेष ज़ोर दिया गया है व यज्ञ को नैतिकता के नये ढाँचे में ढालनेकी कोशिस की गई है। इन सब बातों से मालूम होता है कि बौद्धकाल के कुछ पूर्व ही प्राचीन उपनिषद् बने होंगे। गौतमबुद्ध का प्रादुर्भावकाल ई० पू० छठी शताब्दि का मध्यभाग माना जाता है। इसलिये इसके पूर्व की शताब्दि में उपनिषदों का विकास प्रारम्भ हुआ होगा। ब्राह्मणग्रन्थ उपनिषदों के पूर्व के हैं। मैक्समुलर ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दि में रखा है। और इससे दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० १००० के लगभग उसने यजु, साम, अथर्व आदि वेदों का समय बताया है। ऋग्वेद के लिये ई० पू० १२०० के करीब का समय निश्चित किया जाता है। मैक्समुलर ने अन्दाज़ से वेद, ब्राह्मण व उपनिषद् आदि प्रत्येक के विकास के लिये दो सौ वर्ष मान लिये व बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के एक शताब्दि पूर्व प्राचीन उपनिषदों का काल मानकर, उसने दो दो सौ वर्ष पहिले ब्राह्मण, संहितादि को लेजाने का प्रयत्न किया। वह स्वतः इस बात को स्वीकार करता है कि यह सिद्धान्त निश्चित काल का द्योतक नहीं है, किन्तु कम से कम उतने वर्ष का तो वह साहित्य होना ही चाहिये। इस प्रकार मैक्समुलर का सिद्धान्त कोई निश्चय पर नहीं ले जा सकता। प्रत्येक साहित्य के विकास के लिये दो सौ ही वर्ष लगे होंगे, यह कहना सरल नहीं है। अधिक संभावना तो है कि इस से कहीं अधिक समय इस साहित्यिक विकास के लिये लगा होगा।

तिलक व जेकोबी का मत—लो० तिलक व जेकोबी[८] ज्योतिषशास्त्र की सहायता से ऋग्वेद को ई० पू० ४५०० वर्ष तक ले जाते हैं। किन्तु जिन मन्त्रों के आधार पर यह सिद्धान्त बनाया गया है, उनके अर्थ के सम्बन्ध में ही विद्वानों में बड़ा भारी मतभेद है। इसलिये यह सिद्धान्त सर्वमान्य न हो सका।

विन्टरनीज़ व अन्य विद्वानों का मत—जर्मन विद्वान् विन्टरनीज़ भारत के बाहिर पाये गये वैदिक संस्कृति के चिह्नों के आधार पर ऋग्वेद को ई० पू० ३००० वर्ष का सिद्ध करते हैं व भारतीय संस्कृति का प्रारंभ ई० पू० ४००० वर्ष तक ले जाते हैं। प्रो० बूह्लर मेक्समूलर के मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेद ई० पू० १२०० वर्ष के बहुत पहिले का होना चाहिये। किन्तु प्रो० हॉप्किन्स व प्रो० जेक्सन के मतानुसार ऋग्वेद का अधिकांश भाग ई० पू० १०००–६०० वर्ष का होना चाहिये[१०]। इन सब सिद्धान्तों के विपरीत श्री० अविनाशचंद्रदास भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्तों की सहायता से सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद लाखों वर्ष पूर्व का होना चाहिये[११]।

विभिन्न मतों का परीक्षण—वेदकाल-निर्णय सम्बन्धी इन विभिन्न मतों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि अभीतक इस बारे में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही, इस बात का भी पता चलता है कि पाश्चात्य विद्वान् वेद को बहुत ही प्राचीनकाल तक ले जाने को तैयार नहीं है। यदि इस प्रश्न पर निष्पक्षवृत्ति से विचार किया जाय तो इतना अवश्य ही मानना होगा कि ऋग्वेद ई० पू० १७६० वर्ष के बहुत पहिले का होना चाहिये। ई० स० १९०७ में विंक्लर ने 'मिट्टानी' व 'हिट्टाईट' लेखों (ई० पू० १३६०) में 'इन्द्र', 'वरुण', 'मित्र' 'नासत्य' आदि ऋग्वेद के देवताओं का पता लगाकर ऐतिहासिक जगत् को आश्चर्य्यचकित किया था[१२]। इसी प्रकार 'केसाइट' लेखों (ई० पू० १७६०) में प्राप्त राजाओं के नामों के अन्तर्गत वैदिक देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है। इस से स्पष्ट है कि ई० पू० १७६० तक वैदिक देवताओं के नाम एशियामायनर व मिश्र तक पहुँच चुके थे। अतः ऋग्वेद इस समय के बहुत पहिले का होना चाहिये। किन्तु यथार्थ में वेद का समय निश्चित करना कोई साधारण बात नहीं है।

वेदोत्पत्ति व पुराण—

"यो विद्याचतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥"
"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥"[१३]

"जो द्विज अङ्ग व उपनिषदों सहित चारों वेदों को जानता है, किन्तु पुराण

को नहीं जानता वह विद्वान् हो ही नहीं सकता। इतिहास व पुराण की सहायता से वेद की वृद्धि करना चाहिये। अल्पश्रुत से वेद इस भय से भयभीत होता है कि कहीं वह मुझे मार न दे।"

वायुपुराण के इन वचनों में एक गूढ़ ऐतिहासिक रहस्य भरा है, जिसे अभीतक ऐतिहासिकों ने नहीं समझा है। वेदकालनिर्णय करते समय कभी भी कोई पुराणों का विचारतक नहीं करता। भारत के प्राचीनतम इतिहास की कितनी ही सामग्री पुराणों में भरी पड़ी है। वेद कब व कैसे बनें, यदि इन प्रश्नों को हल किया जा सकता है, तो वह केवल पुराणों की सहायता से। वायु, विष्णु आदि पुराणों में जहां राजवंशावलियें दीं हैं, वहां वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के सम्बन्ध में भी कुछ २ ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है[१४]। वैदिक संहिताओं व अनुक्रमणिकाओं में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का वर्णन आता है। उनके नाम के साथ उनके पिता के नाम का भी उल्लेख रहता है, जैसे मेधातिथि काण्व, हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इत्यादि। ऋग्वेदादि के सूक्तों के पूर्व मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द आदि के नाम दिये रहते हैं, जिनका पता ऋग्वेद की किसी भी मुद्रित या हस्तलिखित प्रति से मिल सकता है। इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में कुछ के नाम पुराणादि में भी आते हैं व वहां उनके बारे में जो कुछ कहा गया है, उसकी पुष्टि वैदिक संहिताओं से होती है।

विष्णुपुराण में[१५] सूर्यवंशी मनु के दस पुत्रों का उल्लेख है, उन में शर्याति भी एक है। इस के वंशज पश्चिमी भारत में राज करते थे। उन्होंने आनर्त आदि देशों को बसाया। ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूत्र का द्रष्टा ऋषि 'शार्यातो मानवः' कहा गया है,[१६] जिस का अर्थ होता है मनु का पुत्र शार्यात। वेद का शर्यात मानव व पुराणों का मनुपुत्र शर्याति एक ही व्यक्ति है, न कि अलग २। मनुपुत्र इक्ष्वाकु के वंश में अठारहवां राजा मान्धातृ[१७] था, जो कि बड़ा ही प्रतापी था। इस के पिता का नाम पुराणों में युवनाश्व दिया है[१८]। ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूक्त का द्रष्टा ऋषि "यौवनाश्व मान्धातृ" है,[१९] जिस का अर्थ होता है कि युवनाश्व का पुत्र मान्धाता। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पुराणों का प्रतापी राजा मान्धातृ ऋग्वेद का मन्त्रद्रष्टा भी था। इस प्रकार सूर्यवंश के दो राजाओं को हम ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टाओं के रूप में पाते हैं।

चन्द्रवंशी राजाओं में भी ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा थे। इस वंश का जन्मदाता पुरुरवस् ऐल स्वयं ही अपनी पत्नी उर्वशी सहित ऋग्वेद के दसवें मंडल के कई मन्त्रों का द्रष्टा है,[२०] जिन में, ऐतिहासिकों के मतानुसार, उन दोनों के प्रेमसम्बन्ध का उल्लेख भी है। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में इसी प्रेमकहानी को अमर बना दिया है। ऋग्वेद के उक्त सूक्त के ऋषि के नाते पुरूरवस् को 'पुरुरवस् ऐल' कहा गया है, अर्थात् 'इला' का पुत्र पुरूरवस्। पुराणों में इला को मनु की पुत्री कह कर, किस प्रकार बुध से सम्बन्ध होने से उसे पुरूरवस् पुत्र हुआ, इस का सुन्दर वर्णन किया गया है[२१]। पुरूरवस् के द्वितीय पुत्र अमावसु के वंश में गाधि नाम का नवाँ राजा हुआ है[२२]। उसे 'कौशिक' भी कहा गया है, क्योंकि उस के पिता का नाम 'कुश' था। ऋग्वेद के तीसरे मंडल के १९,२०,२१ व २२ वें सूक्त के मन्त्रद्रष्टा 'कुशिकपुत्रो गाथी ऋषिः' अर्थात् कुशिक का पुत्र गाथी ऋषि है। यह गाथी, पुराण का गाधि ही है, क्योंकि ऋग्वेद का 'कुशिक पुत्र' व पुराणों का 'कौशिक' एक ही अर्थ रखते हैं। पुराणों के अनुसार गाधि का पुत्र विश्वामित्र था,[२३] जो कि ऋग्वेद के तीसरे मंडल के, १ से १२, २४ से ३७, ३९ से ५३, व ५७ से ६२ सूक्तों का द्रष्टा है। इस के कितने ही पुत्र थे, जिन का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आता है, जहां यह भी बताया गया है कि अजीगर्ति मुनि का पुत्र शुनःशेप किस प्रकार विश्वामित्र का पुत्र बन गया[२४]। इस का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है। यह शुनःशेप ऋग्वेद के पहिले मंडल के २४ से ३० सूक्तों व नवें मंडल के ३ सूक्त का द्रष्टा है। इसे 'शुनःशेप आजिगर्ति कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात ऋषिः' अर्थात् अजीगर्ति का औरस पुत्र व विश्वामित्र का गोदलिया हुआ पुत्र शुनःशेप जो कि 'देवरात' (देवों द्वारा दिया हुआ) कहाता था। विश्वामित्र का औरस ज्येष्ठपुत्र मधुच्छन्दस् भी ऋग्वेद के पहिले मंडल के १ से १० सूक्तों का व नवें मंडल के पहिले सूक्त का द्रष्टा है। इसे 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रो' अर्थात् विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दस् कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वामित्र स्वतः, उस का पिता व उस के पुत्र सबही वेदों के मन्त्रद्रष्टा थे। बराबर तीन पीढ़ी तक इस वंश का मन्त्रद्रष्टृत्व सुरक्षित रहा, यह पुराणों की सहायता से स्पष्टतया जाना जाता है।

पुरूरवस् के ज्येष्ठपुत्र आयुस् का अनेनाः नामी एक पुत्र था[२५]। उसके वंश में लगभग २३ राजा हुए थे। इसी वंश का तीसरा राजा गृत्समद[२६] था। इस के दो बड़े भाई काश्यप व काश नाम के थे। काश के वंशज पुराणों में काश्य कहलाये। ये ही काश्य, कदाचित् प्राचीन एशिया मायनर के 'केसाइट' हों। गृत्समद ऋग्वेद के नवें मंडल के ८६ सूक्त के ४६ से ४८ मन्त्रों का द्रष्टा है। इसी प्रकार काश्यप का प्रपौत्र दीर्घतमस्[२७] भी मन्त्रद्रष्टा है[२८]। आयुर्वेद का सुविख्यात लेखक धन्वन्तरि इसी दीर्घतमस् का पुत्र था[२९]।

इसी वंश का नवाँ राजा प्रतर्दन था, जिसके पिता का नाम दिवोदास था[३०]। ऋग्वेद के नवें मण्डल के ९६ वें सूक्त का वह द्रष्टा है, जहां उसे 'प्रतर्दनदैवोदासिः' अर्थात् दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन कहा गया है।

पुरूरवस्पुत्र आयुस् के ज्येष्ठपुत्र नहुष का द्वितीय पुत्र ययाति था,[३१] जिसने औशनसी देवयानी व वार्षपार्वणी शर्मिष्ठा से विवाह किया था। इस के यदु, दुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पूरु आदि पांच पुत्र बड़े ही प्रतापी थे, जो भारत के विभिन्न भागों में राज्य करते थे। इन पांचों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है[३२]। इनका पिता ययाति ऋग्वेद के नवें मंडल के एक सूक्त का द्रष्टा है, जहां इसे 'ययाति नाहुष' कहा गया है[३३]।

इस प्रकार पुराणों की सहायता से हम वेदों के मन्त्रों को उनके सच्चे स्वरूप में समझ सकते हैं व उनको तिथिक्रम के अनुसार भी व्यवस्थित कर सकते हैं। इस दिशा में अधिक खोज की आवश्यकता है। वेदमन्त्रों को उनके ऋषियों के क्रम के अनुसार व्यवस्थित कर उनकी भाषा आदि का आलोचनात्मक अध्ययन कर पुराणों की सहायता से वेदमन्त्रों की बनावट व उनके कालनिर्णय के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चितरूप से जाना जा सकता है। पुराणों की सहायता से वेदसम्बन्धी कितने ही भ्रम दूर किये जा सकते हैं। यदु, द्रुह्यु आदि को आधुनिक विद्वानों ने वेदकालीन जातियों के नाम मान लिये हैं, जो पञ्जाब में राज करती थीं ऐसा कहा जाता है व जिनका सम्बन्ध उस कपोलकल्पित 'दाशराज्ञयुद्ध' से जोड़ा जाता है[३४]। किन्तु पुराणों से यथार्थ स्थिति का बोध होता है व हम कह सकते हैं कि यदु, द्रुह्यु आदि चंद्रवंशी प्रतापी राजा ययाति के पुत्र थे व भारत के विभिन्न भागों में राज्य करते थे; इनके वंशज आजभी भारत में वर्तमान हैं।

वेदों की विभिन्न शाखाएँ—प्राचीन काल में जब कि आवागमन के साधन अधिक विकसित नहीं हुए थे व छापने आदि की कला का ज्ञान नहीं था, वेदों की रक्षा गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा ही की जाती थी। गुरु के चरणों में बैठकर शिष्य वैदिक ज्ञान का श्रवण करते थे। ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ वेदों का पावित्र्य बढ़ता गया व ब्राह्मणलोग उसकी रक्षा के लिये चिन्तित होने लगे। देश के विभिन्न स्थानों में वेदाध्ययन के केन्द्र खुले। कहीं एक वेद, कहीं दो वेद, कहीं तीन वेद और कहीं चारों वेदों का अध्ययन व अध्यापन किया जाने लगा। इन्हीं भिन्न २ केन्द्रों के कारण वेदों की अनेक शाखाएँ बन गईं व ब्राह्मणों के भी भेद होने लगे; क्योंकि कोई २ ब्राह्मण चारों वेदों को पढ़ते; कोई तीन, दो या एक। ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, द्विवेदी (दुबे, दवे), त्रिवेदी (तिवारी, तरवाड़ी), चतुर्वेदी (चौबे, चट्टोपाध्याय) आदि ब्राह्मणों का प्रारम्भ इसी प्रकार होता है। इस प्रकार का विभाजन महाभारत काल के पश्चात् किया जाना चाहिये, जब कि पाराशरव्यास ने सब मन्त्रों को संग्रहित कर चार संहिताएँ बनाई थीं।

"चरणव्यूह"[३५] में ऋग्वेद की पांच शाखाओं का उल्लेख है, जैसे शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन व माण्डूकेय। तीसरी व चौथी शाखा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आश्वलायन में ग्यारह वालखिल्य-सूक्तों को वेद में सम्मिलित कर लिया गया है व शांखायन में इनमें से कुछ मन्त्र कम कर दिये हैं। इसीलिये पुराणादि ग्रन्थों में केवल तीन ही शाखाओं का उल्लेख है, यथा शाकल, बाष्कल व माण्डूक। माण्डूक शाखा के ऋग्वेद का कोई भी पता नहीं मिलता। केवल दो ही शाखाओं के ऋग्वेद का उल्लेख मिलता है। वेद-सम्बन्धी दूसरे ग्रंथों से यह पता चलता है कि वाष्कल व शाकल शाखा में केवल इतना ही अन्तर था कि वाष्कल ने आठ अधिक मन्त्रों को सम्मिलित किया था व प्रथम मंडल को कोई और स्थान दिया था। आज केवल शाकल शाखा की ऋग्वेद-संहिता ही उपलब्ध है। सामवेद की दो शाखाओं का पता चलता है–(१) कौथुम व (२) राणायनीय। कौथुम-सामवेद का केवल सातवां प्रपाठक ही प्राप्य है। यजुर्वेद की चार शाखाओं का पता चलता है—(१) कठ (उपशाखा कपिष्ठल,) (२) मैत्रायणी, (३) तैत्तिरीय, (उपशाखा-आपस्तम्भ, हिरण्यकेशिन्) (४) वाजसनेयी (उपशाखा-माध्यंदिनी,

काण्व)। वाजसनेयी में केवल मन्त्र ही हैं, जो कि किसी यज्ञ के अवसर पर उच्चारित किये जाते थे। इसमें ब्राह्मण-भाग सम्मिलित नहीं किया गया है। इसलिये इसे 'शुक्लयजुर्वेद' कहते हैं। दूसरी संहिताओं में ब्राह्मणभाग भी सम्मिलित किया गया है, इसलिये उन्हें 'कृष्णयजुर्वेद' कहते हैं। वाजसनेयी संहिता चालीस अध्यायों में विभाजित है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) पैप्पलाद, (२) शौनक।

वैदिक साहित्य की रक्षा के उपाय—वेदों को अधिक सुरक्षित रखने के लिये, जिससे कि उनमें कोई किसी प्रकार की मिलावट न कर सके, दूसरे नये तरीके सोचे गये थे। ऐतरेय ब्राह्मण में (अग्निचयन प्रकरण) ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या लिखी गयी है, जो कि आधुनिक ऋग्वेद के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। प्रातिशाख्य-साहित्य के अध्ययन से हमें भलीभांति मालूम होता है कि वेदों की रक्षा के लिये 'पदपाठ', 'क्रमपाठ' 'जटापाठ', 'घनपाठ' आदि की आयोजना की गई थी[३६]। 'संहितापाठ' में वैदिक मन्त्रों का मौलिक स्वरूप निहित है। इस पाठ में व्याकरण के नियमों के अनुसार सन्धि, समास आदि के द्वारा शब्द एक दूसरे से जुड़े हुए रहते हैं। 'पदपाठ' में सन्धि आदि को तोड़ कर सब शब्द अलग २ रखे जाते हैं। 'क्रमपाठ' में 'पदपाठ' के हरएक शब्द को दुहराया जाता है, एक बार उसके पहिले के शब्द के साथ व दूसरी बार उसके आगे के शब्द के साथ। 'जटापाठ' 'क्रमपाठ' पर आबद्ध है व प्रत्येक शब्दसमुदाय तीन बार उच्चारित किया जाता है। दूसरी बार उच्चारण करते समय उसके क्रम को उलट दिया जाता है। 'घनपाठ' में इस क्रम को और भी अधिक जटिल कर दिया जाता है। एक पाठ से दूसरे पाठ को बनाने के नियम प्रातिशाख्यों में दिये हैं। इनके अतिरिक्त वेदों की अनुक्रमणिकाएँ भी हैं, जिनमें वेदों में वर्णित विषय भिन्न २ दृष्टिबिन्दुओं से उल्लिखित हैं व वेदों के सूक्त, मन्त्र, शब्द व अक्षरों तक की संख्या दी है। यही कारण है कि आज भी वेदों का स्वरूप ठीक वही है, जो सहस्रों वर्षों पूर्व था, जब कि उनको संग्रहीत किया गया था। उनमें किसी भी प्रकार मिलावट नहीं की जासकी। विश्वसाहित्य के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। इन संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों को भी चिह्नित किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद में उदात्तवर्ण के ऊपर

खड़ी रेखा व अनुदात्त के नीचे आड़ी रेखा खींची जाती है। स्वरित वर्ण को उसी तरह रहने दिया जाता है। सामवेद में १, २, ३ संख्याओं द्वारा स्वर-बोध कराया जाता है। वेदपाठ करते समय इन स्वरों पर ध्यान रखा जाता है। ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ करते समय सिर व यजुर्वेदपाठ के समय हाथ को नीचा ऊँचा कर स्वरबोध कराया जाता है।

वेदों में वर्णित विषय—अब हमें वेदों में वर्णित विषयों पर विचार करना चाहिये। सर्वप्रथम ऋग्वेद पर विस्तृतरूप से विचार करना आवश्यकीय है। ऋग्वेद-संहिता को पाश्चात्य विद्वान् प्राचीनतम संहिता मानते हैं। इसमें दस मंडल हैं व कुल मिलाकर १०२८ सूक्त हैं। इसे दूसरी तरह से भी विभाजित किया गया है; जैसे सम्पूर्ण ऋग्वेद का आठ अष्टकों में विभाजन। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं व प्रत्येक अध्याय में कितने ही वर्ग हैं, जिनमें साधारणतया पांच मन्त्र रहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार दूसरे मंडल से सातवें मंडल तक अधिकांश प्राचीन मन्त्र आगये हैं[३७]। इन मंडलों के द्रष्टा ऋषिविशेष हैं। इन ऋषियों के नाम ब्राह्मणग्रन्थों व वैदिक अनुक्रमणिकाओं में पाये जाते हैं; यथा गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज व वशिष्ठ। ये ऋषि व इनके वंशज दूसरे मंडल से लेकर सातवें मंडल तक के मन्त्रों के द्रष्टा माने जाते हैं। अनुक्रमणिकाओं में पहिले नवें व दसवें मंडल के सब मन्त्रों के ऋषियों के नाम भी दिये गये हैं। इनमें कुछ स्त्रियें भी हैं; यथा वागाम्भृणी,[३८] घोषा काक्षीवती[३९] व अपालात्रेयी[४०]।

ऋग्वेद के धार्मिक सिद्धान्त—ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है। इस में साधारणतया विभिन्न देवताओं की स्तुति की गयी है, जिन में से कुछ इस प्रकार हैं—अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, वरुण, सविता, भग, प्रजापति, पूषा, विष्णु, आपः, विश्वेदेवाः, सरस्वती, इळा, भारती, द्यावा-पृथिवी, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्न्यानी इत्यादि। इन स्तुतियों पर यदि गूढ़ विचार किया जाय, तो हमें पता चलेगा कि तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त कितने उदात्त थे व आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि सहस्रों वर्ष पूर्व थे। पाश्चात्य विद्वान् इन स्तुतियों को पढ़कर इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ऋग्वेद-कालीन आर्य्य अन्य प्राचीन जातियों के समान प्रकृति के उपासक थे[४१]। प्रकृति

के भिन्न २ स्वरूपों से भयभीत या आश्चर्य्यचकित होकर वे उन की प्रार्थना करते थे। उन के मतानुसार धार्मिक विश्वास इस समय अपनी प्रारंभिक अवस्था में थे। किन्तु यह मन्तव्य युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। धर्म प्रारम्भिक अवस्था में या प्रौढ़ अवस्था में था, यह तो निष्पक्षवृत्ति से ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है।

एकेश्वरवाद—ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों को विचारपूर्वक पढ़ने से मालूम होजाता है कि उस समय एकेश्वरवाद का सिद्धान्त भी भलीभाँति ज्ञात था। कुत्स आङ्गिरस ऋषि "इन्द्र" की स्तुति करते हुए कहते हैं—"पृथ्वी व आकाश तथा यह महान् मानव-जाति उसी इन्द्र के हैं। वरुण, सूर्य्य आदि उसी के व्रत में रहते हैं। घोड़े, गाय आदि का वही संचालक है व सम्पूर्ण जगत् व प्राणियों का रक्षक है। उसी ने दस्युओं को हराया। उसे ही मैत्री के लिये हम बुलाते हैं। शूरों, भागते हुए भीरुओं व विजेताओं द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है, उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है, उसी की मैत्री हम प्राप्त करें।" गृत्समद ऋषि "आदित्य" की स्तुति करते हुए कहते हैं—"तुम वरुण हो व जितने ही देव, असुर व मर्त्य हैं, उन सब के राजा हो। हमें सौ वर्ष की आयुप्रदान करो।" हिरण्यगर्भ प्राजापत्य ऋषि "क" (प्रजापति ईश्वर) देवता की स्तुति में कहते हैं—"हिरण्यगर्भ ही सर्व-प्रथम वर्तमान था व जो कुछ उत्पन्न हुआ था, उस सब का एक मात्र पति था। उसीने पृथ्वी व आकाश को धारण किया है। उसी "क" देवता को हम हविष् प्रदान करते हैं। वही आत्मा व बल का देनेवाला है, उसी की उपासना विश्व करता है। मृत्यु व अमरत्व, उसी के अधिकार में हैं। हिमालय, समुद्र, ये सब दिशाएँ आदि उसी के हैं। उसी ने विस्तृत आकाश व पृथ्वी को दृढ़ किया तथा स्वर्ग को स्तम्भित किया[४२]।"

ऋग्वेद के देवता—ऋग्वेद में वर्णित देवताओं को विश्व के तीन विभागों (स्वर्ग, वायु, पृथ्वी) के अनुसार विभाजित किया जा सकता है[४३]। द्यौः, वरुण, मित्र, आदित्याः, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, अश्विनौ, उषस्, रात्रि आदि स्वर्गीय देवता हैं। इन्द्र, रुद्र, मरुत्, वायु या वात, अपांनपात्, पर्जन्य, आपः आदि वायवीय, व पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति तथा सोम पार्थिव देवता हैं। इनमें कुछ नदियों को भी सम्मिलित किया गया है; जैसे सिन्धु, विपाश,

असिक्नी, शुतुद्री, सरस्वती आदि। इन नदियों को साक्षात् देवी मानकर सम्बोधित किया गया है। धातृ, त्वष्टृ प्रजापति, विश्वकर्म्मन्, बृहस्पति आदि कभी २ किसी देवता के विशेषण के रूप में व कभी २ स्वतन्त्ररूप में वर्णित किये गये हैं। इसी श्रेणी में मन्यु, श्रद्धा, अदिति आदि को भी रखा जाता है। इन की स्तुति में एक एक दो दो सूक्त ही हैं। ऋभु, वास्तोष्पति आदि साधारण देवता माने गये हैं।

ऋग्वेद में देवियों का अधिक महत्त्व नहीं है। केवल 'उषस्' ही महत्त्वपूर्ण है। सरस्वती, वाच्, पृथ्वी, रात्रि, अरण्यानी आदि से सम्बन्धित एक २ सूत्र है। इन्द्र, वरुण आदि की पत्नियों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

ऋग्वेद में कभी कभी दो देवताओं की स्तुति एक साथ की गई है; जैसे मित्रावरुणा, द्यावापृथिवी आदि। कुछ देवताओं का आह्वान सामूहिक रूप से भी किया गया है; जैसे 'मरुतः', 'आदित्याः व उनकी माता अदिति', तथा 'विश्वेदेवाः'।

इन देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेदमें कुछ राक्षसों को भी उल्लिखित किया गया है, जो कि देवताओं से लड़ते हैं। वृत्र का इन्द्र से युद्ध तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बल, अर्बुद, पणि व विश्वरूप भी इन्द्र से लड़ते हैं तथा स्वर्भानु 'सूर्य्य' को निगलता है।

अब हमें कुछ अधिक महत्त्व-पूर्ण देवताओं पर विस्तृत विचार करना चाहिये।

इन्द्र—ऋग्वेद के लगभग एकचतुर्थांश सूक्तों में इन्द्र की स्तुति की गई है। इसलिये, यूरोप के विद्वान् उसे वैदिक आर्य्यों का "राष्ट्रीय देव" कहते हैं। त्वष्टा द्वारा बनाये हुए वज्र को धारण कर कभी २ धनुष बाण लेकर, वह असुरों का मर्दन करता है। उसका रथ सोने का बना हुआ है। उसे सोम बहुत ही प्रिय है। द्यौः या त्वष्टा उसका पिता है, अग्नि व पूषा उसके भाई हैं व इन्द्राणी पत्नी है। अग्नि, मरुत्, वरुण, वायु आदि देवता उसके साथी हैं।

सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वह वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। परिणामतः, वज्रद्वारा वृत्र के टुकड़े २ होते हैं व रुका हुआ पानी स्वतन्त्र की गई गायों के समान दौड़ निकलता है। इस प्रकार वह "वृत्रघ्न" कहलाता

है। इस युद्ध में मरुत हमेशा उसके साथ रहते हैं तथा अग्नि, सोम व विष्णु भी बहुत सहायता देते हैं। अहि के मारे जाने पर प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है व इन्द्र उषस्, सूर्य्य आदि को उत्पन्न करता है।

इन्द्र जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि का संचालन भी करता है। उसने अस्थिर पर्वतों व मैदानों को स्थिर किया व द्यावापृथ्वी का विस्तार किया। उसने एकही क्षण में अव्यक्त को व्यक्त किया। वह अपनी स्तुति करनेवालों का रक्षक, सहायक व मित्र है। वह उन्हें धन देता है व इतना उदार है कि "मघवन्" कहलाता है।

वरुण—ऋग्वेद में, इन्द्र को छोड़कर वरुण ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देव है, यद्यपि वरुण-सूक्त केवल १२ ही हैं, जब कि इन्द्र-सूक्त २५० हैं। वह एक नैतिक देव है। सूर्य्य उसकी आँख है। यज्ञ के समय वह विकीर्ण दर्भ पर आकर बैठ जाता है। उसका रथ सूर्य्य के समान चमकता है। अपने प्रासाद में बैठकर वह मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनों लोकों का अवलोकन करते हैं। सूर्य्य उसका सोने के पंखवाला दूत है। वह राजा है, विश्व का सम्राट् है। उसकी शक्ति, माया व उसका दिव्यसाम्राज्य कितनी ही बार उल्लिखित हैं। वह भौतिक व नैतिक व्यवस्था का संचालक है। उसने द्यावा-पृथिवी की स्थापना की। उसने आकाश में सूर्य्य को चमकाया व उसके लिये विस्तृत मार्ग बनाया। जल में अग्नि व चट्टान पर सोम उसीने स्थापित किया। वायु उसी की श्वास है, व चंद्र, तारे आदि उसी की आज्ञा मानते हैं। उसने नदियों को भी बहाया, जो कि एकदम जाकर समुद्र में गिरीं।

वरुण के नैतिक नियमों को ऋत कहा गया है, जिसका पालन देवताओं को भी करना पड़ता है। उसके तीन पाश हैं—उत्तर, मध्यम व अवर, जिन्हें ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। उसकी शक्ति इतनी बड़ी है कि उसके साम्राज्य के छोर तक नतो आकाश में उड़नेवाले पक्षी और न भूमि पर बहने वाली नदियें ही पहुँच सकतीं हैं। वह सर्वज्ञ है। आकाश के पक्षियों की उड़ान, समुद्र के जहाजों के मार्ग, दूर तक बहने वाली वायु का रास्ता आदि सब उसे ज्ञात है। वह सब रहस्य जानता है, जो हुआ है व जो होनेवाला है। मनुष्यों के सच व झूठ भी उससे छिपे नहीं रहते। कोई भी जीव उसके

जाने बिना पलख भी नहीं मार सकता। पाप से उसे क्रोध आता है, जिसके लिये वह कड़ा दण्ड देता है। किन्तु वह दयालु भी है, पश्चात्ताप करनेवालों को अपने व अपने पूर्व पितरों के पापों के लिये क्षमा भी कर देता है। प्रत्येक वरुण-सूक्त में पापों की क्षमा-याचना सम्बन्धी प्रार्थना है। वरुण अपने भक्तों के लिये मित्रवत् रहता है। पुण्यात्मा स्वर्ग में वरुण व यम के दर्शनों की आशा रखते हैं।

विष्णु—विष्णु की स्तुति केवल पाँच या छः सूक्तों में की गई है। वह एक विशाल-काय युवक के रूप में वर्णित है व उसके तीन पदों का उल्लेख है, जिनसे वह पृथ्वी व आकाश को नापता है। उसके दो पदों को मनुष्य अपनी आँखों से देख सकता है, किन्तु तीसरा पक्षियों की उड़ान के भी परे है। विष्णु के इन तीन पदों में पृथ्वी, वायु व आकाश में सूर्य्य की गति का उल्लेख है। वह अपने ९० घोड़ों (दिवसों) को गतिमान करता है। इस प्रकार विष्णु नाम से सूर्य्य के ही गुणों का गान किया गया है। सूर्य्य ने मानो सम्पूर्ण पृथ्वी को नाप लिया हो। मनुष्य के अस्तित्व के लिये व पृथ्वी को निवास-योग्य बनाने के लिये ही विष्णु अपने कदम उठाता है। विष्णु इन्द्र का भी मित्र है, जिसके साथ वह वृत्र से लड़ता है। इसलिये कहीं २ इन्द्र व विष्णु दोनों देवताओं की स्तुति एक साथ की गई है। वामन अवतार की कल्पना का प्रारम्भ भी विष्णु के इन तीन पदों से होता है। विष्णु के प्रिय धाम में धर्मात्मा व्यक्ति ही जा सकते हैं व आनंद का उपभोग ले सकते हैं, जहां कि मधु का एक बड़ा स्रोत है।

मित्र—मित्र का वरुण के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। वह अकेला ऋग्वेद में केवल एक ही सूक्त में वर्णित है। वह महान् आदित्य है, जो अपनी निमेषरहित आँखों से खेत जोतनेवाले किसानों का निरीक्षण करता है। वह सूर्य्य की गति व विष्णु के पदों को नियन्त्रित करता है। प्रातः प्रज्वलित किये जाने वाला अग्नि भी मित्र का ही रूप है।

सविता—सविता की स्तुति लगभग ग्यारह सूक्तों में की गई है। वह सोने के रथ में घूमता है। अपने सुवर्ण के हाथों से वह प्राणीमात्र को जागृत करता है व उन्हें आशीर्वाद देता है। उसका शक्तिशाली सुवर्ण-प्रकाश आकाश, वायु व पृथ्वी को प्रकाशित करता है। वह नीचे व ऊपर सब प्राणियों

का निरीक्षण करते हुए, अपने सुवर्ण-रथ में घूमता है। बुरे स्वप्न, पाप, राक्षस आदि को वह भगा देता है। वायु व जल उसी के अधीन व उसी के संचालन में हैं। वह न केवल दिवस किन्तु रात्रि को भी प्रारम्भ करता है, जबकि वह सब को विश्राम देता है। जिस "गायत्रीमन्त्र" का जप आज भी ब्राह्मण लोग करते हैं, वह भी इसी की स्तुति में है।

पूषा—लगभग ८ सूक्तों में पूषा की स्तुति की गई है। उसके पैर, दाहिना हाथ, डाढ़ी व जटा का उल्लेख है। वह सोने का भाला, चाबुक आदि रखता है व उसके रथ में बकरे जुते रहते हैं। वह सब प्राणियों का निरीक्षण करता है व द्यावापृथिवी में दूर २ तक जाता है। उसका विवाह सूर्य्या से हुआ। वह मृतों को पितृ-मार्ग में प्रेरित करता है। वह मार्गों का रक्षक है व सब भयों को दूर करता है। वह मवेशियों की भी रक्षा करता है व गुमे हुए ढोरोंको वापिस घर ले आता है।

अश्विन्—इन्द्र, अग्नि व सोम के पश्चात्, 'अश्विन्' नामी देवता ऋग्वेदमें अधिक महत्त्व के हैं। इनकी स्तुति पचास व उससे भी अधिक सूक्तों में की गई है। उषःकाल व सूर्य्योदय के बीच के समय में वे दिखाई देते हैं। उषा उनको जागृत करती है। वे अन्धकार को दूर करते हैं व दुष्ट राक्षसों को भगा देते हैं। ऋभुओं द्वारा बनाया हुआ उनका रथ सूर्य्य के समान व सुवर्णनिर्मित है तथा उसमें तीन चक्र हैं, जिसे घोड़े या पक्षी खींचते हैं। यह रथ एक ही दिन में द्यावा-पृथिवी का चक्कर लगाता है।

अश्विन् आकाश के पुत्र हैं; किन्तु एक जगह विवस्वन् (सूर्य्य) व सरण्यु के पुत्र भी कहे गये हैं। एक बार पूषा को उनका पुत्र कहा गया है व उषा उनकी बहिन बताई गई है। उनका सम्बन्ध बहुधा सूर्य्य की पुत्री सूर्य्या के साथ जोड़ा गया है, जो कि उनके साथ रथ में बैठती है व उनकी पत्नी है। वे दो हैं व कभी पृथक् नहीं किये जा सकते। वे युवा होते हुए भी प्राचीन, सुन्दर व सुवर्ण-प्रकाश युक्त हैं, तथा सुवर्ण-मार्ग पर चलते हैं। मधु से उन्हें बहुत प्रेम है, जो कि वे खूब पीते हैं; साथ ही उषा व सूर्य्या के साथ सोम भी पीते हैं। वे बहुत बुद्धिशाली हैं व आपत्तियों से सबकी रक्षा करते हैं। वे दिव्य वैद्य भी हैं व बीमार, पंगु आदि को ठीक कर देते हैं; पुनः युवावस्था तथा दृष्टि प्रदान करते हैं। उन्होंने भुज्यु के सहाय

को समुद्र में डूबने से बचाया था व इस प्रकार के और भी परोपकार के काम किये थे।

उषा—उषा उषःकाल की देवी है। ऋग्वेद में लगभग बीस सूक्तों में इसकी स्तुति की गई है। प्रकाशयुक्त व चमकीले वस्त्र धारण कर वह प्राची दिशा में एक नर्तकी के समान दिखाई देती है। वह अन्धकार को भगाती है व रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी रहते हुए भी युवती है, बार २ उत्पन्न होती है व मर्त्यों के जीवन को व्यतीत करती है। वह प्रकाश के द्वार खोल देती है। उसकी चमकीली किरणें गायों के झुन्डों के समान प्रतीत होती हैं। वह प्रकाश के रथमें बैठती है, जिसे घोड़े या गायें खींचतीं हैं। वह बुरे स्वप्नों, पिशाचों व गर्हणीय अन्धकार को भगा देती है। जब वह अपना आलोक फैलाती है, तब पक्षी अपने घोंसलों से बाहिर उड़ते हैं व मनुष्य पुष्टि को प्राप्त होते हैं। वह प्रतिदिवस एक निश्चित स्थान पर दिखाई देती है व प्रकृति तथा देवताओं के नियमों का उल्लंघन कभी भी नहीं करती। वह आकाश में उत्पन्न होती है व हमेशा प्रकाश की पुत्री कहलाती है। वह सूर्य्य से सम्बन्धित की जाती है, जो कि उसका प्रेमी है व उसके पीछे २ जाता है, जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है। इस प्रकार वह बहुधा सूर्य्य की पत्नी बन जाती है, किन्तु सूर्य्य के पहिले दिखाई देने के कारण कभी २ उसकी माता भी कही गई है व देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित की गई है। यज्ञ की अग्नि के प्रातःकाल प्रज्वलित किये जाने के कारण उसे उस अग्नि से भी सम्बन्धित किया जाता है। स्तुति करने वालों को वह न केवल द्रव्य व सन्तान देती है, किन्तु दीर्घायु, कीर्ति, रक्षण आदि भी प्रदान करती है।

अग्नि—अग्नि यज्ञसम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण ऋग्वेदीय देवता है। लगभग २०० सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है। उसकी पीठ घृत की बनी है व बाल ज्वालाओं के हैं तथा दाँत सुवर्ण के हैं। देवता उसी की जिह्वा से हविष् ग्रहण करते हैं। उसे बछड़ा, घोड़ा आदि कितने ही पशुओं के समान बताया गया है। लकड़ी या घी उसका भोजन है। वह दिन में तीन बार भोजन करता है। कितने ही स्थलों पर उसके प्रकाश का वर्णन किया गया है। वह प्रकाश उषा व सूर्य्य की किरणों के समान है। उसका आलोक रात्रि के

समय भी देदीप्यमान होता है व अँधकार को दूर करता है। जब वह जंगलों पर आक्रमण करता है व डाढ़ी बनाने वाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है। वह चमकने वाले विद्युत-रथ में बैठता है व अपने साथ देवताओं को यज्ञ में लाता है।

अग्नि को द्यावा-पृथिवी का पुत्र कहा गया है। वह शुष्क-काष्ठ से उत्पन्न होता है व उत्पन्न होते ही अपने पिता का भक्षण करता है। प्रति दिवस प्रातः उत्पन्न किये जाने के कारण वह युवा रहता है। सूर्य्य भी उसी का परिवर्तित स्वरूप है। उसे कहीं २ गृहपति भी कहा गया है, जो कि मर्त्यों में एकमात्र अमर्त्य है। उसे यज्ञ का होता, अध्वर्यु, पुरोहित आदि कहा गया है। वह बहुत बुद्धिशाली है व सब कुछ जानता है। अपनी स्तुति करने वालों को हर प्रकार के वर देता है, जिससे वे लोग समृद्धि, सन्तान व आनंद-पूर्ण-गृहस्थाश्रम का उपभोग कर सकते हैं। उसमें विश्व को उत्पन्न करने की शक्ति भी है।

सोम—ऋग्वेद में यज्ञ की दृष्टि से सोमयज्ञ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये लगभग १२० सूक्त सोम के सम्बन्ध के हैं। उसके पास तेज व भयानक शस्त्र रहते हैं, जिसे वह अपने हाथों से पकड़ता है। उसके पास धनुष-बाण भी रहता है। वायु व इन्द्र के समान वह अपने दिव्य रथ में बैठ कर घूमता है व हविष् ग्रहण करने के लिये यज्ञ में आता है।

सोमरस को बहुधा मधु भी कहा गया है। किन्तु अधिकांश उसे इन्दु शब्द से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेदका सम्पूर्ण नवाँ मंडल सोमसम्बन्धी है। सोम-वर्णन में कहा गया है कि उसकी डालियें बड़े २ पत्थरों के नीचे कुचली जारही हैं व उनमें से रस निकलता है, जो कि देवताओं को दिया जाता है। इस रस को दूध या पानी के साथ मिलाया जाता है, जिससे उसमें मीठापन आजाता है।

सोमरस को अमृत भी कहा गया है; क्योंकि इसके पीने से अमरत्व प्राप्त होता है। सब देवता इसे ही पीते हैं और इसीसे वे अमर होते हैं। इससे अन्धे व लँगड़े ठीक हो जाते है व बुद्धि का भी विकास होता है। इसीको पीकर इन्द्र वृत्र से सफलतापूर्वक लड़ सका। बहुतसे स्थानों में सोम

के लिये कहा गया है कि वह पर्वतों में ऊगता है, किन्तु उसे स्वर्ग से भी सम्बन्धित किया गया है।

उत्कृष्ट धार्मिक जीवन—इन वेदमन्त्रों के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में प्रतिपादित धार्मिक सिद्धांत अत्यन्त ही उदात्त व आत्मिकता से भरें हुए हैं, जिनकी आधारशिला नैतिकता है। इनमें कहीं भी मानवसभ्यता के विकास की शैशवावस्था का पता नहीं चलता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन अत्यन्त ही उत्कृष्ट था। आत्मपरीक्षा के भाव कितने ही मन्त्रों में दिखाई देते हैं। आत्मविकास के मार्ग पर समाज अग्रसर हो चुका था।

यज्ञ—इस समय के धार्मिक जीवन में यज्ञ का स्थान भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। अग्नि को प्रज्वलित कर उसमें सुगन्धित द्रव्य, घृत आदि डाले जाते थे। यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का भी पर्य्याप्त विकास हो चुका था[५५]। होतृ, अध्वर्यु, उद्गातृ, ब्रह्मा आदि की सहायता से यज्ञ सम्यक्रूपेण सम्पादित किया जाता था। वैदिक-कालमें राज-दर्बार में पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था, जो यज्ञादि की व्यवस्था करता था। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम मन्त्र (अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥) में अग्नि को यज्ञ का पुरोहित, देव व ऋत्विज् कहा गया है। इन शब्दों से यज्ञ का महत्त्व भलीभांति समझ में आ जाता है।

दार्शनिक सिद्धान्त—ऋग्वेद के दसवें मंडल से तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्तों का भी पता लगता है। उसी में भारतीय दर्शनशास्त्र के विकास के बीज वर्तमान हैं; क्योंकि वैदिककाल से ही आर्यों ने सांसारिक पहेलियों को समझने की चेष्टा प्रारम्भ करदी थी। जीवन, मरण, जगत् की उत्पत्ति आदि पर विचार करना उन्हें आता था। निम्नाङ्कित मन्त्रों में सृष्टिकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कितने ही दार्शनिक सिद्धान्तों को बीजरूप से उल्लिखित किया है।

ऋग्वेद १०।१२९।१–७

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुहकस्यशर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥"

उस समय न 'असत्' था न 'सत्', न 'रज्', न 'व्योम', जो कि उसके

परे है। क्या छिपा हुआ था? और कहां? किस की रक्षा में? क्या गहन व गम्भीर जल था?

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास" ॥

उस समय न तो मृत्यु थी, न अमृत। रात्रि व दिन का भी कोई संकेत नहीं था। वही एक बिना वायु के अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा श्वास ले रहा था। उस के अतिरिक्त और कोई अस्तित्व में नहीं था।

"तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्" ॥

सर्व प्रथम अन्धकार से गूढ़ अन्धकार ही था, जिस का कोई भी संकेत नहीं था। यह सब जलमय था। वह एक जो कि शून्य से ढका हुआ था, तप की शक्ति से उत्पन्न हुआ।

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा" ॥

सर्व प्रथम 'काम' ने उसमें प्रवेश किया, जो कि मन का प्रथम बीजाङ्कुर था। मनीषी कवियों ने अपने हृदयों में ढूँढकर 'असत्' में उस 'सत्' के बन्धु को पाया।

"तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्" ॥

उस के प्रकाश ने अन्धकार में विस्तार पाया। किन्तु क्या वह ऊपर था या नीचे? वहां उत्पादन करने की व उत्पन्न होने की शक्ति थी। नीचे "स्वधा" व ऊपर "प्रयति"।

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव" ॥

कौन अच्छीतरह जानता है? कौन यहां उसे घोषित कर सकता है? कहां से उत्पन्न हुई? कहां से यह 'विसृष्टि' आई है? इस के सर्जन के पश्चात् देवता उत्पन्न हुए हैं। तब कौन जान सकता है कि यह उत्पन्न हुई है?

"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ॥

यह विसृष्टि कहां से उत्पन्न हुई ? क्या उस ने इसे बनाया है या नहीं ? परम व्योम में जो इस का अध्यक्ष है, वही एक जानता है; कदाचित् वह भी नहीं जानता ।

इन मन्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति व उस के पूर्व की अवस्था पर दार्शनिक ढङ्ग से अच्छा विचार किया गया है । इन विचारों की दार्शनिकता इतनी गहरी है कि वे दार्शनिक जगत् में आज भी पूजे जाते हैं ।

ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में सृष्टि की उत्पत्ति एक दूसरे ढङ्ग से वर्णित की गई है ।

ऋग्वेद १०।९०।१–५

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" ॥

वह हज़ार सिर, हज़ार आँखों व हज़ार पैर वाला पुरुष भूमि को चहुँओर से ढँक कर, उस से दस अङ्गुल ऊपर स्थित है ।

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति" ॥

जो कुछ है, जो कुछ हुआ व जो कुछ होने वाला है, वह 'अमृतत्त्व' का तथा जो कुछ अन्न से वृद्धिंगत होता है, उस का शासक है ।

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ॥

उस की इतनी महिमा है; पुरुष इस से भी श्रेष्ठ है । उस के एक पाद से सब भूत बने व तीन पाद अमृतरूप से आकाश में हैं ।

"त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि" ॥

उस पुरुष के तीन पाद ऊपर गये एक यहां रहा; उस से वह जड़, चेतन आदि सब में व्याप गया ।

"तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः" ॥

उस से विराट् उत्पन्न हुआ और आगे व पीछे सब ओर से इस भूमि में व्याप गया ।

इन मन्त्रों में मानवसमाज के विकास व तदन्तर्गत मूलतत्त्वों को आलंकारिक भाषा में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर समझाया गया है।

ऋग्वेद में अन्य विषय—यद्यपि ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है व उस में अन्य विषयों का प्रत्यक्षरूप से विवेचन पाया जाना संभव नहीं है, तो भी उस में कितने ही मन्त्र ऐसे हैं, जिन की सहायता से तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक विकास पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। इस प्रकार ऋग्वेद में धर्म व दर्शन के अतिरिक्त राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणितादि विद्या, ज्योतिषशास्त्र, काव्य, अलंकार आदि विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिन का विवेचन अन्यत्र किया गया है।

सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद साधारणतया ऋग्वेद से ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि इन में ऋग्वेद से बहुत से मन्त्र लिये गये हैं।

सामवेद—इन तीनों वेदों में सामवेद ऋग्वेद से अधिक सम्बन्धित है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि ७५ मन्त्रों के सिवाय सब ही मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। ये मन्त्र अधिकांश ऋग्वेद के ८ वें व ९ मे मंडल से लिये गये हैं, जो कि सोमसम्बन्धी हैं। यजुर्वेद के समान यह वेद भी यज्ञ को दृष्टि में रख संग्रहित किया गया है। इस के सब मन्त्र सोमयज्ञों के समय उच्चारित किये जाते हैं। इन मन्त्रों को गाया जाता है, व सामगान के माधुर्य्य का रसास्वादन उस के सुनने से ही हो सकता है। सामवेद में १५४९ मन्त्र हैं व समस्त ग्रन्थ को दो अर्चिकाओं में बाँटा गया है। पहिली अर्चिका में ६ प्रपाठक हैं, जिन में अग्नि, सोम व इन्द्र की स्तुति की गई है। दूसरी अर्चिका में ९ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद विशेषरूप से यज्ञ से सम्बन्धित है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का इस में संग्रह है। जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है, ब्राह्मणरहित यजुर्वेद को शुक्लयजुर्वेद कहते हैं, जोकि वाजसनेयी शाखा का उपलब्ध है। इस में ४० अध्याय हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम इस में पहिले १८ अध्याय थे; बाकी के अध्याय पश्चात् मिलाये गये[४५]। इन में विभिन्न यज्ञों का वर्णन है। किन्तु इस वेद में यत्र तत्र सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति का भी चित्र खींचा गया है तथा

अङ्कगणित, रेखागणित आदि का भी उल्लेख है, जिस पर आगे चलकर विवेचन किया जायगा[५६]।

आधुनिक ऐतिहासिकों के मतानुसार यजुर्वेद ऋग्वेद से विभिन्न भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का बोध कराता है। इस में पञ्जाब की सिन्धु-आदि नदियों का उल्लेख नहीं है; उत्तर भारत के उस प्रदेश का निर्देश है, जहां कुरु व पाञ्चाल बसे थे। कुरु लोगों का प्रदेश कुरुक्षेत्र अत्यन्त पवित्र माना गया है, जो कि सतलज व यमुना का मध्यवर्ती भूभाग था। इस के पूर्व में गङ्गा व यमुना का मध्यवर्ती भूभाग पाञ्चालों का प्रदेश कहाता था। ये दोनों प्रदेश भारत के सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विद्वानों का साधारणतया ऐसा मत है कि ब्राह्मणधर्म, संस्कृति आदि ने अपना स्वरूप यहीं धारण किया।

धार्मिक दृष्टि से यजुर्वेद व ऋग्वेद में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों में देवता लगभग वे ही हैं; फिर भी कुछ परिवर्तन अवश्य है। ऋग्वेद में यत्र तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में अधिक महत्त्वशाली है। ऋग्वेद का रुद्र यहां शिव के रूप में उपस्थित होता है व शंकर, महादेव आदि नामों से उल्लिखित है। इसी प्रकार विष्णु ने भी महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करलिया है व यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है। देव व असुर को क्रमशः अच्छाई व बुराई से सम्बन्धित कर, उन के पारस्परिक झगड़ों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में बहुतसी अप्सराओं का भी उल्लेख है।

यजुर्वेद में सर्वप्रथम उपनिषद् के 'ब्रह्म' के दर्शन होते हैं। धार्मिक जीवन में यद्यपि विभिन्न देवताओं को स्थान था, फिर भी यज्ञ का महत्त्व अधिक था। यज्ञ की विधि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक बातों का विस्तारशः वर्णन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के अध्याय १ से १० तक अमावास्या सम्बन्धी व अध्याय ११ से १८ तक पूर्णिमा सम्बन्धी यज्ञों का विस्तृत वर्णन है, जिन पर 'शतपथ ब्राह्मण'' (१—५।६—९) ने अच्छा प्रकाश डाला है। इस प्रकार यजुर्वेद-काल में यज्ञ का महत्त्व बढ़ गया था व यह माना जाता था कि यज्ञों के सम्यक् सम्पादन से अलौकिक शक्तियें प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार यजुर्वेद में अधिक विकसित धार्मिक जीवन का पता चलता है।

साथ ही समाज में वर्णव्यस्था ने कितना ऊँचा स्थान ग्रहण कर लिया था व धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों ने कौनसा स्थान प्राप्त कर लिया था, यह सब भलीभाँति ज्ञात हो जाता है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद संहिता के २० काण्ड किये गये हैं, जिन में ७३० सूक्त व ६००० मन्त्र हैं। लगभग १२०० मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। इस संहिता के सम्बन्ध में बहुतसी कपोल-कल्पित बातें कही जाती हैं। बहुत से विद्वान् इसे अन्धविश्वास व जादूटोने का भण्डार मानते हैं[४७]। इस में राजनीति, समाजशास्त्र, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित ऊँचे २ सिद्धान्त भरे पड़े[४८] हैं, जिन पर आगे चलकर विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस वेद में अधिक सुसंस्कृत व शिक्षित उच्चवर्णीय ब्राह्मणों के धार्मिक जीवन का दिग्दर्शन नहीं है, किन्तु अपेक्षाकृत कम-संस्कृत जन-साधारण के धार्मिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। किन्तु इस के आलोचनात्मक अध्ययन से इस कथन की निरर्थकता भलीभाँति समझ में आजाती है।

अथर्ववेद में ईश्वर को 'व्रात्य' कहकर, उसका गुणगान बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। वरुणादि से सम्बन्धित सूक्तों में उच्चतम नैतिकता के दर्शन होते हैं, व 'काल' सम्बन्धी मन्त्रों में सुन्दर दार्शनिक ढङ्ग पर काल की महिमा का वर्णन करते हुए संसार की क्षणभङ्गुरता का बोध कराया गया है। इसी प्रकार सामाजिक व राजनैतिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त की सामाजिक उपादेयता तथा राजा व प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'सभा' व 'समिति' को 'प्रजापति' की "विदुषी दुहिताएँ" बताकर समाज में प्रजातन्त्र की जड़ें कितनी गहरी पहुँच चुकी थीं, इस का सम्यक् दर्शन कराया गया है।

अथर्ववेद में आयुर्वेदसम्बन्धी सामग्री भी पर्य्याप्तरूप में मिलती है। सूर्य्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति व विभिन्न रोगोत्पादक क्रिमियों के विस्तृत वर्णन पर यदि शास्त्रीय ढङ्ग से विचार किया जाय, तो हमें तत्कालीन 'कीटाणु-शास्त्र' का परिचय प्राप्त हो सकता है।

आधुनिक विद्वानों का यह भी मत है कि इस वेदमें बुखार, कोढ़, पीलिया, खाँसी, गंजापन, नपुंसकता, सर्पदंश, विषप्रभाव आदि को दूर करने के लिये

जादूटोने आदि से सम्बन्धित कितने ही मन्त्र हैं, जिनके उच्चारणमात्र से ये सब रोग भाग जाते थे, ऐसा माना जाता था।

इस वेद में ज्योतिषसम्बन्धी मन्त्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है, किन्तु भूगोल-सम्बन्धी वर्णन अधिक नहीं है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार गान्धार, मूजवत, महावृष, बाह्लीक, मगध, अङ्ग आदि भूभागों के नामों का उल्लेख इस में आता है।

इस प्रकार यह समझ में आजायगा कि ऋग्वेद के समान अथर्ववेद भी अनमोल रत्नों का भाण्डार है तथा वह भारत के सांस्कृतिक विकास में विशेष स्थान रखता है।

परिशिष्ट 'क'

१

ब्राह्मण-साहित्य

संहिताओं के पश्चात् गद्यात्मक यज्ञसम्बन्धी साहित्य का निर्माण हुआ। मैक्समूलर के सिद्धान्त के माननेवाले इसके विकास का समय ई० पू० ८००—५०० वर्ष तक बताते हैं। यज्ञ के क्रिया-कलाप में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कैसा होना चाहिये, इस पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। इसलिये इसे कुछ विद्वान् एक प्रकार से वैदिक मन्त्रों का भाष्य भी मानते हैं। किन्तु इसके वर्णित विषय को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे

(१) विधि—इसमें यज्ञ करने की विधि, यज्ञवेदी बनाने का तरीका व यज्ञ के लिये अन्य आवश्यकीय बातों का विधान किया गया है।

(२) अर्थवाद—इसमें यज्ञ के महत्त्व व फल को अच्छे २ उदाहरण देकर समझाया गया है। इसके अन्तर्गत प्राचीनकाल के कितने ही यज्ञ करनेवाले राजाओं का वर्णन आता है, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक आदि जीवन का अच्छा दिग्दर्शन होता है।

(३) उपनिषद्—इसमें यज्ञ व तत्सम्बन्धी कितनी ही बातों पर दार्शनिक ढङ्गपर विचार किया गया है। यज्ञ के कर्मकाण्ड को दार्शनिक विचार-सरणी की सहायता से प्रतीक के रूप में समझानेका प्रयत्न किया गया है।

तिथि-क्रम की दृष्टि से यजुर्वेद के गद्यांशों के पश्चात् पञ्चविंश व तैत्तिरीय ब्राह्मण को रखा जा सकता है। जैमिनिय, कौशीतकी व ऐतरेय ब्राह्मण उनके बहुत पश्चात् के हैं व शतपथ ब्राह्मण तो इनके भी बाद का है। अथर्ववेद का गोपथ-ब्राह्मण व सामवेद के छोटे २ ब्राह्मण इन सब के पीछे के हैं। इन ब्राह्मणों के अन्त में "आरण्यक" जोड़ दिये गये हैं, जिन्हें केवल संसार का त्याग करनेवाले व वन में बसनेवाले पुण्यात्मा ही पढ़ सकते थे। इनके अन्तिम भाग में उपनिषदों का समावेश हो जाता है।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ४० अध्याय हैं। जिन्हें आठ पञ्चिकाओं में विभाजित किया गया है व इस प्रकार प्रत्येक पञ्चिका में पाँच २ अध्याय आते हैं। इसमें एक दिन में समाप्त होनेवाले "अग्निष्टोम", एक वर्ष में समाप्त होनेवाले "गवामयन" तथा बारह दिन में समाप्त होनेवाले "द्वादशाह" आदि सोम-यागों का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् अग्निहोत्र, राज्याभिषेक आदि का विशद विवेचन किया गया है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण में, जिसे कौशीतकी व शाङ्खायन नामों से जाना जाता है, तीस अध्याय हैं। इसमें वर्णित विषय भी ऐतरेय ब्राह्मण के विषय से बहुत मिलते झुलते हैं, उनका रूप अधिक विस्तृत है। प्रारम्भ में अग्निआधान, दैनिक प्रातःसायं अग्निहोत्र, व दार्श, पौर्णमास, चातुर्मास आदि यज्ञों का विवेचन किया गया है। इसमें भी सोमयाग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन ब्राह्मणों से कुछ भौगोलिक सामग्री भी प्राप्त होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में बहुतसी जातियों तथा कुरुपाञ्चाल देश का उल्लेख आता है। कौशीतकी ब्राह्मण से हमें मालूम होता है कि उत्तर-भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता था व वहां के विद्वानों को भाषासम्बन्धी समस्याओं में प्रमाण-भूत मानते थे। इनमें वर्णित दन्तकथाओं व काल्पनिक कहानियों का भी ऐतिहासिक महत्त्व कुछ कम नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में वर्णित शुनःशेप-कथा से हमें तत्कालीन कितनी ही बातों का पता चलता है। इक्ष्वाकुवंशज हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। उसने प्रण किया कि यदि मुझे पुत्र प्राप्त हुआ तो उसे वरुण को यज्ञ-बलि चढाऊँगा। उसे रोहित नामी पुत्र उत्पन्न हुआ; किन्तु जबतक वह बड़ा न हुआ, हरिश्चंद्रने वरुण के लिये यज्ञ नहीं किया। जब वह यज्ञ करने बैठा तो उसका पुत्र रोहित जंगल में

भाग गया व अजीगर्ति नामी भूखे ब्राह्मण के मझले पुत्र शुनःशेप को खरीद अपने साथ लेकर घर लौटा। हरिश्चन्द्र ने रोहित के बदले शुनःशेप को बलि स्वीकार लेनेपर वरुण को राजी कर लिया व उसे यज्ञस्तम्भ से बाँधा गया। इस पर उसने वरुण की स्तुति में मन्त्रों का उच्चारण करना प्रारम्भ किया। उसके बन्धन धीरे २ ढीले पड़ गये व इस प्रकार उसकी मुक्ति होगयी। ऋग्वेद में उसे कितने ही वरुणमन्त्रों का द्रष्टा भी माना गया है।

अन्य वेदों के ब्राह्मणों में ऐतिहासिक, धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से शुक्ल-यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसे शतपथ इसलिये कहा जाता है कि इसमें १०० अध्याय हैं। इस में यज्ञवेदी आदि बनाने का विधान है तथा विभिन्न यागों का भी विवेचन किया गया है। इसमें गान्धार, शाल्व, केकय, कुरुपाञ्चाल, कोशल, विदेह, सृञ्जय आदि देशों का उल्लेख भी आता है।

इसमें वर्णित भौगोलिक सामग्री के सहारे कहा जासकता है कि कुरुपाञ्चाल प्रदेश आर्य्य-संस्कृति का केन्द्र था। इसमें कुरुराज जनमेजय का वर्णन तथा पाञ्चालदेशीय विद्वान् आचार्य्य का उल्लेख भी आता है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य भी कितने ही स्थलों पर उल्लिखित है। अर्हत्, श्रमण प्रतिबुद्ध आदि शब्दों व गौतम गोत्र के व्यक्तियों का उल्लेख कदाचित् बौद्ध धर्म की याद दिलाये बिना न रहेगा। इसी प्रकार संख्य-दर्शन के आचार्य्य आसुरि का नाम भी उल्लिखित है। इसमें पुरूरवस् व उर्वशी की प्रेमगाथा का विशद व सुन्दर वर्णन है, जिसको ऋग्वेद में भी उल्लिखित किया गया है। इसी प्रकार भरतदौष्यन्ति व शकुन्तला का भी उल्लेख आता है। कालिदास ने अपने "विक्रमोर्वशीय" व "शाकुन्तल" में इन दोनों कथानकों का सुन्दर उपयोग किया है। इसमें महाप्रलय की उस कथा का भी वर्णन है, जिसमें मत्स्य के आदेशानुसार मनु एक नाव बनाता है व उसे उस मत्स्य से बाँध अपनी रक्षा कर मानवसृष्टि का पुनः निर्माण करता है। इस कथा का उल्लेख अथर्ववेद, अवेस्ता व यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि के धर्मग्रन्थों में भी आता है, जहां मनु के स्थान पर "नूँ" अथवा "नोह्" (Naoh) नाम आता है।

इस प्रकार 'ब्राह्मण-साहित्य' के आलोचनात्मक अध्ययन से भारत के धार्मिक बिकास में यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

२

उपनिषदों का साहित्य

उपनिषदों में दार्शनिक विचारसरणी को अपनाकर जीव, ब्रह्म, प्रकृति, जीवन, मरण आदि सम्बन्धी रहस्यों को समझ मानव-जीवन की पहेलियों को सुलझाने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। इनमें जीव-ब्रह्म की एकताके प्रतिपादन द्वारा ऊँची से ऊँची दार्शनिक उड़ान लीगई है। इनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि उनमें से प्राचीनतम भी ई० पू० ६०० वर्ष के पहिले के नहीं होसकते, क्योंकि उनमें वर्णित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में पहिले ही से आता है। तिथिक्रम के अनुसार उनके चार वर्ग किये जासकते हैं। बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय व कौशीतकी उपनिषद् गद्य में लिखे गये हैं व इनकी शैली ब्राह्मणों की शैली के समान क्लिष्ट है। अतएव इन्हें तिथिक्रम के अनुसार प्राचीनतम वर्ग में रखा जाता है। केनोपनिषद् पहिले व दूसरे वर्ग के मध्य का है, क्योंकि उसमें गद्य व पद्य दोनों उपयुक्त किये गये हैं। काठक, ईशा, श्वेताश्वतर, मुण्डक व महानारायण उपनिषद् पद्यात्मक हैं व इनमें दार्शनिक सिद्धान्त विकास की अवस्था को पार कर स्थिरता को प्राप्त होगये हैं तथा साहित्यिक दृष्टि-कोण से अधिक रोचक हैं। ये सब उपनिषद् दूसरे वर्ग में रखे जाते हैं। तीसरे वर्ग में प्रश्न, मैत्रायणीय व माण्डूक्य उपनिषद् आते हैं। ये गद्य में हैं, किन्तु यह गद्य साहित्यिक गद्य से बहुत मिलता है। अथर्ववेद के उन उपनिषदों का समावेश, जो तिथिक्रम के अनुसार बाद के हैं, चौथे वर्ग में होता है।

ऐतरेय सब से छोटा उपनिषद् है व इसमें तीन अध्याय हैं। जगत् आत्मा अथवा ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इस सिद्धान्त को ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' के आधार पर समझाया गया है। कौशीतकी उपनिषद् लम्बे २ चार अध्यायों का बना है। पहिले में मृत्यु के पश्चात् जिन दो मार्गों का अनुसरण जीव करते हैं, उन का वर्णन है। दूसरे में प्राण को आत्मा का प्रतीक मानकर उसकी व्याख्या की गई है। अन्तिम दो अध्यायो में ब्रह्म का विवेचन करते हुए तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छी तरह से समझाया गया है।

जिस प्रकार ऋग्वेद के उपनिषद् अपने सिद्धान्तों को "उक्थ" के विवेचन से प्रारम्भ करते हैं, उस प्रकार सामवेद के उपनिषदों में सर्वप्रथम "सामन्" की विवेचना की गई है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेद का एक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इस में आठ अध्याय हैं, जिनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है। पहिले दो अध्यायों में सामन्, उद्गीथ आदि का विवेचन किया गया है व 'ओ३म्' तथा ब्रह्मचर्य्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थादि आदि तीन आश्रमों का वर्णन भी है। तीसरे अध्याय में ब्रह्म को जगत् का सूर्य्य कहकर व जीव से उस की एकता का निरूपण कर, मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का सुन्दर विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में 'वायु' 'प्राण' आदि को 'ब्रह्म' से सम्बन्धित कर बताया गया है कि मृत्यु के पश्चात् 'जीव' किस प्रकार 'ब्रह्म' को प्राप्त होता है। पांचवें अध्याय में 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त का विवेचन है व अनेकत्व-पूर्ण जगत् के मिथ्यात्व को सर्वप्रथम प्रतिपादित किया गया है। शेष अध्यायों में आत्मा व ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों के तादात्म्य स्थापित करने के साधन आदि का विशद विवेचन किया गया है व "तत्त्वमसि" के गूढ़ रहस्य को समझाया गया है। सामवेद का एक और उपनिषद् है, जिसे "तलवकार" या "केन" कहते हैं। इस का प्रारम्भ "केन" ('किस के द्वारा') शब्द से होता है, इसलिये इसे यह नाम दिया गया है। इस के दो भाग हैं। प्रथम भाग में सगुण व निर्गुण ब्रह्म का विवेचन पद्यरूप में किया गया है व द्वितीय में गद्यरूप में वैदिक देवताओं व ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इस का प्रथम-भाग बाद की मिलावट प्रतीत होता है।

कृष्ण-यजुर्वेद के विभिन्न उपनिषद् बाद के मालूम होते हैं। मैत्रायणीय गद्यात्मक उपनिषद् है, जिसमें बीच २ में पद्यांश भी है। इसमें आठ अध्याय हैं। इस में उपनिषदों के सिद्धान्तों व सांख्य तथा बौद्ध सिद्धान्तों की मिलावट को सारांशरूप से उपस्थित किया गया है। काठक व श्वेताश्वतर भी कृष्ण-यजुर्वेद के ही उपनिषद् हैं। पहिले में १२० व दूसरे में ११० श्लोक हैं। काठक में 'नचिकेतस्' की कथा आती है व योग के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर में योग व वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित है व सबसे बड़ा तथा

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे तीन भागों में विभाजित किया गया है व प्रत्येक भाग में दो २ अध्याय हैं। पहिले भाग में अश्वमेध यज्ञ को जगत् का प्रतीक मान कर समझाने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् आत्मा या ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है व समझाया गया है कि परमात्मा ही सर्वोपरि व सब का आधारभूत है। आत्मा के 'पुरुष', 'प्राण' आदि स्वरूपों पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में याज्ञवल्क्य का जिज्ञासुओं से दार्शनिक वादविवाद वर्णित है। 'ब्रह्म', 'प्राण,' 'मन', 'आत्मा' आदि के पारस्परिक सम्बन्ध को याज्ञवल्क्य व जनक की बातचीत द्वारा सुन्दर ढङ्ग से समझाया गया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य व उन की पत्नी मैत्रेयी की दार्शनिक बातचीत भी बहुत रोचक है। सब से छोटा उपनिषद् ईशोपनिषद् भी शुक्ल-यजुर्वेद से सम्बन्धित है व यही 'वाजसनेयी संहिता' का अन्तिम अध्याय भी है। इस में ईश की सत्ता व आत्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का सुन्दर निरूपण किया गया है।

अथर्ववेद से कितने उपनिषद् सम्बन्धित किये जाते हैं, किन्तु साधारणतया उन की संख्या २७ मानी जाती है। इनमें से अधिकांश बहुत बाद के हैं, यहांतक कि "अल्लोपनिषद्" तो मुस्लिम-काल का है। ये उपनिषद् वेदों से प्रत्यक्षरूपेण सम्बन्धित नहीं हैं; इन में साम्प्रदायिकता की बू है व विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय है। वर्णित विषय के अनुसार इन्हें चार श्रेणियों में विभाजित किया जासकता है। पहिली श्रेणी में के उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है। योग व संन्यास का वर्णन दूसरी व तीसरी श्रेणी के उपनिषदों में है, अन्तिम श्रेणी के उपनिषद् पूर्णतया साम्प्रदायिक हैं। इन में शिव, ईशान, महेश्वर, महादेव, विष्णु, नारायण, नृसिंह आदि देवताओं को आत्मा से सम्बन्धित किया गया है। मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य इनमें प्राचीनतम हैं।

३

सूत्र-साहित्य

ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ वैदिक साहित्य की जटिलता भी बढ़ती गई व उस को समझना कठिन होगया। इसलिये धार्मिक सिद्धान्तों को विशेष-

कर 'कर्मकाण्ड' से सम्बन्धित सिद्धान्तों को, एक नया साहित्यिकरूप दिया गया। 'घाघर में सागर' के सिद्धान्त के अनुसार कमसे कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ भरदेने के विचार से सूत्र-साहित्य का निर्माण किया गया। इसे 'कल्प' कहकर वेदाङ्ग-साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। धर्म व कर्मकाण्ड-सम्बन्धी इस सूत्र-साहित्य को तीन विभागों में विभाजित किया जाता है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र व धर्मसूत्र। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि व धर्मसूत्रों में सामाजिक नियमों आदि का विवेचन किया गया है।

श्रौतसूत्र—

इनमें से प्राचीनतम प्रारम्भिक बौद्धकाल के हो सकते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं-शाङ्खायन व आश्वलायन। इनमें से पहिला उत्तर-गुजरात व दूसरा गोदावरी व कृष्णा के मध्यवर्ती प्रदेश से सम्बन्धित है। इन दोनों में आश्वलायन अधिक पुराना मालूम होता है। सामवेद के तीन श्रौतसूत्र प्राप्य हैं—मशक या आर्षेय-कल्प, लाटायन, द्राह्यायण। शुक्लयजुर्वेद से कात्यायन-श्रौतसूत्र सम्बन्धित है। कृष्ण-यजुर्वेद के ६ श्रौतसूत्र प्राप्य हैं—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस। इनमें से पहिले चार तैत्तिरीय-शाखा से सम्बन्धित हैं व पांचवा 'मैत्रायणी संहिता' का है। "वैतान सूत्रों" को अथर्ववेद से सम्बन्धित किया जाता है।

इन श्रौत सूत्रों में श्रौत-कर्मों का विधान है। इनकी संख्या चौदह है, सात हविष्यज्ञ व सात सोमयज्ञ। प्रातः व सायं अग्निहोत्र, दार्शपौर्णमास-चातुर्मास्यादि का समावेश हविष्यज्ञ में होता है। अग्निष्टोम, सत्र आदि सोमयज्ञ हैं। 'अग्निचयन' कर्म भी सोम-यज्ञ से सम्बन्धित है, जिसे समाप्त होने में एक वर्ष लग जाता था।

गृह्यसूत्र—

ये सूत्र श्रौतसूत्र के बाद के मालूम होते हैं। शाङ्खायन, शाम्बव्य, आश्वलायन आदि ऋग्वेद के गृह्यसूत्र हैं। गोभिल व खादिर सामवेद से सम्बन्धित हैं। गोभिलगृह्यसूत्र सब गृह्यसूत्रों में प्राचीनतम है। पारस्कर (कातीय या वाजसनेय) शुक्ल-यजुर्वेद का गृह्यसूत्र है व आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्,

बौधायन, मानव, काठक, वैखानस आदि कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद का गृह्यसूत्र कौशिक है।

गृह्यसूत्रों में जन्म से मरण तक कियेजानेवाले व पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कर्मों का विधान है, जो कि 'आवसथ्य' या 'वैवाहिक' अग्नि में सम्पादित किये जाते थे। इनमें चालीस संस्कारों का वर्णन है, जो मानव-जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जाते थे। इनमें पञ्चमहायज्ञ, पाकयज्ञ, श्राद्ध आदि का भी समावेश होजाता है।

धर्मसूत्र—

धर्मसूत्रों में "सामयाचरिकधर्मों" का विवरण है। इनमें सामाजिक रीतिरिवाज आदि के आधार पर सामाजिक जीवन के संचालन के लिये नियमों का विवेचन किया गया है। वेदशाखा से सम्बन्धित धर्मसूत्रों में केवल तीन ही प्राप्त हैं—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् व बौधायन, जो कि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित हैं। अन्य प्राप्त व उल्लिखित धर्मसूत्र भी कदाचित् किसी न किसी वेदशाखा से सम्बन्धित रहे होंगे। बूल्हर के मतानुसार आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का समय ई० पू० ४०० वर्ष के लगभग निश्चित किया जा सकता है। इसमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि के कर्तव्य, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, तप, विवाह, दाय आदि का वर्णन है। इसमें उत्तर भारत के कुछ रिवाजों की जो टिप्पणी की गई है, उससे मालूम होता है कि इसका सम्बन्ध दक्षिण-भारत से था। इससे हिरण्यकेशिन् धर्मसूत्र का घनिष्ट सम्बन्ध है। कहा जाता है कि हिरण्यकेशी आपस्तम्बियों की एक शाखा थी, जो कोंकण में पहुँची थी। यह सूत्र कमसेकम ई० स० ५०० के पहिले का होना चाहिये, क्योंकि उस समय के एक शिलालेख में एक हिरण्यकेशी ब्राह्मण का उल्लेख है। बौधायनधर्मसूत्र भी दक्षिण भारत से सम्बन्धित मालूम होता है व आपस्तम्बधर्मसूत्र से पहिले का है। इसमें वर्णाश्रमधर्म, वर्णसंकर, विभिन्न यज्ञ, तप, शुभसंस्कार, राजा के कर्तव्य, न्यायालयादि के व्यवहार, स्त्रियों का स्थान आदि का वर्णन आता है। गौतम-धर्मशास्त्र भी सूत्र-ग्रन्थ ही माना जाना चाहिये, क्योंकि इसमें सूत्र-भाषा ही उपयुक्त की गई है। इसके समय के लिये कहा जाता है कि यह कम से कम ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग का होना चाहिये। इसी प्रकार 'वशिष्ठधर्मशास्त्र' भी एक सूत्रग्रन्थ है, क्योंकि इसमें भी सूत्र ही हैं व कहीं कहीं त्रिष्टुभ छन्द

भी हैं। मनुस्मृति से भी इसका सम्बन्ध है। उक्त स्मृति में इसका एक श्लोक भी आता है। इसके समय के बारे में यह मत है कि इसको गौतम के पश्चात् व मनु के पहिले रखना चाहिये। मानव-धर्मसूत्र के बारे में हमें वशिष्ठ-धर्मशास्त्र से मालूम होता है, जहां कि इसका उल्लेख आता है। ईसा की तीसरी शताब्दि के वैखानसधर्मसूत्र को भी इन सब की श्रेणी में रखा जा सकता है।

४

वेदाङ्ग-साहित्य

बहुत समय बीतने पर जब वैदिक साहित्य की भाषा जटिल होने लगी, तब उसको भलीभाँति समझने में सहायता देने के लिये सूत्रभाषा में एक नया साहित्य तैयार किया गया, जिसका नाम वेदाङ्ग रखा गया। ये वेदाङ्ग ६ हैं, यथा—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प व ज्योतिष। प्रथम चार, वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण व शुद्ध अर्थ को समझने के लिये व अन्तिम दो, कर्मकाण्ड व धार्मिक कृत्य तथा एतदर्थ उपयुक्त समय को सूचित करने के लिये बनाये गये थे।

शिक्षा—

इसका सम्बन्ध शब्दशास्त्र से है। इसमें वर्ण व उनके उच्चारण आदि सम्बन्धी कितने ही नियम दिये गये हैं। शिक्षा नाम के बहुतसे ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, किन्तु वे बाद के हैं। इस सम्बन्ध का सर्वप्रथम प्रयास वेद के संहिता-पाठ में दृष्टिगोचर होता है, जहां कि सन्धि के नियमों का उपयोग किया गया है। इस वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य-साहित्य को दिया जा सकता है, जिसका संहिता व पदपाठ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह साहित्य पाणिनि के बाद का मालूम होता है, किन्तु उसने भी कदाचित् इसके प्राचीन रूप से लाभ उठाया हो। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी व तैत्तिरीय संहिता आदि के प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं।

छन्द—

ब्राह्मणसाहित्य में यत्र तत्र छन्द-शास्त्र को उल्लिखित किया गया है, किन्तु शाङ्खायनश्रौतसूत्र (७।२७), ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (अन्तिम तीन

पटल) व सामवेद से सम्बन्धित 'निदान-सूत्र' में इस शास्त्र का स्पष्ट व व्यवस्थित वर्णन किया गया है। पिङ्गल के छन्दसूत्र के एक भाग में भी वैदिक छन्दों का वर्णन आता है। उक्त सूत्रग्रन्थ वेदाङ्ग कहाने का दावा करता है, किन्तु इसका अधिकांश भाग वेदों के पश्चात् के छन्दों से सम्बन्धित है।

व्याकरण—

वैदिक पदपाठ के आलोचनात्मक अध्ययन से व्याकरणसम्बन्धी ज्ञान के विकास का पता लगता है। उच्चारण व सन्धि के नियम, नाम, सर्वनाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि सम्बन्धी ज्ञान से तत्कालीन व्याकरण-शास्त्र के स्वरूप का बोध होता है। ब्राह्मणसाहित्य में भी "वर्ण", "वृषन्", "वचन", "विभक्ति" आदि व्याकरण के पारिभाषिक नामों का उल्लेख आता है। ऐसे कितने ही शब्द आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदि में भी पाये जाते हैं। वैयाकरणों में पाणिनि का स्थान सबसे ऊँचा व महत्त्व का है। उसकी अष्टाध्यायी में 'वैदिकी प्रक्रिया' का अध्याय भी सम्मिलित किया गया है। योंतो पाणिनि को संस्कृत का सर्वप्रथम व सबसे बड़ा वैयाकरण माना जाता है, किन्तु उसके पहिले भी कितने ही बड़े २ वैयाकरण थे, जिनको अष्टाध्यायी व यास्क के निरुक्त में उल्लिखित किया गया है। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—शाकटायन, गार्ग्य, शाकल्य, स्फोटायन आदि।

निरुक्त—

यास्ककृत निरुक्त यथार्थ में वैदिक भाष्य है। उस का आधार वैदिक शब्द-कोष निघण्टु है। इन सब के वैदिक शब्दों को यास्क ने अपने बारह अध्याय के निरुक्त में अच्छीतरह से समझाया है व वेदमन्त्रों को उदाहरणरूप से उल्लिखितकर उन के अर्थ को निरुक्त की दृष्टि से समझाया है।

ज्योतिष—

ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी वेदाङ्ग का श्रेय लगध के छोटे से ज्योतिषग्रन्थ को दिया जाता है। यह ग्रन्थ ज्योतिष की प्रारम्भिक व अविकसित अवस्था का सूचक है। किन्तु वैदिक काल में व उसके पश्चात् भी ज्योतिष का विकास किया गया था। यज्ञ के समय आदि के लिये इस की उपयोगिता थी। इस के बारे में आगे चलकर विशद विवेचन किया गया है।

कल्प—

इस के बारे में पहिले ही लिख दिया गया है। श्रौतादि सूत्रों को ही 'कल्प' कहते हैं।

६

वेदानुक्रमणी

वेदों से सम्बन्धित एक और साहित्य है, जिसे 'अनुक्रमणी' कहते हैं। इन अनुक्रमणियों में वेदमन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता आदि की सूचियें दी हैं। शौनककृत सात अनुक्रमणियें ऋग्वेद से सम्बन्धित हैं, जो कि श्लोक व त्रिष्टुभ् में बनाई गई हैं। आर्षानुक्रमणी में ३०० श्लोकों में ऋग्वेद के ऋषियों की सूची दी है। छन्दोनुक्रमणी उतने ही श्लोकों में ऋग्वेद के छन्दों की सूची देती है।

अनुवाकानुक्रमणी में ४० श्लोकों में ऋग्वेद के ८५ अनुवाकों में प्रत्येक के प्रारंभिक शब्दों व प्रत्येक अनुवाक के सूक्तों की संख्या का ब्यौरा आता है। इसमें यह भी बताया गया है कि ऋग्वेद में १०१७ सूक्त १०,५८०½ मन्त्र, व १५३,८२६ शब्द हैं। 'पादानुक्रमणी' में मन्त्रों के पाद का ब्यौरा है। सूक्तानुक्रमणी व देवतानुक्रमणी के अन्य स्थानों पर उल्लिखित किये जाने से उनके अस्तित्व का भी पता लगता है। १२०० श्लोक वाले बृहद्देवता ग्रन्थ में ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के देवता का उल्लेख है। इस के अतिरिक्त इस में कितनी ही दन्तकथाएँ व कथानक इकट्ठे किये गये हैं। इन सब अनुक्रमणियों को सारांशरूप से कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी में वर्णित किया गया है। सामवेद की 'आर्ष' व 'दैवत' नामी दो अनुक्रमणियें हैं, जिनमें नैगेय शाखा के सामवेद के ऋषि व देवताओं का ब्यौरा है। कृष्णयजुर्वेद की दो व शुक्लयजुर्वेद की एक अनुक्रमणी प्राप्य हैं।

अध्याय ७

पारिवारिक जीवन

मानव जीवन का विकास व निसर्गसिद्ध संस्कार—सृष्टि की उत्पत्ति व मानव-जीवन का विकास ऐसी पहेलियें हैं, जो अभीतक भी बूझी नहीं गईं। मानव-जीवन के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि

मनुष्य में ईश्वर-प्रदत्त या निसर्गसिद्ध कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उस के जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। समस्त सामाजिक विकास की जड़ में, ये ही संस्कार हैं। आत्मरक्षा, एकत्रित हो समुदाय बनाकर रहना, प्रेमभावना, मनोविकार आदि से सम्बन्धित संस्कार, मानव-जीवन के विकास के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं।

पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ—यह कहना न होगा कि सामाजिक विकास का प्रारम्भ पारिवारिक-जीवन से ही होता है। अतएव पारिवारिक जीवन की जड़ में भी इन्हीं संस्कारों का रहना स्वाभाविक ही है। इस जगत् पर दृष्टिपात करने से हमें पता चलता है कि 'युग्मभावना' इस सृष्टि के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस तथ्य को सांख्य-दर्शन ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया है[१]। उस के मतानुसार, यह संसार प्रकृति व पुरुष का ही खेल है। इस युग्म के दर्शन प्रत्येक स्थल पर हो सकते हैं। दाम्पत्य-जीवन के बिना पारिवारिक-जीवन दुष्कर ही नहीं किन्तु असम्भव है। स्त्री व पुरुष एक दूसरे के प्रति आकर्षित होकर एक साथ रहना सीखते हैं व प्रजासर्जन करने लगते हैं। विवाह-सँस्कार इसी का निदर्शनमात्र है। इस प्रकार परिवार का प्रारम्भ होता है। उपनिषदों में वर्णन आता है कि पहिले ब्रह्म अकेला ही था। उसे इच्छा हुई कि मैं अकेला हूं, बहुत से उत्पन्न करूँ—"एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय"[२]। इस प्रकार उस ने मानव-सृष्टि का प्रारम्भ किया।

पारिवारिक जीवन व मातापिता—पारिवारिक-जीवन में स्त्री मातृत्व को प्राप्त होती है व पुरुष पिता बनता है। उन के हृदय की बहुतसी प्रसुप्त भावनाएँ जागृत होने लगती हैं। जिस प्रकार बालक के गर्भ में आते ही माता के स्तनों में दुग्धधारा बह निकलती है, उसी प्रकार परिवार के विस्तार व विकास के साथ २ मातापिता के हृदयों में पुत्रप्रेम, पुत्र के लिये नाना प्रकार के कष्ट सहन करने की शक्ति, पुत्र के लिये अपूर्व त्याग, स्वार्थ-नियन्त्रण आदि की भावनाएँ भी उभरने लगती हैं। यहां तक निसर्ग मनुष्य के विकास में सहायता देता है। इस के पश्चात्, वह अपने कर्मों से ही उन्नति या अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। जो मानव-समाज इन नैसर्गिक तत्त्वों को समझ अपना विकास करता है, वह कालगति के साथ उन्नत बन सुसभ्य कहलाता है व जो इस के विपरीत कार्य्य करता है, वह असभ्य व जंगली कहलाता है।

प्राचीन भारत का पारिवारिक जीवन—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीयों ने पारिवारिक व सामाजिक विकास के अन्तर्भूत नैसर्गिक तत्त्वों को भलीभाँति समझकर पारिवारिक जीवन को विकसित किया था। यही कारण है कि वे जीवन के हर एक पहलू का आश्चर्य्यजनक विकास कर सके। इस सम्बन्ध में, भूमंडल का अन्य कोई देश भारत की बराबरी नहीं कर सकता। प्राचीन भारत में मानव-जीवन के सच्चे उद्देश्य को समझ कर ही पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित किया गया था। व्यष्टि व समष्टि का सम्बन्ध नैसर्गिक व वैज्ञानिक आधार पर निहित था[३]। व्यक्ति को समाज का आवश्यकीय अङ्ग समझा जाता था। प्रत्येक परिवार समाज का एक घटक समझा जाता था। परिवार के महत्त्व को समाज व उस के संचालक अच्छी तरह जानते थे। इसीलिये समाज में 'गृहपति' का स्थान ऊँचा था।

तीन ऋण—प्राचीन भारत के प्रत्येक व्यक्ति के मन पर पहिले ही से ये भाव अङ्कित कर दिये जाते थे कि पैदा होते ही उस पर कितना ही उत्तर-दायित्व आजाता है तथा वह स्वतन्त्र व निःशृङ्खल नहीं है। वह ज्यों २ बड़ा होता है, त्यों २ उसके कर्तव्य व उत्तरदायित्व भी बढ़ जाते हैं। उसे अपने जीवन में तीन प्रकार के ऋण चुकाने पड़ते थे; जैसे पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण[४]। इनमें पितृऋण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित था तथा ऋषिऋण व देवऋण का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक जीवन से था। ये दोनों पारिवारिक जीवन व सामाजिक जीवन को जोड़नेवाले पुल के समान थे। यहां केवल पितृऋण पर विचार किया जायगा।

पितृऋण व उसका महत्त्व—पितृऋण का मतलब होता है पुत्र पर पिता का कर्ज। इसे कोई अस्वीकार न करेगा कि मातापिता अपने पुत्र के लिये कितना ही कष्ट उठाते तथा त्याग करते हैं। उसके सुख के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करते हैं। उत्तम शिक्षा देकर उसे विद्वान् व सुयोग्य नागरिक बनाते हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति पर मातापिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्तव्य होजाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यह ऋण किस प्रकार चुकाया जाय? इस प्रश्न का उत्तर हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने दिया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा पिता के ऋण से मुक्त हो

सकते हैं[५]। यहां सन्तानोत्पत्ति से केवल बालबच्चे पैदा करने का मतलब ही नहीं है, किन्तु सन्तान पैदा कर उसे योग्य शिक्षा दे समाज का सच्चा सेवक बनाने का भाव दर्शाया गया है। जिस प्रकार हमारे पिताने उत्तम २ शिक्षा देकर मन पर अच्छे २ संस्कार डाल हमें समाज में ऊँचा स्थान दिलवाया, उसी प्रकार हमारा भी कर्तव्य है कि हम भी पिता बनने पर अपनी जिम्मेवारियों को अच्छी तरह से समझ अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने में कोई बात उठा न रखें, जिससे हमारे पुत्रादि भी पिता बनने पर यही काम करें। अपने पिता के ऋण से हम इसी प्रकार मुक्त होसकते हैं, अन्य कोई मार्ग नहीं है। यदि भाग्यवशात् पिता, पितामह बन इस आनंद की घड़ी को देखने के लिये जीवित रहे, तो उसके आनंद का पारावार नहीं रह सकता। उसे इस बात का मीठा अनुभव अवश्य होगा कि मेरा पुत्र मेरे ऋण से अच्छी तरह मुक्त होगया। इस प्रकार पारिवारिक इतिहास में इस बात का ताँता ही बँध जायगा व सन्तानोत्पत्ति शब्द का याथार्थ्य भी सिद्ध होजायगा।

पितृऋण के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक परिवार दिन प्रतिदिन उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है व अपने समाज तथा समस्त मानव-जाति का कल्याण कर सकता है। इस बीसवीं शताब्दि में भारतवर्ष व अन्य देशों में कोई भी इस सिद्धान्त को समझने की परवाह नहीं करता। इसके विपरीत, आजकालके शिक्षित लोग समाज व व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त ही हानिकारक सन्ततिनिरोध आदि मन्तव्यों को मानने का दम भरते हैं। इस स्वतन्त्रता के युग में क्या पुरुष, क्या स्त्री सबही हर प्रकार का बन्धन तोड़ने पर उद्यत हैं। यही कारण है कि साधारणतया प्रत्येक परिवार में स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का साम्राज्य है व लोग स्वतन्त्र होने के बदले इन मानव-रिपुओं के गुलाम बनते जाते हैं। आज श्रवणकुमार व राम के भारत में ऐसे पुत्र दिखाई देते हैं, जो कि पिता को ठुकराने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसे कलुषित वातावरण में, घर के अन्दर वह स्वर्गीय आनंद मिल ही नहीं सकता, जो प्राचीनकालीन गृहस्थियों को प्राप्त था। इस प्रकार हम पारिवारिक जीवन में पितृऋण के महत्त्वपूर्ण स्थान को भलीभाँति समझ सकते हैं।

पिता के अधिकार—पारिवारिक जीवन में पिता की केवल जिम्मेवारियें ही नहीं थीं, किन्तु उस के अधिकार भी थे[६]। वह परिवार का मुखिया माना

जाता था। उसे गृहपति कहते थे। उस के इस महत्त्वपूर्ण स्थान को राजा भी मानता था। गृहपति की हैसियत से वह परिवार में सर्वेसर्वा था। आयु, अनुभव, ज्ञान आदि के कारण उस का महत्त्वपूर्ण स्थान व उस के अधिकार सुरक्षित रहते थे। पिताको प्राचीन रोम में पुत्र के ऊपर कितने ही कानूनी अधिकार प्राप्त थे[७]। परिवार के सब सदस्यों को उस के नियन्त्रण में रहना पड़ता था। पिता अपने पुत्रों के साथ कैसा व्यवहार करे इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्य्यों ने बहुत कुछ लिखा है, जैसा कि मनुजी ने कहा है—

"लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताड्येत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्"[८]॥

पांच वर्ष तक पिता पुत्र का लाड़ करे, दशवर्ष तक ताड़न करे व १६ वां वर्ष लगा कि उसे मित्र समझे। सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुत्र के साथ मित्र के समान व्यवहार करने का आदेश पिता को दिया गया है। इस प्रकार पिता का नियन्त्रण व अधिकार पुत्र को कभी नहीं सलता था। प्राचीन काल में प्रत्येक बालक मातापिता व आचार्य्य के नियन्त्रण में रहकर युवावस्था को प्राप्त होता था। उस के जीवन को ये तीनों ही प्रभावित करते थे। इसी लिये उपनिषदों में उस के लिये आदेश है—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव"[९]।

परिवार में माता का स्थान—परिवार में माता का स्थान पिता के स्थान से भी ऊँचा व अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। वही पारिवारिक जीवन का केन्द्र थी। इसीलिये तो मनुजी को कहना पड़ा कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"[१०] व "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" आदि शब्दों का प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि सब को नव मास तक माता के गर्भ में रहना पड़ता है व तत्पश्चात् भी तीन चार वर्षतक उसी की गोद में खेलना पड़ता है। माता से बालक का बहुत निकट का सम्बन्ध रहता है। यों तो वह पिता से भी दूर नहीं रहता। किन्तु माता के लिये तो वह हृदय का टुकड़ा है। इसी लिये शंकर को कहना पड़ा कि—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"[११]। बालक की सबसे पहिली व सबसे बड़ी शिक्षिका माता ही है। वही अपने बालक को ऊँचे से ऊँचा उठा सकती है व नीचे से नीचा गिरा सकती है। वह अपने दूध के साथ उसे अपनी आन्तरिक भावनाओं को भी पिला

सकती है। इसीलिये प्राचीन भारत के परिवार में उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया गया था।

माता की हैसियत से उसे अपनी सन्तान को पालने पोसने से सम्बन्धित सब बातों की जानकारी रखनी पड़ती थी। घरमें पूरा अधिकार उसी का रहता था। गृहपति को तो और कितने ही काम करने पड़ते थे। घर की आन्तरिक व्यवस्था वह अपनी पत्नी को ही सौंपता था। इसीलिये वह गृहिणी-पद से भी सुशोभित की गई थी[१२]। परिवार के आन्तरिक जीवन का संचालन व परिचालन उसी के हाथ में रहता था। वह प्रत्येक काम में गृहपति का हाथ बटाती थी। उसके बिना कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं किया जा सकता था। यज्ञ करते समय भी उस की उपस्थिति व सहायता आवश्यकीय समझी जाती थी[१३]। जब उस का पति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह भी उस के साथ जाकर किसी ऋषि के आश्रम में रह कर आत्मतृप्ति करती थी[१४]।

परिवार के अन्य सदस्य—परिवार के अन्य सदस्यों को पारिवारिक संगठन में बँधकर रहना पड़ता था। हमेशा मातापिता की आज्ञा मानना उन का परम कर्तव्य माना गया था। अशोक ने अपने धर्मलेखों में इसी बात पर ज़ोर दिया है[१५] व गो० तुलसीदास ने भी कहा है।—

"तनय मातपितु तोषनि हारा। दुर्लभ जननी सकल संसारा॥"
"धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोदचरित सुनि जासू॥"[१६]

इस प्रकार परिवार के सब सदस्य यथानियम मर्यादा में रहकर अपने २ उत्तरदायित्व व कर्तव्यों को पूरा करते थे।

दैनिक कर्तव्य—अब हमें उन कर्तव्यों पर विचार करना चाहिये, जो प्रत्येक गृहस्थी द्वारा अपने दैनिक जीवन में किये जाते थे। इस सम्बन्ध में गृह्य-सूत्रकार व मन्वादि स्मृतिकारों ने बहुतकुछ लिखा है[१७]। इन आचार्यों द्वारा बनाया गया जीवनक्रम व उसे संचालित करनेवाले नियम पारिवारिक जीवन के कर्णधार थे। आजकल भी हिन्दू समाज साधारणतया इन्हीं नियमों से संचालित किया जाता है।

पंचमहायज्ञ—मनुजी के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को ब्राह्ममुहूर्त (लगभग साढ़े चार बजे प्रातः) में उठना पड़ता था तथा शौचादि के पश्चात् अपने दिवस के कार्य्यक्रम को निश्चित करना पड़ता था।

मनु० ४।९२,९३.

"ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥"

ब्राह्म-मुहूर्त में उठे व धर्मार्थ का चिन्तन करे; कायक्लेश व उनके कारणों तथा वेदतत्त्वार्थ पर भी विचार करे ।

"उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरांचिरम् ॥"

उठनेपर, शौचादि आवश्यक कार्य्य कर, समाहित होकर पूर्व सन्ध्या का जाप करे और इसी प्रकार दूसरी को भी अपने समय में करे ।

प्रति दिवस प्रत्येक को पंचमहायज्ञ करने पड़ते थे, जो कि इस प्रकार हैं—

मनु० ३।६९-७५

"तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥"

इन सब (दोषों) की निष्कृति के लिये महर्षियोंने प्रतिदिवस गृहस्थियों के लिये पांच महायज्ञ आयोजित किये हैं ।

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥"

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ व अतिथि-पूजन नृयज्ञ है ।

"पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥"

इन पांच यज्ञों को जो यथाशक्ति करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहकर भी सूनादोष से लिप्त नहीं होता ।

"देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥"

देवता, अतिथि, भृत्य, पितृ व अपने आप का जो निर्वपन नहीं करता, वह श्वासलेते हुए भी जीवित नहीं है ।

"अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥"

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्य, हुत व प्राशित आदि पांच यज्ञ कहे जाते हैं।

"जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यर्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥"

जप अहुत, होम हुत, भौतिकबलि प्रहुत, द्विजाग्र्यर्चा ब्राह्म्य हुत व पितृतर्पण प्राशित हैं।

"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥"

स्वाध्याय व दैवकर्म में नित्य युक्त रहना चाहिये। दैवकर्म में युक्त इस चराचर को धारण करता है।

इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) आदि पञ्च महायज्ञों को करना प्रत्येक गृहस्थी के लिये अत्यन्त आवश्यकीय था। पारिवारिक जीवन के दैनिक कार्यक्रम में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

ब्रह्मयज्ञ—इस यज्ञ का तात्पर्य्य यह था कि वेदों के अध्ययन, अध्यापनद्वारा सतत ज्ञानवृद्धि में प्रयत्नशील रहना, जिससे इस संसार की पहेलियें सुलझाई जा सकें। ज्ञानोपार्जन का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही हो जाता था; किन्तु सच्ची ज्ञानपिपासा तो ब्रह्मचर्य्याश्रम के पश्चात् प्रारम्भ होती थी, जब कि अन्तर्चक्षु अच्छी तरह से खुल जाती थी व मौलिकतापूर्ण विचार करने की शक्ति अधिक विकसित हो जाती थी। इस यज्ञ को अनिवार्य्य बनाने का यह भी उद्देश्य था कि कोई यह न समझे कि गुरुकुल से लौट कर विवाह आदि करने के पश्चात् ज्ञानोपार्जन का अन्त होजाता है, जैसा कि आजकल समझा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ में वेद के अध्ययन तथा अध्यापन आदिद्वारा ज्ञानवृद्धि का समावेश होजाता है; इस यज्ञ के महत्त्व को समझे बिना इस संसार में किसी प्रकार की उन्नति नहीं की जासकती। इस यज्ञ को नियमितरूप से करनेवाले व्यक्ति अपना, अपने देश का, अपनी जाति का व समस्त मानवजाति का कल्याण कर अमरत्व को प्राप्त होगये। इसी यज्ञ को अपनाकर प्राचीन भारत ने जीवन के प्रत्येक पहलू को समझनेवाले कितने ही महान् पुरुषों को जन्म दिया।

पितृयज्ञ—इस यज्ञ से साधारणतया मृत-पितरों से सम्बन्धित तर्पण-कर्म का भाव लिया जाता है। इन पितरों की तृप्ति अन्नबलि आदि से मानी

गई है[१८]। किन्तु यदि इस यज्ञ पर बारीकी से विचार किया जाय तो इसका गूढ़ रहस्य समझ में आजायगा। एक विचारसरणी यह भी है[१९] कि इस यज्ञ में ऐसे कर्मों का समावेश हो सकता है, जिनके करने से परिवार के वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को पूरा २ सन्तोष प्राप्त हो। इसलिये यह आवश्यकीय नहीं है कि वे वृद्ध उस गृहस्थी के घर में ही रहते हों। वानप्रस्थादि आश्रम में रहने पर भी उन्हें अपनी सन्तान के कुकर्म, सुकर्म से दुःख, सुख हुए बिना नहीं रह सकता। इस यज्ञ की आवश्यकता इसलिये होती है कि परिवार के वृद्ध व नवयुवकों में विचारभिन्नता के कारण गृह-कलह न होने पाय। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी एक व्यक्ति अपने कर्तव्यों से उन्मुख हो सकता है, जैसा कि आज कितने ही स्थलों पर देखा जाता है। कितने ही समाज में अच्छे समझे जाने वाले सुशिक्षित व्यक्ति अपने वृद्धों को सन्तोष नहीं दे सकते; इतना ही नहीं वे अपने कृत्यों से उन्हें कष्ट भी पहुँचाते हैं। आज नवयुवक व वृद्धों के मनोमालिन्य तथा झगड़ों की जड़ में भी यही बात है। आजकल के सुशिक्षित पुत्र अपने वृद्ध मातापिता के प्रति तटस्थवृत्ति धारण करते हैं व कहीं २ तो स्पष्टरूप से विरोध भी करते हैं। आश्रम-प्रथा के लोप से वृद्ध व नवयुवक एक ही परिवार में साथ २ रहते हैं तथा उनका दैनिक जीवन गृह-कलह से परिपूर्ण रहता है। पितापुत्र, सासबहू आदि के झगड़े किससे छिपे हुए हैं। कितने ही पुत्र अपने वृद्ध मातापिताओं से पृथक होते देखे व सुने जाते हैं। इन सब झंझटों को दूर करने के लिये ही हमारे प्राचीन ऋषियों ने पितृयज्ञ का निर्माण किया था, जिससे पारिवारिक जीवन आनंद व सुख में व्यतीत होवे।

देवयज्ञ—यह तीसरा महायज्ञ है। स्मृतिकारोंने हवन को देवयज्ञ कहा है[२०]। किन्तु इस का एक गूढ़ अर्थ भी निकल सकता है, जिस पर आगे चलकर विचार किया जायगा। हवन की महिमा आर्ष-ग्रन्थों में बहुत कुछ वर्णित है, जैसा कि लिखा है—"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"[२१]।

इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं[२२]—

"दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धयुक्त वायु और जल से आरोग्यता और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। घर में रक्खे हुए पुष्प, अतर आदि की सुगन्ध में वह सामर्थ्य नहीं

है कि दूषित गृहस्थ वायु को निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही की सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकालकर, पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है। जिस मनुष्य के शरीर से दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को जितना दुःख देती है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये"।

अग्नि के महत्त्व को कौन नहीं जानता। मानवसंस्कृति के विकास में जो इस का स्थान रहा है, वह और किसी का नहीं। इसमें पवित्रीकरण की इतनी ज़बरदस्त शक्ति है कि गन्दी से गन्दी चीजें भी इस में पड़कर शुद्धता को प्राप्त होसकती है। इस तथ्य को समझकर ही हमारे प्राचीन ऋषियों ने अग्नि में हवन करने का आदेश दिया। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अग्नि के महत्त्व को मान लिया गया है, यथा "अग्निमीळे पुरोहितं देवस्य यज्ञमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"[२३]

हवन व वायुशुद्धि—हवन का सम्बन्ध वायुशुद्धि से भी है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि वायुमंडल में इतने बारीक २ कीटाणु रहते हैं कि जो देखे नहीं जा सकते व जो भिन्न २ रोगों को उत्पन्न कर वायु को दूषित करते हैं। इस दूषित वायु में रहने से मनुष्य को कितने ही संक्रामक रोगों का शिकार होना पड़ता है। इसलिये शुद्धवायु का श्वासोश्वास में उपयोग करना स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त ही आवश्यकीय है। मनुष्य का जीवन अन्न, जल, वायु पर ही निर्भर रहता है। वायु की तो उसे प्रतिक्षण आवश्यकता होती है। वायु का न रहना या दूषित रहना मृत्यु को आमन्त्रण देना है। इसलिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने वायु-शुद्धि का एक तरीका यज्ञ के रूप में ढूँढ निकाला। यज्ञ में अग्नि को घृत, कर्पूरादि से प्रज्वलित किया जाता है व उस में घृत, चन्दन, नागरमोथा, अगर, तगर आदि कितने ही सुगन्धित द्रव्यों की आहुतियें डाली जाती हैं। आहुतियें डालते समय अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, सोम, आदि देवताओं के नाम भी लिये जाते हैं। इस प्रकार सायं व प्रातः अग्नि में सुगन्धित द्रव्य डालने से जो धुँआ निकलता है, वह वायुमंडल

में फैलकर वायु की सब अशुद्धियों को दूरकर उसे पूर्णतया शुद्ध करता है। इस प्रकार वायुशुद्धिसे परिवार व समाज का स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है।

एक विचार-सरणी यह भी है कि हवन के द्वारा भूमि में अन्न पैदा करने की शक्ति बढ़ती है। हवन से हानिकारक कीटाणुओं का नाश होता है, वायु शुद्ध होती है, जल शुद्ध होता है। वायु में मेघों को धारण करने की शक्ति बढ़ती है[२४]। शरीर की जीवनधारण-शक्ति अर्थात् प्राणशक्ति बढ़ती है। इस प्रकार देवयज्ञ की उपयोगिता समझ में आजायगी।

देवयज्ञ का यह भी मतलब हो सकता है कि समाज में जो देवतास्वरूप महान् आत्माएँ उसके सूत्रधार का काम कर रहीं हैं, उन के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ उनके आदेशों पर चलकर उन के जीवनोद्देश को सफल बनाने में सहायक बनना। इस प्रकार देवयज्ञ सम्पादित करने का यही मतलब है कि समाज के नेताओं की बातें मानकर उन के आदेशानुसार अपने जीवन को बनाना चाहिये। ऐसा यज्ञ प्राचीन भारत में प्रत्येक गृहस्थ करता था। जिस समाज में ऐसा देवयज्ञ हो, वह उन्नति के शिखर पर चढ़े बिना रह नहीं सकता।

भूतयज्ञ—चौथा भूतयज्ञ है, जिसे स्मृतिकारों ने बलिवैश्वदेव भी कहा है, जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है[२५]।—

"वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥"

विधिपूर्वक गृह्याग्नि में वैश्वदेव के किये जाने पर ब्राह्मण प्रतिदिवस इन देवताओं को होम करे। बलिवैश्वदेव करने की विधि यह है कि जो कुछ भोजन बना हो उस में से थोड़ा सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिये व डालते समय कुछ विशेष मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। इस के पश्चात् लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में रखे व कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, कृमि आदि को दे देवे। इस सम्बन्ध में मनुजी कहते हैं[२६]—

"शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥"

कुत्ते, पतित, चांडाल, पापरोगी, कौए व कृमि इन सब के लिये धीरे से

ज़मीन पर बलि डाले। बलिवैश्वदेव की विधि पर विचार करने से मालूम होता है कि इस यज्ञ का तात्पर्य्य यह है कि प्राणीमात्र के प्रति—समस्त भूतों के प्रति, हम अपने कर्तव्यों को समझें। जो निराधार हैं या अन्य किसी कारण से उदर-निर्वाह करने में असमर्थ हैं, उन की भोजनादि द्वारा सहायता की जाय।

नृयज्ञ—पांचवाँ है नृयज्ञ, जिस को अतिथि-यज्ञ भी कहते हैं। इस यज्ञ के द्वारा अतिथियों की यथावत् सेवा की जाती है। इस यज्ञ का यह तात्पर्य्य था कि प्रत्येक गृहस्थी अतिथियों के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व व कर्तव्य को समझे। यह नहीं, जैसा आजकल अक्सर होता है, कि यदि कोई अतिथि घर पर आजाय तो नाक भौं सिकोड़ने लगे, जिससे कि वह एकदम भाग जाय। हमारे प्राचीन आचार्यों ने अतिथियों की विधिवत् पूजा करना लिखा है। किन्तु वे अतिथि साधारण व्यक्ति नहीं रहते थे। अतिथि उन्हीं को कहा जाता था, जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छलकपट-रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य हों[२७]। जब ऐसा कोई अतिथि घर पर आवे, तब गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके उसे उत्तम आसन पर बैठावे, पश्चात् पूछे कि आपको जल या अन्न वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होकर, उस की हरतरह से आवभगत करे, जिससे कि वह अतिथि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाय।

प्राचीन-काल में अतिथि-यज्ञ का भाव भारत में कूट २ कर भरा था। इस-लिये उसने अपने दुश्मनों को भी घर में स्थान दिया व स्वतः दासत्व की शृङ्खला में बँध गया। आज भी इस वृत्ति का कुछ २ अवशेष भारत में वर्तमान है, विशेषकर भारत के ग्रामों में जहां भारतीयता कुछ २ बची है।

इन पांच महायज्ञों का यथाविधि सम्पादन प्राचीन पारिवारिक जीवन का एक विशेष अङ्ग था। इसी से जीवन का सच्चा आनंद प्राप्त होता था।

सोलह संस्कार—पारिवारिक जीवन के विकास में सोलह संस्कारों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। परिवार की अनेक प्रवृत्तियें इन्हीं संस्कारों द्वारा संचालित होती थीं। ये सोलह संस्कार[२८] इस प्रकार हैं।

(१) गर्भाधान—श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करने के लिये यह संस्कार है। पच्चीस वर्ष की आयु पुरुष की और सोलह वर्ष की आयु कम से कम स्त्री की होनी चाहिये, तब यह संस्कार किया जाता है। पुरुष जीवन के उद्देश को

ध्यान में रख, अपने आदर्शों को याद कर व उत्तम २ विचारों को मन में धारण कर सन्तानोत्पत्ति करे, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश है।

(२) **पुंसवन**—गर्भ के तीसरे मास के भीतर गर्भ की रक्षा के लिये यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में स्त्रीपुरुष प्रतिज्ञा करते हैं कि वे आज से कोई ऐसा कार्य्य न करेंगे, जिससे गर्भ गिरने का भय हो।

(३) **सीमन्तोन्नयन**—यह संस्कार गर्भ के सातवें या आठवें मास में बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। इसमें ऐसे साधन किये जाते हैं, जिनसे स्त्री का मन सन्तुष्ट रहे।

(४) **जातकर्म**—यह संस्कार बालकके जन्म लेते ही किया जाता है। बालक का पिता उसकी जिह्वा पर सोने की सलाई के द्वारा घी और शहद से "ओ३म" लिखता है।

(५) **नामकरण**—जन्म से ग्यारहवें दिन या १०१ वें दिन या दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह संस्कार किया जाता है। इसमें बालक का नाम रखा जाता है।

(६) **निष्क्रमण**—यह संस्कार जन्म से चौथे महीने में, उसी तिथि में जिसमें बालक का जन्म हुआ हो, किया जाता है। इसका उद्देश बालक को उद्यान की शुद्ध वायु का सेवन व सृष्टि के अवलोकन का प्रथम शिक्षण है।

(७) **अन्नप्राशन**—छठें या आठवें महीने में, जब बालक की शक्ति अन्न पचाने की हो जावे, तब यह संस्कार किया जाता है।

(८) **चूड़ाकर्म**—अथवा मुण्डन संस्कार, पहिले अथवा तीसरे वर्ष में बालक के बाल काटने के लिये किया जाता है।

(९) **कर्णवेध**—इसमें बालक के कान वेधे जाते हैं। यह संस्कार तीसरे या पाँचवें वर्ष में किया जाता है।

(१०) **उपनयन**[२९]—जन्म के सातवें वर्ष में इस संस्कार से लड़के व लड़की को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।

(११) **वेदारम्भ**—उपनयन संस्कार के दिन या उससे एक वर्ष के भीतर गुरुकुल में वेदों का आरम्भ गायत्री मन्त्र से किया जाता था।

(१२) **समावर्तन**—यह संस्कार ब्रह्मचर्य्यव्रत की समाप्ति पर किया जाता था।

(१३) **विवाह**[३०]—विद्या समाप्ति के पश्चात् जब लड़का, लड़की घर आजावे, तब यह संस्कार किया जाता है।

(१४) **वानप्रस्थ**[३१]—इसका समय पचास वर्ष की आयु के उपरान्त था। जब घर में पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब गृहस्थ के धन्दों में फँसे रहना धर्म नहीं। उस समय वानप्रस्थ की तैयारी के लिये यह संस्कार किया जाता था।

(१५) **संन्यास**—वानप्रस्थ में बैठकर जब इन्द्रियों को जीतले, किसी के लिये मोह और शोक न रहे, तब केवल परोपकार के हेतु संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लिये यह संस्कार किया जाता था।

(१६) **अन्त्येष्टि संस्कार**—मनुष्य-शरीर का यह अन्तिम संस्कार था, जो मरने के पश्चात् शव को जलाकर किया जाता था।

प्राचीन भारत के प्रत्येक द्विज-परिवार में इन संस्कारों का किया जाना आवश्यकीय समझा जाता था। जो पुरुष इन संस्कारो से वञ्चित रहते थे, साधारणतया, समाज से उनका बहिष्कार किया जाता था[३२]। हिन्दू-समाज में आज भी इनमें से कुछ संस्कार बचे हैं; जैसे विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन आदि। किन्तु इनका स्वरूप भी विकृत होगया है व ये धीरे २ लुप्त हो रहे हैं। मानवजीवन को अधिक परिष्कृत व संस्कृत बनाने के लिये ये संस्कार अत्यन्त ही आवश्यकीय हैं, क्योंकि ये वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं।

यमनियम का पालन—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन में कुछ अन्य कर्तव्यकर्म भी थे, जिनमें यमनियम का पालन विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में मनुजी कहते हैं[३३]—

"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥"

बुद्धिमान् पुरुष सदा यमों का पालन करे, नित्य नियमों को ही न करे। क्योंकि जो यमों को नहीं करता और केवल नियमों को करता है, वह पतित होता है।

ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर-स्वभाव व इन्द्रियदमन ये दस यम हैं। स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय,

इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध व अप्रमाद ये नियम कहे गये हैं। इन सब को यथावत् पालना प्राचीन भारत में आवश्यकीय समझा जाता था। हमारे दैनिक जीवन में इनके पालन की कितनी आवश्यकता है, यह तो कोई भी विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इनको न पालने से पारिवारिक सौख्य जाता रहता है तथा क्लेश व कलह की मात्रा बढ़ जाती है, जिसका समाजपर दुष्परिणाम हुए बिना नहीं रहता। ये यमनियम मानवजीवन को नियन्त्रित करने में समर्थ होते हैं, जिससे कि वह उन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो पाता।

वर्णधर्म—प्रत्येक गृहस्थ को वर्णधर्म के अनुसार अपना २ काम—वेदपठन-पाठन, कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि, करना पड़ता था[३४]।

संयुक्त परिवार-प्रथा—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन की आधारशिला 'संयुक्त परिवार-प्रथा' थी।[३५] इसके अनुसार परिवार के सब व्यक्ति एक साथ रहते थे। उनका खानपान, रहनसहन आदि सब इकट्ठा ही होता था। जहां विश्वभ्रातृत्व का पाठ सिखाकर स्वार्थवृत्ति का निरोध किया-जाता हो, वहां इसी प्रथा द्वारा पारिवारिक जीवन संचालित किया जाना अत्यन्त ही आवश्यकीय है; क्योंकि निसर्गतः ही मनुष्य एक सामाजिक जीव है। एकत्रित रहना उसका स्वभाव ही है। इसलिये आजकल जो पृथक्परिवार-प्रथा पाश्चात्य जगत् से हमारे समाज में घुस रही है, वह पूर्णतया अस्वाभाविक है। उसमें स्वार्थ की मात्रा अधिक है। वहां 'अहम्' का ही प्राधान्य रहता है। मेरा घर, मेरे बच्चे, मेरी स्त्री, मेरी दौलत, मेरा सबकुछ, मेरे अन्य भाइयों से मुझे कोई मतलब नहीं, वृद्ध मातापिता से कोई वास्ता नहीं आदि भावनाओं पर 'पृथक्परिवार-प्रथा' अवलम्बित रहती है। इसके समर्थन में बहुधा यह कहा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से यह ठीक है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि प्राचीन भारत में आर्थिक दृष्टि ही सब कुछ नहीं थी। अन्य दृष्टियें उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वहां तो प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों से लदा रहता था। उसे अपने निर्दिष्ट मार्ग तक पहुँचना पड़ता था। आजकल के समान उस का जीवन उद्देशरहित न था। वेदों ने भी संयुक्त-परिवार-प्रथा के समर्थन में कहा है[३६]—

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।"

एक साथ चलो, एक साथ बोलो व एक दूसरे के मन को अच्छी तरह से जानो।

आजकल 'संयुक्तपरिवार-प्रथा' इसलिये दोष-पूर्ण मालूम होती है कि हमारे समाज का ढाँचा बिलकुल बदल रहा है। आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियोंने हमारे पारिवारिक जीवन को अच्छी तरह से प्रभावित किया है। बेकारी के मसले ने तो इस प्रथा को भाररूप ही बना दिया है। इसलिये परिवार के प्रत्येक सदस्य में स्वार्थ की मात्रा बढ़ती दिखाई देती है। यथार्थ में, मानव-जीवन की उन्नति इसी प्रथा को अपनाने से हो सकती है।

पारिवारिक जीवनपर ऐतिहासिक दृष्टि—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से हमें पता चलता है कि इस जीवन की जड़ें ऋग्वेदतक पहुँची हैं। गृहपति व ग्रामणी[३७] का महत्त्वपूर्ण स्थान इस बात की साक्षी देता है। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें पता चलता है कि पंचमहायज्ञ, संस्कार आदि प्राचीन कालके जीवन को संचालित करने वाले तत्त्व वैदिक काल में भी ज्ञात थे। उस समय भी समाज सभ्यता व संस्कृति के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गया था[३८]। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हमारा पारिवारिक जीवन वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों से भी इस जीवन के बारे में कुछ २ मालूम होता है; किन्तु गृह्यादिसूत्रों में से इस सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम होता है।

पारिवारिक जीवन में बिगाड़—समय की गति से भारत का प्राचीन पारिवारिक जीवन धीरे २ बिगड़ने लगा, क्योंकि लोग सत्यमार्ग व सत्य सिद्धान्तों से बिछुड़ने लगे। इस उन्मार्ग-प्रवृत्ति ने पारिवारिक जीवन के पावित्र्य को नष्ट कर उस को दूषित करना प्रारम्भ कर दिया। महाभारत युद्ध, जिसने हमारी प्राचीन संस्कृति का लगभग संहार ही करदिया था, इसी प्रवृत्ति का फल है। पुराणों में कियेगये कलि-वर्णन में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। पुराणों ने कलियुग का इतना अच्छा चित्र खींचा है कि उसको ध्यानपूर्वक पढ़ने से हमें मालूम हो जाता है कि किस प्रकार दोषों के प्रादुर्भाव से पारिवारिक जीवन के आधारस्तम्भ धीरे २ खिसकने लगे। परिणामतः हमारा पारिवारिक जीवन अस्तव्यस्त हो गया।

उपसंहार—इस प्रकार हम भारत के प्राचीन पारिवारिक जीवन के

महत्त्व व उसकी विशेषताओं को भलीभाँति समझ सकते हैं। वह पारिवारिक जीवन ऊँचे २ आदर्शों की आधार-शिला पर खड़ा था। ये आदर्श ऐसे थे, जिस से मानवजाति का ही नहीं, अपितु समस्त प्राणीमात्र का कल्याण हो सकता था। पंचमहायज्ञ, यमनियम, तीन ऋण आदि पारिवारिक सौख्य के महामन्त्र थे, जिनके आज भी अपनाये जाने पर गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मचर्य्य, सत्य, अहिंसा आदि पर जो विशेष जोर दिया गया है, उस से प्राचीन पारिवारिक जीवन की विशुद्ध नैतिकता का पता चलता है। सोलह संस्कारों ने तो, जिस की वैज्ञानिकता व आवश्यकता किसी से छिपी नहीं है, इस जीवन को और भी अधिक व्यवस्थित व सुन्दर बना दिया था। ऐसे ही पारिवारिक जीवन के कारण प्राचीन भारत स्वर्गस्थली कहाता था।

अध्याय ८

प्राचीन-शिक्षाप्रणाली

प्राचीन शिक्षाप्रणाली का उद्देश—पारिवारिक जीवन व सामाजिक विकास के अध्यायों में स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति उदात्त सिद्धान्त व तत्त्वों पर विकसित हुई थी। मानव-जीवन के विशिष्ट उद्देशों की पूर्ति ही इस संस्कृति का ध्येय था। इन्हीं उद्देशों को ध्यान में रख प्राचीन शिक्षाप्रणाली का विकास किया गया था। यदि हम भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो हमें मालूम होगा कि भारत के प्राचीन ऋषियों ने किस प्रकार इस जगत् व जीवन की गुत्थियों को सुलझाना ही मानव-जीवन का महान् कर्तव्य समझा था, न कि आजकल के समाम स्वार्थ से अन्धे होकर एक दूसरे पर पाशविक साम्राज्य स्थापित कर मानवता पर कुठाराघात करना। उन ऋषियों ने यह भलीभाँति जान लिया था कि यदि मृत्यु के रहस्य को समझ लिया जाय तो इस संसार के कितने ही दुःखों का एकदम अन्त हो सकता है, जैसा कि पहिले लिख दिया गया है[1]। ये ऋषि, आत्मा व परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवन-मरण की जटिल समस्याएँ समझने में ही

पूर्ति भी नहीं हो सकती। प्राचीन काल का विद्यार्थी केवल विद्यार्थी ही नहीं था, किन्तु वह ब्रह्मचारी भी कहाता था[८]। उस के विद्याध्ययन का काल ब्रह्मचर्य्याश्रम कहाता था। 'ब्रह्मचारी' व 'ब्रह्मचर्य्य' शब्दों का तात्पर्य्य यह है कि वह व्यक्ति या ऐसा जीवन जिसमें 'ब्रह्म' याने 'सत्य'[९] को खोजने व समझने की एक धुन सी लगी हो। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय इतने अधिक शोधं कर सके कि जिन से इस बीसवीं शताब्दि का जग भी पूरा २ फायदा उठा रहा है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के उद्देश तथा 'ब्रह्मचारी' व ब्रह्मचर्य्य' शब्दों के रहस्यपूर्ण अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली उदात्त व वैज्ञानिक तत्वों पर विकसित हुई थी, जिसमें मानवता को पूरा २ स्थान दिया गया था, न कि मानव-षड्रिपुओं को।

ब्रह्मचारी का जीवन—प्राचीन काल में प्रत्येक बालक के मन पर यह अङ्कित कर दिया जाता था कि वह समाज का एक घटक है; वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। दुनियां में आते ही उसपर पिता का ऋण, ऋषि का ऋण व देवताओं का ऋण लद गया है[१०]। उसे जीवन में इन तीनों ऋणों को चुकाकर अपने उत्तरदायित्व को निबाहना चाहिये। इन ऋणों के चुकाने का सामर्थ्य वह ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्राप्त करता था। इस प्रकार सात या आठ वर्ष के बालक को ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रविष्ट कराया जाता था[११]। आचार्य्य या गुरु द्वारा उसे इस आश्रम की दीक्षा मिलती थी। इसी अवसर पर उस का यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार होता था, जब कि उसे यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार मिलता था[१२]। इस के पश्चात् उसे गुरु के आश्रम में रहकर ही विद्याभ्यास करना पड़ता था। कम से कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक उस का वहां रहना अनिवार्य्य था[१३]।

गुरुकुल-जीवन—यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् प्राचीन भारतीय विद्यार्थी गुरु के परिवार का एक सदस्य बन जाता था। उस के विद्याभ्यास के स्थान को 'गुरुकुल' कहते थे[१४]। वहां गुरु व शिष्यों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता था। सत्य, तप, त्याग आदि की मूर्ति गुरु के सच्चरित्र व व्यक्तित्व का प्रभाव इन कोमल-हृदय ब्रह्मचारियों पर पड़े बिना नहीं रहता था। भारत के इस नंगे फकीर के पास रहकर सम्राट का पुत्र अपने राजसी

ठाटबाट व ऐश्वर्य्य को भुला देताथा व रङ्क का लड़का अपने ऐहिक अकिञ्चनत्व को भूलकर ईश्वरप्रदत्त सम्पत्ति को पहिचान अपने अस्तित्त्व को जानता था[१५]। आजकल के समान नीच, ऊँच, धनिक, गरीब आदि के भाव इन गुरुकुलों में पैदा ही न होने पाते थे। ये स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयुक्त स्थान में ही रहते थे। जंगल में किसी नदी के किनारे या किसी छोटे से गांव के निकट ये रहते थे, जहां परमात्मा की कृति का साक्षात्कार सरलता से हो सकता था। प्रकृति देवी की गोदी में बैठकर गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का विकास किया करते थे। यहां का वातावरण शुद्ध रहता था। जहां शुद्ध जल-वायु प्राप्त हो व शहरों की गंदगी कोसों दूर हो, वहां किसका स्वास्थ्य न सुधरेगा? ऐसे शुद्ध वातावरण में रहकर ये ब्रह्मचारी अपना विद्याभ्यास करते थे।

गुरुकुल-जीवन भी विशेषता—समता—इस गुरुकुल-जीवन की विशेषता यह थी कि उसमें पद २ पर उदात्त भाव ही दृष्टिगोचर होते थे। गुरुकुल में प्रवेश करते ही प्रत्येक बालक को नीच, ऊँच, छोटा, बड़ा, आदि के भाव भुला देने पड़ते थे और छुटपन से ही अपने कोमल हृदय पर समता का भाव अङ्कित करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् वह इस भाव को समाज में भी फैलाता था, जिससे समाज का बड़ा हित होता था। जिन देशों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी, वहां समाज में इस भाव को प्रचलित करने के लिये कितना ही खून बहाना पड़ा। सत्रहवीं, अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दि में जो क्रमशः इंग्लेन्ड, फ्रान्स व अमेरिका में खून खराबी हुई,[१६] वह इसी उदात्त भाव की प्राप्ति के लिये थी। इतना खून बहाने पर भी आज यूरोप व अमेरिका पूर्णतया साम्य-भाव को न अपना सके।

सेवावृत्ति—सेवावृत्ति भी गुरुकुल-जीवन की विशेषता थी। स्वयंसेवक को कैसे रहना चाहिये, यह यदि किसीको जानने की इच्छा हो तो उसे प्राचीन गुरुकुलों का निरीक्षण करना चाहिये। प्राचीन काल में प्रत्येक ब्रह्मचारी को स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आचरण करना पड़ता था।[१७] अपना सब काम अपने ही हाथों कर उसे गुरु की सेवा भी करनी पड़ती थी। यज्ञ, हवन आदि के लिये जंगल से समिध् लानी पड़ती थी व निकट के गांवों में

जाकर भिक्षा भी माँगनी पड़ती थी।[१८] जीवन पूरा सादगी का रखना पड़ता था। इन्द्रिय-लोलुपता को उत्तेजित करने वाली भड़कीली वेषभूषा, तैलमर्दन आदि शृङ्गार-सामग्री से इन ब्रह्मचारियों को दूर रहना पड़ता था।[१९] तपस्वी के समान वल्कल, मेखला आदि धारण कर उन्हें अपने जीवन को ब्रह्मचर्य्य-युक्त व तपोमय बनाना पड़ता था[२०]। अथर्ववेदमें, जैसा कि पहिले ही कह आये हैं, ऐसे तपस्वीजीवन का स्पष्ट उल्लेख है।[२१] मनुजीने इन ब्रह्मचारियों के सादे व तपस्वी जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला है।

मनुस्मृति में ब्रह्मचारी के जीवन का उल्लेख—मनुजी के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये एक निश्चित चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड, वसन आदि विहित थे, जिनका उपयोग व्रतों के समय भी होता था। ब्रह्मचारी गुरु के घर रहता हुआ नियमों का पालन करे व अपने तप की वृद्धि के लिये इन्द्रिय-ग्राम का संयमन करे। नित्य स्नान करके देवर्षिपितृतर्पण कर, उसे देवताभ्यर्चन व समिदाधान करना चाहिये। मधु, मांस, गन्ध, माल्य रस, स्त्री, प्राणीहिंसा आदि उसके लिये वर्जित थे। सर्वत्र अकेला ही सोवे व कभी भी वीर्यपात न होने दे। सायंप्रातः अग्निहोत्र करे व भिक्षा भी माँग लावे। हमेशा अध्ययन में दत्तचित्त रहे, चाहे गुरु कहे या न कहे। मुण्ड, जटिल या केवल शिखाधारी रहे। पवित्र स्थान में सायंप्रातः सन्ध्या करे। हमेशा सद्वृत्त धारण करने की चेष्टा करे। इस प्रकार जो विप्र अविप्लुत ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करता है, वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।[२२]

गुरुकुल-जीवन का महत्त्व—मनुस्मृति के उपरोक्त वर्णन से प्राचीन ब्रह्मचारी के दैनिक जीवन का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। पुस्तकों की विद्या को ही सम्पूर्ण विद्या मानने वाले, कृत्रिमतापूर्ण बीसवीं शताब्दि के लोग कदाचित् इन गुरुकुलों के जीवन का मखौल उड़ायँ और कहें कि व्यर्थ के कामों में जब इतना समय जाता था, तो ब्रह्मचारी पढ़ता कब था? उनकी शङ्का के निरसन के लिये यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में केवल पुस्तकों की विद्या को ही सम्पूर्ण विद्या नहीं मानते थे। बन्द व तङ्ग कमरों में बैठकर एक निश्चित समय तक किसी निश्चित पुस्तक के निश्चित पृष्ठों को पढ़जाना मात्र ही उन ब्रह्मचारियों के लिये विद्याभ्यास नहीं था। उन्हें कोई निश्चित परीक्षाएँ पास कर सरकारी नौकरी प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा नहीं रहती थी।

उन्हें तो जीवन की पहेलियों को समझना था, ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का सम्यक विकास कर मानव-जाति को सच्चे सुख का रसास्वादन कराना था। वे तो ब्रह्मचारी थे। इसलिये परमात्मा की पुस्तक प्रकृतिदेवी का खूब अध्ययन करते थे। आजकल जिन भावों को विद्यार्थियों के मन पर पुस्तकों द्वारा अङ्कित किया जाता है, प्राचीन काल में उन्हीं भावों को दैनिक जीवन के आचरण द्वारा ब्रह्मचारियों में ओतप्रोत किया जाता था। प्रकृति के सौन्दर्य्य को कालिदास या वर्ड्सवर्थ की आँखों से देखने के पहिले, वे उसे अपनी आँखों से देखते थे। आजकल तो विद्यार्थी अपनी आँखें खोलना ही नहीं जानते।

विभिन्न विद्याओं का अध्ययन—हमें यह न भूलना चाहिये कि विद्याध्ययन भी नियमितरूप से किया जाता था। वेदाध्ययन, यजन, याजन आदि पठनपाठन के आवश्यकीय अङ्ग थे।[२३] इस के अतिरिक्त अन्य विद्याओं के पढ़ाये जाने का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में आता है। छान्दोग्योपनिषद् में एक जगह महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर ऋषि नारद कहते हैं—"हे भगवन्, मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों के अर्थविधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्यविद्या, एकायन-विद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजन-विद्याओं का अध्ययन किया है"।[२४] इन विद्याओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—"इतिहासपुराण" (History), "वेदानां वेदम्" अर्थात् वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जायँ जैसे व्याकरणनिरुक्तादि (Grammar and Philology), 'पित्र्यम्" पितरसम्बन्धी विद्या (Anthropology), "राशिम्" गणितविद्या, "दैवम्" उत्पातविद्या, जैसे भूकम्प-जलप्लावन, वायुकोप (Physical Geography), "निधिम्" खानों की विद्या (Minerology), "वाकोवाक्यम्" तर्कशास्त्र (Logic), "एकायनम्" नीति-विद्या (Ethics), "ब्रह्मविद्या" जिसमें ब्रह्म की व्याख्या हो, "भूतविद्याम्" प्राणियों की विद्या अर्थात् प्राणियों के प्रकार, वर्णन तथा उनकी रचनादि (Zoology, Anatomy etc), "क्षत्रविद्याम्" धनुर्विद्या तथा राजशासनविद्या (Military Science and Art of Government), "नक्षत्रविद्याम्" ज्योतिष (Astronomy), "सर्पदेवजन-विद्याम्" का तात्पर्य्य ठीक २ नहीं ज्ञात होता, परन्तु सम्भव है कि इसमें

सर्पों के विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो। सम्भव है कि इस व्याख्या में कहीं २ विद्वानों का मत-भेद हो। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। किन्तु साधारणतया, ब्रह्मचर्य्याश्रम तो एक प्रकार से अनिवार्य्य शिक्षा-क्रम का एक नमूना था, जो सब के लिये आवश्यकीय था, जैसा कि आजकल कितने ही स्थानों पर अनिवार्य्य प्राथमिक शिक्षा का आयोजन किया गया है। गुरुकुलजीवन में तो मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य बनता था। उस के पश्चात् जो जिस काम को करना चाहता था, वह उसका ज्ञान प्राप्त करता था। राजकुमार को राजधर्म, धनुर्वेद आदि सिखाये जाते थे[२५] व वैश्य या शिल्पकार का पुत्र अपने २ धन्दे का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता था[२६]।

ब्रह्मचारी का दैनिक जीवन—मनुजी द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचारी-जीवन के नियमों पर यदि अच्छी तरह से विचार करें, तो हमें प्राचीनकालीन ब्रह्मचारी के दैनिक जीवन का अच्छा ज्ञान हो सकता है। उसे प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त में (प्रातः ४—३० या ५ बजे) उठकर शौचस्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासन, हवनादि करने पड़ते थे। इस के पश्चात् समिधाहरण या भैक्ष्य के लिये जाना पड़ता था। कदाचित् भैक्ष्यचर्य्या का समय दुपहर का था। तत्पश्चात् गुरु के पास बैठकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। इसी प्रकार भोजनोपरान्त, कुछ विश्राम लेने के पश्चात् पुनः विद्याभ्यास में ध्यान देना पड़ता था। उसे इन्द्रिय-निग्रह का व्रत बड़ी कड़ाई से धारण करना पड़ता था व हर प्रकार से गुरु की सेवाशुश्रूषा करनी पड़ती थी[२७]। इस प्रकार पवित्र व शुद्ध कर्मों द्वारा प्राचीन काल का ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों का अच्छी तरह से विकास कर पाता था।

सब शक्तियों के विकास का अवसर—प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जिस ढङ्ग पर विकसित की गई थी उससे प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति करने का पूरा २ अवसर मिलता था। जैसा कि पहिले कहागया है, गुरुकुल के शुद्ध जलवायु में उसका स्वास्थ्य यों ही अच्छा रहता था तथा शरीर अधिक पुष्ट बनता जाता था। संयम व नियम-बद्धता का जीवन शरीर की पुष्टि में पूरी २ सहायता देता था। जंगल की शुद्ध वायु में

रहकर प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त में उठना, शौचादि से निवृत्त हो स्नानसन्ध्यादि करना केवल यही जीवनक्रम शरीर को पुष्ट बनाने में समर्थ है; फिर इन्द्रिय-निग्रह, व्यसनों से दूर रहना, जीवन को सादा रखना आदि बातें सोने में सुगन्ध का काम करती थीं। इसके अतिरिक्त जंगल में जाकर यज्ञार्थ लकड़ियें आदि काटने के काम से सम्पूर्ण शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग को पूरा व्यायाम मिलता था। प्राणायाम आदि के द्वारा फेफड़ों के विकार दूर होकर उनकी शक्ति बढ़ती थी। कम से कम पन्द्रह वर्ष तक ऐसा जीवन व्यतीत करने पर शरीर इतना हृष्ट पुष्ट बन जाता था कि कोई रोग उसमें प्रवेश तक नहीं कर सकता था। ऐसे ही शारीरिक विकास वाले लोग "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं" आदि वैदिक मन्त्रों को अपने जीवन में चरितार्थ करते थे।

शारीरिक विकास के साथ मानसिक व आत्मिक विकास भी बराबर होता था। इस कार्य्य में गुरु के व्यक्तित्व का जबरदस्त असर पड़ता था। वेदादि के अध्ययन व अन्य विद्याओं के ज्ञान से इन ब्रह्मचारियों के मन व बुद्धि का विकास होता था तथा आचार्य्य के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा उन्हें आत्मिक विकास के लिये प्रेरणा प्राप्त होती थी।

गृहस्थाश्रमप्रवेश—इस प्रकार भिन्न २ शक्तियों के विकास में अग्रसर होकर ये ब्रह्मचारी जब गुरुकुलों से निकलकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे, तब वहां भी उन्हीं सिद्धान्तों व आदर्शों के अनुसार अपना जीवन बनाते थे, जिन्हें उन्होंने ब्रह्मचर्य्याश्रम में सीखा था। उनमें धीरे २ वह सामर्थ्य आजाता था, जिससे वे सांसारिक मोहमाया के फन्दे में न फँस कर, जीवन की पहेलियों को सुलझाने में लग जाते थे व वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में प्रयत्न-शील होते थे। इन्हीं में से कुछ मृत्युञ्जय भी बन जाते थे। प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त करने पर 'द्विज' कहाने का अधिकार मिलता था[२८]। इस शब्द का अर्थ "दो जन्म वाला" होता है। हमारे शास्त्रों ने उन दो जन्मों का विवरण इस प्रकार दिया है-एक जन्म माता के गर्भ से व दूसरा जन्म गायत्री के गर्भ से[२९]। इसका तात्पर्य यह है कि माता के गर्भ से उत्पन्न होने के पश्चात् भी शिक्षा, ज्ञानोपार्जन आदि द्वारा मनुष्य में इतना परिवर्तन होजाता है कि वह एकदम दूसरा आदमी बन जाता है। यही उसका दूसरा जन्म है।

प्राचीन गुरुकुल (विश्वविद्यालय)—प्राचीन काल में समाज के बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिये गुरुकुल स्थान २ पर बने रहते थे। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत व संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों में इन गुरुकुलों के अस्तित्व का उल्लेख कितनी ही बार आया है[३०]। किन्तु उनका विस्तृत ज्ञान तो बौद्धकालीन साहित्य से प्राप्त होता है, जब कि उन्होंने विश्वविद्यालय (University) का स्वरूप धारण कर लिया था। उनमें कितने ही विद्यार्थी पढ़ते थे व नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। विदेशों से भी कितने ही व्यक्ति आकर इन में ज्ञानोपार्जन करते थे। इस प्रकार मनुजी के वचन—"इस देश में उत्पन्न अग्रजन्माओं से पृथिवी के सब मनुष्यों को अपने २ चरित्र का पाठ सीखना चाहिये"[३१] पूर्णतया चरितार्थ होते थे। बौद्ध काल के कुछ गुरुकुलों के बारे में- जिन्हें विश्वविद्यालय कहना चाहिये, इतिहास की सहायता से बहुत कुछ मालूम होता है। वे गुरुकुल (विश्वविद्यालय) तक्षशिला,[३२] नालन्दा,[३३] विक्रमशिला[३४] आदि स्थानों में स्थित थे।

तक्षशिला में ई० पू० ९०० वर्ष से एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। यह नगर भारत के पश्चिमोत्तर में गान्धार देश की राजधानी था। ब्राह्मणीय शिक्षा का यह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। सब जाति के व सब जगहसे विद्यार्थी यहां नाना प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करने के लिये आते थे। यहां वेद, अष्टादश विद्याएँ व शिल्प सिखाये जाते थे। भिन्न २ विद्याओं के भिन्न २ विभाग रहते थे, जिनके अलग २ आचार्य्य रहते थे। इसी विश्वविद्यालय में महान् वैयाकरण पाणिनि, सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक और अनेकों महान् पुरुषों ने शिक्षा प्राप्त की थी। यहां का आचार्य्य आत्रेय अपने वैद्यकशास्त्र के ज्ञान के लिये प्रसिद्ध था। गौतम बुद्ध के वैद्य जीवक ने सात वर्ष तक इसी आचार्य्य के चरणों में वैद्यक-शास्त्र का अध्ययन किया था। परीक्षा के समय जीवक को पूछा गया था कि तक्षशिला से पन्द्रह मील के घेरे में जितने वनस्पति, वृक्ष, लता, घांस, जड़ें आदि हैं उन का वैद्यक-दृष्टि से क्या उपयोग हो सकता है? इस सम्बन्ध में वह चार दिन तक इधर उधर घूमा व लौटकर उसने अपने आचार्य्य से कहा कि ऐसा एक भी वनस्पति नहीं है, जिस में कोई न कोई वैद्यक-गुण न हो। बौद्ध जातकों से इस विश्वविद्यालय के बारे में बहुतसी बातें मालूम होती हैं।[३५]

इसी विश्व-विद्यालय में यूनानी व भारतीय दार्शनिक परस्पर संसर्ग में आये थे व एक दूसरे के सिद्धान्तों को ग्रहण करते थे[३६]। मिश्र व बेबिलोन से इस के पूर्व ही से सम्बन्ध था। बेबिलोनिया के निवासी हमेशा भारत की यात्रा के लिये स्थल-मार्ग से आया करते थे। एरियन, स्ट्रेबो, टोलेमी, डायोनिसियस, प्लिनी, फाईयान, ह्यूएनसेंग व अन्य विदेशी यात्री इसे एक प्राचीन महत्त्वपूर्ण विद्या का केन्द्र बताते हैं[३७]।

नालन्दा (बिहार में आधुनिक गुरगांव) में एक महान् बौद्ध विश्वविद्यालय था। बौद्धों ने जनसाधारण में विद्या के प्रसार के लिये जो कुछ किया है, उससे ऐतिहासिक लोग भलीभाँति परिचित हैं। उनके विहार शिक्षा के महान् केन्द्र थे। ईसाई मठों ने यूरोप में शिक्षा-प्रसार के लिये जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक बौद्ध सङ्घों ने भारत में किया। उन्होंने विद्या का मन्दिर सब लोगों के लिये खुला करदिया। चीन, तिब्बत, मध्य-एशिया, बुखारा, कोरिया व अन्य देशों से विद्यार्थी आकर यहां विद्योपार्जन करते थे। गुप्तकाल में नालन्दा का विश्व-विद्यालय बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र था[३९]। पहिले नालन्दा एक गांव मात्र था। सुप्रसिद्ध बौद्ध पण्डित नागार्जुन (ई० स० ३८०) व आर्यदेव (ई० स० ३२०) ने सर्वप्रथम इसके महत्त्व को बढ़ाया[४०]। चीनी यात्री फाईयान (ई० स० ३९९–४१४) ईसा की चौथी शताब्दि में यहां आया था, किन्तु उस समय यह विश्व-विद्यालय पूरा नहीं हुआ था[४१]। जिस समय ह्यूएनसेंग (ई० स० ६१९–६४५) व इत्सिंग (ई० स० ६७५–६८७) यहां आये थे, उस समय यह उच्च शिक्षा का एक महान् केन्द्र था[४२]। उन्होंने यहां पर बड़े २ आचार्यों से संस्कृत व बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। शीलभद्र ने पन्द्रह मास तक ह्यूएनसेंग को संस्कृत पढ़ाया था।

यहीं से बहुतसे बौद्ध धर्म-प्रचारक चीन व तिब्बत गये थे[४३]। अपनी विद्वत्ता, पवित्र जीवन व चीनी भाषा में बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद करने के कारण उन्होंने वहां खूब नाम कमाया। इन प्रचारकों ने चीनादि देशों में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीलभद्र आदि यहां के सुप्रसिद्ध आचार्य्य थे। सर्वोपरि आचार्य्य को 'कुलपति' कहते थे। लगभग दस हजार विद्यार्थी यहां अध्ययन करते थे[४४]।

इत्सिंग दस वर्ष तक नालन्दा में रहा। उस समय तीन हज़ार विद्यार्थी छात्रावास में रहते थे। विश्वविद्यालय का खर्च भिन्न २ राजाओं द्वारा दिये गये दो सौ गांवों की आमदनी से चलता था[४५]। इस के तीन भवन थे—'रत्नसागर' 'रत्नोदधि' व 'रत्नरञ्जक'। रत्नोदधि नौमंजली था, जिसमें धार्मिक व तान्त्रिक ग्रन्थ रखे रहते थे। मध्यवर्ती भवन में विद्यालय था। इस के चारों ओर आठ 'हॉल' थे।

प्राचीन काल से ही बनारस काशी नाम के जनपद की राजधानी था। उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ व बौद्ध-ग्रन्थों में इस का स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल से ही यह नगर संस्कृतविद्या के अध्ययन का महान् केन्द्र रहा है[४६]। जैनतीर्थंकर पार्श्वनाथ (ई० पू० ८१७) का भी जन्म यहीं पर हुआ था। गौतमबुद्ध ने भी अपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश (ई० पू० ५८३) यहीं पर दिया था। इस प्रकार ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि की दृष्टि से यह नगर बहुत पवित्र है। प्राचीन काल से ही यह नगर ब्राह्मणधर्म तथा संस्कृति का केन्द्र रहा है। देश में कितनी ही राजनैतिक उथलपुथल होती रहीं, किन्तु उस का असर यहां के सांस्कृतिक जीवनपर न पड़ सका। आज भी यह संस्कृत विद्या का केन्द्र है व यहां कितनी ही संस्कृत पाठशालाओं में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। छात्रों के भोजनादि की व्यवस्था भी रहती है। आजकल यहां एक 'हिन्दू विश्वविद्यालय' वर्तमान है।

प्राचीन व आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों पर तुलनात्मक दृष्टि— इस प्रकार प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के बारे में अल्प ज्ञान प्राप्त कर, हम उस की तुलना हमारी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से करें, तो हमें अपने पतन का कारण भलीभांति समझ में आजायगा। जहां प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बहुत ऊँचा था, वहां आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बिलकुल ही गिरा हुआ है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का एक मात्र ध्येय यही है कि इस के द्वारा अंग्रेज़ी लिखेपढ़े भारतीय अंग्रेज़ी–साम्राज्य को चलाने वाले यन्त्र में केवल कल-पुर्ज़ों का काम दें तथा वे देखने में भलेही भारतीय दीखें, किन्तु अन्तर् में पूरे अंग्रेज़ हों, अंग्रेज़ों से भी दो कदम आगे बढ़े हुए अंग्रेज़ हों[४७]। सौ वर्ष के समय में ही इस शिक्षा-पद्धति ने अपने उद्देश की पूर्ति किस तरह की है, उस का कटु अनुभव प्रत्येक भारतीय को हो रहा है। कलपुर्ज़े आवश्यकता से अधिक मात्रा

में बनने से बाजार में उनका भाव गिरने लगा। 'एम. ए.' व 'बी. ए.' का सब लोग मखौल उड़ाते देखे व सुने जाते हैं; क्योंकि ये सिवाय नौकरी के कुछ कर ही नहीं सकते व इस बेकारी के ज़माने में सब शिक्षितों को नौकरी मिले कहां व कैसे? इसके अतिरिक्त पुस्तकों के ज्ञान द्वारा कुछ परीक्षाएँ 'पास' कर लेने का ही ध्येय रहने से आजकल के विद्यार्थी निकम्मे बन जाते हैं। 'बी. ए.' 'एम. ए.' तक पहुँचने में इन की ईश्वर-प्रदत्त शक्तियें भी क्षीण होने लगती हैं। शारीरिक शक्ति तो इनसे कोसों दूर भागती है। विद्यार्थी-जीवन से ही भिन्न २ रोगों के आगार बन कर जब ये जीवन में प्रवेश करते हैं, तब बेकारी का भूत इन्हें निगलने दौड़ता है व परिणामतः इन की ऐसी बुरी हालत होती है कि कुछ कहते ही नहीं बनता!

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के इन दुर्गुणों के कारण समाज में षड्रिपुओं का साम्राज्य छा गया है व राष्ट्र पतन की ओर जल्दी २ कदम बढ़ा रहा है। इस के विपरीत यदि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर दृष्टिपात किया जाय, तो ज्ञात होगा कि जहां आधुनिक 'एम. ए.' परीक्षा में उत्तीर्ण नवयुवक जब जीवन में प्रवेश करता है, तब लगभग वृद्ध ही बन जाता है, वहां प्राचीन काल का स्नातक ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त करने पर जब जीवन में प्रवेश करता था, तब पूर्णतया नवयुवक रहता था। नवजीवन, नव आकांक्षाएँ, नवस्फूर्ति आदि का समुद्र उसके हृदय में हिलौरें मारता था। निराशा उस के पास फटकने भी न पाती थी। प्राचीन क्षत्रियों के समान जीवन की आपत्तियों को वह हँसते २ झेलता था। आजकल के बहुतसे नव-युवकों के समान कायरता के वश हो कर उसे कभी भी आत्म-हत्या करने की नौबत नहीं आती थी। जीवन-कलह उस के लिये इतनी कठिन नहीं थी, जितनी कि आजकल है। क्योंकि प्राचीन काल में राजा का कर्तव्य था कि वह सब के योगक्षेम का ध्यान रखे। यदि हम अपना हित चाहते हों, तो हमें इस कुण्ठित शिक्षा-प्रणाली को छोड़ अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के तत्त्वों को समझ, उसे अपनाना चाहिये।

अध्याय ९

सामाजिक जीवन

मानव-समाज का विकास—मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव

है। परमात्मा-प्रदत्त व निसर्गसिद्ध संस्कारों की सहायता से वह सामाजिक विकास का प्रारम्भ करता है। आत्मरक्षा व एकत्रित रहने के संस्कारों[1] का इसमें विशेष हाथ है। पारिवारिक जीवन से ही ये संस्कार इस विकास का श्रीगणेश करदेते हैं। इन्हीं भावों से प्रेरित हो कर व प्रतिकूल परिस्थितियों से सताये जाने पर बहुतसे परिवार अपने को एकता के सूत्र में बाँधना सीखतें हैं व उन में एक संगठित शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार, विचार, आदर्श आदि की एकता पर यह संगठन निर्भर रहता है। इस प्रकार के मानव-समुदाय को ही समाज कहते हैं। समाज शब्द में ही संगठन शक्ति, सांस्कृतिक विकास आदि के भाव समाविष्ट हैं। हम उसी समाज को सभ्य या संस्कृत कह सकते हैं, जहां पारिवारिक जीवन का पर्य्याप्त विकास हो चुका हो व अनेकों विकसित परिवार आचार, विचार आदि द्वारा एकता के सूत्र में बँधकर रहना सीख चुके हों। संस्कृति या सभ्यता की यही कसौटी है।

प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन का प्रारंभ—प्राचीन भारत पर दृष्टिपात करने से हमें पता चलता है कि जिस प्रकार पारिवारिक जीवन नैसर्गिक व वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुआ था, ठीक उसी प्रकार समाज का भी विकास हुआ था। इस विकास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होगया था[2]। ऋग्वेद से पता चलता है कि समाज संस्कृति व सभ्यता के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था। समाज में एकता का भाव जागृत हो चुका था। इसी भाव के कारण ऋग्वेदादि में मानवजाति को दो विभागों में विभाजित किया गया था,[3] आर्य व अनार्य जिन में दस्यु, दास, शूद्र आदि का समावेश हो जाता था। इन विभागों को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—(१) सभ्य मानव-समुदाय व (२) असभ्य या जंगली मानव-समुदाय। ऋग्वेद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह पता चलता है कि वैदिक काल में 'आर्य' शब्द किसी जाति-विशेष का द्योतक नहीं था। आर्य व दस्यु में विजेता व पराजित का भाव न रहकर सभ्य व असभ्य का भाव निहित था। इस मत की पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि शूद्र आर्य-मानवसमुदाय का एक विशेष अङ्ग था, जो कि ऋग्वेद के अनुसार परमात्मा के पैर से उत्पन्न हुआ था[4]। इस शूद्र वर्ण में बहुतसे दस्यु व दास भी सम्मिलित कर लिये गये थे। इस प्रकार भारत के सामाजिक विकास का इतिहास ऋग्वेद से ही प्रारम्भ

होता है। वैदिक काल में यह विकास अपनी किशोर अवस्था में नहीं था, बल्कि बहुत आगे बढ़ चुका था, क्योंकि इसी काल में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रों में भी बहुत उन्नति हो चुकी थी[५]। इन क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करने के लिये सामाजिक विकास की प्रौढ़ता अत्यन्त ही आवश्यकीय है।

सामाजिक व्यवस्था के मूल-स्तम्भ—प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिये यह आवश्यकीय है कि उस के आधारस्तम्भों को समझने की कोशिस की जाय, जो कि इस प्रकार हैं—

(क) पारिवारिक जीवन
(ख) तीन ऋण
(ग) वर्ण-व्यवस्था
(घ) आश्रम-व्यवस्था
(ङ) वर्ग-चतुष्टय

पारिवारिक जीवन पर पहिले ही विचार कर लिया गया है तथा यह अच्छी तरह समझ लिया गया है कि किस प्रकार पारिवारिक जीवन सामाजिक विकास की जड़ में है।

तीन ऋण; पितृ-ऋण व सन्तानोत्पत्ति—पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण आदि तीन ऋण हैं। पितृऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। उसी प्रकरण में इस पर पर्य्याप्त विचार किया जा चुका है। फिर भी इतना कहना यहां आवश्यकीय होगा कि समाज की उन्नति व विकास के लिये पितृऋण अत्यन्त ही आवश्यकीय है। हमारे धर्मशास्त्रों ने कहा है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध समाज के भविष्य से कितना घनिष्ट है, यह तो बिलकुल ही स्पष्ट है। अपने उत्तरदायित्त्व व कर्तव्यों को समझने वाली सन्तान के उत्पन्न होने पर समाज का भविष्य सुधर सकता है अन्यथा वह अवनति के कूप में जा गिरता है, जैसा कि आजकल होरहा है। आजकल सन्तानोत्पत्ति के महत्त्व को भारत भूल रहा है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर भारतीय नवयुवक वैवाहिक जीवन तो व्यतीत करना चाहते हैं, किन्तु सन्तानोत्पत्ति का उत्तरदायित्त्व अपने सिर पर लेना नहीं चाहते। इसीलिये सन्ततिनिरोध आदि के कुत्सित साधन व प्रयत्न समाज के कुछ नवयुवकों में फैल रहे हैं। समाज के शारीरिक, नैतिक

व आध्यात्मिक जीवन पर इसका क्या दुष्परिणाम होगा, यह तो भविष्य ही बतावेगा। यह स्पष्ट है कि जिस समाज के नवयुवक विलासिताप्रिय, उत्तरदायित्वहीन व निकम्मे बनते जायँ, उस का भविष्य अंधकारमय ही होगा। प्राचीन काल में अच्छी २ सन्तान उत्पन्न करना पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक ऋषि परमात्मा से यही प्रार्थना किया करते थे कि हम "सुवीरासः" अच्छे पुत्रवाले बनें[५]। समाज में सन्तानविहीन व्यक्ति भाररूप समझा जाता था। आज भी जीवित जागृत-समाजों में उत्तम सन्तानोत्पत्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है[६]। इस प्रकार पितृऋण के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता था।

ऋषिऋण—प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जा सकता है[७]। गुरुकुलों में ऋषि ब्रह्मचारियों को अपने आजीवन योग व तप का फल विद्या के रूप में देते थे। प्राचीन काल में शिक्षा-प्रणाली आजकल के समान लेन-देन के सिद्धान्त पर अवलम्बित नहीं थी। आजकल स्कूलों व कॉलेजों में फीस ली जाती है, अध्यापकों को प्रतिमास वेतन दे दिया जाता है। विद्यार्थी व अध्यापक के मध्य वह पवित्र सम्बन्ध नहीं रहता, जो प्राचीन गुरुकुलों में पाया जाता था। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं बल्कि ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था। वह गुरु, जो कि किसी गूढ़ तत्त्व के दर्शन के कारण ऋषि[८] कहलाता था तथा जो वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध रहता था, ब्रह्मचारी को अपने पुत्र से भी अधिक समझता था। वह उसे समाज व राष्ट्र की महान् सम्पत्ति समझता था। वह अपने उत्तरदायित्त्व की महत्ता को समझ यह मानता था कि मुझे समाज या राष्ट्र के भावी को बनाने का पवित्र काम सौंपा गया है। इन भावों से प्रेरित होकर प्रत्येक गुरुकुल का ऋषि अपने शिष्यों को सच्चे ब्रह्मचारी बनाकर ज्ञानामृत पान कराता था। इस प्रकार गुरु व शिष्य का सम्बन्ध उदात्त व पवित्र बन जाता था। शिष्य को विद्योपार्जन के लिये कोई निश्चित द्रव्यराशि नहीं देनी पड़ती थी। क्योंकि तत्कालीन राजा व प्रजा इन गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता देना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे[९]।

समाज का प्रत्येक बालक, चाहे वह धनी हो या रङ्क हो, इन गुरुकुलों में ऋषियों के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्म-प्राप्ति के

मार्ग में अग्रसर होता था। जब कि दुनियां की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले व विद्यार्थियों से कोई स्वार्थ-साधन न करने वाले, निरीह व निर्लेप ऋषि शिष्यों के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देते थे, तब यह स्पष्ट ही है कि उन शिष्यों पर उन का कितना जबरदस्त ऋण हो जाता था। इसी को हमारे आचार्यों ने ऋषि-ऋण कहा है व इसे चुकाना प्रत्येक का परम कर्तव्य बताया है। यह ऋण, जैसा कि पहिले कह दिया गया है, स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काम में लोगों के लीन रहने से समाजमें ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नहीं भूलता था कि उसे अपने ऋषि के ऋण को चुकाना है, कुछ द्रव्य देकर नहीं किन्तु अपने अध्ययन को जारी रख कर तथा अपने व दूसरे की ज्ञान-वृद्धि के साधनों को बढ़ाने में सहायक बन कर। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ, न केवल स्वतः ही वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान-वृद्धि करता था, किन्तु गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देता था, जिससे ज्ञानपिपासा की तृप्ति के ये केन्द्र सूखने न पायँ। ऋषि-ऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित जागृत ही रहती थीं, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि व उन्नति भी करती थीं। प्रत्येक परिवार ज्ञान व बुद्धि के विकास का एक विशेष केन्द्र बन जाता था, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्णरूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञानवृद्धि का रहस्य इसी में छिपा है।

देवऋण—स्मृतिकारों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है[10]। परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को वेदों ने 'देव'[11] नाम से सम्बोधित किया है, क्योंकि उन का देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। यज्ञादि के द्वारा वायु, वर्षा आदि निसर्ग के स्वरूप को किस प्रकार मानव जाति के लिये कल्याणकारी बना सकते हैं, यह तो हम पहिले ही कह आये हैं। यहां इस ऋण पर एक दूसरी दृष्टि से विचार करना होगा। 'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'चमकना' होता है। इसलिये 'देव' याने 'चमकने वाला', 'प्रकाश युक्त', 'देदीप्यमान' आदि हुआ[12]। 'देव' शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिस की आत्मा अधिक परिष्कृत है, उसके चेहरे पर

एक प्रकार का दिव्य तेज मालूम पड़ता है। यही कारण है कि जब किसी देवता का चित्र बनाया जाता है, तो उस के मुख के चारों ओर प्रकाश का एक चक्र रहता है, यह चक्र आत्मिक प्रकाश का द्योतक हो सकता है। इसलिये हम देव शब्द से उन महापुरुषों को सम्बोधित कर सकते हैं, जो आत्मिक विकास के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गये हैं। जिन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका है व जिन्हें बौद्धों की भाषा में बुद्ध, जैनियों की भाषा में जिन या महावीर, हिन्दुओं की भाषा में कृष्ण, ईसाईयों की भाषा में ईसामसीह व इस्लाम की भाषा में मुहम्मद कह सकते हैं। ये महान् आत्माएँ उन्मार्गगामी मानव-समाज को पुनः सन्मार्ग पर लाने के लिये ही भूमंडल पर अवतरित होती हैं, जैसा कि गीता ने भी कहा है[१३]। इन का समाज पर कितना जबरदस्त ऋण हो जाता है, यह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसलिये कदाचित् प्राचीनकालमें समाज के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य मान लिया गया था कि वह इन महात्माओं के आदेशोंपर चलकर उनके ऋणसे मुक्त हो जाय। सामाजिक विकास के लिये इस ऋण का यह भाव अत्यन्त ही आवश्यकीय है।

वर्णव्यवस्था—प्राचीन काल से ही भारत के आर्य्यों ने समाज को चार भागों में विभाजित किया था। यह विभाजन साधारणतया अर्थशास्त्र के 'कार्य्यविभाग' सिद्धान्त पर अवलम्बित था। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में इस का स्पष्टीकरण किया गया है[१४]। समस्त समाज को पुरुषका रूपक दिया गया है व उस के भिन्न २ अङ्गों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाज-शास्त्र के ज्ञाता मानव-समाज को एक जीवित शरीर मानते हैं,[१५] उसी प्रकार ऋग्वेद में भी उक्त रूपक द्वारा समाज को एक जीवित पुरुष माना गया है। इस रूपक में यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार शरीर के सब अङ्ग एक दूसरे से अच्छी तरह सम्बन्धित हैं व यदि एक अङ्ग में कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है तथा शरीरभर में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज में भी रहना चाहिये। यही जीवित समाज का लक्षण है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि संगठन व जागृति के भाव को व्यञ्जित करने के लिये ही पुरुषसूक्त में समाज को पुरुष कहा गया। उस पुरुष के भिन्न अङ्गों का वर्णन इस प्रकार है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रोऽजायत[१६] ॥"

अर्थ—उस (समाजरूपी पुरुष) का मुख ब्राह्मण था । भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गईं । जो उस की जंघाएँ थीं, वे ही वैश्य बनीं व उस के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ।

यहां समाजरूपी पुरुष के चार अङ्ग बताये गये हैं—

मुख—ब्राह्मण
भुजाएँ—क्षत्रिय
जङ्घाएँ—वैश्य
पैर—शूद्र

ब्राह्मण—यहां मुख से केवल भोजन करने वाले मुँह का ही तात्पर्य्य नहीं है, किन्तु उस में मस्तिष्क का भी समावेश हो जाता है । मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क ही सबसे ऊँचा व अत्यन्त ही आवश्यकीय अङ्ग है, जिस के बिगड़ने पर उस मनुष्य की मृत्यु ही उत्तम समझी जाती है । विक्षिप्त व पागलों की दयनीय तथा करुणोत्पादक दुर्दशा को कौन नहीं जानता? जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क उसकी सब क्रियाओं का संचालन करता है तथा उदात्त भावना व विचारों को पैदाकर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करता है, उसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी रहता है, जो कि उस के लिये आवश्यकीय है व जिस को अच्छी स्थिति में रखना अत्यन्त ही वाञ्छनीय है । समाज का मस्तिष्क उस के वे इने गिने व्यक्ति कहलाते हैं, जो परमात्मा-प्रदत्त समस्त शक्तियों का सम्यक् विकास कर अपने मस्तिष्क से उदात्त व सुन्दर विचार उत्पन्न करते हैं तथा अपने अनुभव व ज्ञान के द्वारा अच्छी २ आयोजनाएँ व जीवन-चर्य्याएँ उपस्थित करते हैं, जिन को अपनाने से समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सकता है । इन व्यक्तियों को 'ब्राह्मण' नाम से सम्बोधित किया गया, क्योंकि इनका जीवन ब्रह्म-प्राप्ति या सत्य की खोज में ही व्यतीत होता था । इन ब्राह्मणों को समाज का मस्तिष्क या मुख कहा गया । समाज जो कुछ विचार करता था इन्हीं के द्वारा करता था, जो कुछ बोलता था इन्हीं के द्वारा बोलता था । ये ब्राह्मण आजीवन समाज-सेवा, ज्ञानोपार्जन, ज्ञानवितरण आदि के पवित्र कार्य्यों में लगे रहते थे । इन्हें सांसारिक वैभव की ज़रा भी परवाह

नहीं रहती थी[१७]। इसीलिये तो यह कहावत प्रसिद्ध हुई कि सरस्वती व लक्ष्मी में सदैव से सौतिया-डाह चला आता है। राजदर्बार में भी इन ब्राह्मणों का खूब मान होता था[१८]। ये ही राजा को मन्त्रणा भी देते थे। चाणक्य ब्राह्मणने अपनी मन्त्रणा व बुद्धि के ज़ोर पर अपने 'वृषल' को भारत का महान् सम्राट् बना दिया[१९]। वशिष्ठ व विश्वामित्र ने राम को अपने नियन्त्रण में रखकर कितना ऊँचा स्थान प्राप्त करा दिया।

ब्राह्मणों के कर्तव्य—ब्राह्मणों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, रामायण, महाभारत आदि में उल्लेख आता है[२०]। उन के कर्तव्य सारांश में इस प्रकार हैं—

(१) वेद पढ़ना, पढ़ाना।

(२) यज्ञ करना, कराना।

(३) यमनियमादि की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना।

(४) मानवरिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करना।

साधारणतया ब्राह्मणों का समय वेदाभ्यास, तपश्चर्या, योगसाधन आदि में ही जाता था; वे ऐहिक ऐश्वर्य्य आदि की परवाह नहीं करते थे। जबतक भारत में ऐसे ब्राह्मण रहे, तबतक यहां का समाज उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया, किन्तु जब से इन का अभाव हुआ व इन का स्थान नामधारी ब्राह्मणों ने ग्रहण किया, तब ही से समाज का पतन प्रारम्भ हुआ व वह पागल के समान किंकर्तव्य-विमूढ़ बन गया। आज भी संसार के जिन राष्ट्रों या समाजों ने उन्नति की है, उस उन्नति की जड़ में ऐसे ही निरीह व निस्स्वार्थ व्यक्ति मिलेंगे, जो अपने तप व ज्ञान से समाज की सेवा करते हैं। वे ही उस समाज के लिये सच्चे ब्राह्मण हैं।

क्षत्रिय—क्षत्रिय उस समाजरूपी पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार भुजाएँ सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिये हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय सम्पूर्ण समाज की रक्षा के लिये हैं। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे लोग हमेशा रहने ही चाहिये, जो बाह्य व आन्तरिक शत्रुओं से समाज की रक्षा करना अपना परमपवित्र कर्तव्य समझें। इन के कर्तव्य सारांश में इस प्रकार हैं[२१]—

शौर्य—शारीरिक शक्ति का अच्छा विकास कर वीरत्त्व को धारण

करना, जिस से यदि समाजपर कोई आपत्ति आवे तो उसका बहादुरी से सामना किया जा सके।

तेज—आत्मिक बल के विकास से अपने व्यक्तित्व को आकर्षक व प्रभावोत्पादक बनाना। इस प्रकार के व्यक्तित्व से मुख पर एक अलौकिक तेज़ आ जाता है, जिस के सामने दुष्टवृत्ति के मनुष्य एकदम नतमस्तक हो जाते हैं। क्षत्रियों को ऐसा ही आत्मिक तेज़ प्राप्त करना पड़ता था।

धृतिः—क्षत्रियों में हिम्मत भी खूब होनी चाहिये। इस के बिना बड़े २ पहलवान भी कुछ नहीं कर सकते।

दाक्ष्यम्—क्षत्रियों के लिये व्यवहार-कुशलता भी आवश्यकीय थी; क्योंकि समाज का राजनैतिक जीवन इन्हीं के हाथ में रहता था। बड़े २ राष्ट्रों का बनना व बिगड़ना, बड़े २ साम्राज्यों का जीवन व मरण, इन्हीं के हाथ में रहता था और यह उत्तरदायित्व व्यवहारकुशल हुए बिना कदापि पूरा नहीं किया जा सकता।

'युद्धेऽपलायनम्'—युद्ध से न भागना यह भी क्षत्रियों के लिये अत्यन्त ही आवश्यकीय था। युद्ध से मुँह मोड़कर भागना, क्षत्रियों के लिये मृत्यु से भी खराब समझा जाता था। रघुवंशियों की तो यह टेक थी कि उन के शत्रुओं ने उन की पीठ कभी देखी ही नहीं[२४]। वीर राजपूतों का इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि उनमें यह गुण कितना कूट २ कर भरा था। राजपूताने को कितनी ही थर्मापली व कितने ही लियोनीडास पैदा करने का गौरव प्राप्त होचुका है[२५]। जब से भारतीय क्षत्रियों में से यह गुण जाता रहा, तब ही से हमारे राजनैतिक दासत्त्व का श्रीगणेश हुआ।

प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ करना, अध्ययन, विषयासक्त न होना आदि भी क्षत्रिय के कर्तव्य समझे जाते थे। प्रजारक्षण तो उसका मुख्य कर्तव्य था। जो प्रजा को कष्ट देता था, वह राजा ही नहीं कहा सकता था[२६]। वेन राजा के समान उसे पदच्युत कर मार डाला जाता था[२७]। क्षत्रिय को यज्ञ भी करने पड़ते थे[२८] तथा अध्ययन भी ज़ारी रखना पड़ता था। यज्ञ का सम्बन्ध आध्यात्मिक जीवन से ही नहीं बल्कि आर्थिक जीवन से भी था। इसलिये राजा को यज्ञ-सम्बन्धी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। विषयासक्ति से दूर रहने का आदेश भी उस के लिये था। जिसके ऊपर समस्त समाज के संचालन, नियन्त्रण व रक्षा का उत्तरदायित्त्व हो, वह यदि

विषयों में फँसे तो समाज किस प्रकार जीवित रह सकता है? विषयासक्ति ने राजाओं व उनकी प्रजाकी कितनी दुर्दशा की है, इसकी साक्षी इतिहास देता है। आजकल के भारतीय नरेशोंपर दृष्टिपात करने से इसका मर्म समझ में आजायगा।

वैश्य—जिस प्रकार शरीरका भार जंघाओं पर रहता है व वे ही उस का वहन करती हैं, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण आदि का सब भार वैश्यों को वहन करना पड़ता था। समाज के आर्थिक विकास की सब जिम्मेवारियाँ इन्हीं के सिर पर थीं[२९]। सम्पत्ति-वृद्धि के आयोजन व साधन इन्हें ही ढूँढने पड़ते थे। किन्तु आजकल के समान वे सब कुछ अपने ही लिये नहीं करते थे। प्राचीन काल में प्रत्येक वैश्य को यह समझना पड़ता था कि मैं समाज का एक अङ्ग मात्र हूं व समाज ने मुझे साम्पत्तिक विकास का काम सौंपा है। अतएव वह जो कुछ कमाता था, उस पर समाज का पूरा २ अधिकार रहता था। अन्य तीनों वर्ण उसमें से अपना २ भाग ले लेते थे। समाज में किसी प्रकार का आर्थिक असन्तोष फटकने न पाता था। वैश्यों में त्यागवृत्ति कूट २ कर भरी रहती थी[३०]। भारत के आधुनिक वैश्यों ने प्राचीन आदर्शों को भुला दिया है। प्रत्येक वैश्य अधिक से अधिक धन कमाने पर ही तुलाहुआ है और वह भी गरीबों का रक्तशोषण कर के। पाश्चात्य यन्त्रयुग ने क्या हमारे देश में व क्या विश्व में, ऐसी आर्थिक विषमता उत्पन्न कर दी है कि उसका विचार कर हृदय सहम उठता है। कुछ इने गिने पूँजीपतियों के पास तो धन की राशि बहुत ही बढ़ गई है, किन्तु अनेकों गरीब भूखों मरते हैं। दुनियां के दूसरे देशों का भी यही हाल है। राज-शक्ति भी प्रजारक्षण के बदले पूँजीपतिहित-रक्षण ही करती है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि आज दुनियां में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। इस विकट परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये लोग भरसक प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस परिस्थिति का अन्त तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि भारत के प्राचीन वैश्यों के आदर्शों को अपनाया नहीं जाता।

वैश्यों के कर्तव्य सारांश में इस प्रकार हैं—पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना, व्यापार करना, साधारण ब्याज लेना व कृषि करना। इन कर्तव्यों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि इनको लिखते समय भारत की भौगोलिक परिस्थिति पर पूरा ध्यान रखा गया था।

भारत कृषि-प्रधान देश है। समाज के भरण-पोषण के लिये पशुपालन व कृषि अत्यन्त ही आवश्यकीय थे। इसीलिये वैश्यों के कर्तव्यों में उन का समावेश किया गया। वे केवल आजकल के समान धन कमाने का यन्त्र ही न बन जायँ, इसलिये वेदाध्ययन, यज्ञ करना इत्यादि भी उन के लिये विहित किये गये। ऐसे ही आदर्श वैश्य समाज का भरणपोषण कर उसे जीवित रख सकते थे। आज भारत में ऐसे ही वैश्यों की आवश्यकता है, न कि गरीबों के रक्त का शोषण कर द्रव्योपार्जन करने के यन्त्रों की।

शूद्र—शूद्र समाजरूपी पुरुष के पैर से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार शरीर में पैर हैं, उसी प्रकार समाज में शूद्र हैं। समाजकी सेवाका सम्पूर्ण भार उन्हीं पर रहता था। जो लोग पहिले तीन वर्णों के कर्म करने में असमर्थ रहते थे, उन्हें सेवा का काम करना पड़ता था, जैसा कि मनुजी ने कहा है[३१]—

"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥"

इन (तीन) वर्णों की असूयारहित सेवा करना यही एक कर्म परमात्माने शूद्र के लिये बनाया है।

सेवाकर्म के कारण शूद्र को नीचा नहीं समझा जाता था। प्राचीन समाज में नीच ऊँच का कोई भाव नहीं था, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा। सब वर्ण अपने २ क्षेत्र में महत्त्व का स्थान रखते थे। समाज को चारों की ही आवश्यकता थी। किसी एक के न रहने से वह सुचारुरूप से नहीं चल सकता था। इसी तथ्य को पुरुषसूक्त में आलंकारिक भाषा में समझाया गया है।

वर्णव्यवस्था कर्ममूला—इस प्रकार प्राचीन वर्णव्यवस्था समाजशास्त्र के मूलतत्वों के आधार पर बनी थी। उपरोक्त वर्णन से यह समझ में आजायगा कि वर्णविभाजन का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं था,[३२] जैसा कि आजकल है। आजकल तो ब्राह्मण बनने के लिये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना ही पर्य्याप्त है, चाहे अक्षरज्ञान तक न हो। यही हाल अन्य वर्णों का भी है। इसीलिये आधुनिक पण्डित इसे जन्म-मूला मानते हैं। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में प्रवेश नहीं किया जा सकता। भोजन व विवाह ये दो ही वर्ण की कसौटी हैं। प्राचीन काल में यह हाल नहीं था। उस समय वर्ण की कसौटी कर्तव्य-कर्म थे[३३]। भोजन, विवाह आदि के लिये कोई रुकावट नहीं थी। वर्ण-परिवर्तन

में कर्मों को ही कारण-रूप माना जाता था। यह बात निम्नाङ्कित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगी।

"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥"

"अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥"[३४]

जातिपरिवर्तन में, धर्म-चर्या से नीच वर्ण अपने से ऊँचे वर्ण को प्राप्त होता है व अधर्म-चर्या से उच्चवर्ण अपने से नीचवर्ण को प्राप्त होता है।

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥"[३५]

शूद्र ब्राह्मण बनता है व ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय व वैश्य से उत्पन्न का हाल जानो।

वर्णव्यवस्था का महत्त्व—प्राचीन भारत ने इस वर्णव्यवस्था के महत्त्व को अच्छी तरह समझा था। कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा नहीं जिस में इस के गीत न गाये गये हों। राजा को इस व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी[३६]। वह सब वर्णों को अपने २ कर्तव्यकर्मों में प्रेरित करता था। इस व्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वैदिक काल से महाभारत काल तक समाज ने इस व्यवस्था को अच्छी तरह से अपनाया था। महाभारत के पश्चात् इसका सच्चा स्वरूप लुप्तप्रायः होने लगा व परिणामतः समाज पतन की ओर बढ़ता ही गया। इसी दुरवस्था को कलियुग का प्रताप बताकर बहुत ही सुन्दर शब्दों में वर्णित किया गया है[३७]। अपने बिगड़े हुए रूप में यह व्यवस्था आज भी भारत में वर्तमान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नामों को सुनकर ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा आज भी हम अपनी प्राचीन आदर्श वर्णव्यवस्था के दर्शन कर सकते हैं व अपने सामाजिक उत्थान के लिये प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

आश्रमव्यवस्था—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का आश्रमव्यवस्था भी एक मुख्य आधार-स्तम्भ है। जीवन के मर्म को भलीभाँति समझकर ही इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। अंग्रेजी लेखक 'बन्यान' की "पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस" में जिस प्रकार वर्णित किया गया है,[३८] उसी प्रकार प्राचीन भारत में इस जीवन को पवित्र यात्रा माना गया था। क्योंकि इस जीवन में सातत्य की आशा रखी ही नहीं जा सकती। यात्रा में विश्रान्ति के लिये जिस प्रकार

विभिन्न स्थान रहते हैं, उसी प्रकार इस जीवनयात्रा के लिये चार आश्रम बनाये गये थे। प्रत्येक को इन चारों आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। वर्णव्यवस्था के समान यह व्यवस्था भी समाज को अपने उद्दिष्ट तक पहुँचाकर मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाकर उसे अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्म-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति तक पहुँचाती थी। वे चार आश्रम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मचर्य्य
(२) गृहस्थ
(३) वानप्रस्थ
(४) संन्यास

ब्रह्मचर्य्याश्रम—वेदों से पता चलता है कि प्राचीन काल में मनुष्य की आयु साधारणतया सौ वर्ष की मानी गयी थी[३९]। इस के चार विभाग किये गये थे, जिन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। किसी भी आश्रम के लिये समय कम ज्यादा भी हो सकता था। प्रथम पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम के माने गये थे, किन्तु जन्म से बारह वर्ष तक तो साधारणतया बालक मातापिता के घर ही रहता था। गुरु के घर कम से कम बारह वर्ष तक रहता था। यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद ही प्रत्येक बालक को गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। वह एक दो या तीन वेदों का अध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। प्रत्येक वेद के पढ़ने के लिये बारह वर्ष का समय निर्धारित किया गया था, जैसा कि मनुजी ने कहा है[४०]—

"षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव च॥"

गुरुकुल में या तो ३६ वर्ष तक तीन वेदों को पढ़ने का व्रत रखे या उस का आधा अथवा चतुर्थांश।

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥"

एक, दो या यथाक्रम सब वेदों का अध्ययन करने पर अविप्लुत ब्रह्मचर्य्य को धारण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

इस प्रकार वेदाध्ययन के लिये बालक को ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में रहना पड़ता था। वहां गुरु के चरणों में बैठकर ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था।

ब्रह्मचर्य्य शब्द ही इस आश्रम के महत्त्व का द्योतक है। आजकल, साधारणतया ब्रह्मचर्य्य का सम्बन्ध इन्द्रियनिग्रह से जोड़ा जाता है और कोई २ तो विवाह न करने वाले को ही ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे कितने ही ब्रह्मचारी दर २ भटकते फिरते हैं। प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य्य का अर्थ इतना कुण्ठित नहीं था। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से समझ में आजायगा कि इस का क्या अर्थ होता था। ब्रह्मचर्य्य में ऐसी जीवन-चर्य्या का समावेश हो जाता है, जो ब्रह्म की प्राप्ति करा सके। "सत्यं वै ब्रह्म"[४१] शब्दों द्वारा ब्रह्म को सत्य का पर्य्यायवाची माना गया है।

जीवन की पहेलियें—यह संसार व मानव-जीवन यथार्थ में एक बड़ी पहेली ही हैं। हम स्वतः ही एक पहेली हैं। हम कौन हैं, कहां से आये हैं? कहां जायँगे? यहां क्यों आये हैं? आदि प्रश्नों के उत्तर की खोज में भारत के प्राचीन ऋषियोंने उपनिषद् लिख डाले,[४२] फिर भी वे प्रश्न जैसे के वैसे ही बने रहे। मानव-जीवन का सर्वोत्तम ध्येय यही हो सकता है कि इन पहेलियों को सफलतापूर्वक बूझा जाय। जब तक ये उलझनें सुलझाई नहीं जातीं, तब तक हमारा जीवन अधूरा ही रहेगा; भले ही हम बड़े २ विमानों में उड़ा करें या वैज्ञानिक विकास का दम भर कर एक दूसरे का खून पियें[४३]। सब वैज्ञानिक खोजें तब तक किसी काम की नहीं, जब तक जीवन-मरण के प्रश्नों को हल नहीं किया जाता। इसी बात को ध्यान में रख प्राचीन भारत में पहिले आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम रखागया। ब्रह्मचर्य्याश्रम व ब्रह्मचारी शब्द अत्यन्त ही अर्थपूर्ण हैं। प्राचीन भारत में केवल विद्यार्थी ही नहीं रहते थे, वे ब्रह्मचारी भी बनते थे। उनका ध्येय बहुत ही उदात्त रहता था। आजकल ब्रह्मचारी तो क्या सच्चे विद्यार्थी भी नहीं मिल सकते। विद्यार्थी नामधारी सचमुच में 'नौकरी-अर्थी' या 'वेतन अर्थी' ही रहते हैं।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहकर, ब्रह्मचारी अपनी भिन्न २ शक्तियों के सम्यक् विकास का पाठ सीखता था। जंगल की शुद्ध हवा में रहने से, फलफूल आदि खाने से तथा नैतिकतापूर्ण व नियमित जीवन बनाने से उसका शरीर यों ही पुष्ट हो जाता था; गुरुकुल के पवित्र वातावरण में इस पुष्ट शरीर में मन व आत्मा का विकास किया जाता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम में ब्रह्मचारी ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो जाता था।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य—ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रत्येक ब्रह्मचारी को अपना जीवन अत्यन्त ही सरल बनाना पड़ता था व विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। शारीरिक कष्टों की परवाह न कर उसे सब नियमों का पालन करना पड़ता था[४४]। उसका सब से बड़ा कर्तव्य "अग्निचर्य्या" था[४५]। यज्ञकरने की पवित्र अग्नि के लिये उसे सायंप्रातः समिधाहरण करना पड़ता था। दैनिक क्रिया के पश्चात् उसे भैक्षचर्य्या[४६] के लिये जाना पड़ता था। आसपास के ग्रामों में जाकर ब्रह्मचारी भिक्षा माँग लाता था। यहां पर यह प्रश्न होता है कि क्या सब गुरुकुलों में भैक्षचर्या की प्रथा कार्यरूप में परिणत की जाती थी या यह केवल सैद्धान्तिक रूप से ही थी? इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अत्यन्त ही प्राचीनकाल में यह प्रथा कदाचित् कार्य्यरूप में लाई जाती होगी, किन्तु ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ भिक्षाचरण रस्मअदाई का रूप धारण करने लगा, जैसा कि आधुनिक काल में बन गया है[४७]। जब गुरुकुल बड़े पैमाने पर स्थापित किये जाने लगे, तब भिक्षाचरण असंभव सा हो गया व दानदाता स्वयमेव सब व्यवस्था कर देने लगे, जैसा कि ऐतिहासिक काल के कितने ही ताम्रपत्र व शिलालेखों से मालूम होता है[४८]। शतपथ आदि ब्राह्मण में भिक्षाचरण को अनिवार्य्य बताया है[४९]। इसका उद्देश कोमलहृदय ब्रह्मचारियों के मन पर नम्रता व विनयशीलता के भाव अंकित करना था। इसके कारण ब्रह्मचारियों में गरीब व धनवान् का भाव रहने नहीं पाता था। चक्रवर्ती राजा का पुत्र व गरीब ब्राह्मण का पुत्र दोनों ही एक साथ भिक्षा माँगते थे[५०]। भिक्षाचरण से एक और लाभ यह था कि समाज में नागरिकता का भाव जागृत हो जाता था। इन गुरुकुलों के प्रति समाज अपने कर्तव्य व उत्तरदायित्त्व को समझने लगता था।

ब्रह्मचारी का सबसे बड़ा कर्तव्य वेदाध्ययन था[५१]। इसके अतिरिक्त उसे अपना दैनिक जीवन बहुत ही पवित्र बनाना पड़ता था।

गृहस्थाश्रम—विद्या समाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नातक बनकर विवाह करता था व गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था[५२]। लौकिक दृष्टि से यह आश्रम अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। अन्य तीन आश्रमों का अस्तित्त्व इसी पर निर्भर रहता था[५३]। उदर-निर्वाह के लिये ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी गृहस्थ पर

ही अवलम्बित रहते थे। इसीलिये इसे अन्य आश्रमों का आधारस्तम्भ भी कहा गया है।

गृहस्थियों को सच्चे नागरिक बनना पड़ता था। पूर्व आश्रम में तीन ऋणों को चुकाने की जो तैयारियें की गई थीं, उन सब को कार्य्यरूप में लाने का अवसर इसी आश्रम में रहता था। इन गृहस्थियों को अपना जीवन इस प्रकार बनाना पड़ता था, जिससे कि वे मानव-जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुँच सकें। पितृऋण से मुक्त होने के लिये उत्तम २ सन्तान पैदा करनी पड़ती थी[५४]। वेदाध्ययन द्वारा आत्मिकविकास के मार्ग में अग्रसर होकर अन्य दो ऋणों को चुकाने की भी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती थी। साथ ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की सिद्धि में उन्हें लगना पडता था, क्योंकि सच्चा पुरुषार्थ इसी में समझा जाता था[५५]।

नैतिकतापूर्ण जीवन—इस आश्रम में भी नैतिकता को पूरा २ स्थान था। इसमें इन्द्रियलोलुपता को कोई स्थान नहीं था, जैसा कि आजकल देखा जाता है। यज्ञादि द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत कर गृहस्थ को ग्राम, नगर, देश आदि के शासन-कार्य में पूर्णतया भाग लेना पड़ता था, जैसा कि आगे चलकर ग्रामपंचायत, पौरजानपद, समिति, सभा आदि के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। इन गृहस्थियों को द्रव्यादि का अर्जन करने पर भी त्याग-वृत्ति धारण करनी पड़ती थी, जिसके कारण धनाधिक्य, धनलोलुपता व स्वार्थवृत्ति वृद्धिंगत न होसके। इन्हीं वृत्तियों के कारण समाज में विषमता उत्पन्न होकर सब वातावरण बिगड़ जाता है। इन गृहस्थियों को यजुर्वेद के निम्नाङ्कित वचनों को अपने जीवन में ओतप्रोत करना पड़ता था।

> "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥"[५६]

इस संसार में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसलिये त्यागवृत्ति से उपभोग करो, किसी के धन को ग्रहण मत करो।

इस प्रकार वे अपना गृहस्थाश्रम पूरा कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

वानप्रस्थाश्रम—उपनिषदों में कहा है कि दारेषणा, वित्तेषणा, लोकैषणा आदि को छोड़कर गृहस्थ वानप्रस्थ में प्रवेश करते हैं[५७]। ये तीन प्रकार की

इच्छाएँ ही मनुष्य को माया-मोह के जाल में फँसाती हैं। गृहस्थाश्रम में इन तीनों का यथेष्ट अनुभव लेकर इन्हें छोड़ देना ही उत्तम रहता है। यदि ये इच्छाएँ आजीवन मनुष्य के साथ रहीं, तो उसका जीवन बिलकुल नष्ट हो जायगा व समाज में भी अशान्ति हो जायगी। आजकल इन्हीं तीनों का साम्राज्य चारों ओर दीखता है। परिणामतः द्वेष, वैमनस्य, स्वार्थ आदि का दौरदौरा चारोंओर होगया है। इसीलिये प्राचीन भारत में यह नियम था कि वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते समय इन तीनों इच्छाओं को छोड़दिया जाय।

जीवन के तृतीय अंश में इस आश्रम में प्रवेश किया जाता था। इसमें प्रत्येक को तप आदि की साधना द्वारा संयम प्राप्त करना पड़ता था[५८]। गृहस्थाश्रम की त्रुटियों को यहां दूर किया जाता था। ये वानप्रस्थी आत्मविकास के मार्ग में प्रवृत्त होकर देश व समाज के हित को ध्यान में रखकर अपने परिपक्व अनुभव व ज्ञान के सहारे जीवनमरण की गुत्थियाँ सुलझाने में मग्न हो जाते थे। उनके इन प्रयत्नों के दर्शन हमें उपनिषदों के रूप में होते हैं। मनुजी ने इस आश्रम का सुन्दर चित्र खींचा है[५९]।

मनुजी ने वानप्रस्थाश्रम के वर्णन में जिस तप का उल्लेख किया है, वह भारतीय संस्कृति की उन्नत अवस्था का नहीं है। महाभारत काल के कितने ही समय पश्चात् तप का स्वरूप विकृत हो गया था। महात्मा बुद्ध ने भी पहिले ऐसा ही तप किया था[६०]। यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर (ई० पू० ३२६) ने भी तक्षशिला में ऐसे ही तपस्वी देखे थे[६१]। मनुजी के इस वर्णन से हमें वानप्रस्थाश्रम के मूलतत्त्वों का अच्छा बोध होता है। संसार के मायामोह के बन्धनों को तोड़कर ये वानप्रस्थी चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर, समाज-सेवा व मोक्ष-प्राप्ति दोनों के लिये प्रयत्न-शील हो जाते थे। प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग दोनों का यहां सुन्दर सम्मिश्रण हो जाता था।

संन्यासाश्रम—सम्यक् आत्मिक विकास करने के पश्चात् अन्तिम आश्रम में प्रवेश किया जाता था, जिसे 'संन्यासाश्रम' कहते थे। इसे यह नाम इस लिये दिया गया कि इसमें सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर फेंक देना पड़ता था, जैसा कि मनुजी ने कहा है[६२]।

"संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥"

अग्निहोत्रादि सब कामों को छोड़कर कर्मदोषों का नाश करते हुए नियम-पूर्वक वेदों का अध्ययन कर पुत्र द्वारा दिये गये भोजनछादन को प्राप्त कर सुखपूर्वक रहे।

"एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥"

इस प्रकार सब कामों को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार के कार्य्य में लीन होकर व निस्पृह बनकर तथा संन्यास से पापों का हननकर परमगति को प्राप्त होता है।

सब बन्धनों से मुक्त होकर व आत्मिक बल से सुसज्जित बनकर ये संन्यासी देश भर में घूम २ कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे व समाज की त्रुटियों को दूर कर उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करते थे। यदि राजा भी कोई गलती करे, तो उसे भी ये अपने नियन्त्रण में रख सकते थे। ये ही राजा को हर प्रकार की मन्त्रणा देते थे व प्रजा की देखभाल करते थे। ये समाज के आध्यात्मिक जीवन के रक्षक थे। समाजसेवा ही इनका सर्वस्व था। इनका उदर-निर्वाह भिक्षा से होता था। इनके लिये भी कड़े नियमों का पालन आवश्यकीय था, जिससे ये प्रमाद आदि के चंगुल में न फँस जाय। दुनियां की कोई भी दौलत इन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। स्वार्थ, द्वेष, मोह, मत्सर आदि इनके पास फटकने भी न पाते थे। इसीलिये समाज इनको पूजता था। बौद्धजैनादि के भिक्षुओं ने भी इन्हीं की जीवनचर्य्या को अपना कर अपने २ धर्मों का कितना ही विकास किया था। मनुजी ने इनकी जीवनचर्य्या का जो उल्लेख किया है[६३]।

इस प्रकार उपरोक्त कथन से आश्रमव्यवस्था का महत्त्व हमारी समझ में आजायगा। प्राचीन काल में इसके अनुसार अपना जीवनक्रम बनाना एक प्रकार से अनिवार्य्य था। जब तक यह व्यवस्था हमारे समाज में आदर पाती रही, तब तक हम उन्नतावस्था को प्राप्त थे। जब से हमने इसे ठुकराया तभी से हम पतन के गर्त में गिरकर नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहे हैं। आजकल तो इस व्यवस्था का विकृत व विकराल स्वरूप ही बचा है। ब्रह्म-चर्याश्रम यज्ञोपवीत-संस्कार के पश्चात् कुछ ही घंटों में खतम हो जाता है। गृहस्थाश्रम बालपन से तो स्मशान में जाते तक अपनी टूटी फूटी हालत में

चलता है। वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का ठेका तो नामधारी साधु, दण्डीस्वामी, महन्त, पुजारी आदि ने ले रखा है, जो तीर्थस्थानों में अड्डे जमा कर रहते हैं व धर्म के ठेकेदार बने अपने गौरवान्वित पूर्वजों की धवल कीर्ति पर कालिमा पोतते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का महत्त्व—वर्णाश्रम-व्यवस्था पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि यह उदार वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का पूरा २ अवसर मिलता था। मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि का सम्यक् अध्ययन कर उसके परम हित को ध्यान में रख कर समाजशास्त्र के सहारे इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। इसलिये यह देशकाल आदि से परिसीमित नहीं हो सकती। यह तो सब देश व सब काल के लिये है, जिसका क्रियात्मक उदाहरण प्राचीन भारत ने विश्व के सामने उपस्थित कर दिया है। क्योंकि इस वर्णाश्रमव्यवस्था के कारण समाज में किसी प्रकार की भी विषमता फैलने नहीं पाती, जैसी कि इस बीसवीं शताब्दि में चहुँओर दिखाई देती है। धनाढ्य व गरीबों के झगड़े, एक के द्वारा दूसरे का रक्तशोषण, ईर्षास्वार्थवैमनस्यादि का नग्न अट्टहास आदि हृदय विदारक दृश्य प्राचीनकाल में नहीं दिखाई देते थे, जब कि वर्णाश्रमव्यवस्था को पूर्णतया कार्यरूप में परिणत किया जाता था। सरस्वती व लक्ष्मी का बैर कराकर व लक्ष्मी को सरस्वती के पूर्ण अधीन बना कर प्राचीन भारत ने गरीब व अमीर के झगड़े को पैदा ही न होने दिया। वहां तो विश्वभ्रातृत्व का सिद्धान्त अपनाया गया था। क्या अमीर, क्या गरीब, क्या विद्वान्, क्या मूर्ख, सब ही उसी परम-पुरुष के अङ्गमात्र ही थे, इसलिये ये सब सगे भाई २ ही थे। एक धनाढ्य भाई अपने धनविहीन भाई को किसी प्रकार भी आपत्ति में नहीं देख सकता था। समाज में ये ही पवित्र भावनाएँ कूट २ कर भरी थीं।

वर्गचतुष्टय—प्राचीन भारत में समाज ने अपने जीवन का उद्देश भी स्पष्ट शब्दों में निर्धारित कर लिया था। इस सामाजिक व्यवस्था के अन्दर रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भलीभांति जानता था कि उसे अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की प्राप्ति करना है[६५]। इसी में पुरुषार्थ का समन्वय होता था। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चार आश्रम बने थे।

इस वर्गचतुष्टय में प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों का समावेश हो जाता था। इन चारों में अन्तिम मोक्ष था। प्रत्येक को सांसारिक वैभव, ऐश्वर्य्य आदि के अतिरिक्त जीवनमरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने का प्रयत्न करना पड़ता था। इसी को मोक्ष कहते थे। प्राचीन भारतीय का जीवन अधिकांश आध्यात्मिक था। इस लोक में रहते हुए भी परलोक का चित्र उसकी आँखों के सामने रहता था। इसीलिये सांसारिक प्रलोभन उसका कुछ भी न बिगाड़ सकते थे। उसमें निस्स्वार्थ-वृत्ति का दौरदौरा हमेशा रहता था। आजकल तो परलोक का विचार करना मूर्खतापूर्ण समझा जाता है। इसलिये आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिकता को कोई स्थान नहीं है। उसमें तो ऐहिक अहमहमिका का ही पूर्ण साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है।

सामाजिक व्यवस्था की उदारता—प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था बहुत उदार भी थी। आज के समान कुण्ठित मनोवृत्ति ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। इस उदार मनोवृत्ति का पता हमको विवाह, नियोग आदि सामाजिक प्रथाओं से चलता है। प्राचीन काल में खानपान आदि पर किसी प्रकार का भी प्रतिबंध नहीं था। चारों वर्ण बराबर एक दूसरे के हाथ का भोजन कर सकते थे। कहीं २ तो यह भी लिखा है कि भोजन बनाने का काम शूद्र से लिया जाय[६५]।

विवाह प्रथा—विवाह-प्रथा भी उदात्त सिद्धान्तों पर विकसित की गई थी। अत्यन्त ही प्राचीन काल में कोई भी किसी से विवाह कर सकता था। इस सम्बन्ध की कितनी ही कथाएँ पुराणों में हैं[६६]। मन्वादि स्मृतियों में प्रतिलोम, अनुलोम विवाहों का उल्लेख[६७] स्पष्टतया सिद्ध करता है कि प्राचीन काल में असवर्णीय विवाह प्रचलित थे। नीचवर्ण का व्यक्ति ऊँचवर्ण में व ऊँचवर्ण का व्यक्ति नीचवर्ण में विवाह कर सकता था। उसमें किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती थी। विवाह करने में प्रत्येक को पूरी २ स्वतन्त्रता दी जाती थी। किसी प्रकार भी यदि किसी स्त्री पुरुष का सम्बन्ध हो जाता, तो समाज उन दोनों को ठुकराता नहीं था; किन्तु मनुष्य से भूल होती ही है, इस सिद्धान्त को मानकर उनको समाज में स्थान दिया जाता था। इसीलिये धर्मशास्त्रों को आठ प्रकार के विवाह[६८] मानने पड़े, जिनसे सामाजिक उदारता का स्पष्ट परिचय मिलता है। स्त्री व पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के मार्ग में

समाज रोड़ा बनना नहीं चाहता था। किसी स्त्री व पुरुष का एक बार सम्बन्ध हो गया कि समाज उसे मान लेता था, चाहे वह सम्बन्ध प्रचलित नियमों का उल्लङ्घन ही क्यों न करता हो। ऐसा करने से समाज में अधिक अशान्ति नहीं फैल पाती थी व सामाजिक बन्धनों की कड़ाई किसी को नहीं खटकती थी। राक्षस, पैशाच, गान्धर्व आदि विवाहों का मान्य किया जाना इसी भाव का द्योतक है। ये आठ प्रकार के विवाह इस प्रकार हैं—

मनु० ३।२१, २७-३४

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥"

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह हैं।

"आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥"

कन्या को सुन्दर वस्त्र पहिना व उसकी पूजा कर किसी श्रुतिशीलवान् को स्वयं बुलाकर उससे कन्या का विवाह करना 'ब्राह्म विवाह' कहलाता है।

"यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥"

जब कि अच्छी तरह से यज्ञ किया जा रहा हो व ऋत्विक् अपना कार्य करता हो तब उस ऋत्विक् को वस्त्र आभूषण आदि से सजी हुई कन्या देना "दैव-विवाह" कहाता है।

"एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥"

एक या दो गोमिथुन वर से धर्मपूर्वक लेकर यथाविधि उसे कन्या देना "आर्ष विवाह" कहता है।

"सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥"

'दोनों एक साथ धर्माचरण करो' इन वचनों को कहकर पूजा करके जो कन्या दी जाती है, वह "प्राजापत्य-विवाह" कहाता है।

"ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥"

सम्बन्धियों व कन्या को यथाशक्ति धन देकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जो कन्या प्राप्त की जाती है, उसे "आसुर विवाह" कहते हैं ।

"इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥"

कन्या व वर का अपनी २ इच्छा से जो संयोग होता है, वह "गान्धर्व-विवाह" है । यह मैथुन्य व कामसंभव होता है ।

"हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥"

मारपीट व अङ्गछेदनकर, दीवालादि तोड़, चिल्लाती व रोती कन्या को जबरदस्ती घर से ले जाना "राक्षस विवाह" कहाता है ।

"सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥"

सुप्त, मत्त या प्रमत्त कन्या से एकान्त में मैथुननिमित्त जो विवाह किया जाता है, वह सब में अधम पापिष्ठ "पैशाच-विवाह" है ।

बारह प्रकार के पुत्र—प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था की उदारता का पता इस बात से भी चलता है कि समाज ने बारह प्रकार के पुत्र माने थे[६९] व उन सब को यथावत् स्थान दिया था । हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने इन बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख किया है व उनके अधिकारों पर भी प्रकाश डाला है । ये बारह प्रकार के पुत्र इस प्रकार हैं—

मनु० ९।१५८–१६०,१६६–१७८

"पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥"

स्वायंभू मनु ने मनुष्यों के जिन बारह पुत्रों का वर्णन किया है, उन में से छः 'बन्धु-दायाद' हैं व छः 'अदायाद-बन्धु' हैं ।

"औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥"

औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न व अपविद्ध ये छः दायाद व बान्धव हैं।

"कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥"

कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र ये छः 'अदायादबान्धव' हैं।

"स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥"

अपने ही क्षेत्र में संस्कार से परिशुद्ध स्त्री में स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे "औरस" पुत्र जानना चाहिये, जिसको कि प्रथम स्थान दिया जाता है।

"यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य च।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥"

मृत, नपुंसक, रोगी आदि की पत्नी से जो गुरु द्वारा यथाविधि किये गये 'नियोग' से उत्पन्न होता है, वह "क्षेत्रज" कहाता है।

"माता पिता वा दद्यात्तां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥"

आपत्कालमें मातापिता प्रीतिपूर्वक अपने जातिवाले को जलद्वारा अपने जिस पुत्र को देदें, वह "दत्रिम" कहाता है।

"सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥"

गुणदोष को समझनेवाला व पुत्रगुणों से युक्त अपने जातिवाले को पुत्र बनाने पर वह "कृत्रिम" कहाता है।

"उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः॥"

जो घर में पैदा हो किन्तु किसका है यह ज्ञात न हो, वह उसीका होता है जिसकी पत्नी में उत्पन्न हुआ हो व उसे "गूढ़ोत्पन्न" कहते हैं।

"मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥"

मातापिता या उनमें से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र का यदि स्वीकार किया जाय तो वह "अपविद्ध" कहलायगा।

"पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥"

पिता के घर कन्या छिपकर जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे अपने से विवाह करने वाले का "कानीन पुत्र" बतावे ।

"या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ़ इति चोच्यते ॥"

जान या अनजान में जिस गर्भिणी का विवाह संस्कार हो जाता है, उसका गर्भ उससे विवाह करने वाले का हो जाता है व उत्पन्न पुत्र "सहोढ़" कहाता है ।

"क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥"

मातापिता के पास से जिसे पुत्र बनाने की इच्छा से खरीदा जाता है, वह "क्रीतक" पुत्र कहाता है, चाहे वह खरीदनेवाले की जाति का हो या न हो ।

"या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥"

जो पति से त्यागी गई है या विधवा है, वह अपनी इच्छा से किसी दूसरे से विवाह कर जिस पुत्र को उत्पन्न करती हैं, वह "पौनर्भव" कहाता है ।

"मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥"

मातापिता-विहीन या बिना कारण मातापिता से त्यागाहुआ वह अपने को जिसे दे दे उसी का "स्वयंदत्त" पुत्र हो जाता है ।

"यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥"

ब्राह्मण इच्छापूर्वक शूद्रा में जिस पुत्र को उत्पन्न करे, वह 'पारशव' कहाता है, क्योंकि वह जीवित रहते हुए भी शव के ही समान है ।

इन पुत्रों को स्थान देकर समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया है । प्राचीन काल में नैतिकता का भाव इतना कुण्ठित नहीं था, जितना कि आजकल है । वहां तो सब के हित पर दृष्टि रखी जाती थी । प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश माना जाता था । इसलिये प्रत्येक बालक, चाहे उसके

मातापिता ने सामाजिक-नियमों का उल्लङ्घन कर ही उसे क्यों न पैदा किया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किये जाने का अधिकारी समझा जाता था। समाज मातापिता के अपराध के लिये उस बालक को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था, जैसा कि आज कल किया जाता है। कितने ही कानीन व पौनर्भव पुत्र आजकल निर्दयतापूर्वक मार डाले जाते हैं। आधुनिक समाज इन्द्रियनिग्रह का पाठ सिखाने के बदले गरीब बालकों की हत्या में ही धर्म की रक्षा समझता है। धर्म के ठेकेदारों को चाहिये कि कर्ण व ईसा के समान कानीनपुत्रों के व कबीर के समान पौनर्भव पुत्रों के जीवन पर विचार करें और सोंचे कि उनके समाज में धर्म के नाम पर कदाचित् कुछ कर्ण, ईसा, कबीर आदि का गला घोंट दिया गया होगा।

इन सब बातों से पता लगता है कि प्राचीन सामाजिक व्यवस्था जहां उच्चतम नैतिक आदर्शों पर अवलम्बित थी, वहां उसमें मनुष्य की गलतियों के लिये भी स्थान था। प्रयत्न तो इस बात का किया जाता था कि सामाजिक नियमों का उल्लङ्घन न हो। किन्तु यदि भ्रमवशात् या अन्य किसी कारण से किसीसे कोई गलती हुई तो समाज उससे इतना रुष्ट नहीं होता था कि उसे कहीं का न रहने दे, बल्कि एक उत्तम डॉक्टर के समान वह उसकी गलतियों का विचार कर उसे आत्मसुधार के मार्ग में प्रवृत्त करता था। इसी को सामाजिक उदारता कहते हैं और यही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ओतप्रोत थी। यही कारण है कि कानीन, सहोढ़, गूढ़ज आदि पुत्रों को भी समाज में स्थान दिया गया।

नियोग—नियोग की प्रथा से भी इसी उदारता का पता लगता है। पति के मरने, विदेश चले जाने, नपुंसक हो जाने या रोगग्रस्त होने पर किसी निस्सन्तान स्त्री को अधिकार था कि वह किसी धर्मनिष्ठ, विद्वान् व योग्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त करे[७०]। ऐसे पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाते थे। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार पुत्र-प्राप्ति अत्यन्त ही आवश्यकीय समझी जाती थी। निस्सन्तान के लिये कोई स्थान नहीं था। ऐतरेयब्राह्मणादि में इसका विशद विवेचन किया है[७१]। हमारे प्राचीन इतिहास में कितने ही क्षेत्रज पुत्रों का उल्लेख है। युधिष्ठिर भीम आदि पांडव भी क्षेत्रज ही थे। आजकल तो इस प्रथा को बहुत ही बुरी दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु यदि इस पर विचार

किया जाय तो समझ में आजायगा कि पारिवारिक जीवन व सामाजिक जीवन की शृङ्खला को बनाये रखने के लिये तथा निसर्गप्रदत्त जननशक्ति के विकास के लिये यह प्रथा नितान्त आवश्यक है।

समाज में अन्यों को स्थान—भारत की प्राचीन समाजव्यवस्था में जन्म के सिद्धान्तको कोई महत्त्व नहीं दिया गया था। वह सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था मनुष्यमात्र के लिये थी[७२]। कोई भी व्यक्ति इसमें सम्मिलित हो सकता था। आजकल के समान काला, गोरा, हब्शी, चीनी आदि जातीय द्वेषों को बढ़ाने वाले भावों ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। विदेशियों व असभ्य जातियों को भी सुसंस्कृत बनाकर समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था व उन्हें सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार भी दिये जाते थे। ऋग्वेद से पता चलता है कि धीरे २ दस्यु, दास आदि आर्यत्त्व के रंग में रङ्ग दिये गये थे[७३]। पुराणों में शकादि विदेशियों का भारतीय संस्कृति में रङ्ग दिये जाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है[७४]। इसी उदारता के परिणाम-स्वरूप यूनानी हिलीयोडोरो बेसनगर (मध्यभारत में भिलसा के निकट) जाकर "परमभागवत" की पदवी धारण कर पक्का वैष्णव बन गया[७५]। उसका विष्णुध्वजस्तम्भ व उसपर खुदा प्राकृत लेख आज भी इस बात की साक्षी देता है। इनके सिवाय शक, हूण,[७६] आभीर[७७] आदि कितनी ही विदेशी जातीयें यहां के सामाजिक संगठन द्वारा पचाली गईं, जिनके वंशज आज अपने को हिन्दू-संस्कृति के परम भक्त मानते हैं।

समाज में जीवन व प्रगतिशीलता—प्राचीन भारतीय समाज एक जीवित व प्रगतिशील संस्था था। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो समाज के संचालन के लिये वेद ही सब कुछ था, किन्तु सामाजिक विकास के लिये भी पूरी स्वतन्त्रता थी। जिन नियमों द्वारा समाज सञ्चालित किया जाता था, उन्हें धर्म कहते थे। साधारणतया वेद को ही धर्म मान लिया गया था[७८]। किन्तु देशकाल के अनुसार परिवर्तनशीलता व विभिन्नता को भी पूरा २ स्थान दिया गया था। विभिन्न धर्मसूत्रों व स्मृतियों का अस्तित्त्व इस कथन की पुष्टि करता है। प्राचीन आचार्यों ने भी धर्मप्रामाण्य के बारे में लिखते समय इसी भावना को स्थान दिया है। मनुजी इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं[७९]—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥"

सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है, वेदज्ञों की स्मृति व शील भी। इसी प्रकार साधुओं का आचार व आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है।

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"

वेद, स्मृति, सदाचार व जो कुछ आत्मा को प्रिय लगे ये सब धर्म के चार प्रकार के लक्षण कहे गये हैं।

इस प्रकार धर्मप्रामाण्य में वेदों का स्थान सब से ऊँचा था। तत्पश्चात् स्मृति का स्थान था। वे हीं स्मृतियें प्रमाण मानी जाती थीं, जो वेदों के विरुद्ध न थीं। किन्तु सदाचार याने विद्वान् सज्जनों का आचरण व अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे वह भी प्रमाणरूप माने जाते थे। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में भारतीय समाज में विचारस्वातन्त्र्य को पूरा २ स्थान दिया गया था व नये २ परिवर्तनों को भी अपना लिया जाता था। कभी २ इन सब के लिये श्रुति-प्रमाण भी मिल जाता था। फिर समाज में यह भाव भी प्रचलित था कि वेदों की कितनी ही शाखायें लुप्त हो गई हैं। इसलिये यदि किसी के लिये कोई श्रुति-प्रमाण न मिलता, तो उसे किसी लुप्त श्रुति से सम्बन्धित कर दिया जाता था। इस प्रकार समाज में नयी २ बातों का भी प्रवेश करा दिया जाता था। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रथा अप्रिय हो जाती, तो उसे 'कलिवर्ज' कह कर रोक दिया जाता था[८०]। नियोग, अनुलोम, प्रतिलोम आदि विवाहों का यही हाल हुआ। धर्मसूत्रस्मृत्यादि का बाहुल्य तथा मध्यकालीन टीकाकार व निबन्धकारों की बड़ी संख्या इस बात की साक्षी देती है कि प्राचीन भारतीय समाज एक जीवितजागृत संस्था था, जहां विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान दिया गया था।

उपसंहार—इन्हीं सब विशेषताओं के कारण हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था भारतीय संस्कृति को आजतक जीवित रख सकी। प्राचीन कालीन अन्य संस्कृतिएँ आज केवल नाममात्र से ही अवशेष हैं। इस का कारण यही है कि वहां ऐसी सामाजिक व्यवस्था विकसित न हो सकी। आज भी यदि हम अपने सामाजिक दोषों को दूर कर प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को उसके सच्चे स्वरूप में अपनालें, तो पुनः हमारी संस्कृति विश्ववंद्य हो सकती है इसमें यत्किञ्चित् भी शङ्का नहीं है।

अध्याय १०

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का कलङ्क—जिस देश में मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिये ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्त बने हों व ऊँची से ऊँची सामाजिक व्यवस्था विकसित की गई हो, वहीं मानव-समाज के एक आवश्यकीय अङ्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराया जाय, यह तो अत्यन्त ही दुःख व आश्चर्य्य की बात है। गौरवान्वित व मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारी भारतीय संस्कृति के लिये अस्पृश्यता बड़ा भारी लाञ्छन है। वेद व स्मृति को मानने वाले उच्चवर्णीय हिन्दू अपने ही समाज के अङ्ग को तोड़कर फेंकने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाते तथा ऐसा करना धार्मिक व वेदस्मृतिसम्मत मानते हैं। इस मनोवृत्ति के कारण समाज व राष्ट्र का कितना अनहित हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। इसीलिये प्रत्येक सच्चा भारतीय अपनी संस्कृति के इस कलङ्क को धोने का भरसक प्रयत्न करता है[1]।

'सनातनियों' का विरोध—एक समुदाय ऐसा भी है, जो धर्म के नाम पर इस प्रयत्न का तीव्र विरोध करता है तथा जनसाधारण को इसके विपरीत उभारने की चेष्टा करता है[2]। इसका दावा है कि हमारे धार्मिक ग्रन्थों में अस्पृश्य भाइयों को पतित रहने देने का ही आदेश है। उनको छूना तथा उनसे अन्य व्यवहार करना वेद व धर्मशास्त्रों से निषिद्ध होने के कारण नितान्त पाप है। इस पक्ष की पुष्टि के लिये वेद, मनु आदि के प्रमाण भी दिये जाते हैं[3]। इसका यह परिणाम होता है कि इन ग्रन्थों के प्रति लोगों की श्रद्धा घटती जाती है। जो अशिक्षित हैं, वे इस पक्ष के चंगुल में आ जाते हैं। यहां यह निष्पक्षभाव से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में अस्पृश्यता को कोई स्थान न था। वेद तथा तदनुकूल स्मृत्यादि में कहीं भी उसका उल्लेख नहीं है। जहां 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त चरितार्थ किया जाता हो, वहां यह कैसे संभव हो सकता है कि जाति तथा राष्ट्र के एक बड़े अङ्ग को तोड़कर फेंक देने का आदेश हो।

वर्णव्यवस्था कर्ममूला—जैसा कि पहिले लिख आये हैं, प्राचीनकाल से ही वर्णव्यवस्था कर्ममूला मानी जाती थी। समाज को सुचारु-रूप से चलाने

के लिये विद्वज्जनों ने उस के चार भिन्न २ विभाग किये थे । जन्म से कोई नीचा ऊँचा नहीं समझा जाता था । जो जैसा कर्म करता था, वैसा ही उसको समाज में स्थान दिया जाता था । आजकल जिस प्रकार समाज में नीचऊँच का भाव वर्तमान है, वैसा प्राचीन काल में कदापि नहीं था । यह बात निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट है ।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांᳬ शूद्रोऽजायत ॥"[४]

उस (पुरुष) का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जंघा वैश्य थे व उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ।

पुरुषसूक्त के इस मन्त्र में अर्थशास्त्र के कार्यविभागसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । समाज को पुरुष मान कर आलङ्कारिक भाषा में उसके भिन्न २ अवयवों का वर्णन किया गया है । शूद्रों को उस पुरुष के पैरों का स्थान दिया गया है । इसका तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक शरीरधारी को अपना कार्य्य करने के लिये पैरों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समाज को भी शूद्रों की आवश्यकता होती है । पैरों के समान शूद्रों का काम समाज की सेवा करना है । भावुक भाइयों से हम यह प्रश्न पूँछेंगे कि परमात्मा के चरणों की धूलि तो आप सिर पर धारण करते हैं और उन्हीं चरणों से उत्पन्न शूद्रों की अवहेलना करते हैं, इसका क्या कारण है ? क्या यह परमात्मा का अपमान नहीं है ? इस प्रकार इस वेदमन्त्र से सिद्ध है कि समाज में शूद्र की नितान्त आवश्यकता है । समाज से उस का बहिष्कार करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ा मारना है ।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अस्पृश्य शूद्रों से भिन्न हैं । किन्तु पुरुषसूक्त में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन रहते हुए भी कहीं अस्पृश्यों का उल्लेख नहीं है । इस से स्पष्ट है कि शूद्रों के अतिरिक्त अस्पृश्य कही जानेवाली अन्य कोई जाति नहीं थी । हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल में केवल चार ही वर्ण थे, जैसा कि मनुजी ने कहा है[५]—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः ॥"

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं। चौथा वर्ण शूद्र एक जन्म-वाला है। पांचवा कोई वर्ण नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह शङ्का उपस्थित की जाती है कि यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में बहुतसी जातियों का उल्लेख है। यहां पर जाति व वर्ण के भेद को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। 'जाति' का तात्पर्य जन्म से है व वर्ण का कर्म से जिस प्रकार कि मनुजी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को 'द्विजाति' कहा और शूद्र को 'एकजाति' कहा। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में किसी भी जाति का उल्लेख नहीं है। वहां तो भिन्न २ व्यवसाय करने वाले लोगों का उल्लेख आता है;[६] जैसे—

"तपसे कौलालं मायायै कर्मार ँ रूपाय मणिकार ँ शुभे वय ँ शरव्याय इषुकार ँ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥"

उक्त मन्त्र में कौलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), मणिकार (जड़िया), इषुकार (बाण बनाने वाला), धनुष्कार (धनुष बनाने वाला), ज्याकार (धनुष की रस्सी बनाने वाला), मृगयु (शिकारी) आदि शब्दों से स्पष्ट है कि ये नाम भिन्न २ कार्य करने वालों के हैं। इनसे किसी जातिविशेष का बोध नहीं हो सकता। इसी अध्याय में तस्कर (चोर), क्लीब (नपुंसक), पुंश्चलू (व्यभिचारिणी स्त्री), मागध (चोर), सूत (नट), शैलूष (गाने-वाला) आदि का भी उल्लेख है। इन नामों को पढ़कर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि ये सब जातियों के नाम हैं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि लुहार, कुमार आदि आजकल जाति के नाम हैं, तो क्या यह संभव नहीं कि वैदिक काल में भी इन नामों से जाति का बोध होता होगा? इसका उत्तर यह है कि वैदिक काल में वर्ण व जाति में अन्तर माना जाता था। वर्ण-व्यवस्था गुणकर्म के अनुसार मानी जाती थी। सब एक ही मनुष्य-जाति के थे, किन्तु कर्मों से भिन्न २ वर्णों में विभक्त हो जाते थे। आज हमारे पण्डित लोग भिन्न २ व्यवसाय करनेवालों के नामों को जातिवाचक मानने के भ्रम में पड़ते हैं। आज से लगभग २२०० वर्ष पूर्व एक यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ भी ऐसे ही भ्रम में पड़कर लिखता है[७]—"भारतवर्ष में सात वर्ण हैं—दार्शनिक, मन्त्री, शिकारी, बसोड़,………इत्यादि।" एक विदेशी के

लिये यह भ्रम क्षन्तव्य है, किन्तु ऋषिसन्तान पण्डित को ऐसी गलती शोभा नहीं दे सकती।

अथर्ववेद में भी कितने ही स्थलों पर शूद्र का उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि उस के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। शूद्र के प्रति घृणा के भाव का कहीं भी उल्लेख नहीं है, जैसा कि निम्नाङ्कित मन्त्र से स्पष्ट होता है[८]।

"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥"

मुझे देवताओं तथा राजाओं में प्रिय बनाओ। मैं सब का प्रिय बनूं, चाहे आर्य हों चाहें शूद्र हों।

इस वेद-मन्त्र में शूद्रों में भी प्रिय बनने की शिक्षा दी गई है। हम शूद्रों में प्रिय तब ही हो सकते हैं, जब उनसे अच्छा व्यवहार करें, न कि पशुओं के समान। वैदिक काल में शूद्रों को भी वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार था, जैसा कि निम्नाङ्कित मन्त्र में कहा गया है[९]।

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥"

मैंने यह कल्याणकारी वाणी मनुष्यों के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अरण आदि के लिये कही है। देवताओं को दक्षिणा देने वाले का मैं प्रिय बनूं, मेरे काम की समृद्धि हो व उपमाद कम हो।

यजुर्वेद में चाण्डाल का उल्लेख आता है[१०]—

"अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय व ँ-शनर्तिनं दिवे खलतिं ँ सूर्य्याय।"

उक्त वेदमन्त्र में भिन्न २ व्यक्तियों के कार्य्यों का निर्देश है। चाण्डाल का सम्बन्ध वायु से जोड़ा गया है। वह नगर की सफाई आदि का काम करता था। सफाई का वायु पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति समझता है। यहां चाण्डाल के प्रति घृणा का लेश भी नहीं है। उसका सम्बन्ध एक ऐसी वस्तु से जोड़ दिया गया कि जिसकी आवश्यकता प्राणीमात्र को होती है। कुछ पण्डित इसी अध्याय के २२ वें मन्त्र से अस्पृश्यता सिद्ध करने का व्यर्थ ही प्रयास करते हैं। वह मन्त्र इस प्रकार है—

"अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च। अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुंश्चली क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्यः॥"

अशूद्र व अब्राह्मण (जो न शूद्र, न ब्राह्मण है, अर्थात् वर्णव्यवस्था से बहिष्कृत), आठ प्रकार से कुरूप हो जाते हैं, जैसे बहुत लम्बे, बहुत छोटे, बहुत मोटे, बहुत पतले, बहुत गोरे, बहुत काले, बिलकुल ही केशरहित, बहुत केशवाले। मागध (चोर), पुंश्चली (व्यभिचारिणी स्त्री), कितव (धूर्त वा जुआरी) व क्लीब (नपुंसक) ये सब अशूद्र अब्राह्मण प्राजापत्य हैं।

उक्त वेदमन्त्र का यह भाव कदापि नहीं है कि ये सब अस्पृश्य हैं। उसमें केवल यही बताया गया है कि धूर्त, बदमाश, पापी आदि किसी भी वर्ण के नहीं रहते। उनको अनेकों रोगों का सामना करना पड़ता है, जिससे वे कुरूप हो जाते हैं। हमारे दैनिक अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि चोर, व्यभिचारिणी स्त्री, जुंआरी, नपुंसक आदि को अस्पृश्य कहा गया है, तो भी यह कदापि सिद्ध नहीं होसकता कि हमारे आधुनिक भङ्गी, बलाही, महार आदि भाई भी अस्पृश्य हैं। आधुनिक समाज में तो यह देखा जाता है कि ऊपर कहेहुए चोर, जुँआरी आदि को गले लगाया जाता है। वेश्यागमन व जुएँ को कोई भी अस्पृश्यतापूर्ण नहीं समझता। इस प्रकार आजकल आत्मवञ्चना की जाती है।

इन उद्धरणों के अतिरिक्त वेदों में कितने ही स्थलों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि शूद्र अस्पृश्य नहीं समझा जाता था और न घृणा का पात्र ही था, अपितु उसे भी समाज में पूर्ण स्थान प्राप्त था। विभिन्न वर्णों के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आपस में रोटीबेटी व्यवहार किया करते थे। इतना ही नहीं आजकल के अनुसार शूद्र कहे जानेवाले मन्त्रद्रष्टा भी हो सकते थे। दासीपुत्र कवष ऐलूष[११], काक्षिवत्[१२], घोषा काक्षीवती[१३] आदि वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी मालूम होता है कि शूद्रों को सताया नहीं जाता था तथा उन्हें समाज का आवश्यकीय अङ्ग समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भूः' से, वैश्य 'भुवः' से व शूद्र 'स्वः' से उत्पन्न हुए हैं[१४]। राज्याभिषेक के समय नौ 'रत्निन्' में शूद्रों का भी स्थान था[१५]।

मनुजी ने इन वर्णों की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है[१६]—

"लोकानां विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥"

लोक की विवृद्धि के लिये मुख, बाहु, उरु व पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र उत्पन्न हुए।

इस श्लोक से भी समाज के लिये शूद्र की उपयोगिता स्पष्ट है। इसमें अस्पृश्यता का भाव बिलकुल नहीं है।

प्रतिलोम-अनुलोम-विवाह—वैदिक काल के पश्चात् भी शूद्रों को समाज में अच्छी दृष्टि से देखा जाता था। उच्च वर्ण के लोग उनसे घृणा नहीं करते थे। प्राचीन कालमें अनुलोम (ऊँच वर्ण का पति व नीच वर्ण की स्त्री) व प्रतिलोम (नीच वर्ण का पति व ऊँच वर्ण की स्त्री) विवाह समाज में प्रचलित थे,[१७] जिससे शूद्रों की स्थिति का अच्छा पता लगता है। प्रतिलोम विवाह बौद्ध काल के प्रारम्भ में (ई० पू० ६०० वर्ष के लगभग) तथा अनुलोम विवाह[१८] लगभग ई० स० ३०० वर्ष तक प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि शूद्र ब्राह्मणी से भी विवाह कर सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण[१९] से हमें पता चलता है कि कवष दासीपुत्र होते हुए भी समाज में उच्च स्थान पा सका। पद्मपुराण के १५ वें अध्याय में लिखा है कि ब्रह्मदेव ने आभीर कन्या से विवाह किया[२०]। महाभारत से पता लगता है कि शान्तनु ने मछुए की लड़की से विवाह किया[२१]। इस पक्ष की पुष्टि में ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२२–२९५) ने यवनराज सेल्युकस निकॉटर की पुत्री से विवाह किया था[२२]। कविराज बाणभट्ट (ईसा की ७ वीं सदी) का शूद्रामाता से उत्पन्न एक "पारशव" भाई था। ई० स० ८३७–८६१ के मंदसौर-प्रतिहारों के लेखों से पता चलता है कि हरिश्चन्द्र नामी एक ब्राह्मण ने भद्रा नामी क्षत्रिय लड़की से विवाह किया था। ब्राह्मण-कवि राजशेखर (ईसा की १० वीं सदी) ने चौहान लड़की से विवाह किया था। दक्षिण भारत में भी ब्राह्मणों ने क्षत्रिय लड़कियों से विवाह किये थे। गुलवाड़ा गांव के निकट एक गुफा में खुदे हुए लेख में वल्लूरवंशीय ब्राह्मण के क्षत्रिय लड़की से विवाह का उल्लेख है। दण्डीकृत

"दशकुमारचरित" से मालूम होता है कि पाटलीपुत्र के वैश्रवण की लड़की का विवाह कोशल के राजा कुसुमधन्वा से हुआ था[२३]।

धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में भी अनुलोम विवाह का उल्लेख कितने ही स्थलों पर किया गया है[२४]। पुराणों ने ऐसे विवाहों का कलियुग के लिये निषेध किया है[२५]। बौधायन धर्मसूत्र[२६] में लिखा है कि असवर्ण स्त्री का विद्वान् पुत्र सवर्ण स्त्री के मूर्ख पुत्र से अच्छा है। गौतम धर्मसूत्र,[२७] बौधायन धर्मसूत्र[२८] तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र[२९] के अशौचप्रकरण में भिन्न २ वर्ण की माताओं के सम्बन्धियों का स्पष्ट उल्लेख है। इनके पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति का भाग मिलता था। मनुजी ने भी ऐसे विवाहों का उल्लेख किया है,[३०] यद्यपि कुछ स्थलों पर उनके प्रति घृणा भी दर्शाई है।

"सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥"

द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना उत्तम है। किन्तु अपनी इच्छानुसार विवाह करनेवाले के लिये विवाह करने की विधि इस प्रकार है।

"शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥"

शूद्र के लिये शूद्रा ही, वैश्य के लिये शूद्रा तथा वैश्या, क्षत्रिय के लिये शूद्रा, वैश्या तथा क्षत्रिया, और ब्राह्मण के लिये चारों वर्णों की पत्नी हो सकती है।

"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥"

सवर्ण स्त्रियों के विवाह का वर्णन हो गया। असवर्ण स्त्रियों के विवाह की पद्धति इस प्रकार है।

"शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥"

विवाह के समय क्षत्रिय कन्या को बाण, वैश्य कन्या को चाबुक तथा शूद्र कन्या को कपड़े का छोर ग्रहण करना चाहिये।

असवर्ण स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र को पिता की सम्पत्ति का कौनसा भाग मिलना

चाहिये, इसका भी स्पष्ट उल्लेख मनुजी ने किया है[३१] । याज्ञवल्क्यस्मृति के दायविभाग-प्रकरण में भी इन विवाहों का स्पष्ट उल्लेख है[३२] ।

"चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ।
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागिविड्जास्तु द्व्येक-भागिनः ॥"

ब्राह्मणपुत्र को अपनी माता के वर्ण के अनुसार चार तीन दो या एक भाग मिलना चाहिये, क्षत्रिय के पुत्र को तीन दो अथवा एक वैश्यपुत्र को दो अथवा एक ।

इस प्रकार अनुलोम विवाहों का अस्तित्व स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है । किसी समय प्रतिलोम विवाह भी प्रचार में अवश्य रहे होंगे, क्योंकि स्मृतियों में ऐसे विवाह से उत्पन्न वर्णसंकरों का भी उल्लेख है ।

वर्णसंकर का सिद्धान्त—ज्यों २ समय बीतता गया व समाज में कुण्ठित-मनोवृत्ति प्रवेश करने लगी, त्यों २ प्रतिलोम व अनुलोम विवाह भी समाज में बुरे समझे जाने लगे । एक समय ऐसा आया जब समाज के कर्णधार इन से पूरी २ घृणा करने लगे व इन्हें अप्रिय बनाने के लिये इन विवाहों से उत्पन्न सन्तान को असभ्य, जंगली आदि जातियों से सम्बन्धित करने लगे । इस प्रकार वर्णसंकर के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इन विवाहों की घोर निन्दा की जाने लगी । मनु आदि पुरानी स्मृतियों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान का वर्णन किया है । उसमें अनुलोम विवाह के प्रति इतना तीव्र विरोध नहीं है ।

"शूद्रादायोगवः क्षत्ता चांडालश्चाधमो नृणाम् ।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥"[३३]

वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण स्त्री, व शूद्र पति से क्रमशः 'आयोगव' 'क्षत्ता' तथा मनुष्यों में अधम 'चाण्डाल' पुत्र उत्पन्न होते हैं ।

"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहिकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चांडालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥
क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।
शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥
महिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।
असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥"[३४]

ब्राह्मण स्त्री से क्षत्रिय पति द्वारा 'सूत' वैश्य द्वारा 'वैदेहिक' तथा शूद्र द्वारा 'चाण्डाल' पुत्र उत्पन्न होता है, जो सब धर्मों से बहिष्कृत है। क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा 'मागध' तथा शूद्र द्वारा 'क्षत्तार' पुत्र उत्पन्न होता है। वैश्य स्त्री से शूद्र द्वारा 'आयोगव' पुत्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार अनुलोम व प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न पुत्र हैं।

स्मृतियों के इन प्रमाणों से मालूम होता है कि शूद्रों से विवाह-सम्बन्ध भी किया जाता था। किन्तु समय के फेर से जैसे २ अज्ञान का अँधकार छाने लगा, वैसे २ उच्च वर्ण के लोगों में 'अहंभाव' का संचार होने लगा। इसी भाव से प्रेरित होकर समाज के सञ्चालकों ने प्रतिलोम, अनुलोम आदि विवाहों को बन्द करने के लिये 'वर्णसंकर' जातियों का सिद्धान्त बना लिया। सन १९२३–२४ तक भारतवर्ष के सब 'हॉयकोर्ट' असवर्णीय विवाहों को गैरकानूनी समझते थे, किन्तु जस्टिस शाह व आशुतोष मुकरजी ने अनुलोम विवाहों को कानूनी करार दिया[३५]। आज इस बात को कोई भी नहीं मान सकता कि चांडाल की माता ब्राह्मणी थी[३६]। इतिहास स्वतः स्मृतियों में उल्लिखित वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति का विरोध करता है। इस प्रकार उत्पत्ति बताने का केवल यही तात्पर्य्य था कि ऐसे विवाहों की सन्तान को तत्कालीन बदमाश, असभ्य व जंगलियों से सम्बन्धित करने से जनसाधारण उनके प्रति घृणा करने लगे। यदि यह भी मान लिया जाय कि चांडाल, अम्बष्ठ आदि की उत्पत्ति यथार्थ में वैसे ही है, जैसे कि स्मृतियों में पाई जाती है, तो भी उन्हें अस्पृश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनकी माता उच्च हो उनके कुछ संस्कार तो उच्च रहेंगे ही। हम यह भी नहीं कह सकते कि आज-कल हम जिन्हें अछूत कहते हैं, उन सबकी माताएँ ब्राह्मणी आदि उच्च वर्ण की स्त्रियें थीं।

चारों वर्णों में खानपान—प्राचीन काल में चारों वर्णों में आपस में खानपान का व्यवहार भी था। आपस्तम्बधर्मसूत्र[३७] में लिखा है कि यज्ञ के लिये शूद्र भोजन बना सकता है। गौतम,[३८] बौधायन[३९] आदि ने 'प्रयतशूद्र' के हाथ के भोजन का स्पष्ट निर्देश किया है। अङ्गिरस[४०] के अनुसार पर्व के दिन क्षत्रिय का बनाया भोजन ब्राह्मण कर सकता है। ब्रह्मचारी तो किसी के घर भी भोजन कर सकता था। इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत इस प्रकार हैं।

"आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ।"[41]

या आर्यों की देख रेख में शूद्र भोजन बनाने वाले हों ।

"शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥"[42]

शूद्रों में दास, ग्वाला, वंशपरम्परागत मित्र, किसान, नाई व शरणागत इन सब का भोजन किया जा सकता है ।

मुस्लिम यात्री एलबरुनी (ईसा की ११ वीं शताब्दि) अपने ग्रन्थ "तहकीकाते हिन्द" में लिखता है कि चारों वर्णों के लोग एक साथ रहते तथा भोजन करते थे[43] ।

शूद्रों के धार्मिक अधिकार—अब हमें यह विचार करना चाहिये कि प्राचीन काल में शूद्रों को धार्मिक अधिकार कहां तक प्राप्त थे । वैदिक संहिताओं से पता चलता है कि रथकार को बहुतसे अधिकार प्राप्त थे ।[44] तैत्तिरीय ब्राह्मण में शूद्र के 'अग्न्याधान' के लिये भिन्न समय निर्दिष्ट है । उसका यज्ञोपवीत संस्कार भी हो सकता था । सूत्र-काल में भी उसे इस प्रकार के बहुत से अधिकार प्राप्त थे ।

"शूद्रस्यापि सत्यमक्रोधः शौचं श्राद्धकर्म च पाकयज्ञैः स्वयं यजेत इति एके ।"[46]

शूद्र के लिये भी सत्य, अक्रोध, शौच व श्राद्धकर्म हैं । कुछ आचार्यों के मतानुसार वे पाकयज्ञ भी कर सकते हैं ।

"तस्मात्शूद्रः पाकयज्ञैः यजेत व्रतवान्स्वयम् ।"[47]

इसलिये शूद्र स्वयं व्रत (जनेऊ) धारण कर, पाक यज्ञ कर सकता है ।

"अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ।"[48]

वे दस्यु होने पर भी जल्दी सिद्धि प्राप्त कर सके ।

धीरे २ शूद्रों में भी 'सत् शूद्र', 'असत्शूद्र' ऐसे दो भेद हो गये[49] । कुछ स्मृतिकारों के अनुसार केवल 'सत् शूद्र' ही यज्ञ कर सकते थे । इसी तरह 'श्राद्धी शूद्र' व 'अश्राद्धी शूद्र'[50] का भी भेद होगया था ।

"श्राद्धी भोज्यस्तयोरुक्तः अभोज्यः इतरः स्मृतः ।"[51]

उनमें से श्राद्धी शूद्र को भोजन कराना चाहिये, अश्राद्धी को नहीं ।

वीरमित्रोदय, जातूकर्णी आदि मध्यकालीन लेखकों के मतानुसार शूद्र संस्कार भी कर सकते थे।[५२]

"शूद्रस्यापि निषेकपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलान्यमंत्रकानि यथाकालमुपदिष्टानि।"[५३]

शूद्र के लिये भी वेदमन्त्रों से रहित निषेक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल आदि संस्कार विहित हैं।

तुकाराम,[५४] रैदास,[५५] कबीर[५६] आदि मध्यकालीन सन्त शूद्रवर्ण के होते हुए भी आज समस्त भारतवर्ष में पूजे जाते हैं।

शूद्र के कर्म—दास्य, शिल्पवृत्ति—साधारणतया शूद्र के लिये 'दास्यकर्म' था[५७]। इसका यह मतलब नहीं कि वह अन्य कर्म नहीं कर सकता था। गौतम[५८] तथा विष्णु[५९] में शूद्र-व्यापारियों का उल्लेख आता है। मनु आदि स्मृतिकारों ने 'दास कर्म' व 'शिल्पवृत्ति' शूद्र के लिये कही है[६०]। इस प्रकार व्यवहार में शूद्र कोई भी कर्म करता हुआ आत्मोन्नति कर सकता था, क्योंकि भारतवर्ष में भी यह अंग्रेजी कहावत चरितार्थ होती थी कि "चमार का लड़का भी प्रधानमन्त्री बन सकता है'। भारत का सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य नाई के कुल में उत्पन्न हुआ था, जिसकी सहायता चाणक्य के समान कट्टर ब्राह्मण ने की थी[६१]। ईसा की सातवीं शताब्दि में चीनी यात्री 'यूएनच्वेङ्' ने भी भारत के बहुतसे शूद्र राजाओं का उल्लेख किया है।

अस्पृश्यता के भाव का उदय—उपरोक्त प्रमाणों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में समाज 'कार्यविभाग' के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। सबको विवाह आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। दुःख की बात है कि आज हमारा समाज छोटे २ टुकड़ों में बँट गया है, जो एक दूसरे से भोजन, विवाह आदि का सम्बन्ध नहीं रख सकते। इतिहास से पता चलता है कि ५ वीं शताब्दि तक ऐसे कुंठित विचार समाज में नहीं फैले थे। इस समय तक जितने भी विदेशी आये उन सब को हमारा समाज पचा गया। किन्तु मुसलमानों के आने पर उसे मन्दाग्नि रोग होगया व उसका शरीर सड़ने लगा। इसी के परिणाम-स्वरूप समाज की यह दशा है। मुस्लिम आक्रमणों के समय से ही समाज को आत्मरक्षा की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। युद्ध आदि में ही लोगों का जीवन व्यतीत हो जाता था। अतएव धार्मिक

ग्रन्थों के सच्चे मर्म धीरे २ भुलाये जाने लगे। अहिंसा के सिद्धान्त के कारण भी शाकाहारी मांसाहारियों के साथ भोजन न कर सके। इसलिये भोजन के नियम बनने लगे। धीरे २ रीति-रिवाजों की भिन्नता के कारण भी समाज के छोटे २ टुकड़े होने लगे। परिणामस्वरूप एक ही वर्ण में भोजन व विवाह करना भी पाप समझा जाने लगा। आज हम वेदों का अध्ययन न करें, मनु के दस नियमों को न मानें, किन्तु यदि अपनी जाति में भोजन व विवाह करते हैं, तो समाज से किसी प्रकार भी हमारा बहिष्कार नहीं हो सकता। आज हमारे समाज में कृत्रिमता छा गई है। ऊँचे वर्णों की नकल कर शूद्रों ने भी अपने को छोटे २ भागों में विभाजित कर लिया है व उनमें भी आपस में रोटीबेटी का व्यवहार बिलकुल बन्द हो गया है। इसी समय जो शूद्र गन्दे काम करते थे व असभ्य थे, वे 'अन्त्यज' कहाने लगे। इन लोगों को नगर के बाहिर रहना पड़ता था, गरीबी के कारण फटे पुराने कपड़े पहिनने पड़ते थे व अन्य बहुतसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। धीरे २ इन अन्त्यजों में भी छोटे २ विभाग बन गये व छुआछूत का रोग फैल गया। दसवीं शताब्दि के पूर्व अन्त्यज व अस्पृश्यता के भाव का (आधुनिक स्वरूप में) जन्म नहीं हुआ था। कुछ असभ्य व जंगली जातियें अवश्य थीं, जिनसे सभ्य समाज को दूर ही रहना पड़ता था[६२]। किन्तु उन्हें सभ्य बनने का पूरा २ अवसर दिया जाता था।

स्मृतियों में अन्त्यजों का उल्लेख—अत्रि,[६३] यम,[६४] उशनस,[६५] अङ्गिरस[६६] आदि स्मृतियों में अन्त्यजों का उल्लेख है।

> "रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
> कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः॥"[६७]

धोबी, चमार, नट, बसोड़, मेद व भील ये अन्त्यज कहाते हैं।

इन में से धोबी व नट आज भी अस्पृश्य नहीं है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि इन अन्त्यजों में प्रतिलोम व अनुलोम विवाहों से उत्पन्न चाण्डाल, अम्बष्ठ आदि का निर्देश बिलकुल नहीं है। फिर भी उस समय आजकल के अनुसार अस्पृश्यता का भाव समाज में बिलकुल नहीं था। अत्रिस्मृति में लिखा है[६८]—

"देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते ॥"

देवयात्रा, विवाह, यज्ञ व सब उत्सवों में छुआछूत नहीं रहती ।

पौराणिक पण्डितों की विचारसरणी—अब प्रश्न यह होता है कि यदि अस्पृश्यता वेद व शास्त्रविहित नहीं है, तो कुछ पण्डित लोग क्यों इस के विपरीत आन्दोलन उठाते हैं ? उन के पास क्या प्रमाण हैं ? आजकल जो पुराने विचार के पण्डित हैं, उन्हें इतिहास का ज्ञान बिलकुल नहीं रहता । उनके लिये किसी भी स्मृति का कोई भी श्लोक प्रमाण हो जाता है, । वे यह समझने की कोशिस भी नहीं करते कि कौनसी स्मृति कब बनी व किस स्मृति में बाद में मिलावट कर दी गई है । मनुस्मृति में ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ पूर्वापर विरोध है[६९] । इसका यह कारण है कि समय २ पर पण्डितों ने परिस्थिति से प्रभावित होकर अपने विचार भी स्मृतियों में मिला दिये हैं । जिस समय अस्पृश्यता का भाव समाज में फैलने लगा, उस समय उस की पुष्टि के लिये पण्डितों ने श्लोक बनाकर धार्मिक ग्रन्थों में मिला दिये । इसी से स्मृतियों में कहीं २ शूद्रों के प्रति दुर्व्यवहार करने का आदेश है । मनुस्मृति में एक स्थल पर लिखा है[७०] कि शूद्र धन एकत्रित न करे, क्योंकि धनवान् होकर वह ब्राह्मण को ही कष्ट देगा । इसी प्रकार महाभारत में भी कहीं २ लिखा है[७१] । यदि शूद्र ब्राह्मणी से व्यभिचार करे तो उसे जला देना चाहिये । यदि वह ब्राह्मण की निन्दा करे तो उसकी ज़बान काट लेनी चाहिये, किन्तु यदि उच्चवर्णवाले शूद्र का अपमान करें तो उन्हें कोई दण्ड न मिलना चाहिये । शूद्रों के प्रति ऐसे भावों से मालूम होता है कि धीरे २ समाज के उच्चवर्णीय लोग स्वार्थी व घमण्डी बनने लगे व शूद्रों को ठुकराने लगे ।

दुःख तो इस बात का है कि जन-साधारण जिन पण्डितों को वेद व धर्मशास्त्रों में निष्णात समझते हैं व उनके पीछे चलते है, वे इतिहास की सहायता से धर्मग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन नहीं करते । इसलिये उनका हृदय कुंठित हो जाता है । इसके अतिरिक्त स्वार्थ उनको अन्धा बना देता है । वे वेद व धर्मशास्त्रों के सच्चे मर्म को नहीं समझ सकते । उन की समझ में ही नहीं आता कि एक सौ आठ व उस से भी अधिक स्मृतियों की तथा इतने टीकाकार व निबन्धकारों की क्यों आवश्यकता हुई ? भिन्न २ स्मृतियों

अपने २ समय की आवश्यकता-पूर्ति के लिये बनी थीं। यही कारण है कि उनमें इतना विरोध है।

उपसंहार—इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि आधुनिक अस्पृश्यता को प्राचीन भारतीय सामाजिक-जीवन में कोई स्थान नहीं था। यह पूर्णतया अवैदिक व अशास्त्रीय है, साथ ही भारतीय-संस्कृति की आत्मा के बिलकुल प्रतिकूल है। इस का बहिष्कार करना वेद व धर्मशास्त्र के प्रत्येक भक्त का परम कर्तव्य है।

अध्याय ११

समाज में स्त्रियों का स्थान

स्त्री व सामाजिक जीवन—जिस प्रकार प्रकृति के विना पुरुष का काम अधूरा ही रहता है[1] उसी प्रकार स्त्री के विना मनुष्य का जीवन भी अधूरा ही है। प्राचीन-भारत में मानव-जीवन के इस तथ्य को समझ कर ही सामाजिक व्यवस्था विकसित की गई थी। जिस प्रकार प्राचीन भारत ने समाज में स्त्री के स्थान को समझा था, उस प्रकार और कोई समाज ने कभी नहीं समझा। किसी ने अपनी मिलकियत समझ उसे घर के अन्दर बन्द रखना ही ठीक समझा,[2] किसी ने उसे खिलौना समझ जीवन भर उससे खेलवाड़ की[3] और किसी ने उसे ऐशआराम की चीज़ समझ खूब चैन की बंसी बजाई[4]। किन्तु प्राचीन भारत ने उसके सच्चे दर्शन किये व समाज में उसे समुचित स्थान दिया।

जीवन-गाड़ी के दो पहिये—प्राचीन भारत ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि मानवजीवन-रूपी गाड़ी के दो चाँक हैं, एक स्त्री व दूसरा पुरुष। दोनों चाँक बराबर रहने चाहिये व साथ २ चलने चाहिये, तब तो जीवनरूपी गाड़ी अच्छी तरह चल सकती है। इसीलिये स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा[5]। पुरुष को कहीं इस बात का घमंड न हो जाय कि वह अधिक शारीरिक शक्ति रखता है, इसलिये स्त्री पर उसका अधिकार रहना चाहिये। जब कि स्त्री उसी का आधा अङ्ग है, तब अधिकर्ता व अधिकृत का भाव रह ही नहीं सकता। वे तो दोनों ही बराबर हैसियत रखते हैं। जिस

प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि समाज में डॉक्टर का स्थान ऊँचा है या वकील का, इसी प्रकार स्त्रीपुरुष में कौन नीचा व कौन ऊँचा यह कहना भी मुश्किल है; क्योंकि प्रत्येक का कार्यक्षेत्र अलग २ है । स्त्री व पुरुष एक पारिवारिक जीवन के दो पहलू हैं । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि पारिवारिक जीवन में दो प्रकार की जिम्मेवारियें रहतीं हैं, आन्तरिकजीवन सम्बन्धी व बाह्यजीवन सम्बन्धी, जिनसे स्त्री पुरुष क्रमशः सम्बन्धित रहते हैं । पारिवारिक सुख व शान्ति के लिये इन दोनों प्रकार के जीवन का सुचारु सञ्चालन अत्यन्त ही आवश्यकीय है । इन दो में से किसी एक में यदि कमी रही तो जीवन दुःखमय हो जाता है ।

गृहिणी-पद—परिवार के सदस्य घर में रहकर जो कुछ करते हैं या उनके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन में समाविष्ट हो जाता है । स्त्री व पुरुष के एक साथ रहने ही से पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है । ज्यों २ सन्तान-वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है, त्यों २ उसका आन्तरिक-जीवन भी विकसित होने लगता है । इस जीवन का सम्बन्ध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है । उसे ही परिवार के छोटे बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती है । उसे अपने घर को अच्छी तरह से साफ सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना व अतिथि आदि का यथायोग्य सत्कार आदि की जिम्मेवारियों को पूरा करना पड़ता था, तथा सन्तान का पालन-पोषण कर उन्हें योग्य नागरिक व समाज-सेवक बनाने का प्रयत्न भी उसे प्रारम्भ कर देना पड़ता था । इस प्रकार इन सब घरेलू बातों की जिम्मेवारी स्त्री पर ही रहती थी । इसीलिये उसे गृहिणी के पद भर सुशोभित किया गया था[६] । आजकल भी बोलचाल की भाषा में वह "घरवाली" कहाती है । प्राचीन कालीन सामाजिक जीवन में गृहिणीपद अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय का पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था । इसलिये साधारणतया स्त्री को कपड़ा बुनना, गाय दुहना व कृषिसम्बन्धी बहुतसे कामों की देखभाल आदि की जिम्मेवारियें उठानी पड़ती थीं । इस प्रकार वह गृह के आन्तरिक जीवन की शासनकर्त्री थी ।

बाह्य जीवन व स्त्री—बाह्य जीवन का भार स्त्री न उठा सकती थी,

क्योंकि निसर्ग ने उसे घर के ही लिये बनाया है। बालक को नवमास गर्भ में धारण कर उसे जन्म देना व तत्पश्चात् कितने ही दिनों तक अपना अधिकांश समय उसी की सेवा में व्यतीत करना आदि बातें बताती हैं कि द्रव्योपार्जन आदि उदर-निर्वाह के साधन जुटाना उसकी मर्यादा के बाहिर के काम हैं। ये काम तो पुरुष के लिये बनाये गये हैं, क्योंकि स्वभावतः ही वह उस योग्य है। इस प्रकार यह समझ में आजायगा कि यदि स्त्री घर की सब जिम्मेवारियें अपने सिर पर न उठावे तो पुरुष को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि स्त्री भी उसके समान उदारनिर्वाह के साधन ढूँढने बाहिर जाय, तो आन्तरिक जीवन न मालूम कैसे सञ्चालित होगा; कदाचित् वह शून्य के बराबर ही रहेगा, जैसा कि आजकल पाश्चात्य रंग में रंगे कुछ परिवारों में दिखाई देता है।

मातृपद—गृहिणीपद के अतिरिक्त परमात्मा ने स्त्री को मातृपद के योग्य भी बनाया है[७]। माता शब्द पारिवारिक जीवन के लिये अमृत का भाण्डार है। वह क्या है मानो परिवार के लिये त्याग, तप व प्रेम की त्रिवेणी ही है। जिसे इस त्रिवेणी के पवित्र जल में स्नान करने का सौभाग्य न मिला हो, उससे अधिक अभागा और दूसरा न होगा। इसीलिये तो कहा है कि "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"। माता व पुत्र का जो परस्पर प्रेम रहता है, उसीसे पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है। वह अपने लिये जीवित नहीं रहती बल्कि अपने परिवार के लिये, अपने पुत्रों के परिवार के लिये। पारिवारिक सुख को बढ़ाने की फिकर में वह कोई बात उठा नहीं रखती। अपने बच्चों के पालने पोसने में वह सब कष्टों को हँस २ कर झेलती है, क्योंकि उन्हें सुयोग्य बनाने की जिम्मेवारी उसी पर रहती है। इस प्रकार मातृत्व का पद उसे पारिवारिक जीवन का केन्द्र बना देता है।

सहचरी का पद—प्राचीन काल में स्त्री को इन दो पदों के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था और वह था पुरुष की सहचरी का[८]। गृहिणी व माता की जिम्मेवारियों के कारण उसका जीवन नीरस न हो जाय तथा अपने पतिका, जिसे परिवार के बाह्य-जीवन की झंझटों में रातदिन रहना पड़ता था, जीवन भी नीरस न होने पाय, इसीलिये वह अपने पति की सहचरी बन जीवन-

सौख्य का आनंद लेती थी। प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य व माधुर्य्य दिया है, उसे अपने प्रयत्नों से ललितकला आदि में परिणत कर वह जीवन के दुःखों को भुलाने में समर्थ होती थी। उसका सौन्दर्य्य व माधुर्य्यपूर्ण प्रेम जो कि उसके अङ्ग २ से टपकता था, पति की दिन भर की चिन्ताओं व झंझटों को भस्मसात् करने में समर्थ होता था। पुरुष ऐसी सहचरी पाकर अपना दुःख आधा व सुख दुगुना कर लेता था। यह साहचर्य्य किसी एक दिशा में ही परिसीमित नहीं था, किन्तु इसका सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पहलू से था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

इस प्रकार पारिवारिक-जीवन पर विचार करने से मालूम होता है कि परमात्मा ने स्त्री को गृहिणी, माता व सहचरी बनने के लिये ही उत्पन्न किया है, जिससे पारिवारिक व सामाजिक जीवन सुखी होसके। प्राचीन भारत ने स्त्री के इस स्वरूप को भलीभाँति समझ लिया था व परिवार तथा समाज को इस प्रकार व्यवस्थित किया था कि स्त्री आदर्श गृहिणी, आदर्श माता व आदर्श सहचरी बन सके[९]।

प्राचीन भारत का विवाह-संस्कार—प्राचीन भारत के विवाह-संस्कार की प्रथा का, जिसका वर्णन गृह्यसूत्रों[१०] में किया गया है, आलोचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार प्राचीन भारत में स्त्री की तीनों हैसियतों पर आवश्यक ध्यान रखा गया था। विवाह-संस्कार की कुछ रस्में विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं; उदाहरणार्थ सप्तपदी,[१२] अश्मारोहण,[१३] ध्रुवदर्शन[१४] आदि। सप्तपदी का मतलब यह है कि वर-वधू धीरे २ सात कदम एक साथ चलते हैं व निश्चय करते हैं कि उनका साथ आजन्म निभेगा व एक दूसरे को सुखी बनाने में कुछ बाकी न रखा जायगा। इसी रस्म से 'साप्तपदीनं सख्यम्'[१५] शब्द का प्रयोग संस्कृत भाषा में प्रारम्भ होता है। इस रस्म के पूरा होने पर ही हिन्दू-विवाह कानून की दृष्टि से भी पूरा कहलाता है। अश्मारोहण की रस्म में वर वधू के पैर को पत्थर पर रखता है व उसके पैर के अंगूठे को अपने हाथ से पकड़कर कहता है कि "अश्मैव स्थिरा भव" अर्थात् पत्थर के समान स्थिर बनो। जिस प्रकार पत्थर में दृढ़ता, स्थैर्य व अपने स्थान में सटकर रहने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार स्त्री को अपने गृहस्थाश्रम में स्थिर बनने के लिये कहा जाता था। ध्रुवदर्शन की रस्म का भी यही

मतलब था कि स्त्री अपनी स्वाभाविक चञ्चलता के वशीभूत होकर दृढ़ता को न छोड़े। इसके पश्चात् वर वधू दोनों सन्तानोत्पत्ति तथा धर्म, अर्थ, कामादि की प्राप्ति से सम्बन्धित कितने ही प्रण करते थे[१६]। इस प्रकार विवाह-संस्कार सम्पादित होता था, जिसका उद्देश धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति था[१७]। भिन्न २ रस्मों के समय जो वेदमन्त्र[१८] पढ़े जाते थे उन में स्त्री के गृहिणी, माता व सहचरी के पदों का स्पष्ट विवेचन है। वधू के मन पर ये सब भाव पहिले ही से अङ्कित कर दिये जाते थे, जिससे नये जीवन में प्रवेश करने के पहिले वह अपने ऊपर आनेवाली जिम्मेवारियों को भी भली भाँति समझ ले।

विवाह संस्कार का महत्त्व—यह विवाह-संस्कार स्त्री व पुरुष दोनों को आजीवन एक बन्धन में बाँध देता था, जिससे कि वे दोनों मिलकर समाज का एक घटक बन जायँ। विवाह एक धार्मिक कृत्य था, जीवन की जिम्मेवारियों को सहर्ष सबके सामने स्वीकार करने का सुवर्ण अवसर। इससे कोई मुख नहीं मोड़ता था। इसीलिये भारत के पारिवारिक जीवन का पाया हमेशा मजबूत रहा। आजकल अन्य सामाजों में विवाह को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। उनके लिये वह एक सामाजिक बन्धनमात्र है, जो न्यायाधीश के सामने[१९] या सपने में भी तीन बार 'तलाक़' शब्द का उच्चारण करने से[२०] जब चाहे तब टूट सकता है व दूसरा सम्बन्ध जब चाहे तब हो सकता है। यही कारण है कि इन समाजों का पारिवारिक जीवन स्थिर व दृढ़ पायों पर स्थित नहीं है। गार्हस्थ्य-जीवन का पावित्र्य तथा आनंद उनके लिये दुष्कर है।

स्त्रीजीवन का उद्देश व उत्तरदायित्व—प्राचीन भारत की स्त्री विवाह के समय ही समझ जाती थी कि उसे विवाहित जीवन में केवल ऐश-आराम कर इन्द्रियलोलुपता की तृप्ति नहीं करना है बल्कि गृहिणी, माता व पुरुष की सहचरी के उत्तरदायित्त्व को उठाना है। वह आदर्श गृहिणी, आदर्श माता व आदर्श सहचरी बनने में अपना गौरव समझती थी। गृहिणी के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये वह अपना अधिकांश समय घर की देख भाल में बिताती थी व उसे स्वर्गतुल्य बनाती थी। उसे पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करने की इच्छा कभी भी नहीं होती थी, क्योंकि वह पहिले ही से ऐसी शिक्षा पाती थी जिससे पुरुष व स्त्री के विभिन्न कार्यक्षेत्र भली भाँति समझ में आ सके। इसी प्रकार वह माता व सहचरी की हैसियतों को भी

पूरी तरह से निबाहती थी। इसीलिये तो मनु जी ने कहा है कि इन स्त्रियों को देवता के समान पूजना चाहिये, इन्हें हर प्रकार से सन्तुष्ट रखना चाहिये जिससे वे जरा भी दुःखी न हों। जहां यह सब नहीं किया जाता वे घर नरक के समान दुःखदायी हो जाते हैं। मनुजी कहते हैं[२१]—

"पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥"

बहुत कल्याण चाहनेवाले पिता, भ्राता, पति, देवर आदि इन (स्त्रियों) का आदर करें व उनको भूषित करें।

"यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥"

जहां नारियें पूजी जाती हैं वहां देवता रमण करते हैं। जहां इन्हें पूजा नहीं जाता वहां सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं।

"शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥"

जहां स्त्रियें दुःखी रहती हैं वह कुल जल्द ही नाश को प्राप्त होता है। जहां ये दुःखी नहीं रहती वह कुल वृद्धि को प्राप्त होता है।

"जामयो यानि गेहानि श्रप्यन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥"

अपमानित होकर जिन घरों को स्त्रियें श्राप देती हैं वे पूर्णतया नाश को प्राप्त होते हैं, मानों किसी कृत्या ने उनका विध्वंस किया हो।

"तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥"

इसलिये आभूषण, वस्त्र, भोजन आदि द्वारा उत्सव आदि पर उन लोगों द्वारा इन की सदा पूजा की जानी चाहिये, जो कल्याण की इच्छा रखते हैं।

"सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥"

जिस कुल में पत्नी से पति व पति से पत्नी सदा सन्तुष्ट हों वहां निश्चितरूप से कल्याण रहता है।

"यदि हि स्त्री न रोचेत पुंमासं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥"

यदि स्त्री पुरुष को न रुचे व उसे प्रसन्न न करे तो इस अप्रसन्नता से कुल-वृद्धि नहीं हो सकती।

"स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥"

स्त्री के रुचने पर सम्पूर्ण कुल अच्छा लगता है, उसके न रुचने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

इस प्रकार मनुजी ने कितनी स्पष्ट भाषा में परिवार में स्त्री का स्थान व उसकी जिम्मेवारियें तथा उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय आदि बातों को अच्छी तरह से समझा दिया है।

प्रत्येक कार्य्य में स्त्री की आवश्यकता—विवाह होने के पश्चात् से ही कोई ऐसा पारिवारिक कृत्य नहीं होता था, जिसमें स्त्री पुरुष के साथ न रहे। कोई भी धार्मिक कार्य्य उसकी अनुपस्थिति में हो ही नहीं सकता था। इसीलिये यज्ञ करते समय राम को सीता की अनुपस्थिति में उसकी सोने की प्रतिकृति बनवानी पड़ी[२२]। आज भी हिन्दूसमाज में यही बात है। यदि किसी की स्त्री जीवित न हो तो उसके स्थान में एक सुपारी ही कमर में रख ली जाती है। अन्य देशों की स्त्रियों को यह सौभाग्य कहां प्राप्त है? वे भले ही अच्छे २ कपड़े पहिन मोहक शृङ्गार कर सकती हों, समाज में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकती हों, किन्तु पारिवारिक जीवन में जो महत्त्व का स्थान भारतीय ललनाओं को प्राप्त था, वह उनके भाग्य में नहीं है। दूसरे समाजों ने पारिवारिक जीवन में स्त्री के महत्त्व को अभी समझा भी नहीं है। स्त्री के इस महत्त्व के चित्र को कालिदास ने सुन्दर शब्दों में खींचा है[२३]।

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥"

गृहिणी, सचिव, सखी व ललितकला सीखने में तू मेरी प्रियशिष्या थी। करुणाविमुख विधि ने तुझे छीनकर मेरा क्या न छीना?

इसी प्रकार उसने स्त्री पुरुष के परस्पर सम्बन्ध को इस प्रकार समझाया है[२४]।

"शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥"

शशि के साथ कौमुदी चलती है, मेघ के साथ बिजली विलीन होती है। इस प्रकार जड़ वस्तुएँ भी सिद्ध करतीं हैं कि पत्नी को पति के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

सामाजिक जीवन में स्त्री का स्थान—स्त्री के कर्तव्यों व जिम्मेवारियों की इतिश्री पारिवारिक जीवन में ही नहीं होती थी, किन्तु सामाजिक जीवन से भी उसका पूरा २ सम्बन्ध था व सामाजिक विकास में वह अपना हाथ पूरी तरह से बँटा सकती थी। पुरुष के समान स्त्री का भी वैयक्तिक व सामाजिक जीवन रहता था। उसका वैयक्तिक जीवन परिवार से सम्बन्धित था व सामाजिक जीवन समाज से। उसे वेद पढ़ने[२५] व उपनयनादि[२६] संस्कारों द्वारा सुसंस्कृत बनने का अधिकार था। पुरुष के साथ उसे भी तीन ऋण चुकाने में सहायक बनना पड़ता था तथा शारीरिक मानसिक व आत्मिक शक्ति का सम्यक् विकास करना पड़ता था। स्त्रियें अपने पति के साथ में वानप्रस्थादि आश्रम में भी प्रवेश करती थीं[२७], जहां वे आत्म-विकास के मार्ग में अग्रसर होती थीं।

स्त्रियों के लिये सम्पूर्ण विकास का अवसर—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था ही कुछ ऐसे ढंग की बनी थी, जिससे स्त्री अपना हर प्रकार से विकास कर सकती थी। उस पर किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जा सकता था, जैसा कि मनुजी के ऊपर उद्धृत किये गये श्लोकों से स्पष्ट है। स्त्रियों की शिक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध किया जाता था। उनके लिये भी गुरुकुल रहते थे, क्योंकि कुछ स्त्रियें केवल पठनपाठन का ही काम किया करती थी, जिन्हें "उपाध्यायानी" कहते थे। पाणिनि ने 'उपाध्याय' शब्द के दो स्त्रीलिङ्ग-रूप बताये हैं—"उपाध्याया" अर्थात् उपाध्याय की धर्मपत्नी, व "उपाध्यायानी" अर्थात् जो उपाध्याय के समान अध्यापन का कार्य्य करे[२८]। मनुजी ने 'उपाध्याय' की परिभाषा इस प्रकार की है[२९]—

"एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं उपाध्यायः स उच्यते॥"

जो वेद के एक भाग अथवा वेदांगों को जीविका के लिये पढ़ाता है वह उपाध्याय कहाता है।

उपाध्याय का काम वेदवेदाङ्ग आदि पढ़ाना था, इसलिये उपाध्यायानी भी वेदादि ही पढ़ाती होंगी। यह न कहना होगा कि यह उपाध्यायानी लड़कियों को पढ़ाया करती थी।

ब्रह्मचर्य्य-व्रत—अथर्ववेद से पता चलता है कि लड़कियों को गुरुकुल में रहकर वेदादिपठन कर ब्रह्मचर्य्य का पालन करना पड़ता था। तत्पश्चात् उन्हें विवाह करने का अधिकार प्राप्त होता था।

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"[३०]

ब्रह्मचर्य्य-व्रत के द्वारा अर्थात् उस आश्रम को समाप्त करने के पश्चात् कन्या युवा पति को प्राप्त होती है।

इस से स्पष्ट है कि एक प्रकार से वेदाभ्यास लड़कियों के लिये भी अनिवार्य्य था। इस बात की पुष्टि प्राचीन आचार्यों ने भी की है।

"कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्ताद्बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेद्बुद्धिरूपशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत।"[३१]

उपरोक्त उद्धरण में कहा गया है कि विवाह करते समय अच्छी तरह से कन्या की परीक्षा करनी चाहिये। वह रूप-गुणशीलयुक्त तथा रोगरहित होनी चाहिये। उस का "अभिजात" होना भी आवश्यकीय था। ये सब बातें तब ही संभव हो सकती हैं जब कि समाज में स्त्रीशिक्षा का प्रचार हो। मनु, याज्ञवल्क्यादि ने भी इस कथन की पुष्टि की है।[३२]

प्राचीन कालीन स्त्रियें—इसी स्त्रीशिक्षा के ही कारण प्राचीन काल में स्त्रियें आश्चर्य्यजनक उन्नति कर सकीं। इन्हीं में से कितनी मन्त्रद्रष्ट्रियें[३३], दार्शनिकाएँ,[३४] कवयित्रिएँ,[३५] गणितज्ञाएँ[३६] आदि बन कर भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सदा के लिये अपनी कीर्ति-पताका फहरा गईं। विश्ववारात्रेयी, अपालात्रेयी, सिकतानिवावरी, यमीवैवस्वती, घोषाकाक्षीवती आदि मन्त्रद्रष्ट्रियों के बनाये हुए वेदमन्त्र आज भी ऋग्वेद में वर्तमान हैं। इसी प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में भी प्राचीन स्त्रियों ने अपना जौहर दिखाया था। दर्शनशास्त्र के इतिहास में गार्गी व मैत्रेयी के नाम अवश्य सुवर्णाक्षरों में लिखे जायँगे। शारीरिक शक्ति के क्षेत्र में भी स्त्रियों ने अपने क्षात्र तेज को आवश्यकता

पड़ने पर बताया था। प्राचीन काल में राजाओं की रानियें भी युद्धक्षेत्र में उनके साथ जाती थीं। युद्धक्षेत्र में कैकेयी की वीरता को कौन नहीं जानता, जिसके कारण दशरथ के प्राण बचे थे? सीता का राम के साथ जंगल २ भटकना व सब आपत्तियों का हँसते २ सामना करना क्या कम वीरता है! कितने ही ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे प्राचीन कालीन स्त्रियों के क्षात्र तेज का पता लग सकता है। मध्यकालीन स्त्रियें भी अपनी वीरता के कारण अमरत्व को प्राप्त हो चुकी हैं। रानी पद्मावती, दुर्गावती व झांसी की वीर रानी लक्ष्मीबाई आदि की वीरता किससे छिपी है?

पातिव्रत्यधर्म—प्राचीन भारत की स्त्रियों का पातिव्रत्य तो जीवनसर्वस्व ही था[३६]। उनके लिये पति सब कुछ रहता था। प्राचीन भारतीय गार्हस्थ्य सौख्य का रहस्य इसी पातिव्रत्य व दाम्पत्यप्रेम में छिपा है। स्त्री को यह भली भाँति मालूम रहता था कि पति उसका जीवनाधार है। पति के चुनने में उसे पूरी स्वतन्त्रता रहती थी।[३७] वह चाहे जिसे अपना जीवन-सर्वस्व बना सकती थी। प्राचीन भारत की स्वयंवरप्रथा को कौन नहीं जानता? सीतास्वयंवर आदि के गीत भारत की स्त्रियें आज भी गाती हैं। पति चुनते समय उसे बड़ी होशियारी से काम लेना पड़ता था। एक बार पति चुन लिया कि फिर चाहे जो कुछ भी हो जाय उसका साथ कभी नहीं छोड़ा जा सकता था[३८], चाहे इसमें आत्मबलिदान ही क्यों न करना पड़े। सतीप्रथा भी तो भारत में ही प्रचलित थी[३९]। यह प्रथा बाद में भले ही विकृत हो गई हो, किन्तु जिस तत्त्व पर इसका आधार था वह सचमुच में स्तुत्य है। जहां दोनों एक होगये हों, आत्मा से आत्मा व मन से मन मिलकर एक होगये हों, वहां एक के बिछुड़ने पर दूसरा कैसे रह सकता है। इसी उदात्त भाव से प्रेरित होकर अपने दाम्पत्य-प्रेम को अमर कर भारत की कितनी ही ललनाओं ने अपने पति के शव के साथ चिता की धधकती हुई ज्वालाओं का आलिङ्गन किया है! मध्यकालीन राजपूतरमणियों ने भी युद्धक्षेत्र में अपने पति के वीरगति को प्राप्त होने पर पातिव्रत्यधर्म की रक्षार्थ जौहरव्रत कर हँसते २ अग्नि का आलिङ्गन किया था! वह चित्तौर जिसे इस स्वर्गीय दृश्य को देखने का सौभाग्य कितनी ही बार मिला था आज भी वर्तमान है, जिसके दर्शनमात्र से आधुनिक स्त्री-समाज

पवित्र हो सकता है। दाम्पत्यप्रेम के इस आदर्श को कालिदास ने भी सुन्दर शब्दों में समझाया है[४०]।

सावित्री का पतिप्रेम—पतिप्रेम व पतिनिष्ठा का कहीं उत्कृष्ट उदाहरण मिल सकता है तो वह सावित्री के जीवन में। जंगल में रहनेवाले सत्यवान् को जब अपना पति मान लिया तब काहे की चिन्ता। भले ही वह एक वर्ष में ही मरनेवाला क्यों न हो। दृढ़ निश्चय के सामने नारदादि मुनि भी क्या हैं। एक सती जो पातिव्रत्य को अपना सर्वस्व मानती है, मृत्यु से कोई भय नहीं पा सकती। यम भी उसका कुछ नहीं कर सकता। वही यम के पीछे २ दौड़कर उसे परेशान करती है। आखिर वह हार मान लेता है। इसी उदात्त प्रेम के कारण आज भी भारतीय स्त्रीसमाज में सावित्री एक आदर्श सती के नाते पूजी जाती है। सीता, द्रौपदी आदि भी हिन्दू-समाज में पूजनीया मानी जाती हैं। अपने चारित्र्य व पातिव्रत्य के कारण ही ये देवियें सदा के लिये अमर होगईं।

आधुनिक हिन्दू-ललना—भारतीय स्त्रियों की यह विशेषता आज भी कुछ अंशों में वर्तमान है, जिसके लिये विश्व के स्त्री-समाज में उनका मुख ऊँचा है, चाहे वे अशिक्षित व आधुनिक तड़कभड़क से रहित क्यों न हों। आज भी एक हिन्दू-स्त्री पति की सहचरी का आदर्श दुनियां के सामने रख सकती है। इस गिरी हालत में भी उसमें जो तप, त्याग, पतिनिष्ठा आदि के पवित्र भाव कूट २ कर भरे हैं, वे अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। इन स्त्रियों ने अपने पुराने आदर्शों को बहुतकुछ सँभाल रखा है, किन्तु भारतीय पुरुष तो अपने प्राचोन आदर्शों से बिलकुल च्युत होगये हैं। वे चारित्र्यबल की कमी के कारण कितने ही दोषों के शिकार बन गये हैं। वे ही दुराचारी पुरुष अपनी पत्नी को सीता व सावित्री के रूप में देखना चाहते हैं। इस का परिणाम यह होता है कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की परिस्थिति शोचनीय होती जाती है। वे तो अपने प्राचीन आदर्शों को सम्हाल रखना चाहती हैं व उन के पतिदेव प्राचीन आदर्शों से कोसों दूर भागते हैं। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में अशान्ति का साम्राज्य छा जाता है। स्त्री को कितने ही दुःख सहने पडते हैं। पति अपनी मूर्खता के कारण उसे पैर की जूती समझ ठुकरा भी देता है व परस्त्री-गमन के दोष के कारण उसे कितना ही मानसिक कष्ट भी देता है। वह

बेचारी ये सब यातनाएँ मूकभाव से सहलेती है। वे ही बेचारियें अपने पति के, चाहे वह महान् पापी ही क्यों न हो, चरण धोकर पीती हुई देखी जाती हैं। इस दुर्दशा ने शिक्षित महिलाओं के हृदयों में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और वे पाश्चात्य-संस्कृति के मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न कर रही हैं। किन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि वह मार्ग भी काँटों से खाली नहीं है।

मातृशिक्षा—प्राचीन भारत की स्त्री अपने मातृत्वपद को भी पूरी तरह से निबाहती थी। बालक के गर्भ में आते ही वह माता की जिम्मेवारियों को समझ तदनुसार आचरण प्रारम्भ कर देती थी। वह मन में अच्छे २ विचार धारण करती थी, जिससे गर्भस्थ बालक के मन पर अच्छा प्रभाव पड़े। अभिमन्यु के व्यूह-भेदन का रहस्य इसी में छिपा हुआ है[५१]। बालक के पैदा होने के बाद भी उसे हमेशा यह विचार रहता था कि मेरा बालक विद्वान् व लोक-कल्याणकारी कैसे बने! वह अपने दूध के साथ उसे अच्छे २ आदर्शों का भी पान कराती थी। उन आदर्शों को बालक आजीवन नहीं भुला सकता था। यही कारण है कि प्राचीन काल में दृढ़-निश्चयी वीर व अपने आदर्शों के लिये सब कुछ न्यौछावर करने वाले व्यक्ति पैदा होते थे। ध्रुव, प्रह्लाद, राम, कृष्ण आदि विभूतियों का बहुत कुछ गौरव बालपन की शिक्षा के कारण ही था। लोक, समाज, धर्म, देश आदि के लिये जो हँसते २ बलिदान हो जाया करते थे, उसकी जड़ में भी माता की शिक्षा थी। स्त्री माता की हैसियत से समाज को बना या बिगाड़ सकती थी। आजकल की हिन्दू-स्त्रियें बहुत पिछड़ी हुई हैं। यही कारण है कि उनकी सन्तान भी वैसी ही रहती है। परिणामतः समाज भी साहस, उत्साह व वीर्य से हीन बन कर लगभग निर्जीव ही बन गया है। समाज तब ही सुधर सकता है जब स्त्री-समाज को आदर्श माता बनने का प्राचीन पाठ पढ़ाया जाय।

गृहिणी के आदर्शों का निर्वाह—आदर्श गृहिणी के पद का भी प्राचीन भारतीय स्त्रियों ने अच्छी तरह निर्वाह किया है। भारत के सामाजिक इतिहास को पढ़ने से स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि पारिवारिक जीवन कितना वैज्ञानिक व सुखमय था व गृहस्थाश्रम कितना आनंदमय रहता था। यह सब गृहिणी के आदर्शों को पूरा किये बिना संभव ही नहीं हो सकता। पारिवारिक

जीवन संयुक्तपरिवार-प्रथा पर निर्भर था, इसलिये गृहिणी की जिम्मेवारियें और भी अधिक बढ़जाती थीं। तारा, कौशल्या, मन्दोदरी, सीता, द्रौपदी आदि के गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता का कारण उनका गृहिणी-पद की जिम्मेवारियों को अच्छी तरह से निबाहना ही था। आजकल आदर्श गृहिणियों की कमी के कारण संयुक्तपरिवार-प्रथा अत्यन्त दुःखदायी बनती जारही है, क्योंकि संयुक्त परिवारों में सञ्चालन-शक्ति का अभाव ही होगया है।

समाज में स्त्रियों का मान—प्राचीन भारत में उच्चतम आदर्श व जीवन के कारण स्त्रियों का मान भी था। समाज उन्हें कभी भी नीच नहीं समझता था। कुछ स्मृतियों में कहीं २ स्त्रियों व शूद्रों को एक ही श्रेणी में रखा गया है[४२] व कुछ पण्डितों ने तो यह भी लिख मारा है कि "स्त्रीशूद्रौ न धीयताम्"। स्त्रियों के प्रति इस प्रकार की मनोवृत्ति सामाजिक पतन के पश्चात् प्रारम्भ हुई व उसी समय स्वार्थी पण्डितों ने अपने विचार स्मृत्यादि ग्रन्थों में ठूंस दिये। प्राचीन काल में स्त्री को पूजनीया समझते थे व पुरुष के पहिले उन्हें स्थान मिलता था। जब स्त्री व पुरुष का नाम एक साथ लिया जाता है, तब स्त्री का नाम पहिले ही रहता है जैसे सीताराम, राधेकृष्ण, गौरीशंकर लक्ष्मीनारायण इत्यादि। इस प्रकार नामोच्चारण की प्रथा कोई विशेष महत्त्व तो नहीं रखती, किन्तु कम से कम इस बात की सूचक तो अवश्य है कि समाज में स्त्री आदर की दृष्टि से देखी जाती थी, न कि तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से। उपनिषदों में भी ब्रह्मचारियों को गुरु जो उपदेश देता है, उसमें पहिले माता ही का उल्लेख करता है यथा "मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।"[४३] यदि हम विवाह-संस्कार पर भी ध्यान दें तो मालूम हो जायगा कि अश्मारोहण के समय वर को किस प्रकार कन्या के चरण को छूना पड़ता था। नव-विवाहित वरवधू जो प्रण करते थे, उससे भी मालूम होता है कि समाज में स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा था। मनुजी भी, जैसा कि पहिले कह आये हैं, स्त्रियों के साथ पूज्यभावनायुक्त व्यवहार करने का आदेश देते हैं। यह बात भी निर्विवाद है कि जब तक स्त्रीपुरुष दोनों ही सन्तुष्ट नहीं रहते, तब तक गृहस्थाश्रम सुखी रह ही नहीं सकता व परिणामतः समाज किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। प्राचीन कालीन समाज की आश्चर्यजनक उन्नति ही स्पष्टतया बताती है कि स्त्रियों को समाज में समुचित स्थान अवश्य ही दिया गया था।

आधुनिककाल में स्त्रीशिक्षा का विरोध—आजकल हिन्दूसमाज में स्त्रियों के प्रति एक विचित्र भावना फैल गई है। समाज के धर्मप्राण लोग यह समझते हैं कि स्त्रियों को लिखाना पढ़ाना नहीं चाहिये, उनका सम्बन्ध तो चूल्हाचक्की से ही रहना चाहिये व उन्हें घर के बाहिर भी न निकलना चाहिये। इस मत के माननेवाले वेदधर्मशास्त्रादि से अपने विचारों की पुष्टि करने का हौसला करते हैं। यहां तक कि मुसलमानों से ली हुई पड़दा प्रथा को भी पातञ्जल महाभाष्य के "असूर्य-पश्या"[४४] शब्द से सम्बन्धित करने का व्यर्थ प्रयत्न किया जाता है। समाज जब पतित अवस्था को प्राप्त होने लगा, तब धीरे २ ये सब दोष उसमें प्रवेश करने लगे। ये बातें तो भारतीय संस्कृति को आदर्शों के बिलकुल ही विपरीत हैं! जहाँ वेदमन्त्रों की द्रष्ट्रियें, दार्शनिक विवेचन करनेवाली तथा गणितादि शास्त्र के सिद्धान्तों को समझने व ढूँढनेवाली स्त्रियें उत्पन्न हुई हों, वहां यह सिद्धान्त कैसे बन सकता है कि स्त्रियों को पढ़ाना पाप है। जब कि स्त्रियें युद्धक्षेत्र में जाकर लड़ सकती[४५] थीं, जंगल में जाकर तप कर सकती थीं,[४६] धर्मप्रचारिकाएँ बन सकती थीं[४७] व राज्यसिंहासन पर बैठ कर राज्य कर सकती थीं,[४८] तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें केवल चूल्हाचक्की से ही सम्बन्ध रखना चाहिये व पड़दे में ही रहना चाहिये!

प्राचीन काल में बालविवाहादि कुप्रथाओं का अभाव—यहां इस बात का निर्देश करना भी उचित होगा कि स्त्रियों के जीवन को मिट्टी में मिलानेवाली कुप्रथाएँ प्राचीन भारत में नहीं थीं। बालविवाह की कुप्रथा को प्राचीन काल में कोई भी नहीं जानता था। अथर्ववेद में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त करने पर ही कन्या युवा पति को प्राप्त हो सकती थी। गुड्डा-गुड़िया का ब्याह कदापि नहीं हो सकता था। इसी प्रकार पति भी युवा ही रहता था न कि वृद्ध जैसा कि आजकल हिन्दू-समाज में कभी कभी देखा जाता है। साठ व सत्तर वर्ष के वृद्ध जो कि मृत्यु का आलिङ्गन करने ही वाले हैं, बारह या चौदह वर्ष की कन्या से विवाह करते देखे व सुने जाते हैं। ये विवाह करवानेवाले वे ही वेदपाठी ब्राह्मण रहते हैं, जिनके वेदों ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि न बालविवाह हो और न वृद्धविवाह। यह कैसी आत्मवञ्चना है! यह कैसी विडम्बना है!!

सन्तान-प्राप्ति—प्राचीन काल में सन्तान-प्राप्ति को बहुत महत्त्व दिया गया था। किसी भी जाति के शैशव या युवावस्था में संख्यावृद्धि एक विशेष स्थान रखती है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राचीन भारतीय आर्य पुत्र-प्राप्ति की कामना रखता था[४९]। जिसे सन्तान न हो उसका जीवन निरर्थक समझा जाता था। यदि किसी निःसन्तान स्त्री का पति मर जाता या सन्तानोत्पत्ति के लिये असमर्थ बन जाता, तो उसे अधिकार था कि किसी विद्वान् व जितेन्द्रिय से नियोग कर वह सन्तान प्राप्त कर ले[५०]। आधुनिक समाज तो कदाचित् इस प्रथा का मखौल उड़ाकर तिरस्कार करे, किन्तु यह याद रखना चाहिये कि नियोग इन्द्रियलोलुपता के वशीभूत होकर वासना-तृप्ति के लिये नहीं किया जाता था। वह तो समाज के हित के लिये, योग्य नागरिक व् विद्वान् मनुष्य निर्माण करने के लिये, किसी कुल के बुझते हुए दीपक को देदीप्यमान् रखने के लिये किया जाता था। इन मखौल उड़ाने वालों को यह न भूलना चाहिये कि काक्षीवत्[५१] के समान मन्त्रद्रष्टा व पाण्डवों[५२] के समान वीर पुरुष इसी नियोगप्रथा के कारण ही जन्म ले सके थे।

विधवा-विवाह—आजकल विधवा-विवाह का प्रश्न भी स्त्रियों के लिये महत्त्व का है। प्राचीन-काल में विधवाओं का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि एक तो वृद्ध-विवाह की प्रथा नहीं थी व साधारणतया सती की प्रथा वर्तमान थी। आजकल के समान विधवाओं की हृदयविदारक संख्या उस काल में नहीं थी। फिर भी नियोग-प्रथा के बन्द हो जाने पर समाज को विधवाओं के प्रश्न को हल करने की आवश्यकता प्रतीत हुई व मनु-पराशरादि स्मृतिकारोंने विधवा-विवाह की व्यवस्था भी दे दी[५३]। "पौनर्भव"[५४] पुत्र को स्वीकार करना ही विधवा विवाह को स्वीकृति देना है। आजकल जब कि वृद्ध-विवाह व अन्य-प्रकार के अनमेल विवाहों का समाज में ज़ोर है व विधवाओं की संख्या बढ़ ही रही है, तब विधवाविवाह को अपना लेने में ही कल्याण है अन्यथा व्यभिचार आदि की मात्रा बढ़ना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार समाज पूर्णतया नाश के गढ़हे में गिर जायगा। जो समाज छिपे तौर पर विधवाओं का व्यभिचार व गर्भपात सहन कर लेता हो, वह उनके स्पष्टरूप से विवाह का विरोध करे यह कितने दुःख की बात है! जिस समाज की बुनियाद इस प्रकार आत्मवञ्चना पर हो, उसे संसार में जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।

उपसंहार—सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों को समुचित स्थान दिया गया था। पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उनकी उपयोगिता को समझ उन्हें आदर्श माता, आदर्श गृहिणी व आदर्श सहचरी बनाने की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारतीय, स्त्रियों का आदर करना भी जानते थे। स्त्रीशिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था की गई थी, जिससे कि स्त्रियें अपने आदर्शों को पाल सकें। आजकल भारतीय स्त्रियों की जो शोचनीय व दयनीय स्थिति है, वह प्राचीन भारतीय-संस्कृति के आदर्शों के बिलकुल ही विपरीत है। अतएव प्रत्येक सच्चे भारतीय का पवित्र कर्तव्य है कि वह स्त्रीसमाज का सुधार कर उसे प्राचीन आदर्शों तक ले जावे।

अध्याय १२

आर्थिक-विकास

आर्थिक विकास का महत्त्व—प्राचीन भारत की सांस्कृतिक उन्नति में आर्थिक विकास को भी समुचित स्थान मिला था। कुछ ऐतिहासिकों का भ्रमपूर्ण मत है कि प्राचीन भारत केवल आध्यात्मिक रङ्ग में पूर्णतया रङ्गा था, उसका लौकिक व व्यवहारिक बातों से कोई सम्बन्ध नहीं था। क्योंकि उसका यह सिद्धान्त था कि संसार दुःखमय है परमसुख की प्राप्ति इस लोक को छोड़ उस लोक में होती है, इसलिये सांसारिक झंझटों में पड़ना उचित नहीं। इन ऐतिहासिकों के मतानुसार प्राचीन दर्शनकारों ने भी अपने सिद्धान्तों में इसी दृष्टि को अपनाया है[1]। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक समय ऐसा अवश्य था, जब कि दुनियां के दुःखों से ऊब कर विचारक उससे अलग होना चाहते थे व तप के बहाने कितने ही शारीरिक कष्ट झेलते थे[2]। वेदान्त के मिथ्यावाद या मायावाद ने भी कदाचित् इस मनोवृत्ति के विकास में कुछ सहायता दी हो, किन्तु इस पर से यह तो कभी भी नहीं कहा जा सकता कि भारत का सांस्कृतिक विकास इसी निराश मनोवृत्ति के पाये पर हुआ था व प्राचीन भारतीय सांसारिक वैभव की ज़रा भी परवाह नहीं करते थे। भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन करने के

पश्चात् संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तों का सूत्रपात किया था। मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण विकास ही उस संस्कृति का मूलमन्त्र था। भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। वेदस्मृत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, स्थान २ पर आर्थिक विकास के महत्त्व को समझाया है[३]। वेदों में वर्णोत्पत्ति के प्रकरण में वैश्यों को जो स्थान दिया गया है, उसके व अन्य कितने ही प्रमाणों के सहारे यह कहा जासकता है कि प्राचीन भारत ने आर्थिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझा था।

मानव-जीवन का ध्येय–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सांस्कृतिक दृष्टि से मानवजीवन को जितनी अच्छी तरह से प्राचीन भारत ने समझा था, उतनी अच्छी तरह से और किसी ने नहीं समझा। दूसरें देशों में किसी विशेष जन-समुदाय के क्षणिक हित, सुख व वैभव को ध्यान में रख मानवजीवन को एक तङ्ग दायरे में बन्द कर दिया गया था। आजकल तो पाप, अत्याचार आदि के द्वारा जैसे बने वैसे अपना प्रभुत्व व अधिकार दूसरों पर स्थापित करना ही मानव-जीवन का उद्देश समझा जाता है। जो देश औद्योगिक विकास के मार्ग में अधिक आगे बढ़ गये हैं उनके सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता से अधिक उत्पन्न किये हुए माल के लिये बाज़ार प्राप्त करने की इच्छा से दूसरे कम शक्तिवाले देशों को जीत कर उन्हें गुलाम बनाना ही मानव-जीवन का ध्येय बन गया है। किन्तु प्राचीन भारत में ऐसा नहीं था। प्राचीन भारतीय हाड़-मांस के शरीर से बहुत ऊँचे उठ गये थे। उन्होंने आत्मा की पुकार को सुन कर पारलौकिक दृष्टि से समाज का संगठन कर मानव-जीवन के ध्येय को निश्चित किया था। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति ही मानव-जीवन का उदात्त ध्येय थी[४]। प्राचीन भारतीय का प्रत्येक काम, प्रत्येक प्रयत्न, इसी वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति के लिये रहता था। आध्यात्मिकता के मार्ग पर प्रवृत्त होने की तैयारी करना व उसी को समस्त जीवन का आधार बनाना 'धर्म' कहाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसायादि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही 'अर्थ' का तात्पर्य था। 'काम' से यह मतलब था कि मनुष्य अपनी महत्त्वा-कांक्षाओं को, जो कि आध्यात्मिक व पारलौकिक रहती थीं, सफल बनाने के साधन प्राप्त करे। वर्णाश्रमव्यवस्था इसी वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बनती थी। आश्रम-व्यवस्था तो विशेषरूपसे इससे सम्बन्धित थी। ब्रह्मचर्य्या-

श्रम का धर्म से, गृहस्थाश्रम का अर्थ से व संन्यास का मोक्ष से सम्बन्ध था। गृहस्थियों को आर्थिक विकास से सम्बन्धित करना बिल्कुल ही उपयुक्त था, क्योंकि बाकी के तीन आश्रमवालों का मार्ग ही निराला था। उनकी झुकावट तो आध्यात्मिकता की ओर रहती थी। केवल गृहस्थाश्रमी ही ऐसे थे, जिन पर दो प्रकार की जिम्मेवारियें रहती थीं, आध्यात्मिक उन्नति की व आर्थिक उन्नति की। उन्हें मानव-जीवन के सच्चे उद्देश को ध्यान में रख आर्थिक उन्नति करनी पड़ती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारत के गृहस्थी विशेषकर वैश्य धन कमाकर एकत्रित करने को ही अपना जीवनसर्वस्व नहीं समझते थे। आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिये था, न कि भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाकर ऐशआराम करने के लिये। इस प्रकार हमें प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का पता लग जाता है।

प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था—वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें पता चलता है कि उस समय समाज पर्य्याप्तरूप से विकसित हो चुका था। उस का आर्थिक जीवन भी उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था, जैसा कि किसी भी सभ्य व विकसित समाज में पाया जाता है। समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, आदान, प्रदान आदि के बहुतसे साधन वर्तमान थे। श्रमविभाग के सिद्धान्त के आधार पर समाज के चार विभाग किये गये थे, जिसका स्पष्ट विवेचन पुरुषसूक्त में किया गया है[५]।

सब सम्पत्तियों की निधि वसुन्धरा—प्राचीन भारत ने यह भली भांति समझ लिया था कि संसार की अनेकों सम्पत्तियों की निधि पृथ्वीमाता ही है। इसीलिये उसका नाम 'वसुधा'[६] या 'वसुन्धरा'[७] रखा गया, जिसका अर्थ होता है 'द्रव्यधारण करनेवाली'। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह शब्द कितना अर्थपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है। पृथ्वीमाता की ही कृपा से हमें अन्न, वस्त्र, जल आदि प्राप्त होते हैं। उसी के गर्भ से सोना, चांदी, ताम्बा, लोहा, कोयला आदि मिलते हैं। आज भी समस्त मानव-जाति का साम्पत्तिक जीवन पृथ्वीमाता की कृपा पर निर्भर है। यही कारण है कि ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र[८] पृथ्वी की स्तुति में लिखे गये हैं, क्योंकि उसके महत्त्व को वैदिक ऋषि भली भाँति समझ गये थे। मोहन्जोदाड़ो आदि में प्राचीन संस्कृति के जो चिह्न मिले

हैं, उनमें पृथ्वी की मूर्तियें भी हैं[९]। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में पृथ्वी के महत्त्व को भली भाँति माना गया था।

सम्पत्ति-उत्पादन, उपभोगादि के साधन, कृषि—भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सब से प्राचीन व सरल तरीका है कृषि। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहां पहिले ही से कृषिकर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। प्राचीन काल से आज तक यहां के अधिकांश लोग इसी पर निर्भर रहते आये हैं। इसीलिये यहां ग्रामों का आधिक्य है व इसे कृषि-प्रधान देश कहते हैं। वेदों से पता लगता है कि कृषिकर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत जोतने का, हल चलाने का व फसलों से हरेभरे खेतों का उल्लेख है[१०]। वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति कितने ही मन्त्रों में की गई है[११]। पृथ्वी को 'गो' नाम से सम्बोधित कर पूजनीया माना गया है[१२]। राजाओं को भी अपने हाथों से हल चलाना पड़ता था, चाहे वह एक बार ही और वह भी थोड़े समय के लिये ही क्यों न हो। जनक के समान दार्शनिक राजा को भी यज्ञभूमि में हल चलाना पड़ा था,[१३] जिससे सीता का जन्म हुआ। ऋग्वेद में इन्द्रवृत्र-युद्ध[१४] के वर्णन में समझाया गया है कि कृषि-प्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता होती थी व अनावृष्टि से कितनी ही हानि होती थी।

वैदिक काल में कृषि—ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत व तत्सम्बन्धी कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है। कृष्ट व अकृष्ट भूमि आदि के लिये कितने ही शब्द प्रयुक्त किये गये हैं; जैसे उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि[१५]। इसी प्रकार खेती के औजारों का भी निर्देश किया गया है; जैसे स्तेग, फल, लाङ्गल, सीता, सीर, अश्र आदि[१६]। सिंचाई, खत देना आदि के बारे में भी ऋग्वेद से बहुत कुछ मालूम होता है। यव, व्रीहि आदि के उल्लेख[१७] से उस समय जो अनाज पैदा किया जाता था उसका पता लगता है। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगा कि वैदिक काल में ही खेती का अच्छा विकास होगया था व तत्सम्बन्धी आवश्यकीय ज्ञान भी लोगों को था। खेती बैलों के द्वारा होती थी, इसीलिये प्राचीन काल के आर्थिक विकास में गोपालन का भी विशेष स्थान था व उसे एक स्वतन्त्र उद्योगधन्दे के रूप में विकसित किया गया था। इसका

पूरा दारोमदार गोप व गोपिकाओं पर रहता था। कृष्ण ने भी अपनी बाल-क्रीड़ा इन्हीं के मध्य की थी। इसके महत्त्व पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

वैदिक काल में कृषि-कर्म का प्राधान्य रहने से उससे सम्बन्धित लोगों को अपने खेतों के निकट गांवों में रहना पड़ता था। इसलिये तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में ग्रामों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में ग्रामणी का उल्लेख आता है,[१८] जिसका आदर राजदर्बार में भी होता था। वह राजा के साथ युद्ध में भी जाता था। इस प्रकार वैदिक काल में देहात के लोग अपने खेतों की उपज पर निर्भर रह कर अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। अन्नवस्त्र की उन्हें कभी भी कमी नहीं रहती थी, क्योंकि आजकल के समान उनका रक्तशोषण नहीं किया जाता था। वैदिक-काल के पश्चात् भी सम्पत्ति-वृद्धि, उदरनिर्वाह व आर्थिक-विकास का मुख्य साधन कृषिकर्म ही रहा है, जैसा कि ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि[१९] ग्रन्थों के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है। वही राजा अच्छा समझा जाता था, जिसके राज्य में अच्छी २ फसलें पैदा होती थीं। यज्ञ का सम्बन्ध भी कृषि से जोड़ा गया था, क्योंकि समाज में यह विचार फैल गया था कि "यज्ञात् भवति पर्जन्यः" यज्ञ से वर्षा होती है। वर्षा न होने पर बारह २ वर्ष के यज्ञ ऋषि लोग आयोजित करते थे। इस प्रकार कृषिकर्म भारत के आर्थिक-विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

गोपालन—गोपालन का कृषि से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। गाय के महत्त्व को जितना अधिक भारतवासी समझे हैं, उतना कोई भी नहीं समझा। गोपालन आज भी पाश्चात्य देशों में होता है, किन्तु उसके साथ ही साथ गोभक्षण भी होते दिखाई देता है। जननी के बाद गाय ही मनुष्य के पोषण व वर्धन में अधिक सहायक बनती है। उसके बछड़े खेती करने में पूरी २ सहायता देते हैं। वह स्वतः अपने बछड़े के दूध में से बचाकर हमें दूध व घी देती है, जिसे खाकर हम अपने अङ्ग प्रत्यङ्ग खूब मजबूत बनाते हैं। जब मनुष्य-जाति पर गाय का इतना उपकार है, तब यदि भारतीय उसे माँ कह कर पुकारें तो क्या हर्ज है? यही तो मानवता है न कि उसके घी दूध से मजबूत बने हुए हाथों से उसी की गर्दन पर छुरी चलाकर उसके रक्त व

मांस का भक्षण करना। किन्तु इस सभ्य बीसवीं शताब्दि के सभ्य जगत् में कितने ही स्थानों पर इसी प्रकार गाय के उपकार को फेवा जा रहा है।

वैदिक काल में गोपालन—भारत में वैदिक-काल से ही गाय के उपकार को समझ उसे पूजनीय माना गया था। वैदिक ऋषियों ने उसे "अघ्न्या हि गोः"[२०] कहकर सम्बोधित किया, जिससे कोई उस पर हाथ न उठा सके। वैदिक ऋषियों के इस आदेश को भारतीयों ने आज तक माना है व आगे भी मानते जायँगे।

गाय पालना प्राचीन आर्य्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। गायें प्राचीन आर्यों की विशेष सम्पत्ति थीं। पृथ्वी व गाय दोनों को ही बहुत पहिले ही से पूजा जाता था। खेती के लिये बछड़े, शरीर मज़बूत बनाने के लिये घी व दूध, देहातों के छोटे २ घर लीपने व पोतने के लिये गोबर, जलाने के लिये कंडे आदि सब गाय से ही प्राप्त होते थे। आर्थिक दृष्टि से समाज में गाय का इतना अधिक महत्त्व था व उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग में देवताओं के निवासस्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बड़े २ सींगवाली बहुतसी गायें विशेषरूप से रहती थीं, जैसा कि ऋग्वेद में विष्णु-लोक के सम्बन्ध में कहा गया है[२१]।

कामधेनु की कल्पना—पुराणों ने भी गाय के समाज के प्रति उपकार का बदला अच्छी तरह से दिया है। कामधेनु की कल्पना[२२] सचमुच में स्तुत्य है। मानवजाति की समस्त कामनाओं की पूर्ति करनेवाली कल्पित कामधेनु स्वर्ग में बसती थी। वह कभी २ मृत्युलोक पर भी कृपा दृष्टि कर देती थी, जैसी कि उसकी लाड़िली नंदिनीने राजा दिलीप पर उसकी भक्ति के परिणाम-स्वरूप उसे पुत्ररत्न देकर की थी[२३]। कालिदास ने दिलीप की गोसेवा का जो सौन्दर्यपूर्ण चित्र खींचा है[२४], उससे हमें भारतीयों के गाय के प्रति उस पूज्य भाव के दर्शन होते हैं, जिसको उन्होंने वैदिक काल से ही अपने अन्तःकरण में धारण करना सीखा था। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि स्वर्गीय कामधेनु की पौराणिक कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि मृत्युलोक की गाय भी इस कामधेनु से किसी प्रकार कम नहीं ठहरती। इस बात का साक्षात्कार आज भी किया जा सकता है।

कृष्ण व गोपालन—पुराणों द्वारा गाय को एक और भेंट दी गई है

और वह है साक्षात् ईश्वर को गायमय वातावरण में उत्पन्न होने के लिये मजबूर करना। कृष्ण कारागृह में पैदा होकर भी गोप-गोपियों में पाले व पोसे जाते हैं[२५]। बालपन से ही बंसरी बजा २ कर गायों को चराना व गोपियों को मोहना उनके जीवन का उद्देश होगया था। याद रहे कि गायों के चरवैये कृष्ण ही ने अर्जुन को उपदेश देकर गीता के रूप में दार्शनिक तत्त्वों का अमित भंडार दुनियां के सामने रखा था, जिसके जाज्वल्यमान प्रकाश में इस बींसवीं शताब्दि की आँखें भी चकाचौंधी खा जाती हैं। भारत के सांस्कृतिक विकास में गाय का महत्त्व स्पष्टतया दिखाई देता है। प्राचीन भारतीय को गाय के दर्शन इतने प्रिय थे कि दिनभर जंगल में चरने के बाद जब गायें घर लौटतीं, तो उनके पैर की धूलि को सर्वप्रथम देख कर उन्हें बहुत प्रसन्नता होती थी व प्रतिदिन उस समय की प्रतीक्षा करते थे, जब कि गोधूलि आकाश में दिखाई दे। इसीलिये विवाह के समान पवित्र संस्कार के लिये भी वही समय उत्तम समझा जाने लगा व उसका नाम 'गोरजमुहूर्त' व 'गोधूलिवेला[२६]' रखा गया। आज भी गोरजमुहूर्त का विवाह बहुत ही शुभ समझा जाता है। विवाह के उपलक्ष में पुरोहित को गाय दान में देने का आदेश गृह्यसूत्रों में व मन्वादि स्मृतियों में है[२७]।

वैदिक काल के व्रज—वैदिक काल से ही गाय, बैल आदि के बाँधने के लिये अलग २ अहाते की व्यवस्था रहती थी, जिसको 'व्रज' कहते थे[२८]। ऋग्वेद में वृत्र के द्वारा इन्द्र की गायों के चुराये जाने का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि गाय एक प्रकार की दौलत ही समझी जाती थी। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार गृह्यादिसूत्रों से यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल में गाय व्यापारिक विनिमय का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी थी[२९]। भागवतादि पुराणों[३०] से भी पता चलता है कि किसी व्यक्ति की हैसियत गायों की संख्या पर भी निर्भर रहती थी, जैसे कि आजकल मोटरगाड़ी आदि से किसी की हैसियत का विचार किया जाता है। गोप, नंद आदि दस दस हजार गायें रखते थें। यही उनका धन रहता था। इन सब बातों से यह स्पष्टतया मालूम होजाता है कि प्राचीन भारत में गाय भी सम्पत्तिवर्धन का महत्त्वपूर्ण साधन थी व समाज ने उसके आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक महत्त्व को समझ उसे अत्यन्त ही पूज्य माना था। इस परिपाटी को हिन्दू-समाज ने आज भी

सुरक्षित रखा है। जिस प्रकार प्राचीन काल में कृष्ण व गाय का घनिष्ट सम्बन्ध था, उसी प्रकार आधुनिक काल में हिन्दू व गाय का सम्बन्ध है।

भेड़, बकरी आदि का पालन—ऋग्वेद से पता चलता है कि गायों के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थीं[३१]। ऋग्वेद में मेष व मेषी का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णवती' शब्द से पता लगता है कि भेड़ों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी उस समय ज्ञात था। ऊन के कपड़े भी बनाये जाते थे जिनका उपयोग जाड़े में आवश्यकीय होजाता होगा। अज व अजा का भी कितनी ही बार उल्लेख आता है, जिससे मालूम होता है कि उस समय के लोग बकरी से पूर्णतया परिचित थे। बकरी का दूध भी पिया जाता था। वैदिककाल से लेकर आजतक भी भारत के कितने ही भागों में देहाती लोग भेड़, बकरी आदि पालकर ही अपना उदरनिर्वाह करते हैं। इन लोगों की आर्थिक स्थिति भले ही बिगड़ गई हो, किन्तु उनका जीवनक्रम तो लगभग वैसा ही चला आरहा है।

वाणिज्य—कृषि व गोपालन के अतिरिक्त एक और साम्पत्तिक विकास का साधन था, जिसे वाणिज्य कहा गया है। कृषि आदि का सम्बन्ध देहातों से था, जो कि प्राचीन काल में आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिकांश देहातों में ही उत्पन्न की जाती थीं। आजकल के समान प्राचीन काल में बड़े २ यन्त्र नहीं थे, जिसके लिये बड़े २ शहरों की आवश्यकता होती। फिर भी राजकीय व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र अवश्य थे, जो विकसित होकर शहर बन गये थे।

भारत के व्यापार के सम्बन्ध में हमें वेदों से प्रत्यक्षरूप में विशेष पता नहीं लगता, किन्तु परोक्षरूप से बहुतसी बातें मालूम हो जाती हैं[३२]। वेदों के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि वैदिक सभ्यता पूर्णतया ग्रामीण थी, वैदिक काल में शहर नहीं थे[३३]। किन्तु यह उक्ति भ्रमपूर्ण है। ऋग्वेद में सभा, पुर आदि का उल्लेख आता है,[३४] कितने ही स्थलों पर सुवर्ण[३५] उल्लिखित है व धनपति बनने की इच्छा दर्शाई गई है। और भी ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनसे वैदिक काल में नगरों का अस्तित्व स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है[३६]। यजुर्वेद में वर्णित उद्योगधन्दों[३७] से भी, जिनका आगे चलकर विस्तृत विचार किया जायगा, विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। इस प्रकार यह

कहना कि वैदिक काल में नगर थे ही नहीं केवल गांव ही गांव थे, ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता।

अधिकांश लोगों का, विशेषकर धनाढ्यों का, संचालन व निग्रह करनेवाली किसी सत्ता की छत्रछाया में एकत्रित रहना नगरों के अस्तित्व से सूचित होता है। एक बड़े मानवसमुदाय के एकत्रित रहने पर उसकी दैनिक आवश्यकता पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं व यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता हैं। गांवों में इसके विकास की विशेष गुंजाइश नहीं रहती। वाणिज्य और नगर का लगभग चोलीदामन का साथ है। वाणिज्य शब्द वणिक् शब्द से बनता है, जिसका अर्थ होता है बनिया या व्यापारी। वाणिज्य शब्द से ही व्यापार का बोध हो जाता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में जो वर्णव्यवस्था का उल्लेख है, उसमें वैश्यों को उरू से सम्बन्धित किया गया है व पश्चात् मनु आदि स्मृतिकार कहते हैं कि कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य का स्वाभाविक कर्म है[३८]। इस पर से यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भी उसका यही काम था। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ इसी समय से होता है। कृषि की ऊपज, घी, दूध, वस्त्र व दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था। सूत्रादि ग्रन्थों से बड़े २ बाज़ारों के अस्तित्व का पता लगता है[३९]। ये बाज़ार वैदिक काल में भी रहे होंगे। वेदों में सुवर्ण निष्क[४०] का भी उल्लेख आता है, जो कि व्यापारिक विनिमय का साधन रही होगी।

वेदों में सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख—वेदों में सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में "नावः समुद्रियः"[४१] समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख है तथा भुज्यु नाम के एक नाविक के बहुत दूर तक चले जाने, परिणामतः मार्ग भूल जाने तथा पूषा की स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है[४२]। इसी प्रकार ऋग्वेद में पणियों का भी उल्लेख है[४३]। इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि ये बड़े धनलोलुप कंजूस थे; स्वार्थ तो इनका परम धर्म था। इसलिये ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की गयी है कि पणियों के हृदयों के टुकड़े २ कर दो,[४४] जिससे इनकी स्वार्थवृत्ति जाती रहे। ये पणि यूरोप के यहूदी व भारत के मारवाड़ियों की याद दिलाये बिना नहीं रह सकते। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'पण्य' शब्द जिसका

अर्थ 'बेचने का माल' होता है इसी पणि शब्द से बनता है। इसमें यत्किञ्चित् भी शक नहीं कि ये पणि प्राचीन भारत के बड़े २ व्यापारी थे, जो व्यापार के लिये देश व विदेशों के कोने २ में पहुँचते थे।

पणि व फिनिशियन्स—कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि इन पणियों का सम्बन्ध एशिया के पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी 'फिनिशियन्स' लोगों से है[४५]। वे समझते हैं कि पणि व 'फिनिशियन्स' एक ही हैं। फिनिशियन्स प्राचीन काल के ज़बरदस्त व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर व उसके तटवर्ती देश थे[४६]। इसलिये 'फिनिशिया' व्यापारियों का राष्ट्र कहलाता था। इन्होंने उत्तरीय आफ्रिका में अपना बड़ा भारी साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी कार्थेज नगर में थी। इसीलिये यह 'कार्थेजियन' साम्राज्य भी कहलाता था[४७]। स्पेनादि यूरोप के देश भी इसमें सम्मिलित कर लिये गये थे। यहां तक कि इनके वीर सेनापति हेनिबाल ने इटली के रोम आदि विभिन्न नगरों पर भी आक्रमण किये थे[४८]। इस प्रकार ये फिनिशियन्स प्राचीन यूरोप के इतिहास में बहुत महत्त्व रखते हैं। यदि वेदकालीन पणियों से इनका सम्बन्ध प्रमाणित हो जाय, तब तो भारत के व्यापारिक इतिहास का स्वरूप कुछ और ही हो जायगा।

बौद्ध साहित्य व भारत का प्राचीन व्यापार—भारत के प्राचीन व्यापार का ठीक २ पता हमें बौद्ध साहित्य, सूत्र, स्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि से स्पष्टतया चलता है। अर्थशास्त्र में तो इसका विस्तृत वर्णन है। किन्तु बौद्धजातकादि से इस सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम होता है और यह साहित्य स्मृति, अर्थशास्त्र आदि से अधिक प्राचीन माना जाता है।

बौद्धजातकों के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें मालूम होता है कि बौद्ध-काल में भारत का व्यापार खूब चढ़ा बढ़ा था। उत्तरीय भारत में श्रावस्ती, राजगृह, कौशाम्बी, उज्जयिनी आदि महान् नगर थे,[४९] जहां बड़े २ धनाढ्य व्यापारी रहते थे, जिनमें से अधिकांश गौतम बुद्ध को बहुत आर्थिक सहायता दिया करते थे। इन व्यापारियों ने समस्त भारत को व्यापारिक सूत्र में बांध रखा था। व्यापार इतना चढ़ा बढ़ा था कि कितने ही ब्राह्मण अपना काम छोड़ कर व्यापार करने लगे थे[५०] व इस प्रकार लखपति बनने की धुन में लग गये थे। साधारणतया व्यापार में वंशक्रम को ही विशेष स्थान था। व्यापारी का

राक्षस आदि का भय बताया गया है। ये व्यापारी बनारस के समान व्यापारिक व औद्योगिक केन्द्र से राजपूताने की मरुभूमि में से होते हुए भरुकच्छ, सोवीर आदि बन्दरस्थानों में माल ले जाते थे। यहीं से बावेरु (बेबीलोन) से व्यापार किया जाता था[५९]।

तामिल साहित्य में व्यापार का उल्लेख—प्राचीन तामिल साहित्य से पता चलता है कि चोल राजधानी 'काविरीपट्टिनम' जिसे 'पेरिप्लस' में 'कमर'[६०] कहा गया है व टोलेमी ने 'खबरी' कहा[६१] है और जो कि कावेरी नदी पर बसा हुआ था, एक ज़बरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक केन्द्र था। यहां पर यवन व्यापारी विशेषरूपसे आते थे। उत्तरीय भारत के व्यापारी भी यहां पर आते थे तथा समुद्र द्वारा भारत के दोनों किनारों के बन्दरस्थानों में घूमते थे[६२]।

आयात व निर्यात—आयात व निर्यात के सम्बन्ध में जातकों से कुछ विशेष पता नहीं चलता। सुवर्ण जो कि प्राचीन काल में पारस भेजा जाता था, जातकों में उल्लिखित नहीं है। किन्तु उनमें इस बात का उल्लेख है कि विदेशी व्यापारी यहां के मोती ज़वाहिरात आदि की फिराक में अक्सर रहते थे। रेशम, मलमल, महीन-कपड़ा, चाकूकैंची आदि, कवच, बेलबूटे ज़री आदि की चीज़ें, कम्बल, सुगन्धित द्रव्य, दवाइयें, हाथीदाँत, ज़वाहिरात, सोनाचांदी आदि का व्यापार खूब होता था[६३]। शाकभाजी व दूसरी खाने की चीज़ें कदाचित् शहर की फाटकों के बाहिर तक ही लाई जाती थीं। बड़े २ कारखाने व बाज़ार शहर के अन्दर रहते थे व भिन्न २ मालके लिये अलग २ बाज़ार रहते थे[६४]। पुराने शहरों में आजकल भी इसी प्रकार की व्यवस्था है या कम से कम उस व्यवस्था के सूचक मुहल्लों के पुराने नाम अब भी वर्तमान हैं। श्रावस्ती, बनारस आदि के बाज़ारों में सब चीज़ें मिल सकती थीं।

विनिमय के साधन—व्यापारिक विनिमय के साधन के बारे में, हमें मालूम होता है कि कभी २ एक वस्तु से दूसरी वस्तु का परिवर्तन किया जाता था। जातकों में 'काहापण' नामी सिक्के का उल्लेख है। इसी के द्वारा साधारणतया चीजें खरीदी व बेची जाती थीं। आधे व चौथाई 'काहापण' के सिक्के भी रहते थे। इसके सिवाय कदाचित् सुवर्ण निष्कों का भी उपयोग होता था[६५]।

लेनदेन का धंदा—जातकों से लेनदेन के धंदे का भी पता लगता है, जिसका उल्लेख सूत्रस्मृत्यादि में भी आता है[६६]। लेनदेन करने वाले दस्तावेज़

लिखवाकर रुपया उधार देते थे, ब्याज कितना लेते थे इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। व्यापारिक जगत् में हुंडी का उपयोग भी होता था। बड़े २ सेठों के पास जो कुछ धन जमा रखा जाता था, उसका भी दस्तावेज़ लिया जाता था[६७]।

व्यापार के स्थलमार्ग—जातक ग्रन्थों से हमें व्यापार के स्थल मार्गों का पता भी चलता है, जिससे व्यापार के विस्तार का ज्ञान होता है। अनाथ-पिण्डद व उसके व्यापारी श्रावस्ती से दक्षिणपूर्व की ओर चलकर राजगृह आते थे व उसी मार्ग से वापिस होते थे, तथा उत्तर-पश्चिम में गान्धार तक भी जाते थे। श्रावस्ती से दक्षिण में प्रतिष्ठान तक भी व्यापार का एक मार्ग था। बीच में, छः स्थानों में ठहरना पड़ता था। वहां से सिन्ध व पश्चिमी भारत को भी मार्ग जाता था। उत्तर में तक्षशिला से मध्य-एशिया के व्यापारी-केन्द्रों तक भी मार्ग जाता था। इस प्रकार समस्त भारत में व्यापारी-मार्गों का जाल फैला हुआ था[६८]।

प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार—भारत का वैदेशिक व्यापार भी जिसका कुछ उल्लेख पहिले कर आये हैं बहुत ही पुराना है। इसी के कारण विदेशों से भारत का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया था। प्राचीन रोम के सिक्कों का दक्षिण भारत में पाया जाना तथा दक्षिण भारतीय साहित्य में रोम के साथ के व्यापारिक सम्बन्ध के उल्लेख आदि से स्पष्टतया मालूम होता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ में रोम व दक्षिण-भारत के बीच बहुत ही ज़ोरदार व्यापार होता था[६९]। पश्चिमी एशिया, मिश्र व यूरोप के पश्चिमी छोर से मलाबार किनारे तक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होगया था। हिब्रू साहित्य में भारत की विशेष कर दक्षिण-भारत की बनी हुई बहुतसी चीज़ों का उल्लेख है। बावेरु व सुप्पारक जातक में बेबिलोन आदि से व्यापार का उल्लेख है। कथा-सरित्सागर में 'पात्री' के बन्दरस्थान से पश्चिम की ओर समुद्रयात्रा किये जाने का वर्णन है। साकोत्रा द्वीप का नाम भी संस्कृत शब्द से बना है। रोम के प्रसिद्ध इतिहासकार 'टेसिटस' ने स्पष्ट लिखा है कि एक हिन्दू नाविक का जहाज़ यूरोप के उत्तरीय समुद्र में रेती में फँस गया था[७०]। 'एक्सोडस' में भी एक हिन्दू व्यापारी का उल्लेख आता है, जो यूनानियों को अरब समुद्र के द्वारा अपने जहाज़ में भारत के मलाबार किनारे तक लाया था[७१]। मिश्र के प्राचीन-

लेख में 'सोफन इन्डोस' नाम के एक सुप्रसिद्ध भारतीय नाविक का उल्लेख आता है[७२]।

यह भी मान लिया गया है कि असुरबेनीपाल (ई० पू० ६६८-६२६) के पुस्तकालय में प्राप्त 'सिन्धु' शब्द भारतीय कपास का द्योतक है व यथार्थ में वह शब्द प्राचीन 'एकेडियन' भाषा का है। इतिहास से पता चलता है कि असुरबेनीपाल एक प्रसिद्ध कृषिप्रिय राजा था। उसने भारत से बहुत से पौधे मँगवाये थे, जिनमें भारत के "ऊन के पौधे" थे[७३]। इस से यह तो स्पष्ट है कि भारत का कपास-व्यापार बहुत ही पुराना है। मुघर ('उर') के चन्द्र-मन्दिर में व राजा 'नेबुकेडनेज़र' के महल में भारतीय इमारती लकड़ी पाई गई है[७४]। ये दोनों ई० पू० छठी शताब्दि के हैं। शलमनसर तृतीय (ई० पू० ८६० वर्ष) के स्तम्भ पर बन्दर, भारतीय हाथी व बैक्ट्रिया के ऊँट खुदे हुए हैं[७५]। एकिनियस से हमें पता लगता है कि टोलोमी फिलेडेलफोस के जुलूस में भारतीय स्त्रियें, भारतीय शिकारी कुत्ते तथा भारतीय गायें भी रहती थीं, व साथही ऊँटों पर भारत के मसाले ले जाये जाते थे, जिन को देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य होता था[७६]। रोम का सुप्रसिद्ध प्लिनी (७८ ई० के लगभग), जिसने रोमनिवासियों की फूजूलखर्चीं की कड़ी आलोचना की है, इस बात की ज़ोरदार शिकायत करता है कि भारतीय व्यापार के कारण रोम का कोष कितना खाली हो जाता है[७७]। वह कहता है कि भारत, चीन व अरब मिलकर प्रतिवर्ष रोम से दस करोड़ 'सेसटेरेस' ले जाते हैं जिनमें से अधिकांश भारत में जाता है। यह रकम लगभग दस हज़ार पाउन्ड के बराबर होती है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि भारत का वैदेशिक व्यापार जर्मनी तक भी पहुँचा था। उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारत ने बहुत पहिले ही से विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। परोक्षरूप से इस की पुष्टि भारत के प्राचीन साहित्य से भी होती है। रामायण, महाभारत, पुराणादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी भारत के वैदेशिक व्यापार का उल्लेख आता है।

रामायण व विदेश—रामायण में कितने ही स्थलों पर भारत व दूरस्थ देशों के मध्य समुद्र द्वारा आवागमन का उल्लेख है। किष्किंधाकाण्ड में[७८] सुग्रीव सीता की खोज के सम्बन्ध में बन्दरों को उन देशों के नाम बताता है,

जहां सीता को ढूँढना था। इस सम्बन्ध में समुद्रस्थ द्वीपों के पर्वतों का उल्लेख है। दूसरे स्थान[७९] पर 'कोसकर' देश का उल्लेख है जिस का तात्पर्य्य चीन से है। एक जगह यवद्वीप व सुवर्णद्वीप[८०] का उल्लेख है, जिन का सम्बन्ध जाव्हा व सुमात्रा से है। इस में लोहितसागर[८१] (Red sea) भी उल्लिखित है। अयोध्याकाण्ड में एक जगह नौका-युद्ध की तैयारी का वर्णन है[८२]। रामायण में उन व्यापारियों का उल्लेख भी है, जो समुद्र द्वारा दूर २ के देशों को अक्सर जाया करते थे व राजाओं के लिये अच्छी २ भेंट लाते थे[८३]।

महाभारत व विदेश—महाभारत में राजसूय-यज्ञ तथा अर्जुन व नकुल की दिग्विजय के सम्बन्ध में भारत के बाहिर के बहुत से देशों का वर्णन आता है, जिनसे भारत का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। सभापर्व में वर्णन आता है[८४] कि सहदेव समुद्रस्थ बहुत से द्वीपों में गया व उस ने वहां के सब म्लेच्छ-निवासियों को जीत लिया। द्रोणपर्व में[८५] आँधी से त्रासित नाविकों का द्वीपों में पनाह लेने का उल्लेख है। उसी पर्व में दूसरी जगह एक बड़े समुद्र में आँधी द्वारा छिन्नभिन्न किये गये जहाज़ का उल्लेख है[८६]। कर्णपर्व में[८७] वर्णन आता है कि कौरवों के योद्धा इस प्रकार घबरा गये, जैसे कि गहरे समुद्र में आँधी द्वारा अपने जहाज़ों के छिन्नभिन्न किये जाने पर व्यापारी लोग घबराते हैं। शान्ति पर्व्व में[८८] कर्म व सत्यज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति की तुलना उस आर्थिक लाभ से की गई है, जो कि एक व्यापारी सामुद्रिक व्यापार से प्राप्त करता है। एक जगह[८९] पर विदुर द्वारा विशेषरूप से बनवाये गये जहाज़ के नष्ट हो जाने पर पाण्डवों के बचजाने का वर्णन आता है। यह जहाज़ बहुत बड़ा था व यन्त्र-युक्त था। इसमें युद्ध के सब प्रकार के हथियार थे तथा वह इतना मज़बूत था कि आँधी व समुद्र की छौलें उस का कुछ नहीं बिगाड़ सकती थीं।

सूत्रों में वैदेशिक व्यापार का उल्लेख—इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सूत्रों में भी वैदेशिक व्यापार का स्पष्ट उल्लेख है। बौधायन धर्मसूत्र में धार्मिक ब्राह्मणों के लिये समुद्रयात्रा निषिद्ध है, किन्तु उस में यह भी उल्लिखित है कि उक्त नियम का उल्लङ्घन उत्तर में रहने वालों द्वारा अक्सर किया जाता[९०] था। उत्तर में रहनेवालों के लिये ऊन, घोड़े, खच्चर आदि का व्यापार करना निषिद्ध था। उसी धर्मसूत्र[९१] व गौतम धर्मसूत्र[९२] में राजा को नाविकों

द्वारा दिये जाने वाले कर को निश्चित किया गया है । स्मृतियों में भी इस व्यापार का उल्लेख है व नदी तथा समुद्र द्वारा यात्रा के किराये के बारे में लिखा है[९३] । समुद्र-यात्रा की हिफ़ाज़त की व्यवस्था-सम्बन्धी बहुत से नियमों का उल्लेख भी मनुजीने किया है[९४] । उन्होंने एक जातिविशेष का वर्णन किया है, जिस का काम व्यापार करना व विदेशों की आवश्यकीय वस्तुओं तथा वहां की भाषाओं से जानकारी प्राप्त करना था[९५] । याज्ञवल्क्य स्मृति में दूर २ के देशों तक की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है[९६] ।

ज्योतिष-ग्रन्थों में समुद्रयात्रा, वैदेशिक व्यापार आदि का उल्लेख—ज्योतिष के ग्रन्थों में समुद्रयात्रा व सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख आता है । वृहत्संहिता[९७] में कितने ही स्थलों पर नाविकों के जीवन पर होने वाले चन्द्र के प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख है । एक स्थल पर व्यापारी, नाविक, वैद्य आदि पर ग्रहों के प्रभाव का वर्णन है[९८] । उसी ग्रन्थ में, जहाज़ों में यात्रा करने वाले यात्रियों को जो बीमारियें होती हैं उन के कारणों को समझाया गया है[९९] । एक जगह उस बन्दर-स्थान को समुद्र-स्नान के लिये पवित्र-स्थान माना गया है, जहां पर बहुत से यात्री अपने क़ीमती माल को विदेशों में बेचकर बहुतसा सोना लेकर वापिस आते हैं[१००] ।

पुराण व संस्कृत-साहित्य में वैदेशिक व्यापारका उल्लेख—पुराणों में भी वैदेशिक व्यापार का उल्लेख है । वराहपुराण में एक निःपुत्र व्यापारी गोकर्ण की व्यापारार्थ समुद्र-यात्रा का वर्णन है[१०१] । यह व्यापारी समुद्र की आँधी के कारण बाल २ बच गया । मोतियों की फिराक में एक व्यापारी ने बहुतसे ऐसे आदमियों को लेकर जो कि मोती के काम में होशियार थे, समुद्र-यात्रा की थी[१०२] । रघुवंश में कालिदास ने बङ्गाल के राजाओं की नौका-सेना के रघु द्वारा हराये जाने का वर्णन किया है व रघु के स्थल-मार्ग द्वारा पारसीकों को जीतने जाने का उल्लेख किया है,[१०३] जिससे स्पष्ट है कि पारस जाने के लिये जल-मार्ग भी काम में लाया जाता था । शाकुन्तल में चीन का उल्लेख है, जहां से बहुत सा रेशम आता था[१०४] । 'चीनांशुक' शब्द संस्कृत साहित्य में कितनी ही बार प्रयुक्त किया गया है । शाकुन्तल में एक स्थान पर धनवृद्धि नामी व्यापारी का वर्णन आता है, यह व्यापारी निस्सन्तान था । इसके समुद्र में डूब कर मर जाने पर इसका सब धन राजा को मिल गया[१०५] । हर्षकृत रत्नावली-

नाटिका में[१०६] सिंहल के विक्रमबाहु राजा की राजकुमारी के मध्यसमुद्र में जहाज़ डूबने पर आपत्ति में पड़ने व कोशाम्बी के व्यापारियों द्वारा बचाये जाने का वर्णन है। दण्डी के दशकुमारचरित में[१०७] रत्नोद्भव नामी व्यापारी का वर्णन है जो 'कालत्रवण' द्वीप में जाकर एक लड़की से शादी करता है, किन्तु लौटते समय उसका जहाज़ डूब जाता है। एक दूसरा व्यापारी मित्रगुप्त किसी यवन-जहाज़ पर समुद्र-यात्रा करता है व मार्ग भूलने पर किसी दूसरे द्वीप पर पहुँचता है। माघकृत शिशुपालवध[१०८] में आता है कि द्वारिका से हस्तिनापुर जाते समय श्रीकृष्ण उन व्यापारियों को देखते हैं, जो माल से लदे जहाज़ों में विदेशों से आते हैं व भारत के माल को पुनः विदेशी जहाज़ों में भरवाते हैं। सोमदेवकृत कथासरित्सागर में[१०९] भी समुद्रयात्रा का उल्लेख है। इसके नवमें लम्बक की प्रथम तरङ्ग में पृथ्वीराज के, एक कलाकार के साथ मुक्तिपुरद्वीप को जाने का वर्णन है। दूसरी तरङ्ग में समुद्रयात्रा करते समय जहाज़ डूब जाने पर एक व्यापारी व उसकी स्त्री के एक दूसरे से बिछुड़ जाने का वर्णन है। चौथी तरङ्ग में समुद्रसुर व एक दूसरे व्यापारी का व्यापार के लिये सुवर्णद्वीप जाने व उनके जहाज़ के डूबने का वर्णन है। छठी तरङ्ग में व्यापारियों के जहाज़ों में चढ़कर चन्द्रस्वामी के भिन्न २ द्वीपों में अपने पुत्र को ढूँढने का वर्णन है। हितोपदेश" में भी समुद्रयात्रा के जहाज़ व व्यापारियों का उल्लेख आता है[११०]। एक व्यापारी बारह वर्ष तक समुद्रयात्रा करता रहा व अन्त में बहुतसे बहुमूल्य रत्नों से अपने जहाज़ को लादकर वापिस आया।

प्राचीन कालमें दक्षिणभारत में मोतियों का व्यापार बहुत ज़ोरों में था, जिसके लिये नौकाविद्याका ज्ञान रहना आवश्यकीय है। बृहत्संहिता, गरुड़पुराण आदि में हिन्दमहासागर में मोती का धंदा किये जाने का उल्लेख है, जिसके मुख्य केन्द्र सिंहल, पारलौकिक, सौराष्ट्र, ताम्रपर्णी, पारसव, कौवेर, पाण्ड्य-वाटक व हैम देश के किनारे थे[१११]।

बौद्ध जातक व वैदेशिक व्यापार—जातकादि बौद्ध साहित्य में भी समुद्रयात्रा व वैदेशिक व्यापार का कितने ही स्थलों पर वर्णन आता है। विनयपिटक में 'पूर्ण' नामी एक हिन्दू व्यापारी के छः बार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है[११२]। सातवीं बार उस के साथ श्रावस्ती के कुछ बौद्ध यात्री भी थे, जिन के संसर्ग से वह स्वतः भी बौद्ध बन गया। सुत्तपिटक में दूर २ देशों

तक की जाने वाली समुद्रयात्रा का वर्णन है[११३]। संयुत्तनिकाय (३।११५, ५-५१) व अङ्गुत्तर (४।१२७) में छः २ महीने तक की नाव द्वारा की जाने वाली समुद्रयात्रा का वर्णन है। दीघनिकाय (१।२२२) में वर्णन आता है कि दूर २ देशों तक समुद्रयात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे व जब जहाज़ स्थल से बहुत दूर पहुँच जाता था तथा भूमि के कोई चिह्न नहीं दीखते थे तब उन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रही तो ये पक्षी वापिस नहीं आते थे अन्यथा इधर उधर उड़कर थोड़ी देर बाद वापिस आजाते थे। बावेरु जातक[११४] में, निस्सन्देह भारत व बेबिलोन के व्यापारिक सम्बन्ध का उल्लेख है। इसी प्रकार सुपारक, महाजनक, शंख, सुसोन्दी आदि जातकों में भी प्राचीन भारत के वैदेशिक-व्यापार तथा जहाज़ों द्वारा समुद्रयात्रा का स्पष्ट उल्लेख है[११५]।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत के व्यापारी पश्चिमी व पूर्वी देशों में जहाज़ों द्वारा अपना माल ले जाते थे व उसे वहां बेचते थे तथा वहां का माल यहां लाते थे। इस प्रकार देश की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने में सहायक बनते थे। यह वैदेशिक व्यापार ईसा की चौथी व पांचवी शताब्दि में विशेष ज़ोरदार था, क्योंकि उस समय भारत में गुप्तों का साम्राज्य था, जिन के शासन-काल में भारत हर प्रकार से समृद्धिशील बन गया था[११६]। इस समय रोम से विशेषरूप से व्यापार होता था। इस के पश्चात् भी यह व्यापार चालू रहा किन्तु माध्यमिक काल में मुस्लिम आक्रमणों के परिणामस्वरूप जब भारत राजनैतिक दृष्टि से छिन्नभिन्न होगया, तब इस व्यापार को बड़ी ठेस पहुँची। फिर भी भारत के पूर्वी किनारे के लोग अरब, मिश्र आदि से व्यापार करते ही रहे। इसी व्यापार के कारण ही पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दि में यूरोप के निवासियों ने भारत से पुनः प्रत्यक्षरूप से व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया, जिस के परिणामस्वरूप आज भारत में अंग्रेज़ी राज्य वर्तमान है। यह कहना न होगा कि इस वैदेशिक व्यापार ने भारत को अत्यन्त ही समृद्धिशील बना दिया था व इसीलिये प्राचीन काल के पाश्चात्य देश इसे सोने की चिड़िया समझते थे।

अन्य उद्योगधन्दे, दस्तकारी आदि—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में अन्य उद्योगधन्दे व दस्तकारी का भी विशेष हाथ था। वैदिक साहित्य

से हमें पता लगता है कि प्राचीन भारत का समाज पर्य्याप्तरूप से विकसित था, जिसके परिणाम-स्वरूप बड़े २ नगर अस्तित्व में आचुके थे। समाज की आवश्यकता-पूर्ति के लिये जिन २ वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी उन सब को उत्पन्न करने की व्यवस्था भी उत्तम प्रकार से की गई थी। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने[११७] का उल्लेख है व अधर तथा उत्तरीय वस्त्र धारण करने का वर्णन है[११८]। इससे मालूम होता है कि प्राचीन भारत में हाथ से सूत कातकर कपड़ा बनाने का धन्दा उन्नत अवस्था में था व इसका ग्रामों में विशेषरूप से प्रचार था। इस धन्दे के कारण भी भारत की आर्थिक उन्नति खूब हुई थी।

ऋग्वेद में बुनने वाले को 'वय' कहा गया है[११९]। पूषा को ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया है। 'सिरि' शब्द भी कदाचित् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'तन्तु', 'तन्त्रु', 'ओतु', 'तसर', 'मयूख' आदि शब्द जिनका ऋग्वेद में उल्लेख आता है,[१२०] बुनने की कला से ही सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिये विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नावजहाज़ आदि बनाने व ऐसे अन्य कितने ही उद्योगधन्दों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। किन्तु यजुर्वेद में तो इन सब धन्दों का स्पष्ट उल्लेख है। उसमें विभिन्न उद्योगधंदों को करनेवालों के नाम दिये हैं[१२१]; यथा रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, मृगयु, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिज्, ग्वालिन् आदि। इन नामों से तत्कालीन आर्थिक विकास का पता चलता है। यह भी संभव है कि ये सब संगठितरूप से रहते होंगे जैसा कि बौद्ध-काल में था। ज्यों २ समय बीतता गया त्यों २ इन सब उद्योग-धन्दों की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रही जिसके परिणामस्वरूप भारत अधिकाधिक समृद्धिशील बनता गया। ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, बौद्ध व जैन-साहित्य आदि के आलोचनात्मक अध्ययन से विभिन्न उद्योग-धन्दों के विकास तथा समाज की समृद्धिशील अवस्था का पता लगता है। बौद्ध जातकों की सहायता से ई० पू० सातवीं या छठवीं शताब्दि के भारत की आर्थिक परिस्थिति का बहुत सुन्दर चित्र खींचा जा सकता है[१२२]। उस समय के उन्नत व्यापार का विस्तृत

वर्णन पहिले ही कर दिया गया है। यहां पर तत्कालीन संगठित व विकसित उद्योगधन्दों के बारे में कुछ जानना आवश्यकीय है।

बौद्धकालीन उद्योग-धन्दे—इस समय भिन्न २ कला, दस्तकारी, उद्योगधंदे आदि का आश्चर्यजनक विकास किया गया था। दीघनिकाय (१।५१) में विभिन्न दस्तकारी व उद्योगधन्दों का उल्लेख है। राजा अजातशत्रु ने गौतम बुद्ध से पूछा कि तुम्हारे संन्यास से क्या लाभ है जब कि लोग कितने ही धन्दों द्वारा द्रव्य कमाकर चैन से रहते हैं? इसके पश्चात् राजा ने उन धन्दों की एक सूचि दी जिससे तत्कालीन आर्थिक विकास का पता चलता है, जो कि इस प्रकार है।

हाथी पर सवारी करने वाले, घुड़सवार, रथ पर बैठने वाले, धनुषबाण चलाने वाले, पांच प्रकार के सैनिककाम करने वाले, दास, भोजन बनाने वाले, नाई, स्नानागार के नौकर, हलवाई, फूलमाली, धोबी, जुलाहे, बसोड़, कुम्हार, मुनीम आदि। एक दूसरे स्थान पर विभिन्न काम करने वालों के संघों का उल्लेख करते समय कितने ही धन्दों का वर्णन आया है[१२३] जैसे—

(१) लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई का काम, चाक बनाना, घर बनाना, नाव बनाना और सब प्रकार की गाड़ियें बनाने का काम करते थे।

(२) धातु का काम करने वाले लोहे के औज़ार, सब प्रकार के हथियार, बारीक से बारीक सुईएँ व सोने चांदी के गहने आदि बनाते थे।

(३) पत्थर का काम करने वाले घर या तालाब की पैड़ियें, बड़े स्तम्भ, छोटी २ सुन्दर चीज़ें आदि बनाते थे।

(४) जुलाहे कपड़ा, बारीक से बारीक मलमल, रेशम, कम्बल, चादरें, दरी, गलीचे आदि बनाते थे।

(५) चमड़े का काम करने वाले जूते, चप्पल व अन्य छोटी २ सुन्दर चीजें बनाते थे।

(६) कुम्हार घरेलू काम के सब प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाते थे।

(७) हाथीदाँत का काम करने वाले हाथीदाँत की छोटी २ सुन्दर चीज़ें बनाते थे, जिन के लिये भारत आज भी मशहूर है।

(८) रंगेरे कपड़ा रंगने का काम करते थे।

(९) जड़िये रत्न, ज़वाहिरात आदि के सुन्दर काम करते थे।

(१०) मछुए मछली पकड़ते थे ।

(११) शिकारी गाड़ियों में भर २ कर, शिकार किये जंगली जानवर व जंगल की भाजी तरकारी आदि बेचने के लिये शहरों में लाते थे ।

(१२) रसोइये व हलवाई

(१३) नाई व मालिश करने वाले

(१४) फूल-माली

(१५) कसाई

(१६) नाविक नदी व समुद्र में खेने का काम करते थे

(१७) बसोड़

(१८) चित्रकार

इस प्रकार हमें मालूम होता है कि बौद्धकाल में कितना आश्चर्य्यजनक आर्थिक विकास हुआ था । ऊपर बताये गये धन्दे अधिकांशरूप में शहरों से सम्बन्धित थे । किन्तु कृषि, गोपालन आदि का ग्रामों में बहुत प्रचार था । यहां यह बात विशेषरूप से याद रखने लायक है कि बौद्ध ग्रन्थों में निर्दिष्ट उद्योगधन्दे यजुर्वेद में भी उल्लिखित है जैसा कि पहिले बताया जा चुका है । इस से आर्थिक व्यवस्था के सातत्य का पता चलता है । रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों से भी इसी बात की पुष्टि होती है, क्योंकि उन में भी इन्हीं सब का स्पष्ट उल्लेख है । इन में से कितने तो आज तक भी पाये जाते हैं ।

उद्योगधन्दों का संगठित स्वरूप—ये सब उद्योगधन्दे, जैसा कि बौद्ध-साहित्य से मालूम होता है एक संगठित रूप से चलते थे । इन सब के संगठन थे, जिन्हें पूग, श्रेणि, निगम आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था[१२४] । स्मृत्यादि ग्रन्थों में इन संगठनों के संचालनादि के नियम वर्णित हैं[१२५] । राजा की ओर से भी इन्हें स्वीकृति दी जाती थी । अपने २ सदस्यों पर इन का पूरा नियन्त्रण रहता था, यहां तक कि विवाहादि के बारे में भी इन की सलाह की आवश्यकता रहती थी । सदस्यों की शिक्षा आदि की व्यवस्था भी की जाती थी[१२६] । सुनार, जुलाहे आदि के लड़के अपनी श्रेणि आदि की सहायता से किसी कुशल कारीगर के यहां रहकर अपना काम सीखते थे । यह प्रथा आज तक भी विकृत स्वरूप में वर्तमान है ।

निगम, पूग, श्रेणि आदि की नियमितरूप से सभाएँ हुआ करती थीं, जिन में

बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार किये जाते थे। सभा के प्रधान को 'श्रेष्ठिन्' कहते थे। आजकल का 'सेठ' शब्द इसी का अपभ्रन्श है। आजकल भी गुजराती बनियों की जाति का सरपञ्च 'सेठ' कहलाता है। विभिन्न श्रेणि आदि का भी एक केन्द्रीय संगठन रहता था, जिस का प्रमुख 'महाश्रेष्ठिन्' कहलाता था। इन संगठनों के द्वारा खरीदे व बेचे जाने वाले माल की कीमत का नियन्त्रण भी होता था। कहीं २ इन्हें अपने सिक्के आदि चलाने का भी अधिकार प्राप्त था[१२७]। इस प्रकार विभिन्न धन्दे करने वालों का जीवन पूर्णतया संगठित था। यह संगठन बहुत दिनों तक रहा। आज भी इस के बिगड़े स्वरूप को विभिन्न जातियों के रूप में पाते हैं। जाति-नियमों की कड़ाई से प्राचीन उत्तम व शक्ति-शाली संगठन का पता चलता है।

अर्थशास्त्र का विकास—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास के साथ ही साथ विद्वानों ने आर्थिक समस्याओं को समझ तत्सम्बन्धी अच्छे २ सिद्धान्त भी विकसित किये थे, जो कि विभिन्न ग्रन्थों में समाविष्ट किये गये थे। इस शास्त्र को 'वार्ता' कहते थे। अन्य विद्याओं के साथ इस का भी उल्लेख उपनिषद्, सूत्र, अर्थशास्त्र आदि में किया गया है[१२८]। इस शास्त्र के कितने ही आचार्य थे, जिन का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में पाया जाता है[१२९]। अर्थशास्त्र इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार इस में मौर्य्यकालीन राजनैतिक व आर्थिक परिस्थिति का दिग्दर्शन है।

आर्थिक विकास का सामाजिक जीवन पर प्रभाव—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया था। समाज में समृद्धि रहने के कारण विभिन्न कला, विद्या आदि का विकास होने लगा। विद्वान् लोग जीवन के आध्यात्मिक पहलू पर अधिक परिश्रम करने लगे, क्योंकि जीवन-कलह अत्यन्त ही सरल बन गई थी। सब लोगों को अन्नवस्त्र आदि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ पर्य्याप्तरूप में सरलता से प्राप्त होती थीं। इसलिये उन्हें संसार की पहेलियों के समझने तथा आध्यात्म जीवन को उन्नत बनाने के लिये अधिक समय मिलता था।

उपसंहार—सारांश में हम कह सकते हैं कि वैदिककाल से ही भारत के आर्थिक जीवन का विकास प्रारम्भ हो चुका था। यहां कृषि का प्राधान्य था;

किन्तु गाय, भेड़, बकरी का पालन, कपड़ा बुनना, तरह २ की और चीजें बनाने आदि का ज्ञान भी लोगों को था। यह सब संगठितरूप से किया जाता था। इस संगठित आर्थिक जीवन का पता प्राचीन साहित्य से चलता है। राजा का भी कर्तव्य था कि वह इन आर्थिक संस्थाओं का आदर करे व उन्हें पूरी २ सहायता दे। यहां के ग्राम विशेषरूप से उत्पादन के केन्द्र थे। प्राचीन काल में व्यापार का भी खूब विकास हुआ था, विशेषकर समुद्र-यात्रा द्वारा वैदेशिक व्यापार का। भारत का कपास, कपड़ा, मोती, हाथीदाँत, रत्न आदि की बनी हुई चीजें, मसाला आदि पश्चिमी एशिया, उत्तरी आफ्रिका, दक्षिणी व पश्चिमी यूरोप के बाज़ारों में बिकने जाते थे। इस प्रकार भारत के व्यापारी विदेशों से अपने देश में कितना ही सोना लाते थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत समृद्धिशील था व इस का आर्थिक जीवन पूर्णतया विकसित था।

अध्याय १३

राजनैतिक विकास

सांस्कृतिक विकास व राजनीति—प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास में राजनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह तो पहिले ही कहा जा चुका है कि प्राचीनकाल से ही भारत में सामाजिक विकास प्रारम्भ हो चुका था व यह विकास वैदिककाल में भी अपनी चरम-सीमा तक लगभग पहुँच चुका था। ऋग्वेदादि के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक विकास का पता लगता है। राजनीति के सिद्धान्त, जिस प्रकार बीसवीं शताब्दि में ज्ञात है, उसी प्रकार अधिकांश वैसे ही रूप में, वे प्राचीन भारत में भी ज्ञात थे। वेदों में राजा,[१] सभा,[२] समिति,[३] राजकृत,[४] राजा का चुनाव,[५] राजाओं का पदच्युत किया जाना व पुनः सिंहासनारूढ़ किया जाना[६] आदि के उल्लेख से तत्कालीन राजनैतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। हमें पता लगता है कि राजा पर प्रजा का काफी नियन्त्रण रहता था। प्रजा में पूरी राजनैतिक जागृति थी। वेदों में वर्णित सभा व समिति राजा का चुनाव करती थी। इस प्रकार वैदिककाल में पर्य्याप्त राजनैतिक विकास हुआ था। साथ ही राजनीति

के सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न किया गया था व इस शास्त्र को वैज्ञानिक ढङ्ग पर विकसित भी किया गया था। इस शास्त्र में निष्णात कितने ही आचार्य्य थे, जिनका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में आता है[७] तथा महाभारतादि ग्रन्थों में भी इस विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है[८]। इसी प्रकार धर्मादि सूत्र[९] व स्मृतियों[१०] में राजधर्म-प्रकरण के अन्तर्गत इस शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन किया गया है। अब हमें प्राचीन भारत के राजनैतिक विकास पर विस्तृतरूप से विचार करना चाहिये।

शासनोत्पत्ति सम्बन्धी अर्वाचीन व प्राचीन सिद्धान्तों की समानता—आधुनिक राजनीतिशास्त्र की आधारशिला तीन चार शताब्दि पूर्व के यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त हैं। इस सम्बन्ध का पहिला सिद्धान्त है कि परमात्मा ने किसी व्यक्तिविशेष को भिजवा कर शासन का सूत्रपात कराया। कुछ प्राचीन जातियों का भी यही विश्वास था। स्पार्टा में शासन का उत्पादक लायकरगस (Lycurgus) माना जाता था[११]। इसी प्रकार सोलन (Solon), मूसा (Moses), नूमा (Numa) आदि अपने २ देश में शासन के प्रारम्भकर्ता माने जाते थे।

हॉब्सका सिद्धान्त व मात्स्यन्याय—हॉब्स के मतानुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव-समाज परस्पर लड़ता झगड़ता था[१२]। कुछ समय के पश्चात् लोगों ने ऐसी परिस्थिति को कष्टदायक समझा व शान्ति स्थापित करने के लिये अपने को शासन के सूत्र में बाँध लिया। यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी प्रतिपादित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत शान्तिपर्व, शुक्र-नीति, कामन्दकी नीति आदि में इस सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन किया गया है। निम्नाङ्कित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त·········तांस्ततोऽसुरा अजयन्······ देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति"[१३]

देव व असुर इस लोक में आपस में लड़ने लगे। असुरों ने देवताओं को जीत लिया। देव कहने लगे अराजता के कारण वे हमें जीतते हैं। हमें चाहिये कि हम किसी को अपना राजा बनावें।

"अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥"[१४]

इस अराजक लोक में जहाँ चहुँओर भय ही भय था, सब की रक्षा के लिये परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया।

"दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥"[१५]

यदि लोक में दण्ड न हो तो यह सब प्रजा नष्ट हो जायगी। अधिक बलवान् दुर्बलों को पानी की मछलियों के समान (सशक्त मछली दुर्बल को खा जाती है) खा जायँगे। बौद्ध जातक में भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर एक कथा वर्णित की गई है[१६]। उस में लिखा है कि इस कल्प का सर्वप्रथम राजा सुमेध था। प्रारम्भिक अराजकता को दूर करने के लिये वह राजा बनाया गया था। उसने समस्त अराजकता को दूर कर मानव-समाज में पुनः व्यवस्था व संगठन स्थापित किया। इसी अराजकता का वर्णन शुक्रनीति[१७] व कामन्द-नीतिसार[१८] में आता है।

लॉक का सिद्धान्त—लॉक के सिद्धान्तानुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानवसमाज स्वतन्त्रता व समतापूर्वक रहता था[१९]। प्राकृतिक नियमों से ही समाज का परिचालन होता था। मानवसमाज ने स्वेच्छा से ऐसी परिस्थिति का अन्तकर सामाजिक उन्नति के लिये वैयक्तिक स्वतन्त्रता की परवाह न कर राजा के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

रूसो का सिद्धान्त व सत्य युग—रूसो के विचारानुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव-समाज सत्ययुग में था[२०]। किसी प्रकार का भी पाप नहीं था। सब लोग आनंद में रहते थे। किन्तु धीरे २ लोग सन्मार्ग से बिछुड़ने लगे व समाज में अशान्ति फैलने लगी। अतएव जनता ने एकत्रित होकर अपने में से एक को राजा बनाया। उस का कर्तव्य सब की रक्षा करना था और जनता का कर्तव्य उस के आधिपत्य में रहना था। इस सिद्धान्त को रूसो के शब्दों में "समाज में पारस्परिक उत्तरदायित्त्व" (Social Contract) कहते हैं। इसी सिद्धान्त से प्रेरित होकर फ्रान्स के लोगों ने क्रान्ति का झन्डा लेकर दुष्ट राजा को शासित किया था[२१]। भारत के राजनीतिग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त का विवेचन आता है। महाभारत[२२] (शान्तिपर्व), अर्थशास्त्र[२३] आदि में इस का स्पष्ट उल्लेख है, जहां कहा गया है कि कृतयुग में पहिले पहिले

राज्य, राजा, दण्ड, दाण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे। सब लोग धर्म से ही परस्पर रक्षा करते थे। किन्तु वे धीरे २ मोहाभिभूत हुए। इस प्रकार उन्हें कष्ट होने लगा। वे लोग आपस में लड़ने लगे। इस मात्स्यन्याय से सताये जाने पर उन्हों ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया व उसे धान्यषड्भाग व पण्यदशभाग देने लगे।

पितृप्रधानवादीपक्ष—शासनोत्पत्ति के विषय में कुछ विद्वानों के द्वारा एक और सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है, जिसे "पितृप्राधान्य-सिद्धान्त" (Patriarchal Theory) कहते हैं[२४]। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यही है कि शासन का सूत्रपात परिवार से प्रारम्भ होता है। परिवार में पिता सर्वोपरि रहता है तथा सब का शासन करनेवाला होता है। ज्यों २ मानव समाज विकसित होने लगा, त्यों २ पारिवारिक शासन की देखादेखी राजकीय शासन का भी विकास हुआ। प्राचीन आर्यों में कदाचित्, शासन का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ होगा। कुछ शब्दों की समानता से यह भी ज्ञात होता है कि इस प्रकार शासन का विकास केवल भारतीय आर्यों में ही नहीं हुआ, किन्तु यूरोपीय आर्यों में भी हुआ। वैदिक काल के 'राजा' 'विशपति,' 'जन,' 'विश' आदि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप यूरोप की मुख्य २ भाषाओं में पाये जाते हैं,[२५] जिनसे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के समस्त आर्य भिन्न २ विभागों में विभक्त थे जिन का मूल 'कुल' था। उन सब विभागों के नाम भी वैदिक भाषा के तदर्थक शब्दों से ही लिये गये हैं। सर हेनरी मेन[२६] इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दि में रूस में लगभग दो सौ या तीन सौ ऐसे परिवार थे जो कि एक ही गृहपति द्वारा संचालित व शासित किये जाते थे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अथर्ववेद में भी किया गया है[२७]। सुप्रसिद्ध यूनानी कवि होमर के मतानुसार भी राजशासन कतिपय व्यक्तियों के शासन से ही उत्पन्न हुआ है[२८]। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज-शासन का प्रारम्भ कुल से ही हुआ है। यहां विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आधुनिक समय में शासनोत्पत्ति के जो २ सिद्धान्त राजनैतिक क्षेत्र में वर्तमान हैं, वे प्राचीन-भारत के राजनीति-विशारदों को भी पूर्णतया ज्ञात थे।

आठ प्रकार के शासन-विधान—आधुनिक समय के अनुसार प्राचीन भारत में भी भिन्न २ प्रकार के शासन-विधान थे। राजा द्वारा शासित राज्य से

लेकर प्रजातन्त्र तक नाना प्रकार की शासन-प्रणालियें प्राचीन भारत में वर्तमान थीं। ऐसे आठ प्रकार के शासनविधानों का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में है। साथ ही यह भी बताया गया है कि वे किन २ देशों में वर्तमान थे तथा उन के शासकों की भिन्न २ पदवियें क्या थीं;[२९] जैसा कि निम्नाङ्कित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

शासनविधान	पदवी	स्थाननिर्देश
(१) साम्राज्य	सम्राट्	पूर्व
(२) भौज्य	भोज	दक्षिण
(३) स्वाराज्य	स्वराट्	पश्चिम
(४) वैराज्य	विराट्	उत्तर (उत्तरमद्र उत्तरकुरु)
(५) राज्य	राट्	कुरुपाञ्चाल
(६) पारमेष्ठ्य (७) माहाराज्य (८) आधिपत्य (स्वावश्य)		कुरुपाञ्चाल से उत्तर की ओर।

प्रजातन्त्र व राजतन्त्र—इन भिन्न २ शासन-विधानों की शासन-सम्बन्धी क्या २ विशेषता थी, इस पर विस्ताररूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इन्हें दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है यथा—प्रजातन्त्र व राजतन्त्र। प्रजातन्त्र शासन-विधान में जनसाधारण की सत्ता सर्वोपरि रहती है। इस को आजकल प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन (Representative Government) कहते हैं। फ्रान्स, अमेरिका, टर्की आदि देशों में आजकल ऐसा ही शासन है। राजतन्त्र शासन-विधान में राजा ही सर्वोपरि रहता है तथा प्रजा को उस का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता है। कहीं २ प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा राजा चुना जाता था[३०] व उस के अधिकार परिसीमित रहते थे, कहीं २ राजा वंशक्रमागत ही रहता था। आधुनिक काल में अफगानिस्थान, पारस, इंग्लेन्ड आदि देशों में राजा वंशक्रमागत ही रहता है। ऊपर बताये हुए आठ शासनविधानों में से भौज्य,

स्वाराज्य, वैराज्य आदि प्रजासत्तात्मक व साम्राज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य आदि राजसत्तात्मक प्रतीत होते हैं।

इन शासनविधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि—यदि उल्लिखित शासन-विधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इन शासन-विधानों में से तीन—स्वाराज्य, साम्राज्य व भौज्य, की पुष्टि इतिहास द्वारा होती है। इतिहास-प्रेमी यह जानते ही हैं कि प्राचीन काल में बड़े २ साम्राज्यों का सूत्रपात पूर्व दिशा में ही हुआ था; यथा जरासन्ध व शिशुपाल का साम्राज्य तथा शैशुनाग, नंद, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य[३१]। इसी प्रकार पश्चिम में प्रजासत्तात्मक राज्यों का आधिक्य रहा है, जैसे मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन आदि[३२]। दक्षिण के भौज्यों के बारे में बौद्धग्रन्थ, पुराण, अशोक के धर्मलेख आदि से पता चलता है[३३]।

संघ-शासन—गण, कुल—प्रजासत्तात्मक-शासन को पारिभाषिक-भाषा में 'संघ-शासन' भी कहते थे। संघ के भी दो प्रकार थे, जैसे गण, जहां प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा शासन किया जाता था; व कुल, जहां वंशक्रमागत सरदारों के हाथ में सत्ता की बागडोर रहती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि के अतिरिक्त अन्य प्रजासत्तात्मक शासन-विधान भी वर्तमान थे; जैसे—

(१) राष्ट्रिक[३४]—

इस में 'राष्ट्रिक सापत्य' (सापतेय्यम्) अथवा समाज के नेताओं द्वारा शासन होता था, जो कि वंशक्रमागत नहीं रहते थे। यह शासन-विधान पूर्वीय व पश्चिमीय देशों में पाया जाता था।

(२) पेत्तनिक[३५]—

यह राष्ट्रिक का उल्टा था तथा भौज्य से मिलता झुलता था। अशोक के लेखों से मालूम होता है कि पतेनिकों का अस्तित्त्व पश्चिम में था। पूर्वी भारत में भी इस के अस्तित्त्व का पता लगता है।

(३) द्वैराज्य (दो राजाओं द्वारा शासन)—

अर्थशास्त्र में इस का उल्लेख है[३६]। महाभारत से पता चलता है[३७] कि अवन्ती में कुछ समय तक यह शासन-विधान था। छठवीं व सातवीं शताब्दि के शिला-लेखों से पता चलता है कि नेपाल में ऐसा ही शासन-विधान वर्तमान था[३८]।

(४) अराजक, जिस में राजा न हो—

इस शासन-विधान का आदर्श था कि सब लोग स्वतः नियमों का पालन करें। किसी नियम पालन कराने वाले की आवश्यकता ही न रहती थी। जैन सूत्रों में अन्य शासन-विधानों के साथ में इस का भी उल्लेख है[३९] जैसे—

अराजक राज्य
गण ,,
युवराज ,,
द्वैराज्य ,,
वैराज्य ,,
विरुद्ध रज्जाणि

(५) उग्र,

(६) राजन्य—जैन सूत्रों में तीन प्रकार के शासकों का उल्लेख है, यथा उग्र, भोज, राजन्य। वैदिक-साहित्य में भी उग्र का उल्लेख है[४०]। कदाचित् केरल में यह शासनविधान था। अशोक के लेखों में 'केरल पुत्तो' का उल्लेख है। इस प्रकार हमें मालूम होता है कि प्राचीन काल में नाना प्रकार के प्रजातन्त्र शासन-विधान वर्तमान थे। उन की प्राचीनता इस बात से भी सिद्ध होती है कि उन में से स्वराज्य आदि का उल्लेख यजुर्वेद में भी आता है[४१]। इन शासनविधानों के अनुसार जो सर्वोपरि सत्ता का अधिकारी बनता था, उस का भी राज्याभिषेक आवश्यकीय था, क्योंकि आर्यशासकों के लिये यह परम आवश्यकीय था, केवल धर्मच्युत यवनों का राज्याभिषेक नहीं होता था।

शुक्रनीति में वर्णित शासन-विधान—शुक्र-नीति में भी भिन्न २ शासनविधानों का वर्णन है[४२]। इन में से अधिकांश राज-सत्तात्मक हैं। इन का ब्यौरा इस प्रकार है।

शासन-विधान	रजक-कर्ष
(१) सामन्त	१ से ३ लाख
(२) माण्डलिक	४......१० ,,
(३) राजन्	११......२० ,,
(४) महाराज	२१......५० ,,
(५) स्वराज्य	५१......१०० ,,
(६) सम्राज	१......१० करोड़
(७) विराज	११......५० ,,
(८) सार्वभौम	५१...... व उस से अधिक

सम्राटों की विभिन्न पदवियें—प्राचीन इतिहास के पठन से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि यहां पर बड़े २ सम्राट् हुए हैं, जिनकी उज्ज्वल कीर्ति-पताका चहुँओर फहराती थी। इन सम्राटों को भिन्न २ नामों से सम्बोधित किया जाता था, जिन का उल्लेख प्राचीन साहित्य तथा शिलास्तम्भ आदि लेखों में पाया जाता है; जैसे चक्रवर्तिन्, परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, सार्वभौम, अखण्डभूमप, राजराज, विश्वराज[४३] इत्यादि। इन राजाओं को राजसूय, अश्वमेध, विश्वजित् आदि यज्ञ करने पड़ते थे[४४]।

इस प्रकार प्राचीन भारत में भिन्न २ प्रकार के शासन-विधान वर्तमान थे, जैसे कि आधुनिक जगत् में हैं। इन शासन-विधानों में एरिस्टॉटल प्रभृति विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सब ही शासन-विधानों का समावेश हो जाता है[४५]।

राजा व उस के अधिकार—महाभारत आदि ग्रन्थों में राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है,[४६] जिस में समझाया गया है कि प्रजा का रञ्जन करना, उसे सुखसमृद्धिशील बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है। प्राचीन भारत के राजा भी अपने कर्तव्यों के पालन में कोई बात उठा न रखते थे। लोकाराधन के लिये राम ने अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी सीता को भी त्याग दिया।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही राजा की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। समाज में यह भावना थी कि यदि राजा न रहा तो कोई नियन्त्रण न रहेगा व मात्स्यन्याय के अनुसार सशक्त अशक्त का नाश करेगा। इस परिस्थिति के दूर करने के लिये राजा की

आवश्यकता हुई[४७]। जिस प्रकार शासनोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त वर्तमान थे, वैसे ही राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी थे। पहिला सिद्धान्त रूसो के सिद्धान्त से मिलता झुलता था। राजा प्रजा की रक्षा करने के लिये बनाया गया था व उस के बदले में उसे खेत की उपज का छठवां भाग व व्यापार की आमदनी का दसवां भाग मिलता था। यह एक प्रकार से प्रजा-रक्षण के कार्य्य के लिये उस का वेतन था। उसे हमेशा प्रजा का रञ्जन करना पड़ता था, जिस से उस का राजा नाम सार्थक हो जाय। कौटिलीय अर्थशास्त्र व महाभारत के शान्तिपर्व्व में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है[४८]। बौद्ध ग्रन्थ दीघ-निकाय व महावस्तु में तीन प्रकार के राजाओं का उल्लेख किया गया है; यथा महासम्मत, क्षत्रिय (क्षेत्राणां पतिः) व राजन्[४९]। इस प्रकार प्राचीन भारत का राजा सर्वोपरि व सर्वअधिकारयुक्त नहीं माना जाता था। वह प्रजा का रक्षण करनेवाला, प्रजा का नौकर मात्र था।

परमात्मा-प्रदत्त राजशक्ति—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त था। इस के अनुसार राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। इस सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में आता है,[५०] जहां राजा को प्रजापति कहा गया है; क्योंकि उस के अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। वहां चक्रवर्तिन् शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[५१] में राज्याभिषेक के मन्त्रों में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। महाभारत के शान्तिपर्व्व में[५२] वर्णन आता है कि नारायण ने अपने तेज से एक पुत्र उत्पन्न किया व पृथुवैन्य का सातवां वंशज राजा बनाया गया। विष्णु भगवान् ने उस के शरीर में प्रवेश किया। इसीलिये समस्त विश्व ने उसे परमात्मा समझ उस का आधिपत्य स्वीकार किया। देव व नरदेव में कोई अन्तर नहीं है। मनुजी ने भी कहा है[५३] कि राजा नररूप में देवता ही है। शुक्रस्मृति में[५४] राजा की तुलना इन्द्र, वायु, रवि, यम, अग्नि, कुबेर आदि देवताओं से की गई है। नारद स्मृति में[५५] भी राजा को ईश्वर का अंश माना गया है। राजा को देवता का अंश मानने का यह मतलब कदापि नहीं था कि वह जो चाहे सो कर सकता था। जो राजा प्रजापालन आदि कर्तव्यों को अच्छी तरह से निबाहता था व प्रजा को प्रसन्न रखता था, उसी को देवता

कहलाने का अधिकार प्राप्त था अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सताता था उसे तो महाभारत ने कुत्ते के समान मार डालने का आदेश दिया है[५६], जैसा कि वेन, नहुष आदि राजाओं का हाल हुआ। प्रजा के दोषों के लिये राजा को जिम्मेवार समझा जाता था[५७]। इस प्रकार देवता का अंश समझे जाने पर भी राजा का जीवन उत्तरदायित्वपूर्ण था।

दो प्रकार के राजा—प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार के रहते थे, वंशक्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राजाओं के वंशक्रम का उल्लेख है[५८] तथा महाभारत, पुराण आदि में उन की वंशावलिएँ भी दी हैं,[५९] जिन से पता चलता है कि राजाओं के अधिकार बहुशः वंशक्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में राजा के निर्वाचन आदि का भी उल्लेख है[६०]। वैदिककाल में प्रजा के प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी, जिस के द्वारा राजा का निर्वाचन होता था[६१]। यह समिति इंग्लेन्ड आदि देशों की पार्लियामेन्ट के समान थी। वैदिक काल में ऐसी ही एक और संस्था थी, जिस का निर्देश सभा नाम से किया गया है। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि मन्त्रीमण्डल का नाम ही सभा था। कोई २ इस को समिति-भवन से सम्बन्धित करते हैं[६२]।

सभा व समिति—सभा व समिति का उल्लेख ऋग्वेद,[६३] अथर्ववेद[६४] आदि में कितने ही स्थलों पर आता है, जहां लिखा है कि सभा व समिति प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियें हैं, जिन में अच्छे २ सभासद एकत्रित होकर उत्तम प्रकार से बोलने की इच्छा प्रकट करते हैं। समिति में अच्छे २ भाषण दिये जाते थे व प्रत्येक की यह महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि मैं अच्छा वक्ता बनूं। इस समिति में राजा को भी उपस्थित रहना पड़ता था। वेदों में कितने ही स्थलों पर राजा के समिति में जाने का उल्लेख है[६५]। इस में विचारैक्य का रहना व मतभेद का न रहना बहुत ही आवश्यकीय समझा जाता था[६६] तथा इस के सदस्यों द्वारा राजा का निर्वाचन भी किया जाता था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कितने ही स्थलों पर इस चुनाव का उल्लेख है। वहां राजा के लिये स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जनता ने उसे चुना है व वह राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठ कर अपने कर्तव्यों का पालन करे तथा ऐश्वर्य्य का भागी बने[६७]। वेदमन्त्रों में राजकृत शब्द कितनी ही बार उल्लिखित है,[६८] जिस से कदाचित्

राजा बनाने वाले मतदाताओं (Voters) का तात्पर्य्य है। इस समिति द्वारा राजा के पदच्युत किये जाने तथा पुनः उसी पद पर स्थापित किये जाने का उल्लेख वेदों में आता है[६९]।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में राजा के निर्वाचन का अधिकार जनसाधारण को रहता था। समिति के सभासद् ही यह काम करते थे। राजा को समिति की इच्छा के अनुसार ही सब काम करने पड़ते थे। यदि कोई राजा समिति के विरुद्ध जाता तो वह पदभ्रष्ट किया जाता था तथा अपराध स्वीकार करने पर पुनः राजपद पर स्थापित किया जाता था।

वैदिक काल के पश्चात् राजा का चुनाव व पौरजानपद— वैदिककाल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्य्य-रूप में लाया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में दिये हुए राज्याभिषेक के वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जायगा[७०]। बौद्ध ग्रन्थ पञ्चगरु जातक, तेलपत्त जातक,[७१] महावंश[७२] आदि में महासम्मत राजा का उल्लेख है। रामायण, महाभारत आदि में भी राजा के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख है। इस समय समिति का स्थान पौरजानपद ने ले लिया था। इस सभा को पौरजानपद इसलिये कहते थे कि इस में सदस्य नगरों व ग्रामों के प्रतिनिधि रहते थे। वैदिककाल की समिति के अनुसार इस का भी राजा पर पूरा २ अधिकार रहता था। रामायण के अयोध्याकाण्ड से पता लगता है[७३] कि राम को राजतिलक करने के पूर्व राजा दशरथ को पौरजानपद की सम्मति लेनी पड़ी थी। इसी प्रकार राजा दशरथ की मृत्यु के बाद नये राजा के चुनाव के लिये पौरजानपद की बैठक हुई थी। इसी पौरजानपद ने राम के बन जाने पर भरत को राज-काज सँभालने का आदेश दिया था[७४]। महाभारत में भी वर्णन आता है कि देवापि को कुष्ट रोग हो जाने पर जनता ने उसे राजा न बनने दिया,[७५] परिणामस्वरूप उसे अपने पुत्र को राजा बनाना पड़ा। आदिपर्व्व में भी पौरजानपद व राजा के सम्बन्ध का उल्लेख आता है[७६]। महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनारस्थ शिलालेख में उस के सब वर्णों द्वारा राजा चुने जाने का उल्लेख है[७७]। खालिमपुर के लेख में पालवंशी धर्मपाल का प्रकृति द्वारा राजा चुने जाने का वर्णन है[७८]। कसकौड़ी ताम्रपत्रों में पल्लवराजा नंदीवर्म्मन् के प्रजा द्वारा राजा चुने जाने का उल्लेख है[७९]। चीनी यात्री यूएनच्वेङ् ने अपने "भारत-

वर्णन" में लिखा है कि हर्षवर्धन को प्रजा ने राजा चुना था[८०]।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था। वैदिककाल में यह चुनाव समिति द्वारा होता था व तत्पश्चात् पौरजानपद, ब्राह्मणवृद्धादि द्वारा होने लगा; जिन को रामायण, महाभारत आदि में राजकर्तार नाम से सम्बोधित किया गया है। इस का यह मतलब नहीं कि आधुनिक अमेरिका के संयुक्तराज्य के प्रेसिडेन्ट के समान राजा का चुनाव होता था व उस पद के लिये दो तीन प्रतिस्पर्धी रहते थे, जिन में से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था। आजकल प्रजातन्त्र के नाम पर चलने वाली दूषित अहमहमिका प्राचीन भारत में नहीं थी। राजा के चुनाव से तो इस का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। साधारणतया राजा वंशक्रमागत ही रहता था जैसा कि ऋग्वेद से भी मालूम होता है[८१]। उस के उत्तरदायित्व व कर्तव्यों का स्पष्टीकरण कर दिया गया था। जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझ कर्तव्यों का पालन नहीं करता था, वह समिति या पौरजानपद के द्वारा राजपद से च्युत किया जाता था व अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जो कि साधारणतया राज-कुल का ही रहता था। इस के अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौरजानपद आदि की स्वीकृति पहिले प्राप्त कर लेनी पड़ती थी। इस प्रकार राजपद का काम सुचारुरूप से चलता था।

राजा के लिये आवश्यकीय गुण—राजा बनने के लिये किसी का राजकुल में जन्म लेना ही पर्य्याप्त नहीं था, जन्म के अतिरिक्त उसे योग्यता व कितने ही गुण भी प्राप्त करने पड़ते थे,[८२] जिन का सारांश में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है।

(१) विनय—

नीति-शास्त्र के लेखकों ने विनय-प्राप्ति पर बहुत जोर दिया है। इस सम्बन्ध में मनु, शुक्र, कामन्दक आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं[८३]।

(२) नियमबद्धता—

प्राचीन स्पार्टा के निवासियों के समान प्राचीन भारत के राजा के लिये भी नियमबद्धता आवश्यकीय थी। राजाको कड़ाई के साथ सब नियमों का पालन करना पड़ता था, जैसा कि कल्हणकृत राजतरङ्गिणी से काश्मीर के राजा

शंकरवर्म्मन् के बारे में मालूम होता है[८४]।

(३) इन्द्रिय-दमन—

महाभारत, मनु, शुक्र, बार्हस्पत्य, चाणक्य आदि इस पर विशेष ज़ोर देते हैं[८५]। राजा के लिये द्यूत, पान, स्त्री आदि निषिद्ध थे । किन्तु इन्द्रिय-दमन का मतलब पूर्ण विषय-पराङ्मुखता नहीं था ।

(४) वृद्ध-सेवित्व—

राजा को वृद्धों की सेवा करनी पड़ती थी तथा उन की सलाह से राजकाज आदि करने पड़ते थे । मनु, बार्हस्पत्य, अर्थशास्त्र आदि ने इस का विवेचन किया है[८६]।

(५) विद्याप्राप्ति—

राजा के लिये विद्या प्राप्त करना अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता था । वे विद्याएँ इस प्रकार हैं[८७]—

त्रयी (वेदों का अध्ययन)

आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र)

वार्ता (अर्थशास्त्र)

दण्डनीति (राजनीति)

इस सम्बन्ध में कलिङ्ग के चेतवंशीय राजा खारवेल के लेख से प्रमाण मिलता है[८८]। खारवेल ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही निम्नाङ्कित विद्याओं का पठन प्रारम्भ कर दिया था ।

लेख—राजकीय पत्रों आदि के लिखने की कला ।

रूप—सिक्कों की कला

गणना—हिसाबकिताब

व्यवहार—न्यायादि करने का ढङ्ग, न्यायालय के नियमादि ।

विधि—राजनियमादि

(६) सुसंगति—

राजा के लिये सज्जनों की सङ्गति अच्छी समझी जाती थी ।

(७) सुनृतावाक्—

राजा के लिये सत्यवादी होना भी आवश्यकीय था ।

(८) धर्मप्रियता—

राजा को धार्मिक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यमनियम आदि द्वारा आत्मनिग्रह का अभ्यास करना उस के लिये आवश्यकीय था; किन्तु धार्मिक कट्टरपन जिस से राज-काज में बाधा पहुँचे, सर्वथा अवाञ्छनीय था। राजतरङ्गिणी से मालूम होता है कि राजा सन्धिमत्[८९] अत्यन्त ही धार्मिक था। धार्मिक कृत्यों के कारण उसे राजकाज सँभालने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। परिणामस्वरूप प्रजा उससे असन्तुष्ट होगई व उसे राज-गद्दी छोड़नी पड़ी।

(९) सुपरिवार-युक्त—

राजा के लिये आवश्यकीय था कि वह अपने परिवार को भी उत्तम बनावे, जिससे उस का वैयक्तिक जीवन शुद्धवातावरण में रहने से दूषित न होने पाया।

अर्थशास्त्र व राजा के कर्तव्य—कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राजा के कर्तव्य, शिक्षा आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। प्राचीन राजा साधारणतया क्षत्रिय वर्ण का रहता था। अर्थशास्त्र में क्षत्रिय के कर्तव्य इस प्रकार बताये हैं[९०]—

(१) अध्ययन—वेदादि सच्छास्त्रों का

(२) यजन

(३) दान

(४) शस्त्रजीवन

(५) भूतरक्षण

इन कर्तव्यों की पूर्ति करने की क्षमता प्राप्त करने के लिये, राजा बनने के पहिले ही क्षत्रिय को अच्छे २ गुरुओं से नीचे लिखे अनुसार शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी[९१]।

(१) त्रयी—वेदों का अध्ययन

(२) आन्वीक्षिकी

(३) वार्ता

(४) दण्डनीति

(५) इतिहास—

इस के अन्तर्गत निम्नाङ्कित विषयों का श्रवण करना पड़ता था—

पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र।

(६) सैनिकशिक्षा—

हस्ति-विद्या, अश्वविद्या, रथविद्या, प्रहरणविद्या

इस प्रकार शिक्षा पूरी करने पर राज-कुमार को राजसत्ता का भार सौंपा जाता था। राजा बनने पर उस का दैनिक जीवन कैसा होना चाहिये उस का विवेचन भी अर्थशास्त्र में किया गया है[९२]।

राजा की दिनचर्य्या—

दिवस

प्रातः—			
(१)	६–७.३०	बजे तक	सेना व कोष-निरीक्षण।
(२)	७.३०–९	”	पौरजानपद के कार्य्य का निरीक्षण।
(३)	९–१०.३०	”	स्नान, सन्ध्या, भोजन व अध्ययन
(४)	१०.३०–१२	”	अध्यक्षों के पास से कर आदि संग्रह करना
दुपहर (५)	१२–१.३०	”	अनुपस्थित मन्त्रियों से पत्रव्यवहार।
(६)	१.३०–३	”	मनोरञ्जन अथवा आत्मचिन्तन।
(७)	३–४.३०	”	हाथी, घोड़े, रथ, पदाति का निरीक्षण
सायं (८)	४.३०–६	”	सेनाधिपति से विचारविनिमय व सायं सन्ध्या।

रात्रि

(१)	६–७.३०	”	गुप्तचरों से मुलाकात
(२)	७.३०–९	”	स्नान, भोजन, अध्ययन।
(३), (४), (५)	९–१.३०	”	शयन
प्रातः (६)	१.३०–३	”	जागना, धर्मशास्त्रों के नियम व दैनिक जीवन का चिन्तन
(७)	३–४.३०	”	मन्त्रीमंडल की बैठक व गुप्तचरों को अपने २ काम के लिये भेजना
(८)	४.३०–६	”	पुरोहित, गुरु आदि से आशीर्वाद प्राप्त करना; वैद्य, पाचक, ज्योतिषी आदि से मुलाकात; सवत्सा गो की प्रदक्षिणा कर राज-सभा में प्रवेश।

सप्ताङ्ग राज्य—राज्य के सात अङ्ग माने गये थे जिन पर उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को पूरा २ ध्यान रखना पड़ता था। वे सात अङ्ग इस प्रकार हैं— स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड, मित्र[९३]। यदि इन सातों अङ्गों पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि एक विकसित व बड़े राज्य के लिये इन सब की यथावत् रक्षा व व्यवस्था की कितनी आवश्यकता है। आधुनिक राज्यों में भी ये ही सात मुख्य अङ्ग रहते हैं। राजा को अपने मन्त्री-मंडल की मन्त्रणा द्वारा राजकाज चलाना पड़ता था, साथ ही अपने उत्तरदायित्व को निबाहने के योग्य बनना पड़ता था। इस के अतिरिक्त उसे जनपद अर्थात् अपने राज्य के अन्तर्गत भूमि व वहां के निवासियों का भी पूरा २ ध्यान रखना पड़ता था। कदाचित् जनपद में पौरजानपद सभा का भी समावेश हो जाता हो, क्योंकि उस की सलाह के बिना राजा कुछ भी नहीं कर सकता था।

प्राचीन काल में राज्य की रक्षा के लिये दुर्ग याने किलों का भी महत्त्व था, क्योंकि राज्य की रक्षा इन्हीं पर निर्भर रहती थी, इसलिये इन्हें राज्य का एक अङ्ग माना गया था। कोष, दण्ड व मित्र भी राज्य की उन्नति व विकास के लिये अत्यन्त ही आवश्यकीय रहते हैं, इसलिये इन का भी समावेश राज्याङ्गों में किया गया था। बलिषड्भाग व पण्यदशभाग आदि के द्वारा कोष की वृद्धि होती थी। दण्ड में सेना का समावेश होता था, जिस में साधारणतया रथ, हाथी, घोड़े, पैदल आदि रहते थे। प्रत्येक राजा को अन्य राष्ट्रों को मित्र भी बनाना पड़ता था, जैसा कि आजकल भी होता है।

षाड्गुण्य व त्रिवर्ग तथा तीर्थ—इस सप्ताङ्गराज्य की रक्षा के लिये षाड्गुण्य व त्रिवर्ग की सम्यक् साधना आवश्यकीय थी। सन्धान, आसन, यात्रा, द्वैधीभाव 'अन्येषां संश्रय,' 'परस्य संश्रय' आदि का षाड्गुण्य[९४] में, व क्षत्र, स्थान, वृद्धि आदि का त्रिवर्ग[९५] में समावेश हो जाता है। इस प्रकार सुसज्जित होकर राजा अपने राज्य को चलाता था। सब काम के अच्छी तरह से किये जाने के लिये राज्यकार्य्य को बहुत से विभागों में बाँटा गया था। इन विभागों को पारिभाषिक भाषा में तीर्थ कहते थे[९६]। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ के मतानुसार कुल अठारह तीर्थ थे, जिन के कुछ अधिकारी इस प्रकार थे[९७]।

मन्त्रिन्, पुरोहित, युवराज, चमूपति, द्वारपाल, अन्तरकेषिक, कारागाराधिकारिन्, द्रव्यसंचयकृत, कृत्याकृत्येष्वर्थानां विनियोजकः, प्रदेष्टृ, नगराध्यक्ष, कार्य-

निर्माणकृत, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल, अटवीपाल।

अर्थशास्त्र के अनुसार अठारह तीर्थों के कुछ अधिकारी इस प्रकार थे[९८]।

मन्त्रिन्, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तरवेषिक, प्रशास्तृ, समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेष्टृ, नायक, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल, आटविक।

इन अधिकारियों में से कुछ का उल्लेख अधिक प्राचीन साहित्य में भी पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता व तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में ब्राह्मण, राजन्य, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संगृहीतृ, भागदुघ, अक्षावाप आदि उल्लिखित हैं[९९]। इसी प्रकार पञ्चविंश ब्राह्मण में 'आठ वीर' उल्लिखित हैं,[१००] जिन में पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ आदि का भी समावेश होता है। इस प्रकार तीर्थों की प्राचीनता स्पष्टतया समझ में आजायगी।

मन्त्रीमंडल—इन के अतिरिक्त राजा को मन्त्रीमंडल भी रखना पड़ता था। प्रत्येक नीतिशास्त्र के लेखकने राज्य के सुचारु संचालन के लिये मन्त्रियों की आवश्यकता पर जोर देते हुए इस मण्डल का उल्लेख किया है। चाणक्य, मनु, शुक्र आदि इस सम्बन्ध में एकमत हैं। चाणक्य मन्त्रियों की योग्यता के सम्बन्ध में लिखता है कि मन्त्री नाना प्रकार के गुणों से युक्त, कुलीन व प्रभावोत्पादक व्यक्तित्ववाला होना चाहिये[१०१]। मन्त्रियों के वर्ण के सम्बन्ध में महाभारत, मनु, शुक्र आदि का मत है[१०२] कि साधारणतया वे ब्राह्मण रहें, किन्तु अन्य वर्ण के विद्वान् भी मन्त्री रह सकते हैं। यहां तक कि यदि शूद्र, म्लेच्छ, संकर-सम्भव आदि योग्य व विद्वान् हों तो मन्त्री बनाये जा सकते हैं।

साधारणतया मन्त्रीमंडल में निम्नाङ्कित मन्त्री सम्मिलित थे।

(१) पुरोहित—

वैदिक काल से ही राजा की सभा में पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। धार्मिक कृत्य, यज्ञ आदि के लिये उस की परमावश्यकता थी। हाथी, घोड़े आदि की पूजा के लिये भी उस की आवश्यकता होती थी। वैदिककाल में वह राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाता था। उसे धनुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता था।

(२) प्रतिनिधि—

मनु व चाणक्य ने इस का समावेश मन्त्रियों में नहीं किया है। इस की आवश्यकता हमेशा नहीं रहती थी। जब कभी राजा बीमार रहता तब इसे

उस के स्थान में काम करना पड़ता था। यह अक्सर राज-कुल का रहता था।

(३) प्रधान—

इसे सब राजकाज की देख भाल करनी पड़ती थी। इस का पद अत्यन्त ही महत्त्व का था जैसा कि आधुनिक प्रधान-मन्त्री का रहता है।

(४) सचिव—

यह युद्धमन्त्री था। इस के लिये युद्ध-कला में प्रवीण रहना आवश्यकीय था। इस का नाम सेनावित् भी था। काश्मीर में इसे कम्पन कहते थे।

(५) मन्त्री—

यह वैदेशिक मन्त्री था। नीतिकुशल होना इस के लिये आवश्यकीय था। साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की भी यथासमय उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार इसे करना पड़ता था। मनुस्मृति व महाभारत में इसे अमात्य कहा गया है व सन्धिविग्रह का उत्तरदायित्व भी इसी पर छोड़ा गया था।

(६) प्राड्विवाक—

यह मुख्य न्यायाधीश था। धर्मशास्त्र का विशेष ज्ञान व अन्य आवश्यकीय गुणों का प्राप्त करना इस के लिये अनिवार्य्य था।

(७) पण्डित—

यह धर्मसम्बन्धी मन्त्री था। इसे प्रजा के धार्मिक जीवन का निरीक्षण करना पड़ता था। धार्मिक नियमों के आवश्यकतानुसार परिवर्तन आदि का उत्तरदायित्व भी इसी पर था। अशोक के धर्म-महामात्र की तुलना इससे की जा सकती है।

(८) सुमन्त्र—

यह आय-व्यय का परिज्ञाता था। राज्य के आय-व्यय का निरीक्षण करना इस का विशेष कर्तव्य था। कोष में कितना धन है व घांस, अनाज आदि अन्य चीजें कितनी हैं, इन सब का हिसाब भी इसे ही रखना पड़ता था।

(९) अमात्य—

इसे ग्राम व नगरों की परिगणना करनी पड़ती थी व कर निश्चित करना पड़ता था। बाद के शिला-लेखों में इस नाम का उपयोग प्रान्तीय शासक के लिये किया गया है।

(१०) दूत—

इस का काम भिन्न २ देशों में एलची भेजना व उन देशों की शक्ति का पता लगाना था।

इन मन्त्रियों में शिक्षा व जनता के हित के अन्य कार्यों के मन्त्रियों का उल्लेख नहीं आता। ये काम समाज द्वारा किये जाते थे। देहातों में सर्वसाधारण के उपयोग के काम ग्रामीण लोग स्वतः ही कर लेते थे। चाणक्य ने कहा है कि केन्द्रीय सरकार को सर्वसाधारण हित के कार्य्यों के लिये स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता पहुँचानी चाहिये। इन कार्य्यों की देखभाल के लिये एक कर्मचारी के नियुक्त किये जाने का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में है।

मन्त्री-मंडल पर ऐतिहासिक दृष्टि—मन्त्री-मण्डल पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि यह मण्डल केवल नीतिशास्त्रज्ञों के ग्रन्थों में ही नहीं था, बल्कि यथार्थ में भी इसका अस्तित्व था जैसा कि कितने ही ऐतिहासिक उदाहरणों से प्रमाणित किया जा सकता है। वैदिककाल में जो 'रत्निन्' थे वे ही तत्कालीन मन्त्री-मंडल के सदस्य थे। तैत्तिरीयसंहिता (१।८।९) के अनुसार वे 'रत्निन्' इस प्रकार थे—

पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहीतृ, भागधुक्, अक्षावाप। ये सब राजा को अपने धार्मिक, सामाजिक व सार्वजनिक कर्तव्यों में सहायता देते थे। इस प्रकार वैदिक काल में भी मन्त्री-मंडल बीजरूप से वर्तमान था। वैदिक काल के पश्चात् भी इसका अस्तित्व इतिहास से प्रमाणित होता है। अजातशत्रु का मन्त्री-मंडल था[१०३]। उसने अपने दो मन्त्रियों को बुद्ध के पास यह जानने के लिये भेजा था कि लिच्छवी जीते जा सकते हैं या नहीं। मौर्यों तथा शुङ्गों का भी मन्त्री-मण्डल था। आन्ध्र, शक क्षत्रप, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, सिलाहर आदि राजवंशों के भी कितने ही मन्त्रियों का प्राचीन लेखादि में स्पष्ट उल्लेख आता है। उन मन्त्रियों में से कुछ ये हैं—रायामच, भण्डाकारिक, अमच्च, मतिसचिव, कर्म-सचिव इत्यादि[१०४]। शिवाजी के अष्टप्रधान भी इसी प्राचीन मन्त्रीमण्डल से सम्बन्धित हैं।

स्थानीय शासन—(Local Government) प्राचीनभारत में स्थानीय-शासन का प्रारम्भ ग्राम से होता था, जैसा कि आजकल अंग्रेज़ी साम्राज्य में शासनप्रारम्भ जिले से होता है। ग्राम के सञ्चालन में सरकारी व

गैरसरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियों का हाथ रहता था। गांव में पटेल व पटवारी सरकार की ओर से रहते थे व ग्रामपञ्चायत जनता की ओरसे। कदाचित् यह भी सम्भव है कि इन दोनों को भी पञ्चायत में रहना पड़ता था। वैदिक काल में गांव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। ऋग्वेद में उसकी तुलना साक्षात् राजा से की गई है[१०५]। महावग्ग, कुळावक जातक, खरस्सर जातक, उभतो भट्ट जातक आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी ग्रामणी का उल्लेख है,[१०६] जहां बताया गया है कि वह कर वसूल करता व चोर, बदमाश आदि को गिरफ्तार करता था। इसे ग्रामसम्बन्धी सब देखरेख रखनी पड़ती थी। मनु, शुक्र आदि स्मृतियों में उसे ग्रामिक कह कर उसके अधिकार व कर्तव्य बताये गये हैं[१०७]। हालकृत 'सप्तशती' में भी इसका उल्लेख आता है, जहां उसे सेनाधिनायक भी कहा गया है[१०८]। इसके अस्तित्व को मुसलमानी राज्य में व अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भ में भी माना गया था। बहमनी राज्य में कर वसूल करने में तहसीलदार को इसी की सहायता लेनी पड़ती थी। मुर्शिदकुलीने करवसूली के लिये बहुतसे गांव-पटेल नियुक्त किये थे।

ग्राम-पञ्चायत—भारत की ग्रामपञ्चायत संस्था भी बहुत ही पुरानी है। वैदिककाल में भी इसका अस्तित्त्व था[१०९]। अंग्रेजी राज्य के आने के पहिले तक यह एक जीवित संस्था थी। ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग इसके सदस्य रहते थे। ग्रामसम्बन्धी सब बातें इसी में तय की जाती थीं। न्यायादि करने का अधिकार भी इस संस्था को प्राप्त था। वैदिककाल के पश्चात् भी बौद्धादिकाल में तथा शिला-लेखों की सहायता से ९ वीं व १० वीं शताब्दि में इसके अस्तित्त्व का पता चलता है[११०]। स्मृत्यादि ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है[१११]। शिलालेखों में इसके सर्वोपरि कर्मचारी को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलिक आदि व जातकों में ग्रामभोजक कहा गया है[११२]। इसकी सहायता के लिये दो तीन सदस्यों की एक छोटी सी उपसमिति रहती थी, जिसे बड़ी पञ्चायत के सामने जवाबदार रहना पड़ता था। अधिकार के स्थान साधारणतया वंशक्रमागत ही रहते थे। कभी २ एक से अधिक भी उपसमितियें रहती थीं। उत्खल लेखों[११३] से ऐसी चार या पांच उपसमितियों का पता चलता है—जैसे (१) एक वर्ष के लिये चुने गये महाजन, (२) दानधर्म के लिये चुने गये महाजन, (३) तालाब के लिये, (४) बगीचों के

लिये, (५) प्रतिवर्ष ग्राम के आन्तरिक जीवन की देखरेख रखने के लिये। ९ वीं व १० वीं शताब्दि के चोल व उत्तरमल्लूर शिलालेखों से मालूम होता है[११४] कि ग्राम-पञ्चायत के अधिकार राजाको भी मान्य रहते थे तथा वह ग्राम की सब भूमि, शिक्षा आदि के प्रबन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र थी। कभी २ इसके सदस्य राजा से भी मिलते थे।

पञ्चायत की भावना—प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन के विकास में पञ्चायत-भावना का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। दार्शनिकों की समष्टि व व्यष्टि की उलझनों को समाज-शास्त्रियों ने इसी भाव की सहायता से सुलझाया था। इसीलिये प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुख व सन्तोषमय था। पञ्चायत की भावना समाज में इतनी प्रबल होगयी थी कि सार्वजनिक-जीवन का प्रत्येक पहलू इसी के द्वारा संचालित होता था। हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य्य के सञ्चालन के लिये पञ्चायत-प्रथा थी। आजकल भी इस प्रथा का बिगड़ाहुआ स्वरूप जाति-पञ्चायतों के रूप में दिखाई देता है। ऊँचे से ऊँचे ब्राह्मणों से लेकर नीच से नीच मेहतरों तक का सामाजिक जीवन कितने ही अंशों में उन की जाति-पञ्चायतों द्वारा ही सञ्चालित होता है। किन्तु पाश्चात्यसंस्कृति के प्रभाव के कारण उन का नियन्त्रण अब ढीला होता जा रहा है।

नागरिक जीवन—ग्रामों के अनुसार नगरों का जीवन भी ऐसी ही संस्था द्वारा सञ्चालित किया जाता था। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार यह संस्था आधुनिक म्युनिसिपलकमेटी के समान थी। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के यूनानी राजदूत मीग़ाज़-थीनीज़ ने पाटलीपुत्र की इस संस्था का वर्णन किया है[११५]। उसने यह स्पष्टतया बताया है कि नगर के सञ्चालन के लिये इस सभा की पांच उपसमितियें थीं। यह सभा अपने नियमादि भी बनाती थी, जिन को राजा द्वारा भी स्वीकृति प्राप्त होती थी। इसे भी अपने कार्य्य में पर्याप्तरूप से स्वातन्त्र्य प्राप्त था।

श्रेणी, पूग, निगमादि—इस के अतिरिक्त श्रेणी आदि की सभाएँ भी वर्तमान थीं[११६]। इन का सम्बन्ध समाज के आर्थिक जीवन से था। इन से भिन्न २ व्यापार व उद्योगधन्दे करनेवालों के संगठित जीवन का पता लगता है। ये संस्थाएँ भी बहुत प्राचीन थीं। बौद्ध साहित्य रामायण इत्यादि से

इन के अस्तित्व का पता लगता है। इन्हें बहुत से अधिकार प्राप्त थे। ये अपने सिक्के भी बना सकती थीं। इस सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, आदि स्मृतियों से तथा नासिक, जुन्नार आदि के प्राचीन लेखों से बहुत कुछ मालूम होता है[११७]। इस प्रकार ये संस्थाएँ न केवल आर्थिकजीवन को संगठित करती थीं, किन्तु राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता का वातावरण निर्माण कर समाज को संस्कृति के मार्ग में अग्रसर भी करती थीं। इन सब संस्थाओं के अपने न्यायालय भी होते थे। साधारणतया ज़मीनज़ायदाद आदि के झगड़े इन में तय होते थे। फौजदारी मामलों पर राजा के न्यायालयों का अधिकार रहता था। किन्तु बड़े २ साम्राज्यों के काल में दीवानी मामलों पर भी राजा ने अपना अधिकार जमाना शुरु कर दिया था। परिणामस्वरूप श्रेणी, पूग, ग्राम-पञ्चायत आदि के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य हुई होगी। मौर्य्य-साम्राज्य में ५ दीवानी न्यायालय थे जैसे प्रान्तीय, स्थानीय (८०० ग्राम), द्रोणमुख (४०० ग्राम), खारवटिक (२०० ग्राम, तहसील), गोप (२ से ५ ग्रामतक)। इन के अतिरिक्त कण्टक-शोधन (फौजदारी) न्यायालय भी थे। प्राचीनसाहित्य में न्यायालय को सभा कहा गया है। इन सब सभाओं का उल्लेख मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र आदि ने किया है[११८]।

बड़े २ राज्यों की व्यवस्था—प्राचीन भारत ने बड़े २ राज्यों की व्यवस्था की भी सुन्दर आयोजना विकसित की थी। मौर्य, गुप्त, हर्ष आदिके साम्राज्यों के इतिहास से पता लगता है कि राज्य को भिन्न २ प्रान्तों में बाँट दिया जाता था, जिन को भुक्ति आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था। इन का ऊपरी अधिकारी राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। अशोक के धर्म लेखों,[११९] दामोदरपुर के ताम्रपत्रों[१२०] तथा यूएनच्वेङ् आदि चीनी यात्रियों के भारत वर्णन[१२१] में इन प्रान्तों तथा उन के अधिकारियों का पता चलता है तथा यह भी मालूम होता है कि किस प्रकार एक बड़ा साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया जाता था।

इन प्रान्तों को जनपद में व जनपद को किसी निश्चित संख्या के ग्रामों के समूह में विभाजित किया गया था। बीजरूप से यह व्यवस्था ऋग्वेद में भी पाई जाती है। वैदिक काल में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी जिस में विश,

जन, ग्राम, कुल आदि नामों से राज्य के मुख्य विभाग किये गये थे[१२२]। महाभारत में भी ऐसी ही व्यवस्था का उल्लेख है[१२३]।

प्रजातन्त्र—प्राचीन भारत में प्रजातन्त्र-शासनप्रणाली का भी पर्य्याप्त विकास हुआ था। वैदिककालीन समिति आदि से पता चलता है कि जन-साधारण में पर्य्याप्त मात्रा में राजनैतिक जागृति हो चुकी थी। लोगों ने अपने अधिकारों को समझना व उन की रक्षा करना सीख लिया था। प्रजातन्त्र के विकास के लिये ऐसे ही वातावरण की आवश्यकता होती है, जिस में कि वह पल्लवित व पुष्पित हो सकता है। इसी के परिणामस्वरूप भारत में प्रजातन्त्र-शासनप्रणाली का जन्म हुआ।

संघ—(१) गण (२) कुल—वैदिक काल में कदाचित् प्रजातन्त्र पूर्ण विकसित रूप में न हो, तो भी आधुनिक इंग्लेन्ड के समान उस समय का राजनैतिक वातावरण प्रजातन्त्र के भावों से पूर्णतया भरा था। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्वराज्य शासनविधान था, जहां के शासक को स्वराट् कहते थे। यह अधिक संभव है कि यहां की शासन-पद्धति प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर अवलम्बित रही हो। प्रजातन्त्र का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि, बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में आता है व यूनानी इतिहासकारों ने भी इस का वर्णन किया है। क्योंकि जब सिकन्दर ने पञ्जाब पर आक्रमण किया था, उस समय वहां कितने ही प्रजातन्त्र राज्य थे। प्राचीन प्रजातन्त्र का पारिभाषिक नाम सङ्घ था। ये सङ्घ दो प्रकार के रहते थे—गण, जिस में चुने हुए सदस्य रहते थे, कुल जिस में वंशक्रमागत सदस्य रहते थे।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी[१२४] में सङ्घों से सम्बन्धित शब्दों की व्युत्पत्ति के बारे में कितने ही नियम बताये हैं। इस से स्पष्ट होता है कि पाणिनि के समय में सङ्घ वर्तमान थे व उन्हें महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। उन नियमों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से मालूम होता है कि किस प्रकार उन में सङ्घशासन व राज-शासन की भिन्नता दर्शाई गई है व यह भी बताया गया है कि प्राचीन भारतीय सङ्घ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि चारों वर्णों के लोग सम्मिलित हो सकते थे। पाणिनि ने निम्नाङ्कित सङ्घों का उल्लेख किया है—

वृक, दामनी, त्रिवर्गषष्ठ, यौधेय, पार्श्व आदि। इन्हें "आयुधजीवीसङ्घ" कहा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन्हें "शस्त्रोपजीवी सङ्घ" कहा गया है। मद्र, वृजि, राजन्य, अन्धक-वृष्णि, महाराज, भर्ग आदि सङ्घों का भी उल्लेख पाणिनि में पाया जाता है। सिकन्दर के समकालीन इतिहासकारों ने क्षूद्रक व मालव का[१२५] तथा पुराणों ने अन्धक-वृष्णि का उल्लेख विशेष रूप से किया है[१२६]। वृष्णि-संघ का एक सिक्का (ई० पू० प्रथम शताब्दि) भी मिला है, जिस पर इस प्रकार लिखा है—"वृष्णि-राजन्त्रा गणस्य"[१२७]। इन सङ्घों के 'अङ्क' व 'लक्षण' भी रहते थे। इन में से कुछ में राजकाज चलाने के लिये एक के बदले दो सभाएँ रहती थीं।

बौद्ध-कालीन सङ्घ—बौद्ध ग्रन्थों में भी सङ्घों का उल्लेख है, जहां इन्हें गण कहा गया है। अवदान-शतक में वर्णन आता है[१२८] कि मध्य देश से कुछ वणिक् दक्षिण में गये। वहां के राजा के पास वे ले जाये गये। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहां राजा कौन है? इस पर उन वणिकों ने कहा कि हे देव, कुछ देश गणाधीन हैं व कुछ राजाधीन हैं। इस प्रकार बौद्ध काल में प्रजातन्त्र के अस्तित्व का पता लगता है। बौद्ध-साहित्य में अन्य सङ्घ भी उल्लिखित हैं जैसे शाक्य, कोलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मोरिय, बुलीय, भग्ग आदि[१२९]। इन सङ्घों की एक सभा रहती थी, जिसकी बैठक एक बड़े भवन में होती थी। इस भवन को 'संथागार' कहते थे। इसी में राजा का चुनाव होता था, जो सब राज-काज की देख भाल रखता था। यह राजा उक्त सभा का प्रधानमात्र रहता था, जिस का चुनाव नियमित रूप से कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। 'राजा' शब्द पदवीमात्र का सूचक था। सङ्घ के अन्य कर्मचारियों का भी उल्लेख साहित्य में आया है जैसे उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक इत्यादि[१३०]।

इन सङ्घों में सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तकरूप में सुरक्षित रखे जाते थे, जिसे 'पवेनीपत्थकम्' कहते थे। न्याय का काम करने के लिये 'विनिश्चय महामात्त', 'वोहारिक', 'सूत्रधार', 'अष्टकुलक' आदि न्यायाधीश थे।

अर्थशास्त्रादि में सङ्घों का उल्लेख—अर्थशास्त्र में भी सङ्घों का उल्लेख है जैसे लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, भद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल, काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी इत्यादि[१३१]। बौद्ध ग्रन्थों से जो कुछ इन सङ्घों के बारे में ज्ञात है, उसकी पुष्टि अर्थशास्त्र से होती है। सिकन्दर के समय में पश्चिम भारत में

बहुतसे सङ्घ वर्तमान थे, जिनका वर्णन यूनानी इतिहासकारों के ग्रन्थों में आता है; जैसे केथियन (कठ), एड्रेस्टी (अरिष्ठ), योधेय, ऑक्सिड्रेकॉय (क्षौद्रक), मल्लोई; सिबि (शिवि), जेथोरॉय (क्षत्रिय), ओसेडिऑय (वसाति, महाभारत में उल्लिखित), ऐग्सिनेइ (अग्रश्रेणी), सेम्बेस्टाइ (अम्बष्ठ), मुसीकेनी (मुचुकर्ण, काशिका में वर्णित), ब्रेकमेनिआय (ब्राह्मणक जनपद, पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित), फेगेलस, ग्लौसिऑय[१३२] इत्यादि । प्राचीन लेख, सिक्के आदि से इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार-लेख,[१३३] समुद्रगुप्त के प्रयागस्थ स्तम्भलेख,[१३४] विजयगढ़के शिलालेख[१३५] आदि में यौधेय, मालव, आर्जुनायन आदि गणराज्यों का स्पष्ट उल्लेख है । यौधेय, मालव, आर्जुनायन, शिबि आदि के बहुतसे सिक्के भी प्राप्त हैं[१३६] । यौधेयों के सिक्के अधिकतर सतलज व जमुना नदी के कछारों में मिले हैं ।

ये सङ्घ बहुत समय तक शक्तिशाली रहे व समाज का सांस्कृतिक विकास करते रहे । इनके कारण समाज में हर प्रकार की स्वतन्त्रता बनी रहती थी । महावीर, गौतम आदि के समान महान् धर्मप्रवर्तक तथा समाज-सुधारक इसी वातावरण में उत्पन्न हुए थे[१३७] । पञ्जाब के कठ सङ्घ की ऋग्वेदकी काठक संहिता व कठोपनिषद कौनसा भारतीय नहीं जानता[१३८] ? । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन सङ्घों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में पूरी सहायता दी थी । ज्यों २ समय बीतने लगा, त्यों २ साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बढ़ने लगा व इन सङ्घों के अन्तिम दिवस निकट आने लगे । बिम्बीसार, अजातशत्रु, रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि शक्तिशाली राजाओं ने इन का अन्त कर दिया[१३९] । ईसा की पांचवीं शताब्दि में सङ्घ-शासन भारत से हमेशा के लिये बिदा होगया ।

उपसंहार—उपरोक्त वर्णन से हमें प्राचीन भारत के राजनैतिक विकास का स्पष्ट पता लगता है । आश्चर्य इस बात का होता है कि जिन राजनैतिक सिद्धान्तों को हम आधुनिक समझते हैं, वे सब प्राचीन भारत में ज्ञात थे । हॉब्स, लॉक, रूसो आदि के विश्व-विख्यात सिद्धान्त महाभारत के शान्तिपर्व्व ने पहिले ही से संसार के सन्मुख रख दिये थे । राजा का निर्वाचन, वैदिक कालीन समिति तथा सभा, पौरजानपद, मन्त्रीमण्डल, सङ्घशासन आदि के बारे में जो कुछ प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है, उस से आश्चर्य्यजनक राजनैतिक विकास का ज्ञान होता है । राजनीति के विषय को शास्त्रीय पद्धति से विकसित

किया गया था। इसे दण्डनीति कहते थे। अर्थशास्त्र में इस के कितने ही आचार्यों व उन के सिद्धान्तों का उल्लेख आता है। इस विषय का कितना ही साहित्य आज भी उपलब्ध है।

अध्याय १४

धर्म व दर्शन

प्राचीन भारत का धार्मिक व दार्शनिक जीवन—प्राचीन भारत बहुतसे धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों की जननी रहा है। कदाचित् ही संसार में कोई ऐसा मान्य सिद्धान्त हो, जिसे भारतीय ऋषिमुनियों ने न सोचा व समझा हो। एकेश्वरवाद, मायावाद या अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि धार्मिक व दार्शनिक तत्त्वों को विकसित कर उन्हें जीवन से सम्बन्धित करने का सफल प्रयत्न प्राचीन भारत ने किया था। भारत के धार्मिक व दार्शनिक जीवन का विकास वेद व उपनिषदों से ही होता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से हमें स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि किस तरह भिन्न २ वाद या पन्थ एक ही वृक्ष की जुदी २ शाखाएँ व टहनियें हैं। इन को एक दूसरे से भिन्न मानना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता।

धर्म व दर्शन शब्दों का विवेचन—प्राचीन भारतीयों ने धर्म को वैज्ञानिक ढङ्ग पर समझने का प्रयत्न किया था[1]। इस के विपरीत अन्य देशों ने पुराने रीतिरिवाजों व सभ्यता के सूर्योदय के पूर्व के असभ्य जीवनक्रम को ही धर्म समझ लिया था। पूर्वमीमांसाकार जैमिनि इस प्रकार धर्म की व्याख्या करते हैं—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः।"[2]

जिस से अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय से लौकिक व निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति व कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्धित किया गया था। धर्म वही हो सकता है, जिस से मानव-जाति परमात्माप्रदत्त

शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके; साथही मृत्यु के पश्चात् भी जन्ममरण की झंझटों में न पड़कर जीवात्मा शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। धर्म की इस से अधिक उदार परिभाषा दूसरी हो ही नहीं सकती। धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी इस का महत्त्व समझ में आजायगा। धर्म शब्द 'धृ' (धारण करना) धातु में 'मप्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जिस का अर्थ धारण करनेवाला होता है। इसलिये धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिन के द्वारा यह मानव-समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर व उन्नतिशील बन कर अपने अस्तित्त्व को धारण करता है। सनातन-धर्म शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार दर्शन शब्द भी अर्थपूर्ण है। इसमें आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार का भाव भरा है व भारतीय दर्शनों का उद्देश है भी यही। जीव को माया के बन्धन से छुड़ाकर ब्रह्म के दर्शन कराना, जिस से उसे परमसुख व शान्ति प्राप्त हो, यही भारतीय दर्शनशास्त्र का मूल-मन्त्र है[३]।

धर्म व दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध—धर्म व दर्शन आपस में बहुत ही सम्बन्धित हैं। अज्ञात को ज्ञात करना यही दोनों का उद्देश है। उन में अन्तर केवल इतना है कि धर्म जन-साधारण को अज्ञात तक लेजाने के लिये एक जीवन-क्रम तैयार करता है, जिस के अनुसार लोगों को चलना पड़ता है। धर्म विद्वानों द्वारा बनाया हुआ इस लोक व उस लोक को जोड़ने वाला एक मार्ग है, जिसपर चलकर जन-साधारण परम शान्ति का अनुभव करते हैं। दर्शन आत्मा ब्रह्मादि के साक्षात्कार के प्रयत्नों का समूह है। इस का सम्बन्ध इने गिने विचारशील व्यक्तियों से रहता है। प्राचीन भारत ने धर्म व दर्शन को इसी प्रकार समझा था।

वैदिक कालीन धार्मिक विकास—प्राचीन भारत का धार्मिक विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि वैदिककाल में धर्म अपनी बाल्यावस्था में ही था,[४] जैसा कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं। उन के मतानुसार ऋग्वेद में प्रकृति-पूजा का स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन आर्य्य इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य्य आदि प्रकृति के भिन्न २ अङ्गों की पूजा करते थे[५]। यही धर्म की बाल्यावस्था समझी जाती है। जंगली व असभ्य जातियों में भी इसी प्रकार के धार्मिक विश्वास पाये जाते हैं। किन्तु यथार्थ में

बात ऐसी नहीं है। वैदिककाल में धर्म अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका था, जैसा कि ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है। ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि भिन्न २ देवताओं की स्तुति भले ही हो, किन्तु उस में एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्पष्टरूप से समझाया गया है। वैदिक आर्य्य ईश्वर को निराकार व सर्वव्यापी मानते थे। वे समझते थे कि इस संसार में जो कुछ है वह सब उसी की लीला है। प्राकृतिक जगत् उसी की भिन्न २ शक्तियों द्वारा संचालित होता है। इन्हीं शक्तियों को ऋग्वेद में विभिन्न नामों से सम्बन्धित किया गया है। प्रत्येक शक्ति को उस सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमात्माका स्वरूप मान कर उस की स्तुति की गई है। उन्हें स्वतन्त्र ईश्वर नहीं माना है[६]।

मैक्समुलर के सिद्धान्त की निरर्थकता—मैक्समुलर का "हिनोथीइज़्म" (Henotheism) या "केनोथीइज़्म" (Kenotheism) का सिद्धान्त भी भ्रमपूर्ण है[७]। इस सिद्धान्त का यह मतलब है कि ऋग्वेद में किसी देवताविशेष को कुछ समय तक सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी व सर्वोपरि माना गया है। तत्पश्चात् अन्य देवता को इसी प्रकार माना गया है। किन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि वहां मैक्समुलर के सिद्धान्त के लिये कोई प्रमाण नहीं है। ऋग्वेद में "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"[८] आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि परमेश्वर तो एक ही है किन्तु विद्वान् लोग नाना प्रकार से उसके सम्बन्ध में कहते हैं, अर्थात् विभिन्न नामों से उसी एक परमात्मा का सम्बोधन करते हैं। इस प्रकार मैक्समुलर के सिद्धान्त की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है।

वैदिककाल का धार्मिक जीवन—वैदिक काल का धार्मिक जीवन उदात्त व नैतिकता के पाये पर अवलम्बित था, जैसा कि ऋग्वेद के वरुण-सूक्तों को पढ़ने से मालूम होता है। वरुण से कितनी ही बार प्रार्थना की गई है कि 'हे वरुण देव, मानव-जीवन को उदात्त बनाइये'। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के तापों या बन्धनों से मुक्त किये जाने के लिये कितने ही मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की गई है। वरुण के 'ऋत' (Moral order) अर्थात् नैतिक जीवन-क्रम को अपनाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है[९]। ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ इस ऋत का महत्त्व बढ़ता गया व जो कुछ

इसके विपरीत था वह बुरा व हेय समझा जाने लगा। अनृत (जो ऋत नहीं है) व असत्य दोनों एक समान ही त्याज्य तथा ऋत व सत्य दोनों एक समान ही ग्राह्य समझे जाने लगे। धीरे २ ये दोनों शब्द पर्य्यायवाची भी बन गये। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि वैदिककाल में नैतिक जीवन को ही धार्मिक जीवन समझते थे। यही कारण है कि ऋग्वेद के मन्त्रों में वरुण का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

यज्ञ—यज्ञ भी वैदिककाल के धार्मिक जीवन का मुख्य अङ्ग था। इसे त्याग, तप व दान का प्रतीक माना गया है। इससे बादल बनते है[10] यह विश्वास भी प्राचीन काल से भारत में चला आता है। यदि यह सत्य हो तब तो जीवन में इसका कितना महत्त्व है यह भली भाँति समझ में आजायगा। वैज्ञानिकों को इस बात का शोध लगाना चाहिये कि सुगन्धित द्रव्यों के धुएँ से हवा में बादल धारण करने की शक्ति बढ़ती है या नहीं। यह तो प्रत्येक के अनुभव की बात है कि यदि घी चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य अग्नि में डाले जायँ तो उनके जलने का धुआँ वातावरण में फैल कर उसे बहुत हलका बना देता है। उस धुएँ से वायु के कितने ही दोष दूर हो जाते हैं व वह शुद्ध हो जाती है। वायु-शुद्धि की दृष्टि से भी यज्ञ की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

अग्नि—यज्ञ व अग्नि का सम्बन्ध निकटतम है। इसलिये ऋग्वेद में कितने ही मन्त्रों द्वारा अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि को देवताओं का पुरोहित, यज्ञ, ऋत्विक्, होता, रत्नधा आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है[11]। मानव-जीवन के विकास में अग्नि का कितना महत्त्व है इसे कौन नहीं जानता? यदि यह कहा जाय कि अग्नि के बिना मानव-समुदाय असभ्य ही रहता, तो यह कथन अत्युक्ति न होगा। प्राचीन आर्यों ने अग्नि के इस महत्त्व को भली भाँति समझ लिया था। वे यह भी अच्छी तरह से समझ गये थे कि परमात्मा ने अग्नि में ऐसी २ शक्तियें भरदी हैं कि यदि मानवसमुदाय उन्हें अपने में धारण करने का प्रयत्न करे, तो वह अपनी जीवन-यात्रा को सफल बनाकर सुखपूर्वक रह सकता है। इसीलिये वेदों में तेज, वर्चस्, हरण करने की शक्ति आदि अग्नि से प्राप्त करने की आकांक्षा दर्शाई है[12]। इस प्रकार अग्नि के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही यज्ञ को धर्म का अङ्ग माना गया था। प्राचीन भारत के धार्मिक इतिहास में एक समय ऐसा था, जब सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय बन गया था[13]।

प्रत्येक गृहस्थ को अपने दैनिक जीवन में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते थे। अमावास्या, पौर्णिमा आदि विशेष तिथियों पर व अन्य अवसरों पर कितने ही नैमित्तिक यज्ञ करने पड़ते थे[१४]। भिन्न २ संस्कारों के अवसर पर या कोई शुभ कार्य्य करने के पूर्व यज्ञ करना अनिवार्य्य था। ये यज्ञ द्विजमात्र के लिये थे, जिनका करना प्रत्येक गृहस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि का धर्म माना जाता था। इन के अतिरिक्त राजाओं के लिये कुछ विशेष यज्ञ भी थे; जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सर्वजित आदि। प्राचीन राजा भी इन यज्ञों को यथाविधि करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे[१५]। इन यज्ञों के करनेवाले कितने ही प्राचीन राजाओं का उल्लेख पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में है। काशी में आज भी दशाश्वमेधघाट वर्तमान है।

यज्ञसम्बन्धी साहित्य—यज्ञ के महत्त्व के बढ़ने पर तत्सम्बन्धी साहित्य भी स्वतन्त्ररूप से विकसित होने लगा। भिन्न २ यज्ञों को कराने के लिये भिन्न २ नियम बनाये गये थे। पुरोहित लोगों ने इन सब नियमों को अलग २ पुस्तकों के रूप में एकत्रित किया है। ये ही कल्पसूत्र हैं, जिन में श्रौत, गृह्य, धर्म आदि सूत्रों का समावेश हो जाता है[१६]। किन्तु यज्ञों का स्पष्ट विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है[१७]। इस साहित्य को पढ़े बिना यज्ञों को अच्छी तरह समझना कठिन है।

यज्ञ व पशुबलि—कुछ लोगों का यह भी मत है कि वैदिक काल में यज्ञ में पशुबलि होता था। यज्ञ-कुण्ड में किसी पशुविशेष को मार कर डाल दिया जाता था। किन्तु वेदों के अध्ययन से मालूम होता है कि इस मत को प्रमाणित करना मुश्किल है। स्थान २ पर अहिंसा के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है तथा स्थावर व जंगम जीवों को एक समान माना है[१८]। ऋग्वेद में गाय के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है कि उसे न मारना चाहिये। वैदिक आर्य्य पशुहिंसा को धार्मिक कृत्य नहीं मानते थे। इसे तो असभ्य व जंगली जातियों ने अपनाया था। भारत के इतिहास में एक समय ऐसा था, जब लोग वैदिक सिद्धान्तों से भ्रष्ट हो गये थे व धर्म के नाम पर हिंसा करना सीख गये थे[१९]। उसी समय से "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" कह कर लोग पशुओं को मारकर अग्नि में डालने लगे।

भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव—वैदिक काल के पश्चात् भारत के धार्मिक जीवन में भक्ति-मार्ग ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु, शिव, ब्रह्म आदि भिन्न २ देवताओं को आराध्य व इष्ट देव मानकर विभिन्न सम्प्रदायों ने भारतीय धार्मिक जीवन को संकलित व संचालित किया[२०]। इस में विष्णु भगवान् का स्थान विशेष था, जिन के नाम से भागवतधर्म व वैष्णवधर्म सैकड़ों वर्ष तक भारत में ज़ोरदार रहे। इसी भक्तिमार्ग के बीज वेदों में वर्तमान हैं। उषा, वाक् आदि सम्बन्धी सूक्तों में हमें भावी भक्तिरस के दर्शन होते हैं[२१]। ऋग्वेद के विष्णु में हमें भागवत के विष्णु बीजरूप से दीखते हैं[२२]। विष्णु के तीन पदों में ही भविष्य के वामनावतार का भाव निहित है। इसी प्रकार अन्य अवतारों के भाव के लिये भी पर्य्याप्त सामग्री वेदों से मिलती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत का समस्त धार्मिक जीवन वेदों से ही विकसित होता है, जिस पर आगे चल कर विचार किया जायगा।

वैदिक काल में दार्शनिक विकास—भारतीय दर्शनशास्त्र वैदिक काल से ही विकसित हुआ है। उस का प्रारम्भ तो कदाचित् और भी पहिले से हुआ होगा। भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने जीवन-कलह को बिलकुल ही सरल बना दिया था। इस सस्य-श्यामला भारतभू में अन्न-वस्त्र बहुत ही सरलता से प्राप्त हो सकते थे। इसलिये लोगों ने जीवन की पहेलियों पर विचार कर उन्हें समझना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझा। हम कौन हैं, कहां से आये हैं, क्यों आये हैं, कहाँ जायँगे आदि प्रश्नों के उत्तर ढूँढने में उन्होंने अपने सब प्रयत्न लगा दिये[२३]। जीव, ब्रह्म, संसार, जीवन, मरण आदि पहेलियों को सुलझाने में उन्हों ने कोई बात उठा न रखी। ऋग्वेदादि में हमें इस मानसिक वृत्ति के दर्शन होते हैं, जिस का विस्तृत विकास उपनिषदों में किया गया है।

जीव व ब्रह्म तथा उन का परस्पर सम्बन्ध—प्राकृतिक जगत् का सम्यक् अध्ययन करके वैदिक आर्यों ने इस बात का अनुभव कर लिया था कि इस जगत् का कर्ता अवश्य कोई है जिस ने मनुष्यों में भी जीवन-शक्ति भरदी है, जो कि जीव या प्राण कहलाती है। उस परमशक्ति की स्तुति में कितने ही मन्त्र वेदों में मिलते हैं। इन से तत्कालीन आध्यात्मिक विकास का स्पष्ट पता चलता है। उन्होंने जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को भी भलीभाँति समझने का प्रयत्न किया था। जीव व ब्रह्म की एकता जैसी कि छान्दोग्योप-

निषद् के "तत्त्वमसि[२४]" वाक्य में निहित है, वेदों में भी समझाई गई है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में,[२५] जिसे ईशोपनिषद् भी कहते हैं, इस तत्त्व को अच्छी तरह से समझाया गया है।

सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी हमें ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्त वेदों में मिलते हैं। इस सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उस की उत्पत्ति परमात्मा ने किस प्रकार की इसे समझने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद में बताया गया है[२६] कि सर्वप्रथम ऋत व सत्य को परमात्मा ने तप द्वारा उत्पन्न किया। तत्पश्चात् दिनरात, आकाश, पृथ्वी आदि बनाये गये। उस ने सूर्यचंद्रादि को पहिले के समान बनाया। इस सम्बन्ध में मन्त्रों में जो "यथापूर्व" शब्द प्रयुक्त किया गया है, उस से सृष्टिक्रम के अनादित्व का बोध होता है। इसी प्रकार वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्म्मन् आदि को सृष्टि का कर्ता बताया गया है।

हिरण्यगर्भ सूक्त—ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में[२७] बताया गया है कि हिरण्यगर्भ सब के पहिले ही से था। वही एकमात्र संसार का स्वामी है। वही आकाश पृथ्वी आदि का निर्माता है। उसे ही हविष प्रदान करना चाहिये इत्यादि।

नासदीय सूक्त—नासदीय सूक्त में दार्शनिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है[२८]। उस में सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व की अवस्था पर विचार किया गया है। उस समय न सत् था न असत्। सब अन्धकार-मय था। तप द्वारा सत् व असत् का द्वैधीभाव हुआ व तत्पश्चात् अन्य संसृष्टि हुई। इस सूक्त में काम को सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण बताया गया है। उसे 'मनसो रेतः' कहा गया है। इस सूक्त के 'सत्' व 'असत्' में हमें सांख्य के पुरुष व प्रकृति के दर्शन होते हैं व सत् तथा असत् के पूर्व की जो ऐक्यमय स्थिति बताई गई है, उसी में वेदान्त के अद्वैतवाद या मायावाद को हम बीजरूप से पाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "नास-दीय" सूक्त से ही भारतीय दर्शनशास्त्र का श्रीगणेश होता है।

पुरुष-सूक्त—पुरुषसूक्त में आलङ्कारिक भाषा की सहायता से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है[२९]। इस में बताया गया है कि जिस से यह संसार बना है, वह है परमात्मारूपी पुरुष का शरीर। संसारोत्पत्ति के कार्य्य

को एक महान् यज्ञ माना गया है, जिस में पुरुष को 'मेध्य' कहा गया है। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ व विराट् से पुनः पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पुरुष उत्पादक व उत्पादित दोनों है। वही परम आत्मा व अहंकारमय जीवात्मा दोनों ही है। यही शंकर के मायावाद का मौलिक स्वरूप है। इस सूक्त में वर्णव्यवस्था का भी स्पष्ट उल्लेख है व चन्द्र, सूर्य्य, भेडबकरी आदि जीवों की उत्पत्ति का वर्णन है।

कर्म-सिद्धान्त—इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कर्म के सिद्धान्त को भी वैदिक आर्यों ने अच्छी तरह से समझा था। इसी कर्म-सिद्धान्त के द्वारा मृत्यु के रहस्य को भी समझने का प्रयत्न किया गया था। वे यह भी जानते थे कि अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा भिन्न २ शरीरों को धारण करता है। पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद के कितने ही मन्त्रों में है[३०]।

स्वर्ग व नरक की भावना—स्वर्ग व नरक के भाव भी वैदिककालीन समाज में वर्तमान थे। मृत्यु के पश्चात् यम के राज्य में आनंदानुभव किया जाता है[३१]। यम ही सर्वप्रथम मर्त्य था, जिसे मृत्यु का सामना करना पड़ा। ऋग्वेद में स्वर्गलोक का वर्णन आता है, जहां बहुतसे सींगवाली गायें रहती हैं व जहां 'मध्व उत्स' शहद का भण्डार है[३२]। इस विष्णुलोक का रसास्वादन करने के लिये वैदिक आर्य्य उत्सुक रहा करते थे।

इस प्रकार हमें वेदों से तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक जीवन का पता लगता है, साथ ही यह भी मालूम होता है कि भारत के बाद के धार्मिक व दार्शनिक जीवन का विकास भी वैदिकसिद्धान्तों से ही होता है।

उपनिषदों का अध्यात्मवाद—उपनिषदों के अध्यात्मवाद का प्रारम्भ, जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है, वेदों से होता है। ब्राह्मण-काल में यज्ञों को अत्यन्त ही अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण आध्यात्म-वाद पिछड़ गया था। किन्तु उपनिषदों में पुनः वह शक्तिशाली हो गया। अब बाह्य जगत् से मन को हटा कर अन्तर्जगत् पर लगाया जाने लगा। जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया जाने लगा। "ब्रह्मणः कोशोऽसि" आदि शब्दों द्वारा आत्मा व ब्रह्म का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा[३३]।

संसार आत्मिक विकास की श्रृङ्खलामात्र है। यज्ञों द्वारा आत्मा कभी भी परमपद को प्राप्त नहीं हो सकता। संसार की अन्तरात्मा को समझ उस से तादात्म्य स्थापित करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यज्ञ भी इसी तथ्य के प्रतीक हैं[३४]। सांसारिक बन्धनों के अन्धकार से मुक्ति प्राप्त कर उस परम तत्त्व को प्राप्त होने की इच्छा उपनिषदों में कितने ही स्थलों पर दर्शाई गई है। असत् से सत्, तमस् से ज्योति व मृत्यु से अमृत की ओर ले जाये जाने की उत्कट अभिलाषा भी प्रकट की गई है[३५]। आत्मा के प्रश्न को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा ही सुख दुःख का पूर्णतया भोक्ता है। प्रकृति इस से बिलकुल भिन्न है, जिसका यथार्थ में अस्तित्त्व नहीं है[३६]। आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं जैसे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया, या वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय। इसी प्रकार ब्रह्म को जगत् का संस्रष्टा मान उस के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है[३७] कि जहां से ये जीवधारी उत्पन्न होते हैं व उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं व मरने पर जहां प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है[३८] कि वही आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। सब जीव, लोक, देव, प्राण आदि का समावेश इसी में हो जाता है। यही आनंदमय ब्रह्म है व प्रत्येक जीवात्मा इसी में लीन होना चाहता है।

आत्मन् व ब्रह्मन् की एकता—उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म की एकता भी अच्छी तरह से समझाई गई है। छान्दोग्योपनिषद् के "तत्त्वमसि" वाक्य द्वारा इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया गया है। इसी वाक्य के भिन्न २ अर्थों पर वेदान्त के भिन्न २ वाद निहित है। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि मध्यकालीन दार्शनिक इसी वाक्य को अपने २ सिद्धान्तों का मूल बना कर उपनिषदों से अपने मन्तव्य के लिये पुष्टि प्राप्त करते हैं[३९]। इस "तत्त्वमसि" के रहस्य को इस प्रकार समझाया जा सकता है।

आत्मन्	ब्रह्मन्
(१) वैश्वानर—शरीरयुक्त	(१) विराट्
(२) तैजस	(२) हिरण्यगर्भ
(३) प्राज्ञ	(३) ईश्वर
(४) तुरीय	(४) आनंद

ब्रह्म, जीव व प्रकृति—उपनिषदों में जीव व प्रकृति को ब्रह्म का परिवर्तित रूप माना गया है। ब्रह्म ही इस जगत् का एक मात्र निमित्तादि कारण है। उसी ब्रह्म में से इस जगत् का विकास प्रारम्भ होता है। भिन्न २ जीव इसी विकास के परिणाम हैं। इस विकास का प्रारम्भ प्रकृति से होता है व अन्त आनंद में होता है। इसे मकड़ी व उस से उत्पन्न जाले की उपमा दी जाती है। इस प्रकार इस समस्त विश्व की जड़ में ब्रह्म ही है। जगत् में दीखनेवाली भिन्नता के पीछे इसी एकता का साम्राज्य है[४०]।

बाह्य भिन्नता को समझाने का प्रयत्न—इस बाह्य भिन्नता को समझाने का प्रयत्न भी उपनिषदों में किया गया है। ब्रह्म के अंश के कम या अधिक रहने से ही यह भिन्नता बन गई है, लेकिन सब कुछ उसी ब्रह्म का स्वरूप है[४१]। ऐतरेय उपनिषद् में जीवों के चार प्रकार बताये गये हैं; जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज व उद्भिज्ज। इन के अतिरिक्त पञ्चमहाभूतों का भी उल्लेख है। प्राकृतिक विकास में इन महाभूतों का महत्त्व भी भली भाँति समझाया गया है। इन भूतों का विकास इस प्रकार बताया गया है[४२]—

आकाश	(शब्द)
वायु	(शब्द व स्पर्श)
अग्नि	(शब्द, स्पर्श व रूप)
जल	(शब्द, स्पर्श, रूप व रस)
भूमि	(शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध)

इन पञ्चमहाभूतों के साथ पञ्चतन्मात्राएँ भी उल्लिखित हैं। किन्तु यह सब उसी ब्रह्म का परिवर्तित स्वरूप है। बाह्य भिन्नता का यथार्थ में अस्तित्त्व नहीं है, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है[४३]।

मानव-जीवन का ध्येय—उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है कि वह उन कारणों को दूर करे जिन के कारण जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है[४४]। इसी को मोक्ष कहा गया है। आत्मतत्त्व को पहिचाने बिना यह मोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिये 'अहंभाव' को एकदम हटा देना परम आवश्यकीय है, क्योंकि 'अहंकार' के कारण ही मनुष्य इस संसाररूपी गर्त में पड़ता है[४५]। पाशविक मनोवृत्ति के निरोध से ही सब कुछ साधा जा सकता है। इसलिये आत्म-निग्रह भी आवश्यकीय है। कुत्सित इच्छाओं का अन्त करने से

सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इस प्रकार तैयारी करके मोक्ष का अनुभव किया जा सकता है जो कि एक आनंदमय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते उन के लिये कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुनर्जन्म का बन्धन रहता है[४६]। मृत्यु के पश्चात् जीव 'स्थूल-शरीर' को छोड़ देता है; किन्तु 'सूक्ष्म-शरीर' से, जिसे 'लिङ्गशरीर' भी कहते हैं, जकड़ा ही रहता है[४७]। जो जीव अपने पुण्यों द्वारा आत्मतत्त्व को पहिचान पाता है वह 'देवयान' या 'अर्चिमार्ग' द्वारा 'ब्रह्मलोक' या 'सत्यलोक' को जाता है, जहां से वापिस नहीं आना पड़ता। साधारण पुण्यवाले जीव 'पितृयान' या 'धूममार्ग' द्वारा 'चन्द्रलोक' को जाते हैं, जहां से पुण्यों के फल के क्षीण होने पर, उन्हें वापिस आना पड़ता है। जो जीव मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं, उन्हें किसी मार्ग का भी अनुसरण नहीं करना पड़ता[४८]।

उपनिषदों के इसी अध्यात्मवाद ने षट्दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों तथा जैन व बौद्ध मन्तव्यों को जन्म दिया है। इसी अध्यात्मवाद की भूमिका पर भारत का दार्शनिक भवन खड़ा किया गया है।

बौद्ध व जैन कालीन आध्यात्मिक उथल-पुथल—ईसा के पूर्व छठी शताब्दिने भारत में ही क्या किन्तु विश्वभर में एक आध्यात्मिक उथल-पुथल के दर्शन किये थे[४९]। कन्फ्यूशियस, ज़रतुश्त्र, बुद्ध, महावीर आदि इसी शताब्दि में उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष में, जैसा कि बौद्ध-ग्रन्थों से मालूम होता है, इस समय अनेकों आचार्य्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के नये २ मार्ग समाज के सामने रखे[५०]। इन सिद्धान्तों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि के सिद्धान्त (ई० पू० ६०० के लगभग)

(२) भगवद्गीता व बादके उपनिषदों के सिद्धान्त (ई० पू० ५०० के लगभग)

(३) षट्दर्शन के सिद्धान्तों का विकास (ई० पू० ३०० के लगभग)। इन सिद्धान्तों का सम्पूर्ण स्वरूप ई० स० २०० के लगभग बन चुका था।

इस युग के सर्वसाधारण रूप से मान्य सिद्धान्त ये थे—पुनर्जन्म, संसार की क्षणभङ्गुरता व तज्जन्य दुःख, कर्मसिद्धान्त, कठिन तपश्चर्या, वर्णाश्रमधर्म का सिद्धान्त इत्यादि।

चार्वाक या लोकायतिक सिद्धान्त—इस दार्शनिक उथल-पुथल के युग में कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो भौतिक अस्तित्व को ही सब कुछ मान अज्ञात आध्यात्म-वाद को ढकोसला समझते थे। ईश्वर जीव आदि पर विचार करना तो अलग रहा, वे उन के अस्तित्त्व को भी नहीं स्वीकारते थे। उन के आदि आचार्य्य चार्वाक थे, जिन के सिद्धान्तों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिलता है[५१]। 'बार्हस्पत्यसूत्र' इन के मत का आदि ग्रन्थ माना जाता था, जिसका कि लोप हो चुका है। सर्वदर्शनसंग्रह के प्रथम अध्याय में इन के सिद्धान्तों का सारांश दिया गया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के द्वितीय अङ्क में भी इन के सिद्धान्तों को 'लोकायत' नाम से सम्बोधित कर उन का उल्लेख किया गया है। लोकायत-मत के अनुयायियों के मतानुसार 'लोकायत' ही एक मात्र सच्चा शास्त्र है, जिस का प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। भूमि, जल, अग्नि वायु आदि तत्त्वों के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। इन्हीं चार तत्त्वों के सम्मिश्रण से चेतना शक्ति व बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। द्रव्यप्राप्ति, भोग आदि ही जीवन के सच्चे उद्देश हैं। दूसरा और कोई लोक नहीं है। मृत्यु के पश्चात् सब चीज़ों का अन्त हो जाता है। कोई ईश्वर नहीं है। इसलिये खूब ही आनंद, मौज, ऐश-आराम आदि करने चाहिये। वेदों के कर्ता धूर्त, भाण्ड व निशाचर थे। शरीर के भस्म हो जाने पर वह पुनः कैसे आ सकता है?

इस लौकायतिक सिद्धान्त के माननेवाले प्राचीन भारत में कितने थे व कभी समाज पर इसका प्रभुत्त्व रहा या नहीं, इस सम्बन्ध में सप्रमाण तो कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु इसके किसी भी ग्रन्थ का अप्रामाण्य रहना यह स्पष्टतया बताता है कि इसके माननेवाले इने गिने ही रहे होंगे। समाज ने इसे कभी भी अपनाया न होगा[५२]।

जैन मत—वर्धमान महावीर इस मत के संस्थापक या सुधारक थे। बौद्ध-ग्रन्थों में 'निग्गंथों'[५३] का उल्लेख आता है, जिससे जैनियों का ही बोध होता है। वर्धमान के कठिन तपस्या करने के बाद उसे 'जिन' पदवी प्राप्त हुई। इसलिये उस के अनुयायी "जैन" कहलाने लगे। किन्तु इस मत के माननेवालों का प्राचीन नाम तो 'निग्गन्थ' ही मालूम होता है।

यज्ञों में की जाने वाली हिंसा से घबराकर, वर्धमान ने यज्ञों का तथा उनका प्रतिपादन करनेवाले वेदों का भी विरोध किया। यज्ञों का ऐसा विरोध तो

उपनिषदों में भी मिलता है। वर्धमान जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। ऋषभदेव उनका पहिला तीर्थंकर था। वर्धमान के पहिले पार्श्वनाथ भी हो चुके थे। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यह मत अत्यन्त ही प्राचीन है, वर्धमानने उसे अन्तिम स्वरूप दिया[५४]।

ज्ञान का सिद्धान्त—वर्धमान ने आध्यात्म-वाद व नैतिक तप का सिद्धान्त अपने पुरोगामियों से ही सीखा था, किन्तु 'ज्ञान का सिद्धान्त' उसका अपना था। उसने 'ज्ञान' को पांच प्रकार का माना है[५५] जैसे—

(१) मति (Ordinary Cognition)

(२) श्रुति (Knowledge derived through signs symbolical, or words)

यह दो प्रकार का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है।

(३) अवधि (Direct Knowledge)

(४) मनःपर्याय (Direct Knowledge of the thoughts of others)

(५) केवल (Perfect Knowledge)

इस तीन प्रकार के ज्ञान को 'परोक्ष' कहते हैं।

'ज्ञान' के पुनः दो प्रकार माने गये हैं यथा 'प्रमाण' व 'नय'। किसी वस्तु का उसी के दृष्टि-बिन्दु से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'प्रमाण' कहलाता है तथा किसी अन्य दृष्टि-बिन्दु से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'नय' कहलाता है। इस नय के सात प्रकार हैं[५६] जैसे—

(१) नैगम-नय—किसी वस्तु को उसके साधारण व विशेष गुणों से युक्त देखना तथा उन दोनों प्रकार के गुणों के भेद को न समझ पाना।

(२) संग्रह-नय—इस में साधारण गुणों पर ज़ोर दिया जाता है। इसके दो प्रकार हैं, पर संग्रह व अपर संग्रह।

(३) व्यवहार-नय—बाह्य-ज्ञान पर आश्रित लौकिक दृष्टि-कोण।

(४) ऋजुसूत्र-नय—किसी विशिष्ट समय पर किसी वस्तु की अवस्था का ज्ञान।

ऊपर लिखे हुए ज्ञान प्राप्त करने के तरीके 'अर्थ नय' नाम से भी जाने जाते हैं व बाकी के 'शब्द नय' कहाते हैं।

(५) शब्द-नय—किसी नाम के लेने पर उससे बोधित वस्तुविशेष की मनमें स्मृति लानेवाला ज्ञान।

(६) समाभिरूढ़-नय—किसी वस्तु के लौकिक अर्थवाले नाम से उसके विभिन्न पहलू व स्वरूप में से किसी एक की कल्पना से उत्पन्न ज्ञान।

(७) नयाभास—भ्रमपूर्ण दृष्टि-कोण से उत्पन्न ज्ञान।

इन 'नयों' के और दो विभाग किये गये हैं; द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक।

सप्तभङ्गीनय—जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु या उसके गुण धर्म को दर्शाने के सात प्रकार हैं। इसी को 'स्याद्वाद' या 'सप्तभङ्गीनय' कहते हैं[५७]।

(१) स्यादस्ति
(२) स्याद् नास्ति
(३) स्यादस्तिनास्ति
(४) स्यादवक्तव्य
(५) स्यादस्ति अवक्तव्य
(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य
(७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य

इस 'सप्तभङ्गी-नय' का तात्पर्य यह है कि 'सम्पूर्ण सत्य' (Absolute Truth) कहीं भी नहीं है। सब वस्तुएँ 'सदसदात्मक' हैं। जब कि सब कुछ परिवर्तनशील ही है, तब तो यह कहा ही नहीं जा सकता कि कोई भी वस्तु कभी भी सातत्य प्राप्त कर सकती है। यही जैनियों का "अनेकान्तवाद" है[५८]।

नवतत्त्व—इस संसार की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है व नाश को प्राप्त होती है। इसमें द्रव्य व गुण का प्राधान्य है, जिनका समवाय-समवायी सम्बन्ध है। इस संसार की सब वस्तुओं के पुनः दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) जीव (भोक्ता), व (२) अजीव (भुक्त)। धर्म (Causing movement) व अधर्म (Causing rest) इन दो शक्तियों द्वारा यह संसार-चक्र चलता है। इस संसार में नवतत्त्व (Nine fundament truths)

मुख्य हैं,[५९] जिनको जाने व समझे बिना जीवन सार्थक हो ही नहीं सकता। वे तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आश्रव, (६) संवर, (७) बन्ध, (८) निर्जरा, (९) मोक्ष।

(१) जीव—

ये जीव असंख्य व भिन्न २ प्रकार के हैं, जैसे नित्यसिद्ध मुक्त—ये दोनों 'निरुपाधि' जीव कहलाते हैं; बद्ध—ये 'सोपाधि' हैं। ये जीव अज्ञानवश 'पुद्गल' (Matter) से तादात्म्य स्थापित करलेते हैं व परिणामतः संसारचक्र में पड़ जाते हैं। ये सब जीव सातत्य-युक्त हैं। 'चेतना' इनकी विशेषता है। इनका रूप भी होता है, जो कि भौतिक शरीर के छोटे या बड़े रहने से कम ज़्यादा भी होता रहता है। सब से बड़े जीव 'पञ्चेन्द्रिय' व सबसे छोटे 'एकेन्द्रिय' कहलाते हैं। जैनियों के अनुसार पत्थर, धातु आदि में भी जीव रहते हैं।

(२) अजीव—

जीव व अजीव का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि वे अलग नहीं हो सकते। ये पांच प्रकार के हैं—आकाश, काल, धर्म, अधर्म, ये चार 'अमूर्त' (Immaterial) हैं व पांचवा पुद्गल मूर्त (Material) है। इन्हीं पांचों से 'लोक' बनता है। इसके आगे 'अलोक' है। जैनियों का विश्वास है कि जीव व इन पांच प्रकार के अजीवों—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) कालास्तिकाय, (५) पुद्गलास्तिकाय—के कारण ही संसार का अस्तित्व है व ये ही जगन्नियन्ता का काम करते हैं। इसलिये किसी अन्य विधाता की आवश्यकता नहीं है।

(३) पुण्य—

इसके नौ प्रकार हैं; जैसे अन्न, पाण, वस्त्र, लयण, शयन, वन, शरीर, वचन, व नमस्कार।

(४) पाप—

इसके अठार प्रकार हैं; जैसे जीवहिंसा, असत्य या मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य्य, परिग्रह, क्रोध, मान, लोभ, कषाय, राग या आसक्ति, द्वेष, क्लेश, अभ्याख्यान, पैशुन्य, निन्दा, रति या अरति, मायामृषा व मिथ्यादर्शनशल्य। इन पापों के ८२ दुष्परिणाम होते हैं।

(५) आश्रव—

बैंयालीस मार्गों (आश्रव) द्वारा 'कर्म' जीव में प्रवेश करता है, जिस के कारण जीव संसार-चक्र में पड़ जाता है।

(६) संवर—

जो 'कर्म' जीव में प्रविष्ट हो चुका है, वह तो स्वतः ही नष्ट हो जायगा व मुक्ति मिल जायगी, यदि नये 'कर्म' के प्रवेश को रोक दिया जाय। कर्म को रोकने के सत्तावन प्रकार हैं।

(७) बन्ध—

'पुद्गल' से जीव का सम्बन्धित होना ही 'बन्ध' है। 'कर्म' एक पुस्तक है 'पुद्गल' जिस के पृष्ठ हैं। बन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश।

(८) निर्जरा—

तप को ही निर्जरा कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, बाह्य आभ्यन्तर। बाह्य तप में अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता; व आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित्त, विनय (दर्शन, चरित, मन, वचन, काय, कल्प), वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्याण, उत्सर्ग आदि का समावेश होता है।

(९) मोक्ष—

जब 'जीव' कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है व जीवनमरण के गर्त से निकल जाता है, तब उसे 'मोक्ष' प्राप्त होता है। जो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं वे 'सिद्ध' कहलाते हैं जो कि इस प्रकार हैं—जिन, अजिन, तीर्थ, अतीर्थ आदि।

कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान—इन तत्त्वों के आलोचनात्मक विचार करने से पता लगता है कि जैन दर्शन में कर्म को कितना महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। कर्मों के ही कारण जीव संसार-बन्धन में पड़ता है, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। कर्म चार प्रकार से उत्पन्न होते हैं—अविरति, कषाय, योग, मिथ्यात्त्व। ये आठ प्रकार के होते हैं जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म व अन्तरायकर्म। कर्म के बन्धन से मुक्त होने की चौदह सीढ़ियें हैं; जैसे मिथ्यात्व, साश्वसदन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, नियतिबादर या अपूर्व-

करण, अनियतिबादर, सूक्ष्म-समाराय, उपस्थानमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली ।

रत्नत्रय—प्रत्येक जैनी को सर्वप्रथम रत्नत्रय अपनाने पड़ते थे, जो कि इस प्रकार हैं; सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य[६०] । सत्य, अहिंसा आदि को भी अपनाना पड़ता था ।

साधु व श्रावक—समस्त जैनियों को मुख्य दो भागों में विभक्त किया गया था; जैसे साधु व श्रावक[६१] । इन दोनों को भिन्न २ नियम पालने पड़ते थे । साधु को दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् दँतौन, स्नानादि का अधिकार प्राप्त नहीं था । उन्हें प्रतिदिन भिक्षा माँगनी पड़ती थी व अपने अपराधों को स्वीकार करना पड़ता था । इस के पश्चात् अध्ययन करने का समय आता था । स्त्रियों को भी दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त था । प्रत्येक साधु को पांच व्रत धारण करने पड़ते थे; जैसे अहिंसा, असत्यत्याग, अस्तेयव्रत, ब्रह्मचर्य्यव्रत, अपरिग्रहव्रत । उसे रात्रि-भोजन भी त्यागना पड़ता था ।

श्रावक को अपना दैनिक जीवन धार्मिक बनाना पड़ता था । उसे 'पञ्च अतिचार' छोड़ने पड़ते थे, जिस के लिये ये व्रत धारण करने पड़ते थे—प्राणातिपतविरमणव्रत, मृषावादविरमणव्रत, मैथुनविरमणव्रत, अदत्तादानविरमणव्रत, परिग्रहविरमणव्रत । इन्हें 'अनुव्रत' कहते हैं । जो इन अनुव्रतों का पालन करता था तथा मदिरा, मांस, मधु आदि से दूर रहता था वह सच्चा श्रावक कहलाता था । इस के अतिरिक्त तीन गुणव्रत (दिशिव्रतपरिमाण, उपभोगपरिभोगपरिमाण, अनर्थदण्डव्रत) व चार शिक्षाव्रत (सामयिक, देशावकाशिक, पोषध, अतिथिसंविभाग) भी श्रावक को धारण करने पड़ते थे । उसे 'पञ्चपरमेश्वर' का सत्कार करना पड़ता था, जो कि इस प्रकार हैं—साधु, उपाध्याय, आचार्य, तीर्थंकर या अरिहन्त व सिद्ध ।

जैनियों के दो भेद-दिगम्बर, श्वेताम्बर—समय के प्रभाव से जैनियों की दो शाखाएँ होगईं—दिगम्बर, श्वेताम्बर । इन भेदों के कालादि के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है[६२] । हमें यहां उन के सैद्धान्तिक मतभेद पर विचार करना है, जिस का पता उन के नामों से ही लगता है । इस के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों को श्वेताम्बरी मानते हैं, उन सब को दिगम्बरी नहीं मानते । इन के मन्दिर रहते हैं, जहां तीर्थंकरों की

प्रतिमा रहती है; जिन के पूजन, दर्शन आदि किये जाते हैं। इन के बहुत से त्यौहार भी रहते हैं, जैसे पज्जुसण (नववर्ष), दिवाली (महावीर का निर्वाण-दिवस), ज्ञानपञ्चमी, मौनग्यारस इत्यादि[६३]।

जैन देवी देवता—जैनियों के बहुतसे देवी देवता भी रहते हैं, जिन का निवास नरक, पाताल, स्वर्ग आदि में रहता है[६४]।—

नरकस्थ देवता—अम्ब, अम्बरस, शाम, सबल, रुद्र, महारुद्र, महाकाल, असिपत, धनु, कुम्भ, वालु, वेतरणी, खरस्वर, महाघोष।

पातालस्थ देवता—असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीप-कुमार, पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, स्वर्गस्थ देवता—ज्योतिषी, विमानवासी, किल्विषिया, तिर्यक्, जाम्बूक, लोकान्तिक।

इस प्रकार जैन दर्शन व जैन मत के सिद्धान्तों को सारांश में समझाया गया है। इन सिद्धान्तों ने भारत के धार्मिक जीवन पर अपना प्रभाव डाला था, जिसे हम आज भी देख सकते हैं। जैनियों के कारण ही भारतीयों पर अहिंसा व मांसाहारनिषेध की ज़बरदस्त छाप पड़ी[६५]। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैनियों ने बहुतसे सिद्धान्त वैदिक ब्राह्मणों से ही लिये थे।

बौद्ध दर्शन—जैन दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन ने भी कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म आदि बहुत से सिद्धान्त उपनिषदों से लिये थे, किन्तु फिर भी उस का विकास स्वतन्त्र ही मालूम होता है। बौद्धों के मुख्य सिद्धान्त दो हैं—चार आर्य्य सत्य, बारह प्रकार का प्रतीत्यसमुत्पाद[६६] (Causal Production)। दुःख, समुदय, निरोध, प्रतिपद् या मार्ग 'आर्यसत्य' हैं व अविद्या, संस्कार, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण, शोकपरिदेवनदुःखदौर्मनस्योपयासाः आदि बारह प्रकार का 'प्रत्यीय समुत्पाद' है।

संसार दुःखमय—बौद्ध मत का मुख्य मन्तव्य है कि यह संसार दुःखमय है, जिस से मुक्त होना प्रत्येक जीवधारी का कर्तव्य है। इच्छा दुःख का कारण है। सांसारिक वस्तुओं के क्षणिक रहने से अज्ञान द्वारा उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती। यह जीवन परिवर्त्तनों की एक शृङ्खला-मात्र है। इसमें सत्यांश कुछ भी नहीं। इसकी चार अवस्थाएँ हैं; जैसे उत्पाद, स्थिति, जरा व निरोध। यही सिद्धान्त आगे चलकर 'क्षणिकवाद' में परिणत

हो जाता है[६७]। आत्मा के सम्बन्ध में गौतमबुद्धने मौन धारण करना ही उचित समझा था[६८]। उसके मतानुसार मनुष्य का व्यक्तित्त्व परिवर्तनशील है। उसका अन्तर पञ्चस्कन्धों का समुदाय है, जिसे 'पुग्गल' या 'पुद्गल' भी कहते हैं। वे पञ्चस्कन्ध इस प्रकार हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान। इनका विकास उपनिषदों के 'नामरूप' से हुआ है। नाम के अन्तर्गत चित्त, विज्ञान आदि का समावेश हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे रूपिणो, जिसके अन्तर्गत चार तत्त्व व उनसे बने हुए पदार्थ हैं व 'अरूपिणो', जिनका कोई रूप नहीं है। इनमें चेतना की भिन्न २ अवस्थाओं का समावेश हो जाता है, अर्थात् पञ्चस्कन्धों का। ये अरूपी व रूपी उपनिषदों के नामरूप से सम्बन्धित हैं।

कर्मबन्धन—पञ्चस्कन्धों को एकत्रित करने में कारणरूप कर्म ही है। इसी को 'पुनर्जन्म' या 'संसार' कहते हैं। 'नाम-रूप' का ही पुनर्जन्म होता है। कर्म के बन्धन से छूटने में ही सच्ची मुक्ति है। आठ प्रकार के मार्ग पर चलने से ही कर्म बन्धन तोड़ा जा सक्ता है। वह मार्ग इस प्रकार का है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् वृत्ति[६९]। इस मार्ग में सफल होने के लिये आवश्यकीय है कि सब कर्म शुद्ध हों, आश्रव से अशुद्ध न किये गये हों। उन चार आर्य्यसत्यों का भी हमेशा ध्यान करना चाहिये, जिससे मनुष्य सन्मार्ग से कभी भी विमुख न हो सके। प्रत्येक मनुष्य को ध्यान, शील, दान, प्रज्ञा, विज्ञान आदि से युक्त होकर मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। निर्वाणप्राप्ति के लिये जो तप, ध्यान, धारणा आदि किये जाते हैं, उनसे 'ब्रह्म-विहार' की प्राप्ति होती है जो कि चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा[७०]।

सुवर्ण-मध्य—गौतमबुद्धने महावीर के समान तप की पराकाष्टा करना उचित नहीं समझा। उन्होंने 'सुवर्ण मध्य' को ही स्वीकार किया[७१]। बौद्ध भिक्षुओं के लिये अच्छे २ वस्त्र, नियमित भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था की गई थी। बुद्ध को यह बात भलीभाँति ज्ञात थी कि शारीरिक कष्ट मानसिक व आत्मिक विकास के लिये हानि कारक है।

त्रिरत्न—जैनियों के अनुसार बौद्धों के भी तीन रत्न थे—बुद्ध, सङ्घ व धर्म। प्रत्येक को इस मत की दीक्षा पाते समय कहना पड़ता था कि "बुद्धं

शरणं गच्छामि," "सङ्घं शरणं गच्छामि," "धर्मं शरणं गच्छामि"[७२]। बौद्ध संघ बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर संगठित किया गया था। निर्वाण-प्राप्ति के लिये, इसके सदस्य होना आवश्यकीय था। इसके सदस्य दो प्रकार के थे— उपासक, भिक्षु। इन दोनों के लिये दैनिकजीवन के नियम भिन्न २ थे।

बौद्ध मत की दो शाखाएँ, हीनयान व महायान—समय के प्रभाव से बौद्धधर्म की भी दो शाखाएँ होगईं। इन्हें हीनयान व महायान कहते हैं। हीनयान में आध्यात्मिक व नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक ज़ोर दिया गया है। निर्वाण के लिये तप आत्म-निग्रह आदि की आवश्यकता मानी गई है। सम्पूर्ण संसार क्षणिक है, बहुतसे छोटे बड़े धर्म मिलकर आत्मा का भास कराते हैं। निर्वाणप्राप्ति के लिये आर्य-सत्यों का ध्यान व उनकी धारणा आवश्यकीय है। इस प्रकार जीवन को परिष्कृत बनाने से मनुष्य 'अर्हत्' बनता है, जब कि कोई भी कर्म उसे संसार से बाँधने के लिये नहीं रहता। हीनयानियों के मतानुसार निर्वाण की प्राप्ति एकान्तवर्तिनी गुफाओं के अन्धकार में ध्यानावस्थित होने से हो सकती है। किन्तु प्रारम्भिक बौद्धसिद्धान्तों के अनुसार जीवनकलह में भाग लेना आवश्यकीय था। हीनयान के अनुयायी कितने ही देवी देवताओं को भी मानते थे। ये देवता न तो सर्वान्तर्यामी थे और न सर्वव्यापी। बुद्ध को 'देवातिदेव' कहा जाता था। पहिले बुद्ध को देवता माना गया, तत्पश्चात् बुद्ध बनने के मार्ग में प्रवृत्त मुनियों को, फिर ब्राह्मण देवताओं को भी इनमें सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार हीनयान एक विचित्र मत बन गया, जो सैद्धान्तिक रूप से ईश्वर के अस्तित्त्व को नहीं मानता; किन्तु बुद्ध की पूजा करना उचित समझाता है[७३]। स्वर्गनरक की भावना को भी इसने अपनाया था। इस के सब ग्रन्थ पाली भाषा में ही हैं। इसे 'उत्तरीय बौद्धमत' भी कहते हैं।

महायान—यदि बौद्ध मत के प्रादुर्भाव से लेकर अशोक के पूर्व तक के सिद्धान्तों को 'प्रारम्भिक बौद्ध मत' कहें, तो अशोक के काल के सिद्धान्तों को हीनयान मत कह सकते हैं। अशोक के पश्चात् से लेकर कनिष्क के समय तक जो दार्शनिक व धार्मिक वृत्तियें बौद्ध जगत् में रहीं, उन्हें महायान नाम से सम्बोधित कर सकते हैं[७४]। जब बौद्धमत समस्त भारत में व अन्य देशों में

भी फैलने लगा, तब उसे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये कितने ही परिवर्तनों को अपनाना पड़ा । यही महायान की विशेषता है । इस के मतानुसार 'पञ्चस्कन्ध' सत्य नहीं हैं। यह संसार भी पूर्णतया मिथ्या है । 'भूत-तथता' या 'धर्मकाय' यही जीवन का सार है। इसी के द्वारा 'निर्वाण-प्राप्ति' भी हो सकती है[७५] । इस 'भूत-तथता' की तुलना उपनिषदों के ब्रह्मन् से की जा सकती है। सब जीव इसी के स्वरूप हैं। 'अविद्या' के कारण ही यह संसार-चक्र चलता है। अश्वघोष के मतानुसार अविद्या व चेतना एक ही हैं।

महायान के धार्मिक सिद्धान्त—महायान के धार्मिक सिद्धान्तों में विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान दिया गया है। 'आदि बुद्ध' को तो परम-पूज्य माना ही गया है, साथ ही प्राचीन वैदिक देवताओं को भी बौद्ध बाना पहिना कर अपना लिया गया है[७६] । इन देवताओं की स्तुति भक्ति आदि जन-साधारण के लिये आवश्यकीय समझी गई है। भक्ति द्वारा ही निर्वाण हो सकता है । इस प्रकार महायान के भक्तिमार्ग को भगवद्गीता के सिद्धान्तों से भिन्न प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। सब पदार्थों में "धर्मकाय" का अस्तित्त्व है। इस के ऊपर "संभोगकाय" है, जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं का भोग किया जाता है। इस के पश्चात् 'निर्माणकाय' है, जिससे मन विकार-पूर्ण बनता है। महायान धर्म का आदर्श 'बोधिसत्त्व' ('Buddha in making') है[७७] । इस आदर्श तक पहुँचने के लिये दस प्रकार की भूमि को प्राप्त करना चाहिये; जैसे प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, आर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, तथागता (धर्म-मेघ)। दान, वीर्य, क्षान्ति, ध्यान, प्रज्ञा आदि की प्राप्ति के लिये भी प्रयत्नशील रहना चाहिये । महायानियों का निर्वाण अन्धकारमय नहीं है।

चार बौद्ध दर्शन—हिन्दू दार्शनिकों के मतानुसार चार बौद्ध दर्शन है,[७८] दो हीनयान के व दो महायान के । वैभाषिक व सौत्रान्तिक जो कि सर्वास्तिवादी कहलाते हैं, क्योंकि वे संसार के अस्तित्त्व को सत्य मानते हैं, हीनयान के अन्तर्गत हैं। योगाचार व माध्यमिक महायान में हैं।

वैभाषिक—इस के माननेवाले अन्य दर्शनों की भाषा को 'विरुद्ध भाषा' कहते थे या वे 'अभिधर्म' की टीका 'विभाषा' को सर्वोपरि मानते थे इसलिये उन के दर्शन का नाम "वैभाषिक" पड़ा हो । वे सूत्रों को नहीं

मानते, केवल 'अभिधर्म' को ही मानते हैं । उन के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु को अनुभव से समझने का प्रयत्न करना चाहिये । वे प्रकृति व मन के पृथक् अस्तित्त्व को मानते हैं । सत्य ज्ञान की प्राप्ति केवल ऐन्द्रिक (Perception) व काल्पनिक ज्ञान (Conception) से हो सकती है । इन के मतानुसार गौतम बुद्ध एक साधारण व्यक्ति थे, जिन्हों ने अपने बुद्धत्त्व से विशिष्ट निर्वाण को प्राप्त कर मृत्यु से अन्तिम निर्वाण प्राप्त किया व अपने अस्तित्त्व का भी नाश किया । दूसरों की सहायता के बिना सत्य ज्ञान की प्राप्ति ही उन में दिव्यत्त्व था ।

सौत्रान्तिक—ये लोग वैकारिक जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्त्व मानते थे । वैभाषिकों के समान इन्होंने भी कणवाद को अपनाया था । इनके मतानुसार विचार में स्वतः विचार करने की शक्ति है । इस प्रकार चेतना शक्ति प्राप्त होती है ।

योगाचार (विज्ञानवाद)—आर्यसङ्ग (असङ्ग) व उसके छोटे भाई वसुबन्धु[७९] ने जो कि दिङ्नाग का गुरु था, विज्ञानवाद का सूत्रपात किया । अश्वघोष[८०] भी इसी का मानने वाला था । इसके मतानुसार 'परमसत्य' या 'बोधि' केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो कि योगाभ्यास करते हैं । प्रकृति एक विचार-मात्र है । चेतना में कार्य्यशक्ति स्वयं-सिद्ध है । इसीलिये इसे निरालम्बवाद भी कहते हैं । 'आलय' अपने आन्तरिक दृष्टा व बाह्य दृश्य (Object) के द्वैत के कारण एक छोटासा जगत् बन जाता है । 'आलय' चेतना की परिवर्तनशील धारा (Changing stream) ही है । आलय व अविद्या के योग से 'अहंभाव' उत्पन्न होता है व उससे बाह्य जगत् अस्तित्त्व में आता है ।

माध्यमिक—बुद्ध के समान इसके अनुयायी भी सुवर्णमध्य को अपनाना अपना कर्तव्य समझते थे । नागार्जुन[८१] इसके सिद्धान्तों को मानने वाला था । माध्यमिक मन्तव्यानुसार वैकारिक जगत् सत्य नहीं हो सकता । सम्पूर्ण सत्य कहीं भी नहीं है । सब कुछ कार्य्य व कारण की शृङ्खलापर ही निर्भर है । संसार के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं व ईश्वर के अतिरिक्त कोई संसार नहीं है। दोनों ही आभासमात्र है । कुछ भी सत्य नहीं है । जगत् में 'शून्य' का प्राधान्य है । इस 'शून्य' से कुछ लोग पूर्ण अभाव का अर्थ लेते हैं, जो कि वैकारिक

जगत् के बारे में ठीक हो सकता है व कुछ लोग उस 'परम-सत्य' का अर्थ लेते हैं, जो इन परिवर्तनों में छिपा हुआ है। इसका सम्बन्ध आध्यात्मिक सत्य से किया जा सकता है।

षट्दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि आस्तिक षट्दर्शनों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। इनमें से कुछ का उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। किन्तु इन्हें व्यवस्थित रूप प्राप्त करने में कुछ समय लगा होगा। साधारणतया, ऐतिहासिकों का मत है कि ई० पू० पांचवी शताब्दि से लेकर ई० पू० पहिली शताब्दि तक इन दर्शनों ने व्यवस्थित रूप धारण कर लिया था[८२]। ये दर्शन आस्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेदप्रामाण्य इन्हें मान्य है। आस्तिकता व नास्तिकता का ईश्वर के अस्तित्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें कितने ही सिद्धान्त सर्वसाधारणरूप से पाये जाते हैं; जैसे पुनर्जन्म, वर्णाश्रम, चित्तशुद्धि, मुक्ति, माया, अविद्या, प्रत्यक्षादि प्रमाण इत्यादि। प्रत्येक दर्शन अपने २ ढङ्गपर मनुष्य को जीवन-मरण के बन्धन से छुड़ाने का दावा करता है। अब प्रत्येक पर अलग २ विचार करना चाहिये।

न्याय—इस दर्शन के प्रणेता गोतम मुनि माने जाते हैं, जिन्होंने अपने न्यायसूत्रों में इस के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस में बुद्धि को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है, क्योंकि इसी के द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार सोलह तत्त्व हैं, जिनको अच्छी तरह से जानने से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है[८३]। ये सोलह तत्त्व इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रहस्थान।

प्रमाण—प्रमाण ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। ये चार प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शाब्दिक। इन्द्रिय व अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। अनुमान तीन प्रकार का है; पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट। पूर्ववत् में कारण-कार्य्य भाव रहता है। कार्य्य से कारण का अनुमान शेषवत् कहाता है। दो वस्तुओं में गत्यादि सामान्य रूप से रहने के कारण जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहा जा सकता है। उपमान में प्रसिद्धवस्तु-साधर्म्य से अप्रसिद्ध की साधना होती है; जैसे 'यथा

गौस्तथा गवयः'। आप्तोपदेश को शाब्दप्रमाण कहते हैं । इस में वेदादि आगमों द्वारा प्राप्त ज्ञान का समावेश हो जाता है[८४]।

प्रमेयादि—प्रमाणग्राह्य अर्थ प्रमेय है, जिस के अन्तर्गत आत्मा, देह, बुद्धि, इन्द्रिय, सुख आदि हैं[८५]। किसी वस्तु-विशेष के सम्यक् ज्ञान के प्रति जो शंका होती है, वह संशय है। किसी फल की इच्छा से जो कार्य्यारम्भ होता है, वह प्रयोजन है। दृष्टान्त वह है, जिसमें विवाद का कोई विषय ही न रहे। सिद्धान्त चार प्रकार के हैं; जैसे सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण व अभ्युपगम। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगम आदि पांच अवयव हैं। संशय का उपरम तर्क कहाता है। संदेह व तर्क के पश्चात् जो निश्चय होता है, उसे निर्णय कहते हैं । पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रह से गुरुशिष्य के जो प्रश्नोत्तर होते हैं, उसे वाद कहते हैं। वादी प्रतिवादी की विजिगीषा से प्रेरित बात-चीत में छलजात्यादि दूषण का आजाना जल्प कहाता है । प्रतिपक्षसाधन-विहीन बातचीत को वितण्डावाद कहते हैं । हेत्वाभास, जिसमें हेतु का आभास मात्र ही रहता है पांच प्रकार का है; जैसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट व प्रकरणसम। छल उसे कहते हैं, जिस में बोलने वाले के अर्थ को तोड़ मरोड़ कर दूसरा ही अर्थ लगाया जाय। इस के तीन प्रकार हैं—वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल। जाति में अदूषण का दूषण के समान आभास होता है। इस के चौबीस प्रकार हैं । निग्रहस्थान उसे कहते हैं, जहां विपक्ष का निग्रह होता है। प्रतिज्ञा, हानि, संन्यास, विरोध आदि इस के विभेद हैं।

आत्मा व प्रकृति—आत्मा व प्रकृति एक दूसरे से भिन्न हैं । ज्ञान जीवात्मा का गुण है व इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि का इसी से सम्बन्ध है[८६]। प्रकृति पूर्णतया जड़ है। मन व आत्मा के संयोग से चेतनाशक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा व शरीर दोनों ही बिलकुल भिन्न २ हैं। आत्मा इस शरीर के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। वह जन्ममरण के दुःखों से छुटकारा पाना ही सर्वोत्तम समझता है। वह मन की सहायता से एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। शरीर छोड़ते समय वह दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह अणु-मात्र ही है। चर्मचक्षुओं से उसे देखना असम्भव ही है। विभिन्न शरीरों में रहने वाली आत्मा को जीव भी कहते हैं। ऐसे कितने ही जीव हैं। दृष्ट जगत्,

जो कि जीवात्मा व प्रकृति से बना है, ईश्वर की कृति है। जीवात्मा के विभिन्न अनुभवों के लिये वह इस सृष्टि की रचना करता है। उसी की उपासना से कैवल्य प्राप्त होता है।

वैशेषिक—कणाद मुनि इसके प्रणेता थे। नैयायिक व वैशेषिकों का देवता के विषय में कोई भेद नहीं है, भेद केवल तत्त्वों के सम्बन्ध में है। वैशेषिक सिद्धान्त मानने वालों के तत्त्व इस प्रकार[८७] हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष व समवाय। द्रव्य नौ हैं—भू, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा व मन। गुण चौबीस हैं—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दुःखेच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व व वेग। कर्म के पांच भेद हैं—उत्क्षेप, अवक्षेप, अवकुञ्चनक, प्रसारण व गमन। सामान्य के दो प्रकार हैं—पर, अपर। विशेष के द्वारा वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान होता है। आधारआधेयभूत अयुतसिद्धों का जो सम्बन्ध रहता है, उसे समवाय कहते हैं; जैसे 'तन्तुषुपट'। बाद के आचार्यों ने अभाव को भी सातवां तत्त्व मान लिया है[८८]।

प्रमाण—वैशेषिक सिद्धान्त के मानने वालों को चार प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति व आर्षज्ञान। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न आदि से विपरीत ज्ञान प्राप्त होता है।

वैशेषिक व न्यायके सिद्धान्तों की समानता—सैद्धान्तिक दृष्टि से नैयायिक व वैशेषिकों में बहुत कम अन्तर मालूम होता है। वैशेषिकों का आत्मासम्बन्धी सिद्धान्त नैयायिकों से मिलता झुलता है। यही हाल उनके परमाणुवाद (Atomic Theory) का है।

परमाणुवाद—इस परमाणुवाद का प्रारम्भ उपनिषदों से होता है जैन, आजीविक आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। किन्तु कणाद ने इसे व्यवस्थित स्वरूप दिया। ये परमाणु जगत् के उपादान कारण माने जाते हैं। परमाणु एकत्रित व पृथक होते रहते हैं। यह कार्य्य अनन्तकाल से चला आता है। अग्नि व पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा ईश्वर के ध्यानमात्र से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है[८९]। इसमें ईश्वर जगत् व ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार और सृष्टि भी होती है। अपने परम ज्ञान व परम शक्ति द्वारा ब्रह्मा मानसपुत्र, प्रजापति, मनु, देवता, पितर, ऋषि, चार वर्ण व अन्य जीवों को उत्पन्न करता है। सृष्टि व प्रलय अनन्तकाल तक होते रहते हैं। अहिंसा ही परम धर्म है व हिंसा अधर्म है। संसार से घृणा करना ही हिंसा है। धर्म से

हर प्रकार की उन्नति होती है। इसलिये दुष्ट मनोवृत्तियों का निरोध करना चाहिये। अदृष्ट से सम्बन्धित होकर उसके परिणामस्वरूप आत्मा का शरीर धारण करना ही संसार है;[९०] उससे पृथक होना मोक्ष है। नैयायिकों के समान वैशेषिक सिद्धान्त के अनुयायी भी एक जगन्नियन्ता ईश्वर को मानते हैं।

सांख्य—इस दर्शन के प्रणेता कपिलमुनि थे। इस के अनुयायी पच्चीस तत्त्वों को मानते हैं; पुरुष व प्रकृति मुख्य हैं[९१]। इन दोनों का सम्बन्ध अन्धे व लंगड़े के सम्बन्ध के समान है। प्रकृति अन्धी है व पुरुष लँगड़ा है। जब तक पुरुष प्रकृति से अपना भिन्नत्व नहीं समझ लेता, तब तक इस संसार का नाटक चला करता है। पुरुष को कैवल्य-ज्ञान होते ही यह सब बन्द हो जाता है। अविवेक ही पुरुष व प्रकृति का संयोग कराता है। यह संसार प्रकृति से ही विकसित हुआ है। प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् आदि तीन गुण हैं। जब तक ये तीनों गुण समावस्था में रहते हैं, तब तक कोई विकास नहीं होता; किन्तु गुणक्षोभ होते ही प्रकृति का विकास प्रारम्भ हो जाता है व पुरुष भी अविद्या के कारण इस में फँस जाता है। यह विकास इस प्रकार होता है[९२]।
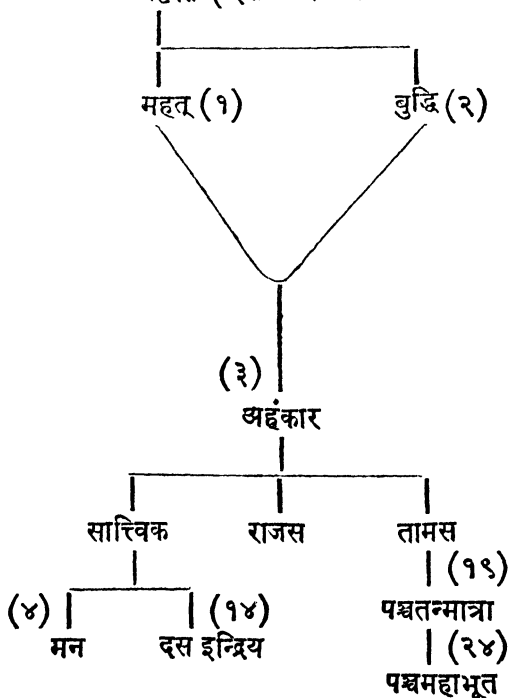
पुरुष पच्चीसवां तत्त्व है। ये सब मिलकर सांख्य के पच्चीस तत्त्व होते हैं।

आत्मा का स्वरूप—आत्मा को पुरुष भी कहा गया है। पुरुष अनेक हैं। ये सब प्रकृति नटी का नाटक चुपचाप देखते हैं। इस पुरुष को सांख्य दर्शन में अमूर्त, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म इत्यादि माना गया है[९३]। जब पुरुष शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से बँध जाता है, तब जीव कहाता है। प्रत्येक जीव का 'स्थूलशरीर' रहता है, जो मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है, व एक 'सूक्ष्म-शरीर' भी रहता है, जिसे 'लिङ्ग शरीर' भी कहते हैं। इसी शरीर के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है।

ज्ञान—सांख्य दर्शन में ज्ञान पांच प्रकार का माना गया है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। यह संसार दुःखमय है। यहां आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि तीन प्रकार के दुःख रहते हैं। सत्य ज्ञान या विवेक द्वारा इन दुःखों से छुटकारा होता है। मिथ्या ज्ञान से इन की वृद्धि होती है। निस्स्वार्थ वृत्ति द्वारा सद्गुणों को प्राप्त करने से सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग, वैराग्य, ध्यान आदि भी आवश्यकीय हैं। रजोगुण व सतोगुणको घटाकर सत्त्व की वृद्धि करनी चाहिये।

सांख्य व ईश्वर—कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर को स्थान नहीं है। सांख्य के प्राचीन आचार्यों ने यह तो स्पष्टरूप से नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है, किन्तु इस बात का अवश्य उल्लेख किया है कि ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह सब जगत् प्रकृति से ही विकसित होता है। किन्तु आगे चलकर सांख्य के आचार्यों को अपने दर्शन की एक त्रुटि का अनुभव होने लगा। जब कि पुरुष तटस्थ व द्रष्टामात्र है व प्रकृति अन्धी रहने के कारण स्वतः कुछ भी नहीं कर सकती, तब प्राकृतिक विकास का प्रारम्भ कैसे हो जाता है? वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, नागेश प्रभृति को एक व्यवस्थापक ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत हुई व उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को मान लिया। यही ईश्वर प्रकृति के विकास को व्यवस्थित करता है[९४]।

योग—इस के प्रणेता पतञ्जलि मुनि थे, जो कदाचित् महाभाष्यकार भी थे[९५]। योग व सांख्य में इतनी सैद्धान्तिक समानता है कि कपिल के 'निरीश्वर-सांख्य' से इस की भिन्नता बताने के लिये इसे 'सेश्वर–सांख्य' भी कहते हैं।

इस के सिद्धान्तों के अनुसार सांसारिक जीवन का उद्भव इच्छाओं के कारण होता है। इसलिये चित्त की वृत्तियों का निरोध परमावश्यकीय है। यही सच्चा योग है[९६]। इन इच्छाओं को रोकने का अभ्यास करने से चित्त को अधीन किया जा सकता है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिये 'अष्टाङ्गयोग' की साधना आवश्यकीय है[९७]। योग के आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व समाधि। इन आठ अङ्गों के साधन से शरीर व मन की अच्छी पुष्टि होती है, जिस से कुवासनाओं का मन पर कोई प्रभुत्त्व नहीं हो सकता। इस प्रकार "कैवल्य" की प्राप्ति हो सकती है। योग-दर्शन में इस बात को भी मान लिया गया है कि सब लोग "कैवल्य" की प्राप्ति नहीं कर सकते। उन के लिये क्रियायोग ही पर्य्याप्त है जिस के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान है।

ईश्वर—योग का ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, किन्तु प्राकृतिक विकास का प्रथम दर्शक है व जीवों को प्रकृति से पृथक कर उन्हें कैवल्य प्राप्त कराने में भी सहायक होता है[९८]।

पूर्वमीमांसा—इस के कर्ता जैमिनि थे। इस दर्शन को कर्म-मीमांसा भी कहते हैं, क्योंकि इस का अधिक सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। इस के मतानुसार नित्य व नैमित्तिक यज्ञादि करने से ही सच्ची मुक्ति प्राप्त हो सकती है[९९]। इन सब का प्रारम्भ वेदों से होता है। 'चोदनालक्षणो धर्मः'[१००] का परीक्षण ही इस मीमांसा का मुख्य उद्देश है। इस में यज्ञों का ही प्राबल्य है; दार्शनिक सिद्धान्त तो गौणरूप से हैं। वेद सर्वोपरि है व कर्म का ज्ञान पर प्रभुत्त्व है।

मीमांसक तीन प्रमाणों को मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। बाद के आचार्य्यों ने तीन प्रमाण और माने हैं—उपमान, अर्थापत्ति व अभाव। इन प्रमाणों से सिद्ध ज्ञान ही उपादेय है। ज्ञान प्राप्ति के चार अङ्ग हैं—ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानकारण व ज्ञातता।

जैमिनि ने आत्मा के अस्तित्त्व के लिये विस्तृत-रूप से कोई प्रमाण नहीं दिये। इस सम्बन्ध में वेदान्त के मन्तव्य को ही मान लिया गया है। प्राकृतिक जगत् का अस्तित्त्व यथार्थतापूर्ण है तथा वह मन से पृथक् है, जो कि उस का

साक्षात्कार करता है। प्रभाकर के मतानुसार आठ तत्त्व हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य व संख्या। गुणोंके अधिष्ठान को द्रव्य कहते हैं। ये द्रव्य नौ हैं—भू, जल, वायु, अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल, व स्थान। द्रव्य व गुण के सम्बन्ध के बारे में मीमांसकों ने बहुत कुछ वैशेषिक दर्शन से लिया है। इन के मतानुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक व काम्य। तीनों वर्ण इन सब कर्मों को करने के अधिकारी हैं। कर्म व परिणाम का संचालन 'अपूर्व' द्वारा होता है। पूर्व्वमीमांसा में कितने ही देवताओं का उल्लेख है, जो यज्ञ में हविष् प्राप्त करते हैं। इन देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य सर्वोपरि देवता की आवश्यकता मीमांसकों को प्रतीत नहीं होती। उन के सिद्धान्तानुसार कर्म ही परम सत्य है व ईश्वर-धर्म है।

उत्तरमीमांसा—इसके कर्ता बादरायण या व्यास कहे जाते हैं, जिन्होंने वेदान्तसूत्रों में इस दर्शन के समस्त सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसे वेदान्त भी कहते हैं। इसके अनुसार प्रमाण दो हैं—श्रुति (प्रत्यक्ष), स्मृति (अनुमान)। इस जगत् में ब्रह्म ही सत्य है। पुरुष व प्रकृति उसी के परिवर्तितस्वरूप हैं[१०१]। पुरुष में जो ब्रह्म है, उस पर पुरुष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दोनों का भेद मुक्ति के पश्चात् भी रहता है। यह संसार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम है। यह उसकी लीला है। मोक्ष प्राप्ति के लिये जीवात्मा को अच्छे २ गुणों को प्राप्त करना चाहिये, जिससे आत्मशुद्धि हो सके व इस प्रकार जीवन पवित्र बन जाय।

शंकर का अद्वैत वेदान्त—शंकराचार्य्य ने वेदान्तसूत्रों पर भाष्य लिखकर अपना एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे 'शांकर वेदान्त' या 'मायावाद' कहते हैं। वेदान्त-सूत्रों में शंकर के सिद्धान्त के लिये सामग्री अवश्य है, किन्तु उसका स्वरूप व्यवस्थित नहीं है। इसे शंकर ने व्यवस्थित किया। उसका मुख्य सिद्धान्त है कि जो कुछ दिखाई देता है वह सत्य नहीं है। वह केवल आभास मात्र है[१०२]। रात्रिके अन्धकार में जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में ब्रह्म इस जगत् के रूप में दिखाई देता है। ब्रह्म का इस प्रकार दिखाई देना उसके मायान्वित होने के कारण भी है। जीव को 'मायान्वित ब्रह्म' भी कह सकते हैं। इस प्रकार अनेकत्त्व केवल आभास है व एकत्त्व एक मात्र सत्य है। "ब्रह्म सत्यं

जगन्मिथ्या", "सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "तत्त्वमसि" आदि उपनिषदों के वाक्यों से शांकर मत की पुष्टि की जाती है। जब जीवात्मा सच्चे ज्ञान के प्रकाश से अविद्यान्धकार को दूर कर माया के फन्दे को तोड़ देता है, तब उसे एकत्त्व का भास होने लगता है और वह इस बात का अनुभव करता है कि "अहं ब्रह्मा अस्मि" (मैं ही ब्रह्म हूं)। इसी को मुक्ति कहते हैं[१०३]।

अन्य आचार्य्यों के सिद्धान्त—रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि मध्यकालीन आचार्यों ने भी वेदान्त-सूत्र पर अपने २ भाष्य लिख कर भिन्न २ सिद्धान्त उपस्थित किये; जो विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि नामों से जाने जाते हैं[१०४]। जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को समझाने में जो भेद है उसीके कारण उनके मन्तव्यों में भी भिन्नता आगई है, अन्यथा अन्य सब सिद्धान्त समानरूप हैं। स्थानाभाव के कारण यहां उनपर विस्ताररूप से विचार नहीं किया जा सकता।

वैदिक काल के पश्चात् धार्मिक जीवन का विकास—वैदिक काल के पश्चात् ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ धार्मिक जीवन में भी बहुतसे परिवर्तन होते गये, जिनके परिणामस्वरूप भारत का धार्मिक जीवन विकसित होने लगा। समय की गति से वह विकास उस अवस्था को पहुँचा, जिसे आज हम हिन्दू-धर्म के नाम से जानते हैं। यों तो जो धार्मिक मन्तव्य आज इस नाम से जाने जाते हैं, उन का आरम्भ वेदों से ही होता है; किन्तु विकास की अवस्था में इस हिन्दू-धर्म में बहुतसी ऐसी बातें समा गईं, जो उसकी मौलिक अवस्था में नहीं थीं।

यज्ञों का महत्त्व—वैदिककाल के पश्चात् एक ऐसा समय आया जब कि यज्ञों का करना कराना ही एक मात्र धर्म समझा जाता था। प्रत्येक धर्मनिष्ठ जीवन कर्मकाण्ड से पूर्णतया भरा रहता था। नित्य नैमित्तिक आदि कितनेही कर्म करने के लिये रहते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों व धर्म, गृह्य, श्रौत आदि सूत्रों में इनका अच्छा विवेचन किया गया है।

त्रिदेव—इसके पश्चात् रामायण, महाभारत आदि का समय आता है। वैदिककाल के इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ने ले लिया[१०५]। इन्हीं की स्तुति उपासना आदि की जाने लगी। इसी त्रिदेव की भावना को पुराणों ने और भी विकसित किया[१०६]। इस भावना का

यह मतलब कदापि नहीं था कि वैदिककालीन एकेश्वरवाद का स्थान अनेकेश्वर-वाद को दिया जाय। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी परमेश्वर के ही तीन स्वरूप माने गये हैं व उसकी भिन्न २ शक्तियों के द्योतक हैं। ब्रह्मा का काम सृजन करना, विष्णु का काम रक्षण करना व शिव का काम नाश करना है। इस संसार में ये तीनों प्रवृत्तियें स्पष्टरूप से दिखाई देती हैं। इन का प्रेरक वही एक परमेश्वर है। इस प्रकार त्रिदेव की कल्पना में एक ही परमात्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। उसमें अनेक देवताओं का भाव निहित नहीं है। ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ लोग प्राचीन ऊँचे २ दार्शनिक व धार्मिक सिद्धान्तों को समझने में असमर्थ होने लगे, क्योंकि प्राचीन भाषा को समझने में भी कठिनाइयों का अनुभव होने लगा था। परिणामस्वरूप मुक्ति प्राप्त करने का या ईश्वर को समझने का एक और मार्ग निकाला गया। इससे पहिले का मार्ग ज्ञान का मार्ग था, जिस पर चलने के लिये कठिन तप, त्याग आदि की आवश्यकता थी। जनसाधारण में इस मार्गपर चलने का सामर्थ्य नहीं रहा था। इसीलिये एक नया मार्ग ढूँढा गया, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसे 'भक्ति मार्ग' कहते हैं।

भक्ति मार्ग—इस मार्ग का उद्देश यह है कि किसी इष्ट-देवता की सच्चे हृदय से उपासना करना, भक्ति करना, उसके गुणगान भजन संकीर्तन आदि करना, जिससे कि मुक्ति प्राप्त होसके[१०७]। पहिले पहिल ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तीन देव ही साधारणतया इष्ट देव माने जाते थे। किन्तु धीरे २ इन तीन देवों के अतिरिक्त कितने ही इष्टदेव हो गये व प्रत्येक की भक्ति आदि की विधि में भी अन्तर हो गया। इस प्रकार वैष्णव, शैव आदि कितने ही सम्प्रदाय हमारे धर्म में हो गये। इन सम्प्रदायों के बाह्य चिह्न भी जुदे २ बन गये[१०८]।

धर्म के इस परिवर्तित स्वरूप का सुन्दर व स्पष्ट चित्र हमें पुराणों में मिलता है। एक पुराण से अठारह महापुराण व अठारह उपपुराण का बनना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भक्ति की गङ्गा भिन्न २ स्रोतों में बहने लगी थी[१०९] व उसने समस्त भारतवर्ष को अपने जल से परिप्लावित कर दिया था।

भक्तिमार्ग पर ऐतिहासिक दृष्टि—कुछ विद्वानों का मत है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यदि भक्तिमार्ग पर विचार किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के महायान पंथके प्रभाव से भी कदाचित् इसने हिन्दू

धर्म में प्रवेश किया हो;[११०] क्योंकि बोधिसत्त्वादि की पूजा करना व उस के गुणगान, भजन, संकीर्तन आदि करना महायान का मुख्य मन्तव्य था। इससे जनसाधारण उस की ओर आकर्षित होने लगे। हिन्दूधर्म ने महायान की इस विशेषता को अपना कर बौद्ध-धर्म के तीव्र गति से बढ़ते हुए वेग को एकदम रोक दिया। बोधिसत्त्व के स्थान में विष्णु, शिव आदि की भक्ति की जाने लगी। किन्तु इतिहास से पता लगता है कि ईसा की सातवीं शताब्दि में हर्ष के समान सम्राट्, बौद्ध व हिन्दू देवता दोनों के प्रति अपने पूज्य भाव दर्शाता था। इससे मालूम होता है कि बौद्ध व हिन्दुओं में सर्वदा द्वेष व वैमनस्य ही नहीं बना रहता था। वे आपस में मिलझुल कर रहना भी सीख गये थे। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म का भक्ति-मार्ग के विकास पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। किन्तु यह तो सम्भव नहीं मालूम होता कि हिन्दू-धर्म की भक्ति बौद्धों से ही ली गई हो।

भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय—भक्ति-मार्ग के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि ईसा के पूर्व की पहिली शताब्दि में भी भागवत सम्प्रदाय का बहुत प्राबल्य था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के यूनानी राजा एन्टियाल्किडास का राजदूत हिलीयोडोरो मध्यभारत के बेसनगर (मध्यभारत के आधुनिक भिलसा के पास) के राजा के पास भेजा गया था। वहां जाकर वह यूनानी विष्णु का परमभक्त होगया, यहां तक कि उसने विष्णु का मन्दिर बनवाया व एक विष्णुध्वज स्तम्भ खड़ा करवाया, जिस पर एक लेख खुदवाया, जिस में "परमभागवतो हिलीयोडोरो" शब्द आज भी खुदे हुए हैं[१११]। पातञ्जल महाभाष्य में कंसवध व बालीबन्ध नाटकों के अभिनय के उल्लेख से भी पता चलता है[११२] कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि में भी भक्ति-मार्ग का प्राबल्य था। प्रसिद्ध यूनानी राजदूत मीगाज़थीनीज़ ने भी कृष्ण व शिव की भक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है[११३]। इन प्रमाणों से भक्ति मार्ग की प्राचीनता स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। यथार्थ में इसका प्रारम्भ जैसा कि पहिले बता चुके है, वैदिककाल से होता है। भक्तिभावसे परिपूर्ण कितने ही मन्त्र ऋग्वेद में पाये जाते हैं। विष्णुलोक का सुन्दर वर्णन करने वाली ऋचाओं में भी भावी भक्ति-मार्ग के दर्शन होते हैं। भक्ति-मार्ग का प्राबल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गुप्तसम्राटों के लेखों से मालूम होता है कि वे

"परम भागवत" पदवी से अपने नाम को अलङ्कृत करते थे[११४]। इस प्रकार भागवत-धर्म का इतिहास बहुत ही प्राचीन व विस्तृत है।

शैव-सम्प्रदाय—भागवत सम्प्रदाय के साथ २ शैवसम्प्रदाय का भी विकास हुआ था। प्राचीनकाल में इसका विशेष प्राबल्य पश्चिमी भारत में था। महाभारत व पुराणों में शाक-द्वीप का जो वर्णन आता है, उसमें बताया गया है कि वहां शैवों का प्राबल्य था[११५]। मोहन्जोदाड़ो व हरप्पा में जो प्राचीन वस्तुएँ मिली हैं, उनमें शिव पशुपति की मूर्तियें भी हैं[११६]। इसी प्रकार ईसा की द्वितीय शताब्दि में कुछ कुशानवंशी राजा भी शैव थे[११७]। छठवीं शताब्दि में हूणों ने भी इस मत को अपनाया था,[११८] जैसा कि तोरमाण व मिहिरगुल के सिक्कों से मालूम होता है। किन्तु यह मत धीरे २ भारतभर में फैल गया था। कितने ही वर्षों तक दक्षिण भारत में इसने प्रभुत्त्व जमाया था। एक समय ऐसा भी था, जब इस मत का प्राबल्य समस्त भारत में होगया था। किन्तु वैष्णव व शैव दोनों ही सम्प्रदाय बराबरी से उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगे। कभी २ इन के अनुयायियों में कुछ मुठभेड़ भी हो जाती थी, किन्तु साधारणतया भारत के धार्मिक वातावरण में सहिष्णुता का साम्राज्य रहता था।

पुराण व साम्प्रदायिक विकास—पुराणों के विकास व सम्प्रदायों के विकास का घनिष्ट सम्बन्ध मालूम होता है। प्राचीन काल से ही इतिहास-पुराण का साहित्य जनसाधारण को प्रिय लगता था। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग भी उन का प्रिय मार्ग था। इसलिये पुराण व भक्ति मार्ग का सम्बन्धित हो जाना स्वाभाविक ही था। पुराणों ने सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों का काम दिया। शिव, वायु, मार्कंडेय, विष्णु, भागवत आदि पुराणों का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

भक्ति-मार्ग का उत्तरोत्तर विकास—ज्यों २ समय बीतता गया, त्यों २ भक्तिमार्ग विकसित होता ही गया। मध्य-काल में इस विकास की पराकाष्टा होगई, जबकि भारत के भिन्न २ भागों में कितने ही सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने हिन्दी, गुजराती, मराठी, बङ्गला आदि भारत की विभिन्न भाषाओं में मध्य-कालीन भक्ति-साहित्य का निर्माण किया[११९]। कबीर, रामानंद, सूरदास, तुलसी, चैतन्यप्रभु, नरसिंहमेहता, मीराबाई, तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों ने मध्यकाल में भक्ति की गङ्गा को समस्त भारत में बहाया था[१२०]। आज भी भारत के जनसाधारण के हृदय-सिंहासन पर ये ही सन्त वर्तमान हैं। इन्हीं के

वचन हिन्दुओं के जीवन को नियन्त्रित व संचालित करते हैं। इन में से कितनों ने ज्ञान व भक्ति का सुन्दर समन्वय करने का प्रयत्न भी किया है। भक्ति-काव्य ने भारत के हृदय पर अपना अच्छा प्रभुत्व जमा लिया है।

भक्ति-मार्ग की बुराइयाँ—भक्ति-मार्ग के विकास की चरम सीमा होने के पश्चात् इस में कितनी बुराइयाँ भी आने लगीं। ईश्वर की भक्ति के नाम पर कितना ही अनाचार किया जाने लगा। भिन्न २ सम्प्रदायों के आचार्यो में से विद्वत्ता का लोप होने से आडम्बर, इन्द्रियलोलुपता आदि का साम्राज्य बढ़ने लगा। आचार्य व उन के सम्बन्धी, कृष्ण बन २ कर, अपनी भक्तनों की गोपियाँ बना रँगरेलियाँ खेलने लगे व इस प्रकार कृष्ण के नाम को कलङ्कित करने लगे। परिणामतः, इन सम्प्रदायों के व्यावहारिक जीवन के प्रति शिक्षित समुदाय में घृणा का भाव पैदा होने लगा व समाज में एक प्रकार की क्रान्ति उपस्थित होगई जिस का दौरदौरा अभी भी चला जाता है। इस प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास में भक्ति मार्ग का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

अध्याय १५

साहित्यिक-विकास

साहित्यिक-विकास के विभिन्न पहलू—प्राचीन भारत के साहित्यिक विकास का प्रारम्भ वैदिककाल से ही होता है, यद्यपि वैदिक साहित्य व उसके पश्चात् के साहित्य में भाषा, व्याकरण आदि की दृष्टि से बड़ा भेद है[1]। इस विकास को भलीभाँति समझने के लिये यह आवश्यकीय है कि उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाय। इस विकास के मोटे तौर पर दो विभाग किये जा सकते हैं—साहित्य व उसकी विभिन्न शाखाएँ, व साहित्य का शास्त्रीय विवेचन। पहिले विभाग के अन्तर्गत गद्य, पद्य, चम्पू, नाटक आदि का व दूसरे में अलङ्कारशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि का समावेश होता है।

काव्य व उसकी परिभाषा—साहित्य के लिये संस्कृत आलंकारिकों ने 'काव्य' शब्द प्रयुक्त किया है, जिसे भिन्न २ दृष्टिकोणों से परिभाषित किया गया है। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में साधारणतया चार विचार-सरणियें रही

हैं—अलङ्कार, रीति, रस, ध्वनि। भिन्न २ आचार्यों ने काव्य में इन चारों में से किसी एक को अधिक महत्त्व दिया है। इस पर आगे चलकर विस्तृतरूप से विचार किया जायगा। किन्तु यहां यह बताना उपयुक्त ही है कि काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने काव्य की परिभाषा में इन सब दृष्टिकोणों का सामञ्जस्य अच्छी तरह स्थापित किया है। मम्मट की परिभाषा इस प्रकार है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।"[2]

गुणयुक्त अदोष शब्दार्थ को, जो कि कभी २ अलङ्काररहित भी हो, काव्य कहते हैं। मम्मट ने 'उत्तम काव्य' को ध्वनि कहा है[3]। इस प्रकार उसने अलङ्कार, रीति, रस, ध्वनि आदि चारों का समावेश काव्य में किया है, किन्तु उसने महत्त्वपूर्ण स्थान तो ध्वनि को ही दिया है। पं० विश्वनाथ द्वारा की हुई काव्य की परिभाषा भी साहित्यिकों में लोकप्रिय बन गई है। वह परिभाषा इस प्रकार है—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"[4]

रसात्मक वाक्य ही काव्य है। इसमें रस को ही काव्य की आत्मा बताया गया है। इस प्रकार भारतीय आलंकारिकों ने विज्ञान व मानस-शास्त्र के सहारे काव्य का विश्लेषण करने का सफल प्रयत्न किया था।

काव्य-भेद—काव्य के साधारणतया दो भेद माने गये हैं—गद्य व पद्य[5]। इस का एक तीसरा भेद भी माना गया है, जिसे चम्पू कहते हैं। इस में गद्य व पद्य का मिश्रण रहता है।

गद्य—प्राचीन भारतीयों को गद्य से अधिक प्रेम न था। उन का अधिकांश साहित्य यहांतक कि व्याकरण, ज्योतिष आदि सम्बन्धी साहित्य भी पद्यमय ही है। फिर भी गद्य को अपनाया गया है। प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्यांशों से प्रारम्भ होता है[6]। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के विकास का स्पष्ट पता लगता है। सब ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं[7]। इन के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ब्राह्मण-काल में गद्य के भिन्न २ अङ्गों का विकास हो गया था। किन्तु वह गद्य आलंकारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है। उस में किसी रसविशेष का अस्तित्त्व नहीं है। उपनिषद्,[8] यास्ककृत निरुक्त,[9] कौटिलीय अर्थशास्त्र,[10] पातञ्जल महाभाष्य[11]

आदि में भी इसी प्रकार के गद्य के दृष्टान्त मिलते हैं। इस से स्पष्ट है कि गद्यमय लेख लिखना प्राचीन काल में पूर्णतया ज्ञात था।

काव्यात्मक गद्य का सर्वप्रथम दृष्टान्त संस्कृत शिलादिलेखों से मिलता है। रुद्रदामन् के गिरनारस्थित शिलालेख (ई. स. १५० के लगभग) में इस का प्राचीनतम दृष्टान्त है। इस के गद्यांश में आलङ्कारिक भाषा में सुदर्शन तड़ाग के बाँध के महाक्षत्रप रुद्रदामन् द्वारा पुनः बँधवाये जाने का सुन्दर वर्णन है[१२]। बड़े २ समास, यमक, अनुप्रास, उपमा आदि के प्रयोग से इतना ही नहीं इन अलङ्कारों के नामों के स्पष्ट उल्लेख आदि से मालूम होता है कि उस समय परिमार्जित व सुन्दर गद्यकाव्य लिखने की प्रणाली प्रारम्भ हो चुकी थी। कहीं २ तो इस में बाणभट्ट के गद्य की याद आजाती है। इसी प्रकार गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्त के प्रयागस्थित स्तम्भलेख (ईसा की चौथी शताब्दि) में काव्यमय सुन्दर गद्य के दर्शन होते हैं, जिस को पढ़ने से तत्कालीन काव्य के आश्चर्य्यजनक विकास का पता चलता है[१३]। इस प्रकार प्राचीन शिलादिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट लम्बे २ समासादि से युक्त गद्य-काव्य की सब विशेषताएँ उक्त शिलालेखों में प्राप्त गद्यांशों में वर्तमान हैं।

गद्यकाव्य के दो भेद किये गये हैं—कथा व आख्यायिका[१४]। दण्डी ने इन दोनों के भेदों को समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु अन्य आलङ्कारिकों के मत में दोनों के भेदों को स्पष्टतया बताना सरल नहीं है। इस प्रकार के गद्यकाव्य छठवीं व सातवीं शताब्दि में लिखे गये हैं, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है।

दशकुमारचरित—इसका लेखक दण्डी है, जिसने काव्यादर्श[१५] नामी अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा है। दण्डी का समय ईसा की छठवीं शताब्दि बताया जाता है। इसमें दस राजकुमार भिन्न २ दिशाओं में यात्रा के लिये जाते हैं व लौटने पर प्रत्येक अपने २ अनुभवों को रोचक ढङ्ग पर सुनाता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

वासवदत्ता—इसका लेखक सुबन्धु है, जो कि सातवीं शताब्दि के लगभग हुआ है। इसमें उज्जैन की राजकुमारी वासवदत्ता व वत्सराज उदयन के प्रेम की कहानी है। इस विषय पर भासादि नाटककारोंने भी सुन्दर नाटक रचे हैं[१६]।

कादम्बरी—इसका लेखक बाणभट्ट है जो कि हर्षवर्धन का समकालीन था। इसमें कादम्बरी नाम की एक काल्पनिक नायिका का चरित्र-चित्रण है। चन्द्रापीड़, महाश्वेतादि पात्रों का वर्णन भी अत्यन्त ही रोचक व काव्यमय है। इसका प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही सुन्दर है। आच्छोद सरोवर के किनारे महाश्वेता व पुण्डरीक का प्रथम-दर्शन में परस्पर प्रेमपाश में बँध जाना व प्रेम के आवेश में पागल बन जाना अत्यन्त ही रोचक है व काव्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है[१७]। इसके कुछ पात्रों के सामने शेक्सपीयर के पात्र भी फीके पड़ जाते हैं। इसमें पात्रों का काम दो २ तीन २ जन्म तक चलता है।

हर्षचरित—यह भी बाणभट्टकृत है। इसमें कन्नौज के हर्षवर्धन का चरित्र चित्रित किया गया है। यह ग्रन्थ आठ उच्छ्वास में बना है। इसमें भी कविने अपनी कवित्वशक्ति का परिचय देने का प्रयत्न किया है। किन्तु इसमें उसका हाथ इतना मँजा हुआ नहीं है, जितना कि कादम्बरी में। फिर भी कहीं २ वर्णन बहुत ही सुन्दर है; उदाहरणार्थ बौद्ध आचार्य के आश्रम का वर्णन,[१८] जहां कि पशु पक्षियों ने भी अहिंसादि के सिद्धान्तों को अपने जीवन में ओत प्रोत कर लिया था, मनुष्यों का तो हाल ही क्या?

इन गद्यकाव्य के ग्रन्थों में कवित्वशक्ति का परिचय तो मिलता है, किन्तु कहीं २ कृत्रिमता का बाहुल्य दिखाई देता है, विशेषकर वासवदत्ता व दश-कुमारचरित में। बड़े २ समास व श्लेषादि अर्थालङ्कारों का शब्दजाल, शब्दा-लङ्कारों का बाहुल्य आदि कालिदास के समान कवि की उत्कृष्ट कविता का रसा-स्वादन करनेवाले को बहुत ही फीका मालूम पड़ता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यकसौटी पर ये कदाचित् 'अधम काव्य' उतरें, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व अवश्य है।

लघु-कथा (ई० स० ४००-११०० तक)—संस्कृत गद्य का दूसरा अङ्ग है लघु कथा का साहित्य। प्राचीन काल से ही समाज में छोटी २ कहानियें, जो कि बहुधा उपदेशपूर्ण रहती थीं, प्रचलित थीं। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि ने इन कहानियों को साहित्य-स्वरूप देकर अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रसार का प्रयत्न किया था। संस्कृतभाषा में तो इसे गद्यात्मक साहित्य का एक विशेष अङ्ग ही बना दिया गया। ये लघुकथाएँ इतनी रोचक व लोकप्रिय बन गईं कि इनमें से कितनी ही विदेशों तक में फैल गईं व उनका अनुवाद कितनी ही विदेशी

भाषाओं में भी किया गया[१९]। इन रोचक व शिक्षाप्रद कहानियों के संग्रह इस प्रकार हैं।—

पञ्चतन्त्र—इस के पांच विभाग हैं—(१) मित्रभेद—दो सियारों द्वारा मिलाये जाने पर एक बैल व सिंह पक्के मित्र बन जाते हैं। धीरे २ एक सियार को इस मैत्री के प्रति ईर्षा होती है और वह षड्यन्त्र रचता है। परिणाम-स्वरूप सिंह व बैल का झगड़ा होता है, जिस में बैल मारा जाता है।

(२) मित्रलाभ—इस में एक कछुए, मृग, कौए, चूहे आदि की कठिनाइयों से भरी यात्रा का वर्णन है, जिसमें सब हिलमिलकर रहते हैं व सच्चे मित्र के समान आपत्ति में एक दूसरे को सहायता पहुँचाते हैं।

(३) "कौओं व उल्लूओं का युद्ध"—इस में भूतपूर्व शत्रुओं की मैत्री के क्या दुष्परिणाम होते हैं, उन का वर्णन है।

(४) प्राप्तवस्तु की हानि—इस में बन्दर व मगर की रोचक कहानी है, जिसमें बताया गया है कि मूर्खों के पास से उन की चीजें, खुशामद द्वारा किस प्रकार छीनी जा सकती हैं।

(५) बिना विचारे किया हुआ काम—इस में कितनी ही कहानियें हैं, जिन में एक नाई के दुःखद अनुभवों का वर्णन है, जो कि परिस्थितियों को अच्छी तरह न समझने के कारण दुःख व आपत्तियों का शिकार बनता है।

पञ्चतन्त्र का लेखक—इस के लेखक के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है[२०]। इस के प्रारम्भ में ही दक्षिण के महिलारोप्य नगर के राजा अमरशक्ति की कहानी है। उसे किसी योग्य शिक्षक की आवश्यकता थी, जो कि उस के तीन मूर्ख व आलसी पुत्रों को छः महीने में नीतिशास्त्र इस तरह पढ़ा दे कि वे अन्य राजकुमारों से बढ़ जायँ[२१]। इस उद्देश की सिद्धि पञ्चतन्त्र द्वारा की गई है। इस के समय के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ईसा की छठवीं शताब्दि में इस की कहानियें इतनी लोकप्रिय बनगई थीं कि सेसेनियन राजा खुसरु अनुसीरवाँ (ई० स० ५३१–५७९ तक) ने ई० स० ५७० के लगभग पहेल्वी भाषा में इस का अनुवाद करवाया[२२] व पहेल्वी से सिरिक भाषा में अनुवाद हुआ। इस का मौलिकरूप कदाचित् ई० स० ३००–५०० का हो अथवा उस के भी पहिले का हो।

है व तोता कहानी सुनाने लगता है, किन्तु उसे अधूरी ही छोड़ता है । इस प्रकार सत्तर रातें बीत जाती हैं व उस का पति लौट आता है ।

बृहत्कथामञ्जरी—ई० स० १०३७ के लगभग क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा के आधार पर इस ग्रन्थ को रचा । विस्तार में यह कथासरित्सागर का तीसरा भाग है ।

कथासरित्सागर—यह पद्यात्मक है । इस में १२४ तरङ्गें व २२००० श्लोक हैं । इस का लेखक काश्मीरी कवि सोमदेव है, जिसने इस ग्रन्थ को ई० स० १०७० के लगभग रचा । लेखक स्वीकार करता है कि यह ग्रन्थ गुणाढ्यकृत बृहत्कथा पर बहुत कुछ अवलम्बित है, जिस का उल्लेख दण्डी, बाण आदि ने भी किया है । इस में बहुत से सुन्दर व रोचक किस्से हैं । संस्कृत व्याकरण न जानने के कारण अपनी रानी के द्वारा कहे गये वचनों के अर्थ को बराबर न समझ सकने के कारण लज्जित होकर एक राजा ने संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् बनने का नहीं तो मरजाने का निश्चय किया । इस में राजा शिबि की भी कहानी है, जिसने श्येन से कपोत को बचाने के लिये अपने आप को अर्पण कर दिया था ।

पद्य

पद्य—(ई० पू० २००–११०० ई० तक) पद्यात्मक काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य । महाकाव्य के लिये आवश्यकीय है कि उसमें बहुतसे सर्ग हों, नगर, ऋतु, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन हो व उसकी वस्तु भी विस्तृत होनी चाहिये[२३] । खण्ड-काव्य का स्वरूप छोटा रहता है । वस्तु भी अल्प ही रहती है । इसमें गीतिकाव्य व शिक्षाप्रद काव्य का भी समावेश हो जाता है ।

पद्य-काव्य पर ऐतिहासिक दृष्टि—यों तो वाल्मीकि-रामायणको आदि महाकाव्य कहा जाता है,[२४] किन्तु पद्यात्मक काव्य के इतिहास पर यदि विचार किया जाय, तो पता लगेगा कि इसका ज्ञान पाणिनि (ई० पू० ५०० या ७०० वर्ष के लगभग) के समय में भी वर्तमान था । पाणिनि की बहुतसी कविताएँ अन्य ग्रन्थों में उद्धृत की गई हैं, जिससे मालूम होता है कि उसने कुछ काव्य अवश्य लिखे होंगे[२५] । पातञ्जल महाभाष्य में भी काव्यग्रन्थों से बहुतसे श्लोक उद्धृत किये गये हैं,[२६] जिनके पठन से स्पष्टतया मालूम होता है कि ई० पू०

दूसरी शताब्दि में भी जो कि पतञ्जलि का समय माना जाता है, काव्य का पर्य्याप्त प्रचार था। उक्त पद्यांश कवित्व, रीति आदि की दृष्टि से महाकाव्यों के पद्यांशों से मिलते झुलते हैं। अश्वघोष का बुद्धचरित[२७] महाकाव्य का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अश्वघोष ईसा की पहिली शताब्दि में कनिष्क का समकालीन था। महाकाव्य के लिये आवश्यकीय सब नियमों का पालन इस पुस्तक में अच्छीतरह से किया गया है। एक बौद्ध द्वारा गौतमबुद्ध का जीवन-चरित्र संस्कृत-काव्य में लिखा जाना स्पष्टतया बताता है कि ईसा की पहिली शताब्दि में संस्कृतकाव्य अत्यन्त ही लोकप्रिय बन गया था व शिक्षित समाज पर नये सिद्धान्तों की छाप बैठाने का अच्छा साधन समझा जाता था।

प्राचीन शिलालेखों में काव्य—ई० स० ३५०—५५० वर्ष के संस्कृत शिलालेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से भी पता चलता है कि महाकाव्य-रीति साहित्यजगत् में पूर्णतया ज्ञात थी। उनमें से कुछ लेख इस प्रकार हैं—

गिरनारस्थित रुद्रदामन् का लेख—यह ई० स० १५० वर्ष का माना जाता है। यह लेख[२८] गद्यात्मक काव्य में है, किन्तु उसके आलोचनात्मक पठन से स्पष्ट होता है कि उक्त लेख के लेखक को अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान अवश्य था व वैदर्भी रीति के पद्यात्मककाव्य उसके समय में लोकप्रिय थे। इससे ऐसे काव्यों का लिखा जाना स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

आन्ध्र राजा का नाशिक-स्थित लेख—यह लेख भी ई० स० दूसरी शताब्दि का है। इसके पठन से भी परिमार्जित काव्य-रीति के अस्तित्त्व का प्रमाण मिलता है[२९]।

राजा चन्द्र का मेहरोली-लोहस्तम्भलेख—इस लेख में किसी तिथि का निर्देश नहीं है। किन्तु ऐतिहासिक ई० स० ३४० के लगभग का इसे बताते हैं। काव्य की दृष्टि से यह लेख महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीन शार्दूलविक्रीड़ित छन्द हैं व यह काव्य का एक उत्कृष्ट छोटा सा नमूना है[३०]। इसमें उपमा, एकदेशविवर्ती रूपक, असंगति, विरोधाभासादि अलङ्कार विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं।

हरिषेणकृत समुद्रगुप्तप्रशस्ति—इसका समय ईसा की चौथी शताब्दि का उत्तरार्ध है। इस प्रशस्ति से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त स्वतः कवि था व कवियों का आश्रयदाता भी था, जिनमें से एक हरिषेण था। इस

हरिषेण ने वैदर्भी रीति के सुन्दर काव्य में अपने आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति लिखी है,[३१] जिसके श्लोकों को पढ़कर कालिदास की याद आये बिना नहीं रहती।

गुप्तकाल के अन्य लेखों में[३२] भी उत्कृष्ट काव्य के सुन्दर नमूने मिलते हैं व उनके आलोचनात्मक अध्ययन से यह भी मालूम होता है कि इस समय अलङ्कारशास्त्र के भिन्न २ अङ्ग भी विकसित हो चुके थे। इस प्रकार इन लेखों के प्रमाण से हमें मालूम होता है कि गुप्तकाल में काव्य अपनी उत्कृष्टता पर पहुँच चुका था व उसके भिन्न २ अङ्ग भी विकसित हो चुके थे। अब हमें कुछ महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों पर विचार करना चाहिये।

महाकाव्य

कालिदास के महाकाव्य—इन महाकाव्यों में कालिदास के महाकाव्य—रघुवंश, कुमारसम्भव—सर्वोत्तम समझे जाते हैं। कालिदास संस्कृत कवियों में सर्वोपरि है। इस सम्बन्ध में शङ्का का लेश भी नहीं रह सकता। उस के कालनिर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा भारी मतभेद है[३३]। इस सम्बन्ध में दो विचारसरणियें विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालिदास विक्रम संवत् के संस्थापक राजा विक्रमादित्य के राजत्वकाल (ई० पू० ५६ के लगभग) में हुआ। जैन जनश्रुतियों में इस राजा का स्पष्ट उल्लेख है व उसे 'शकारि' भी कहा गया है[३४]। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यह कविकुलगुरु गुप्त-काल में हुआ, जब कि संस्कृत-काव्य अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था[३५]। यहां हमें इस विवाद में घुसने की आवश्यकता नहीं है। अब हमें उस के महाकाव्यों पर विचार करना चाहिये।

रघुवंश—इस में उन्नीस सर्ग हैं। इस में राम का जीवनचरित व उन के पूर्वज तथा उत्तराधिकारी राजाओं का सुन्दर वर्णन है। पहिले नौ सर्गों में दिलीप, रघु आदि प्रथम चार पूर्वजों का वर्णन है। दसवें सर्ग से पन्द्रहवें तक उन का स्वयं का वर्णन है। इसी में कालिदास ने वाल्मीकि को 'आदि कवि' कहकर सम्बोधित किया है[३६]। बाकी के सर्गों में राम के उत्तराधिकारियों का वर्णन है। यह महाकाव्य कवि की प्रौढ़ कृति का उत्कृष्ट नमूना है[३७]। काव्य की दृष्टि से इसमें के कितने ही वर्णन विश्वसाहित्य में ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन बहुत ही सुन्दर है[३८]। उसके मरने पर

अज जो विलाप करता है, वह सचमुचमें करुण-रस का एक सुन्दर स्रोत ही है। इसी प्रकार राम के अयोध्या लौटते समय जो त्रिवेणी संगम का वर्णन किया गया है,[३९] वह यथार्थ में काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। इसकी बीस से अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें मल्लिनाथ की संजीवनी सर्वोत्तम समझी जाती है। मल्लिनाथ स्वतः दक्षिणावर्त, नाथ आदि टीकाकारों का उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त दिनकरमिश्रकृत सुबोधिनी व जैन चारित्रवर्धनकृत शिशु-हितैषिणी विशेष उल्लेखनीय हैं।

कुमार-संभव—यह कालिदास का दूसरा महाकाव्य है। इसमें सत्रह सर्ग है। पहिले सात सर्गों में शिव व पार्वती के विवाह, प्रेमालाप आदि का वर्णन है। बाद के सर्गों में कुमार का जन्म, तारकासुर का वध आदि का विस्तृत वर्णन है। यह भी कालिदास की उत्तम कृति है[४०]। इसमें कवि ने निसर्ग का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है,[४१] जिसके सामने वर्ड्सवर्थ का निसर्ग-चित्रण फीका पड़ जाता है। इसकी लगभग बीस टीकाएँ हैं। मल्लिनाथ ने भी इस पर टीका लिखी है।

भट्टीकाव्य—यह ग्रन्थ राजा श्रीधरसेन के समय वलभी में लगभग सातवीं शताब्दि में लिखा गया है। कितने ही टीकाकार भर्तृहरि को इसका लेखक मानते हैं। इसमें बावीस सर्गों में रामचरित्र का वर्णन किया गया है। किन्तु कवि का मुख्य उद्देश संस्कृत-व्याकरण के विभिन्न नियमों के उदाहरण समझाना है[४२]।

किरातार्जुनीय—इसमें अठारह सर्ग हैं व किरात वेषधारी शिव तथा अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया गया है, जिसका उल्लेख महाभारत में भी है। इसके लेखक भारवि का उल्लेख ई० स० ६३४ के ऐहोल के शिलालेख में आता है, जिससे मालूम होता है कि यह काव्य ईसा की सातवीं शताब्दि के बाद का नहीं हो सकता। इसमें शब्दचित्र के कितने ही उदाहरण मिलते हैं[४३]। इसलिये काव्य की दृष्टि से इसका स्थान ऊँचा नहीं हो सकता। फिर भी "भारवि का अर्थगौरव" तो प्रसिद्ध ही है। कोई २ इसकी कविता को नारियल की उपमा देते हैं, जिसके फोड़े जाने पर रसास्वादन किया जासकता है।

शिशुपाल-वध—इसमें बीस सर्गों में यह बताया गया है कि किस प्रकार चेदि का राजा शिशुपाल कृष्ण द्वारा मारा गया था। इसका लेखक माघ है।

इसीलिये इसे माघ-काव्य भी कहते हैं । इसका समय नवीं या दसवीं शताब्दि के लगभग होना चाहिये । इसमें कवि की विभिन्नशास्त्रों की आश्चर्यजनक विद्वत्ता का पता तो अवश्य लगता है, किन्तु काव्य की दृष्टि से इसका महत्त्व अधिक नहीं होसकता[४४] ।

नैषधीय—इसमें बावीस सर्ग हैं । इसका लेखक श्रीहर्ष है, जिसका समय बारहवीं शताब्दि का उत्तरार्ध है । इसमें निषध के राजा नल का जीवनचरित्र वर्णित है । यह विस्तार में बहुत बड़ा है किन्तु काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें अलङ्कारों पर अधिक ज़ोर दिया गया है[४५] ।

हरविजय—इसमें पचास सर्ग हैं । इसका लेखक रत्नाकर नामी काश्मीरी कवि है, जो कि नवीं शताब्दि में हुआ है । इसमें शिव की मदन पर प्राप्त विजय का वर्णन है ।

नलोदय—इसमें नलके सब कुछ गँवा देने पर पुनः उन्नत अवस्था को प्राप्त होने का वर्णन है । साधारणतया कालिदास को इसका लेखक माना जाता है, किन्तु यह काव्य बहुत बाद का है व इसमें कृत्रिमता का आधिक्य है ।

राघवपाण्डवीय—इसका लेखक कविराज है, जो कि ई० स० ८०० के लगभग हुआ है । इसमें अलङ्कारों की सहायता से एक ही साथ रामायण व महाभारत की कथाओं का वर्णन है[४६] । विश्व के साहित्य में इस प्रकार का और कोई ग्रन्थ नहीं है । इसमें कृत्रिमता की चरमसीमा होगई है ।

इन काव्यों के अतिरिक्त और भी महाकाव्य हैं, किन्तु वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

खण्डकाव्य

गीति-काव्य (ई० स० ४००–११००)—संस्कृत गीति-काव्य के स्वतन्त्र ग्रन्थ बहुत कम हैं, किन्तु उन्ही थोड़ेसे ग्रन्थों के अध्ययन से गीति-काव्य के आश्चर्यजनक विकास का पता चलता है । संस्कृत नाटकों में भी इसके उत्कृष्ट उदाहरण यत्र तत्र प्राप्त होते हैं । कालिदास के मेघदूत व ऋतुसंहार इस काव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं[४७] । अब इनमें से कुछ पर विचार करना चाहिये ।

मेघदूत—इसके दो भाग हैं—पूर्वार्ध व उत्तरार्ध । इसमें कुल एक सौ पन्द्रह मन्दाक्रान्ता छन्द हैं । इसके सौन्दर्य्य व कवित्त्व से गैटे के समान जर्मन विद्वान् भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा । इसमें अपने देश से निर्वासित

यक्षने, जो कि रामगिरि पर्वत पर एक वर्ष का कारावास भोग रहा था, मेघ द्वारा अपनी स्त्री को संदेशा भिजवाया है । इसीलिये इसका नाम मेघदूत है। पूर्वार्ध में यक्ष मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताता है, जिसमें कविने भिन्न २ स्थलों का सुन्दर वर्णन किया है[४८] । उज्जैन को "दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्" कहकर सम्बोधित किया गया है । उत्तरार्ध में अलकापुरी, यक्ष की स्त्री का वर्णन व यक्ष का सन्देश वर्णित हैं । इस में कवि का प्राकृतिक वर्णन बहुत ही सुन्दर है[४९] ।

ऋतुसंहार—इसमें ६ सर्गों में १५३ छन्द हैं व छः ऋतुओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन है । सर्वप्रथम ग्रीष्म का वर्णन आता है, जिसमें दिवस में कड़ी-धूप रहती है, किन्तु सन्ध्याकाल बहुत ही सुहावना व ठंडा रहता है; चांदनी रातें तो प्रेमी पागलों के लिये विशेषरूप से सुहावनी बन जाती हैं[५०] । फिर कड़ी धूप के दुष्परिणामों का वर्णन है । इस के पश्चात् वर्षाऋतु का आगमन होता है । चातक पक्षी भी दिखाई देने लगते हैं । छोटी २ नदियाँ इठलाती हुई समुद्र की ओर दौड़ी चली जातीं हैं । इसके पश्चात् नव-विवाहिता वधू के समान सौन्दर्य से लदी हुई शरद ऋतु आती है व चहुँ ओर सौन्दर्य का साम्राज्य छा जाता है[५१] । इसके पश्चात् शीत ऋतु आती है, जब कि अग्नि व धूप बहुत ही प्रिय लगते हैं । रात्रि का समय आकर्षक नहीं रहता । कवि बसन्त का वर्णन अधिक विस्तृत रूप से करता है । यह वही समय है, जब कि नायिकाएँ कान में कर्णिकार पुष्प लगाकर व बालों की लटाओं में अशोक व चम्बेली के फूल गूँथकर, अपने प्रेमियों के पास जाती हैं । इसी समय मधुकर का गुन-गुनाना व कोयल की कुहू सुनी जाती है । आम में बौर भी दिखाई देने लगते हैं व कामदेव अपने बाणों से कुमारियों के हृदयों को बेधता है[५२] ।

घटकर्पर—इसमें केवल बीस ही छन्द हैं । इसका नाम लेखक के नाम पर रखा गया है । कवि का काल-निर्णय करना कठिन है । जनश्रुति के अनुसार वह विक्रम के नौ रत्नों[५३] में से एक था ।

चौरपञ्चाशिका—इसमें पचास छन्द हैं व यह उत्कृष्ट काव्य का सुन्दर नमूना है । इसका लेखक काश्मीरी कवि बिल्हण है, जो कि ११ वीं शताब्दि में हुआ है । जनश्रुति के अनुसार यह कवि किसी राजकुमारी के प्रेम में फँसा था । जब यह बात राजा को मालूम हुई, उसने उस कवि को मृत्यु-दण्ड दिया । इस पर उसने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित कर "अद्यापि स्मरामि"

शब्दों से प्रारम्भ होने वाले पचास छन्द लिखे,[५४] जिन्हें सुनकर राजा अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ व उसने मृत्युदण्ड के बदले कवि को अपनी राजकुमारी ब्याह दी।

शृङ्गार-शतक—इसका लेखक सुप्रसिद्ध भर्तृहरि है। इसमें सौ छन्द हैं। कवि ने शृङ्गार-रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है[५५]।

शृङ्गार-तिलक—जनश्रुति के अनुसार कालिदास इसका लेखक है। इसके तेइस छन्दों में शृङ्गार-रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

अमरुशतक—इसमें सौ छन्दों में कविने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर नायक व नायिका के प्रेम का चित्रण किया है।

गीतगोविन्द—लक्ष्मणसेन (ईसाकी १२ वीं शताब्दि) के समकालीन बङ्गाल के कवि जयदेव की यह सुन्दर कृति है। इसमें कृष्ण व गोपियों के प्रेम का सुन्दर चित्र खींचा गया है[५६]।

शिक्षाप्रद-काव्य

नीतिशतक—इसमें नीति-विषयक भिन्न २ विषयों से सम्बन्धित सौ छन्द हैं[५७]। इसका लेखक भर्तृहरि है।

वैराग्यशतक—इसमें सौ छन्दों द्वारा संसार की क्षणभङ्गुरता एवं असारता तथा वैराग्य की उपयोगिता का सुन्दर चित्र खींचा गया है[५८]। इसका लेखक भी भर्तृहरि है।

शान्तिशतक—काश्मीरी कवि शिल्हण का बनाया हुआ यह काव्य है। कविने सौ छन्दों द्वारा शान्ति-प्राप्ति के मार्ग को समझाने का प्रयत्न किया है।

मोहमुद्गर—इसके लेखक शंकराचार्य्य हैं, जिन्होंने इसमें अपनी दार्शनिकवृत्ति को काव्य का स्वरूप देने का प्रयत्न किया है।

चाणक्य-शतक—इसका लेखक चाणक्य है, जो सौ छन्दों में नीति का उपदेश देता है।

नीतिमञ्जरी—इसमें ऋग्वेदान्तर्गत कथाओं के द्वारा नीति के सिद्धान्तों को समझाया गया है।

नाटक

(ई० स० ४००–१०००)

नाटक की उत्पत्ति—नाटक की उत्पत्ति के विषय में बहुतसा मतभेद है, किन्तु इसका विकास कितने ही तत्वों द्वारा हुआ होगा। भारतीय जनश्रुति के

अनुसार तो इसका प्रारम्भ वेदों से ही होता है[५९]। नाटक के विकास के प्रारम्भ की सामग्री ऋग्वेद में मिलती है। पुरूरवस्-उर्वशी,[६०] यम-यमी,[६१] विश्वामित्र-नदी[६२] आदि से सम्बन्धित संवाद-मन्त्रों से नाटक के संवादों के लिये प्रेरणा प्राप्त की गई होगी, क्योंकि संवाद नाटक का एक मुख्य अङ्ग है।

नाटक व नाच—'नट' व 'नाटक' शब्दों की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से मालूम होगा कि ये शब्द संस्कृत की 'नृत्' धातु से बनते हैं, जिसका अर्थ होता है 'नाचना'। इससे मालूम होता है कि नाटक के विकास में नाच का भी विशेष स्थान रहा होगा[६३]। प्रारम्भ में कदाचित् नाटक का स्वरूप नृत्यमय ही होगा व शरीर की विभिन्न हलचलों द्वारा भावों का प्रदर्शन किया जाता होगा। जयदेव का गीत-गोविन्द इसी प्रकार के प्रारम्भिक नाटक का नमूना है।

प्राचीन यज्ञों का नाटकीय स्वरूप—ब्राह्मणकाल के यज्ञों के स्वरूप को भी बहुत कुछ नाटकीय कह सकते हैं। ये यज्ञ मूकभावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर थे। ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि को अपने २ काम पृथक्रूप से करने पड़ते थे। यज्ञ-वेदी बनाना, यज्ञसामग्री आदि को व्यवस्थित रूप से सजाना आदि काम नाटक के अभिनय के समान ही रोचक बन जाते थे। कदाचित् यह भी संभव हो कि इन मूक अभिनयपूर्ण यज्ञों से सर्वप्रथम नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की गई हो[६४]।

नाटकों का सर्वप्रथम उल्लेख—अभिनय किये गये नाटकों का सर्वप्रथम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य में है,[६५] जहां कि कंसवध व बालीबन्ध की घटनाओं तथा विभिन्न पात्रों द्वारा उनके अभिनय किये जाने का उल्लेख है। जनश्रुति के अनुसार सङ्गीत का प्रारम्भ भी कृष्ण व गोपियों के प्रेमालाप से ही होता है। गीतगोविन्द, बङ्गाल की आधुनिक यात्राएँ आदि भी कृष्ण के ही जीवन से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वैष्णव सम्प्रदाय ने भी नाटक के विकास में अपना हाथ बटाया था[६६]। नाटक के इस पहलू पर आगे चलकर विचार किया जायगा। अब हमें मुख्य २ नाटककारों व उनकी कृतियों पर विचार करना चाहिये।

भास—संस्कृत नाटककारों में भास ही एक ऐसा है जो कालिदास की बराबरी का दावा कर सकता है[६७]। एक सिद्धहस्त नाटक-कार के रूप में उसका उल्लेख कितने ही प्राचीन ग्रन्थों तथा अन्य नाटक-कारों ने किया है[६८]। उसके

समय के बारे में बहुत मतभेद है। कोई २ विद्वान् उसे कालिदास के बाद का बताते हैं व कोई २ कालिदास के पहिले का[६९]। कोई उसे ई० पू० चौथी शताब्दि के लगभग ले जाते हैं व कोई ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दि तक। किन्तु उसका कालिदास के पहिले का होना अधिक युक्तिसंगत मालूम होता है।

भास के नाम से तेरह नाटक प्रख्यात हुए हैं। मैसूर के गणपतिशास्त्री ने सर्वप्रथम इन नाटकों को "त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़" में छपवाकर प्रकाशित किया। किन्तु बहुतसे विद्वान् इन नाटकों के भासकृत होने पर शङ्का भी करते हैं। ये नाटक इस प्रकार हैं—

(१) रामायण पर आश्रित—अभिषेक नाटक, प्रतिमा-नाटक।

(२) महाभारत पर आश्रित—दूतघटोत्कच, मध्यम-व्यायोग, कर्णभार, ऊरुभङ्ग, दूतवाक्य, पञ्चरात्र, बालचरित।

(३) कथा साहित्य पर आश्रित—स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक, चारुदत्त। इन नाटकों में स्वप्नवासवदत्ता का स्थान सब से ऊँचा है। इसमें कविने अपने सम्पूर्ण कौशल को बताने की चेष्टा की है[७०]। इसमें "भासो हासः"[७१] वाली कहावत चरितार्थ होते दिखाई देती है। इसने अपने नाटकों की वस्तु रामायण, महाभारत व प्राचीन कथासाहित्य से ली है।

कालिदास—यह संस्कृत कवियों व नाटक-कारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुका है। इसे जो 'संस्कृत कविता का विलास'[७२] कहा गया है, वह बिलकुल ठीक ही है। इसके तीन नाटक प्राप्य हैं—शकुन्तला, विक्रमोर्वशी व मालविकाग्निमित्र। शकुन्तला की वस्तु महाभारत के आदिपर्व्व से ली गई है। इसका नायक प्राचीनकाल का एक सुप्रसिद्ध राजा दुष्यन्त है व नायिका विश्वामित्र तथा मेनका की पुत्री शकुन्तला है। दुष्यन्त व शकुन्तला का पुत्र भरत भी अत्यन्त ही महत्त्वशाली राजा था। इस नाटक के सात अङ्क हैं और यह यथार्थ में नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक ही है; क्योंकि इसकी वस्तु इतिहास से ली गई है तथा इसमें पांच अङ्क से अधिक अङ्क हैं व उदात्त-भावों का समावेश है। इसमें कण्व के आश्रम में रहनेवाली शकुन्तला व भारतसम्राट दुष्यन्त की प्रेमकहानी का चित्रण किया गया है। नायक-नायिका का प्रेम में पड़ना व गान्धर्व प्रथा से विवाहित हो जाना, पश्चात् दुर्वासा के श्राप के परिणामस्वरूप

नायिका का नायक द्वारा भुलाया जाना आदि प्रसङ्गों का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है[७३]। हेमकूट पर्वत पर नायक-नायिका के पुनर्मिलन का चित्र भी बहुत ही प्रभावशाली है।

विक्रमोर्वशीय—यह पांच अङ्क का त्रोटक है। इसमें पुरूरवस् व उर्वशी के प्रेम की कहानी है[७४]। इन दोनों का उल्लेख ऋग्वेद, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी आता है। पुरूरवस् राक्षसों द्वारा सताई गई उर्वशी की रक्षा करता है व परिणामस्वरूप दोनों में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्वर्ग में उर्वशी से कुछ गलती हो जाने के कारण व श्राप के परिणामस्वरूप उसे मृत्युलोक में रहना पड़ता है। यह श्राप उसके लिये वरदान सिद्ध होता है, क्योंकि वह मृत्युलोक में अपने प्रियतम पुरूरवस् के साथ निःशङ्क-भाव से रहती है। एक बार जंगल में घूमते २ किसी निषिद्ध स्थान में प्रवेश करने से उर्वशी लता बन जाती है व पुरूरवस् पागल के समान अपनी प्रेयसी को ढूँढता इधर उधर घूमता है व अन्त में उस लता का आलिङ्गन करता है। परिणाम-स्वरूप उर्वशी पुनः जीवित हो जाती है। राजा को यह भी पता लगता है कि उसे आयुष् नाम का पुत्र भी हुआ है, जिसका पालनपोषण एक आश्रम में हुआ है। उर्वशी को स्वर्ग में जाना पड़ता है, किन्तु इन्द्र पुरूरवस् के विक्रम से प्रसन्न होकर उर्वशी को सदैव के लिये पुरूरवस् के साथ रहने की अनुमति देता है। इस प्रकार पुरूरवस् व उर्वशी दोनों ही सुख का जीवन व्यतीत करते हैं।

मालविकाग्निमित्र—इस की वस्तु इतिहाससे ली गई है। इस में समाज का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इस में विदिशा के शुङ्ग-वंशीय राजा अग्निमित्र (ई० पू० दूसरी शताब्दि के लगभग) व रानी की दासी मालविका के प्रेम की कहानी का वर्णन है। मालविका के सौन्दर्य्य से डर कर रानी उसे राजा की दृष्टि में पड़ने से रोकने की भरसक चेष्टा करती है, किन्तु राजा किसी प्रकार उसे देख ही लेता है व उससे प्रेम करने लगता है। रानी की चोरी से राजा मालविका से बातचीत करने के कितने ही प्रयत्न करता है। अन्त में यह ज्ञात होता है कि नायिका एक राजकुमारी है, डाकूओं के हाथों पड़ने से उस की ऐसी बुरी हालत हुई थी। अब राजा के उससे ब्याह करने में कोई बाधा नहीं रहती व दोनों सुखपूर्वक गृहस्थाश्रम का आनंद लूटते हैं।

मृच्छकटिक—यह दस अङ्कों का एक प्रकरण है। इस की प्रस्तावना में

राजा शूद्रक को इस का लेखक बताया गया है,[७५] जहां कि उस के गुणगान किये गये हैं। यह नाटक ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दि का होना चाहिये। कुछ विद्वान् इसे ईसा की ६ वीं शताब्दि का बताकर दण्डिन् को इस का लेखक मानते हैं, किन्तु यह संभव नहीं हो सकता। यह एक सामाजिक नाटक है, जिस में समाज का अच्छा चित्र खींचा गया है। घटनास्थल उज्जयिनी व उस का निकटस्थ प्रदेश है। इस का नायक एक ब्राह्मण व्यापारी चारुदत्त है, जो कि अपनी अभूतपूर्व उदारता के कारण निर्धन हो गया है। इस की नायिका वसन्तसेना नामी एक धनाढ्य वेश्या है, जो कि इस गरीब किन्तु उदारचरित्रवाले ब्राह्मण से प्रेम करती है[७६] व अन्त में उस से विवाह करलेती है। तीसरे अङ्क में चोरी का शास्त्रीय किन्तु हास्यरसपूर्ण वर्णन है[७७]। चौथे में वसन्तसेना के महल का विस्तृत वर्णन है।

श्रीहर्षवर्धन (ई० स० ६०६–६४७)—यह थानेश्वर व कन्नौज का राजा था व कवियों का आश्रयदाता था व साथ ही स्वतः भी एक अच्छा नाटककार था। इस के लिखे हुए तीन नाटक हैं; जैसे रत्नावली, नागानन्द व प्रियदर्शिका। रत्नावली में वत्सराज उदयन व उस की रानी वासवदत्ता की प्रेमकहानी का अच्छा वर्णन है। अन्त में मालूम होता है कि वह सागरिका सिंहल द्वीप की राजकुमारी रत्नावली है। इस प्रकार दोनों का विवाह हो जाता है। नागानन्द का नायक बौद्ध है व उस का समस्त वातावरण पूर्णतया बौद्ध है। प्रियदर्शिका में वत्सराज व आरण्यिका के रूप में वासवदत्ता की चचेरी बहिन प्रियदर्शिका की प्रेम-कहानी है।

भवभूति—इस के नाटकों की प्रस्तावना से मालूम होता है कि यह यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का एक ब्राह्मण था व विदर्भ का रहने वाला था[७८]। इसे कदाचित् उज्जयिनी का भी ज्ञान था व कुछ समय वहां रहा भी होगा। इस का आश्रयदाता कान्यकुब्ज का राजा यशोवर्मन् था, जो कि ईसा की आठवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में हुआ है। इस के तीन नाटक प्राप्त हैं; जैसे मालती-माधव, महावीरचरित व उत्तररामचरित।

मालतीमाधव—यह भवभूति का सबसे अधिक विख्यात व लोकप्रिय नाटक है। यह दस अङ्क का प्रकरण है। घटनास्थान उज्जयिनी है। इस में राज-मन्त्री की लडकी मालती व किसी अन्य देश के मन्त्री के पुत्र माधव की,

जो कि उज्जयिनी में अध्ययन करने के लिये आया था, प्रेम-कहानी का वर्णन है। इस के साथ माधव के मित्र मकरन्द व राजा के किसी मित्र की पुत्री मदयन्तिका के प्रेम का वर्णन भी समाविष्ट किया गया है। मालतीमाधव एक दूसरे से मिलते हैं व प्रेमपाश में बँध जाते हैं[७९]। किन्तु राजा ने निश्चय कर लिया है कि मालती का ब्याह अपने मित्र से ही होगा, जिसे मालती नहीं चाहती। विवाह के समय मकरन्द मालती का वेष धारण कर[८०] विवाहादि संस्कार में सम्मिलित होकर मालती को बचा लेता है। दो बौद्ध भिक्षुनिएँ भी नायक व नायिका को सहायता पहुँचाती है व परिणामस्वरूप नायकनायिका का विवाह हो जाता है।

महावीरचरित—इस की वस्तु रामायण से ली गई है। इस में सात अङ्क हैं व राम का जीवन चरित्र वर्णित है, जिस का अन्त राम के राज्याभिषेक से होता है।

उत्तररामचरित—इस में राम व सीता के प्रेम का सुन्दर चित्र खींचा गया है। राज्याभिषेक के पश्चात् जब कि राजा आदि सब लोग अपने २ घर लौटगये हैं, राम को अपने गुप्तचर से पता लगता है कि प्रजा में सीता के रावण के घर रहने के कारण असन्तोष है। एक सच्चे राजा के समान वे सीता को त्याग देते हैं, जो कि गंगा की शरण में जाती है। उस के दो पुत्र लव व कुश वाल्मीकि के आश्रम में पाले व पोसे जाते हैं। सीता के बिछोह में राम की स्थिति बहुत ही करुणाजनक हो जाती है,[८१] किन्तु वे अपने कर्तव्यों को कभी भी नहीं भूलते। उन्हें शूद्र तपस्वी को मारने के लिये दण्डक वन की ओर शीघ्र रवाना होना पड़ता है। वहां पुनः सीता की स्मृति आने पर उन्हें फूट २ कर रोना पड़ता है[८२]। यहां नाटककार ने करुण रस का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। पश्चात् राम अश्वमेध-यज्ञ करते हैं व सीता की सुवर्ण-प्रतिमूर्ति बनवाते हैं। उधर घोड़े की रक्षा के लिये लक्ष्मण का पुत्र भेजा जाता है, जिस की मुठभेड़ वाल्मीकि के आश्रम के पास लव व कुश से होती है व परिणामतः दोनों में घमसान मचता है। वाल्मीकि के आश्रम में कौशल्या, जनक आदि सब ही आ पहुँचते हैं। वहां राम भी पहुँचते हैं। यहीं पर सीता व अपने पुत्र लव-कुश से उन का मिलन होता है।

भट्टनारायण—यह बङ्गाल का रहने वाला था। इस का प्रादुर्भाव ईसा की नवीं शताब्दि का मध्य-भाग है। इस ने वेणीसंहार नामक एक छः अङ्की नाटक लिखा है। इस नाटक की वस्तु महाभारत से ली गई है। इस में दुर्योधन द्वारा द्रौपदी का राज-सभा में घसीटा जाना तथा शत्रु के रक्त से द्रौपदी के बालों को सँवारने के भीमकृत प्रण आदि का वर्णन है। कला की दृष्टि से इस में कोई सौन्दर्य नहीं है। यह केवल वर्णनात्मक है, जिस में बड़े २ संवादों का समावेश है, जो कि बिलकुल ही रोचक नहीं हैं।

अन्य नाटककार—इन के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के और भी नाटककार हैं, जिन के नाटक इतने लोकप्रिय व प्रसिद्ध नहीं हैं। राजशेखर (ई० स० ९०० के लगभग) ने प्राकृत में चार नाटक लिखे हैं, जैसे विद्धशालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण व बालभारत। क्षेमीश्वर (ईसा की १० वीं शताब्दि के लगभग) कान्यकुब्ज का रहने वाला था व इसे राजा महीपाल का आश्रय प्राप्त था। इस ने चण्डकौशिक नामका एक नाटक लिखा है। दामोदरमिश्र (ईसा की ११ वीं शताब्दि) धारा के भोज की राजसभा का कवि था। इस ने एक नाटक लिखा है, जिस का नाम हनुमन्नाटक या महानाटक है। कृष्णमिश्र (ईसा की ११ वीं शताब्दि का अन्त) ने प्रबोधचन्द्रोदय नामी एक छःअङ्की नाटक लिखा है[८३]। इस की विशेषता यह है कि इस के वस्तु व पात्र दार्शनिक हैं व इस का उद्देश वैष्णव सिद्धान्तों से परिपुष्ट ब्राह्मण-धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताना है।

अलङ्कार-शास्त्र

इस शास्त्र का प्रारम्भ—इस शास्त्र का प्रारम्भ भी वेदों से होता है, क्योंकि ऋग्वेदादि ग्रन्थों में काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं, जिनमें उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का उपयोग स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। उषादि के सूक्तों[८४] के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि वैदिककाल में सुसंस्कृत व परिष्कृत भाषा द्वारा उत्तम २ भावों को समझाना भलीभाँति ज्ञात था। इसी से अलङ्कारशास्त्र का श्रीगणेश होता है। भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र, रुद्रदामन् के शिलालेखादि से अलङ्कारों के अस्तित्व का पूर्णतया पता चलता है। स्वतन्त्र प्रमाणों से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि पाणिनि व पतञ्जलि के समय में काव्यों का प्रारम्भ हो गया था व गुप्तकाल में काव्य अपनी चरम-

सीमा तक पहुँच गया था। इससे स्पष्ट है कि उस समय अलङ्कार-शास्त्र भी विकसित हो चुका था।

भारतीयनाट्यशास्त्र में अलङ्कारादिका उल्लेख—अलङ्कारों का सर्वप्रथम शास्त्रीय ढङ्गपर उल्लेख भारतीय नाट्यशास्त्र (ईसा की द्वितीय शताब्दि) के द्वितीय अध्याय में आता है[८५]। उसमें चार अलङ्कार, दस गुण, दस दोष व काव्य के छब्बीस लक्षणों का वर्णन है। उपमा, रूपक, दीपक, यमक आदि अलङ्कार भरत मुनि को ज्ञात थे। उपमेय या उपमान की एकता या अनेकता के अनुसार उपमा के चार भेद ज्ञात थे। एक दूसरे दृष्टिकोण से इसके पांच भेद माने गये थे; जैसे प्रंशसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी-उपमा व किंचित्-सदृशी उपमा। रूपक व दीपक के कोई भेदों का उल्लेख नहीं है। यमक के दस भेद बताये गये हैं, किन्तु शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार के भेद का कोई पता नहीं चलता। दोष इस प्रकार थे—गूढ़ार्थ (पर्यायशब्दाभिहितम्), अर्थान्तर (अवर्ण्यवर्णनम्), अर्थहीन (असम्बद्ध) या अशेषार्थ, भिन्नार्थ, एकार्थ, न्यायादपेतम्, विषम, शब्दहीन, विसन्धि। गुण ये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य्य, ओजस्, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार, कान्ति। भरत मुनि के मतानुसार नाटक में रस-व्यक्ति के लिये लक्षण, गुण, दोष आदि की अत्यन्त आवश्यकता है। यहां पर रस का काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं माना गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भरत मुनि के समय में काव्य के भिन्न २ अङ्गों का शास्त्रीय ढङ्ग पर विकास प्रारम्भ हो चुका था। बाद के आचार्यों ने इन सब अङ्गों को विकसित कर काव्य से सम्बन्ध रखने वाली भिन्न २ विचार-सरणियों को प्रवाहित किया, जिनके कारण अलङ्कार-शास्त्र ने अपना सम्पूर्ण शरीर धारण कर लिया।

काव्य की चार मुख्य विचारसरणियें—(१) अलङ्कार-विचार०—अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य को शास्त्रीय ढङ्ग पर समझने के प्रयत्न किये थे व उसके मुख्य २ अङ्गों को भी भली भाँति समझा था। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न २ आचार्यों के भिन्न २ मत थे। ये सब सिद्धान्त साधारणतया चार विचारसरणियों में विभाजित किये जा सकते हैं; जैसे अलङ्कार, रीति, रस व ध्वनि[८६]। अलङ्कार विचारसरणी का मुख्य मन्तव्य यह है कि अलङ्कार ही काव्य में सब कुछ है[८७]। उसके बिना काव्य फीका पड़ जायगा।

यों तो अलङ्कारों का ज्ञान प्राचीनकाल से चला आता है, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, किन्तु इसे व्यवस्थित व शास्त्रीय स्वरूप देकर काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विचार-सरणी के आधार-स्तम्भ बनाने का सर्वप्रथम श्रेय तो भामह[८८] को है, जिसने अपने अलङ्कार-शास्त्र में इस विचार-सरणी को अपनाते हुए इस बात पर विशेष ज़ोर दिया कि काव्य को समझने के लिये अलङ्कारों का अध्ययन ही मुख्य साधन होना चाहिये। उसके मतानुसार काव्य का शरीर शब्द व अर्थ का बना है तथा अलङ्कार जो कि इस शरीर को आभूषित करते हैं, काव्य के आवश्यकीय चिह्न हैं[८९]। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि काव्य वह है, जिसमें शब्दसमन्वय हो तथा जिसका अर्थ भी होता हो व जिसे अलङ्कार द्वारा सुन्दर बनाया गया हो।

अलङ्कारों का विभाजन—आलङ्कारिक विकास की भिन्न २ अवस्थाओं के अनुसार भामहने अलङ्कारों को विभिन्न समुदायों में विभाजित किया है,[९०] जैसे—

(१) अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक व उपमा।

(२) आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति व अतिशयोक्ति।

(३) यथासांख्य, उत्प्रेक्षा व स्वभावोक्ति।

(४) अन्य चौबीस अलङ्कार।

इस प्रकार भामह, अलङ्कार-विचारसरणी का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता था, यद्यपि मेधाविन्[९१] ने भी, जो कि इसके पहिले हुआ है, इसी विचार-सरणी को अपनाया था। भामह ने काव्य की परिभाषा लिखने का प्रयत्न नहीं किया और न 'वक्रोक्ति व अलङ्कार' के सिद्धान्त को स्पष्ट समझाने का ही प्रयत्न किया है। उसने "काव्यप्रयोजन" "काव्यहेतु" "काव्य-योनयः" आदि का विवेचन किया है[९२]। उसने काव्य को "शब्दार्थौसहितौ काव्यम्"[९३] कहा है। ये शब्दार्थ निर्दोष व सालङ्कार होने चाहिये। उसने काव्य के रूपभेद व भाषाभेद क्रमशः इस प्रकार किये हैं—(१) गद्य, पद्य, (२) संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश। काव्य के अन्य भेद प्रभेद भी दर्शाये गये हैं[९४]। उद्भट,[९५] रुद्रट[९६] आदि अलङ्कार-शास्त्र के आचार्य इसी विचार-सरणी के अनुयायी थे।

रीति-विचार०—इस विचारसरणी के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है, जैसा कि इसके मुख्य पुरस्कर्ता वामन ने कहा है—"रीतिरात्मा काव्यस्य"[९७]। वामन के पहिले दण्डी[९८] ने भी काव्य में रीति के महत्त्व को स्वीकार किया है। उस ने रीति के लिये 'मार्ग' शब्द प्रयुक्त किया है[९९]। इस विचार-सरणी का उल्लेख बाणभट्ट के ग्रन्थों में भी मिलता है, जहां हमें पता लगता है कि गौड़ के लोग अक्षराडम्बर के अत्यन्त ही प्रेमी थे[१००]। "गौड़मार्ग" की निन्दा करते हुए दण्डी ने भी इस बात का उल्लेख किया है। उस ने अपने काव्यादर्श में अलङ्कारों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है, जिससे मालूम होता है कि उस की झुकावट अलङ्कार-विचारसरणी की ओर भी थी। उस के मतानुसार 'मार्ग' के लिये न केवल अलङ्कार किन्तु गुण भी परम आवश्यकीय हैं[१०१]। गुणयुक्त मार्ग के रसास्वादन में कवित्व का सौन्दर्य है। उसने 'वैदर्भ मार्ग'[१०२] का भी उल्लेख किया है, जिस के प्राणस्वरूप दस गुण इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओजस्, कान्ति व समाधि। उसने गुण व अलङ्कार में कोई विशेष भेद नहीं माना, जैसा कि वामन व उस के बाद के आलंकारिकों ने किया है, किन्तु उस ने गुणों को भी अलङ्कार मान लिया है।

रीति का व्यवस्थित स्वरूप—दण्डी के ग्रन्थों में जो कुछ अस्पष्ट व अव्यवस्थित है, वह वामन के समय में स्पष्ट व व्यवस्थित रूप धारण करता है। अभिनवगुप्त व आनंदवर्धन के पूर्व वामन पहिला ही आलङ्कारिक है, जिस ने अलङ्कार-शास्त्र को सर्वप्रथम व्यवस्थित स्वरूप दिया। उस के मतानुसार शब्द व अर्थ काव्य के शरीर हैं व रीति आत्मा है, जिसे 'विशिष्ट-पदरचना' कहा गया है[१०३]। पद-रचना का वैशिष्ट्य भिन्न २ गुणों पर निर्भर रहता है। रीति तीन प्रकार की रहती है—वैदर्भी, गौड़ी व पाञ्चाली। वैदर्भी में दसों गुण रहते हैं, गौड़ी में ओजस् व कान्ति का व पाञ्चाली में माधुर्य्य व सौकुमार्य्य का बाहुल्य रहता है। इन रीतियों के नाम भिन्न २ देशों के नामों पर पड़े हैं, क्योंकि उन का प्रचार उन के नाम से सम्बन्धित देशों में विशेषरूप से रहा होगा।

गुण—रीति व गुण का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह तो अब स्पष्ट हो गया। इस प्रकार काव्य में गुण अत्यन्त ही आवश्यकीय सिद्ध हो जाते हैं।

इन्हें 'काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म' कहा गया है[१०४]। ये गुण दस हैं, किन्तु शब्द व अर्थ के भेद से बीस हो जाते हैं। मम्मट आदि आचार्य्य इन दस गुणों को अनावश्यकीय समझ केवल तीन को ही स्वीकार करते हैं; जैसे ओजस्, प्रसाद व माधुर्य्य[१०५]। गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा (रीति) से है व अलङ्कारों का सम्बन्ध उस के शरीर (शब्द व अर्थ) से है।

अन्य रीतियें—रुद्रट ने वामन की रीतियों में लाटी को भी जोड़ दिया है[१०६]। अग्निपुराण में रीति के चार प्रकार माने गये हैं,[१०७] किन्तु इस मन्तव्य को भी स्वीकार किया गया है कि केवल वाक्य के छोटे या बड़े रहने के कारण ही उन में भेद नहीं रहता, बल्कि माधुर्य्य व उपचार के रहने न रहने से भी भेद होता है। भोज ने मागधी व अवन्तिका नाम की दो रीतियें और जोड़ दीं हैं[१०८]। इस प्रकार अलंकार-शास्त्र के विकास में रीति-विचारसरणी का भी काफी हाथ है।

रस-विचार०—जब कि अलङ्कार व रीति-विचारसरणियें विकसित हो रहीं थीं, उस समय कुछ आलंकारिक भारतीय नाट्यशास्त्र में उल्लिखित रस पर अपने विचार व्यवस्थित कर रहे थे। किन्तु यह रस नाटक से सम्बन्धित था न कि काव्य से। भामह ने रस का उल्लेख रसवत् अलङ्कार में किया है[१०९] व कहा है, जिस में शृङ्गारादि रस स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर हों, वह रसवत् अलङ्कार है। दण्डी व भामह ने विभाव, अनुभाव आदि रस से सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख भी उचित नहीं समझा। भामह के मतानुसार काव्य के लिये रस की आवश्यकता नहीं है, भले ही वक्रोक्ति अलङ्कार में वह कभी २ पाया जाय[११०]। इसी प्रकार दण्डी भी रसवदादि अलंकारों में रस का समावेश करता है[१११]। रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् आदि अलङ्कारों के उल्लेख से पता लगता है कि उसे आठ रसों का ज्ञान अवश्य था, किन्तु वह उन रसों को अलङ्कार शास्त्र से सम्बन्धित न कर सका। इसी प्रकार वामन, उद्भट आदि को रस का ज्ञान तो अवश्य था,[११२] किन्तु वे भी उसे काव्य के साथ सम्बन्धित न कर सके। यह काम सर्वप्रथम रुद्रट ने किया[११३]।

रससम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त—भारतीय नाट्यशास्त्र के रस-निष्पत्ति[११४] से सम्बन्धित सूत्र को समझाते हुए प्राचीन आचार्योंने रस के सम्बन्ध में भिन्न २ सिद्धान्तों को विकसित किया है। लोल्लटने विभाव को

रस का कारण माना है व रस इस प्रकार अनुकार्य या उत्पाद्य बन जाता है[११५]। इसलिये भरतमुनि की 'निष्पत्ति' को 'उत्पत्ति' या 'पुष्टि' समझना चाहिये। रामादि के पात्र का अभिनय करने वाले नट के हृदय में ही रस की उत्पत्ति होती है, जो कि अपने हाव, भाव, अभिनय आदि से राम का अनुकरण करता है। इसे 'उत्पत्ति-वाद' कह कर मीमांसा से सम्बन्धित किया जाता है[११६]।

शङ्कुक, भट्टनायकादि के सिद्धान्त—शङ्कुक के विचारानुसार रस कार्य्य के रूप में उत्पन्न नहीं किया जाता, किन्तु दर्शक द्वारा इसकी अनुमिति की जाती है[११७]। विभाव आदि के द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि नायक व नट का तादात्म्य ही है। इस प्रकार भरतमुनि की निष्पत्ति को अनुमिति कहना चाहिये व विभाव व रस का वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि 'अनुमापक' या 'गमक' का, 'अनुमाप्य' या 'गम्य' से है। इस सिद्धान्त को न्याय से सम्बन्धित किया जाता है[११८]। भट्टनायक 'उत्पत्तिवाद' व 'अनुमिति-वाद' दोनों की समालोचना कर एक नया सिद्धान्त उपस्थित करता है, जिसे 'भोगवाद' कहते हैं[११९]। इसके अनुसार रस कार्य्य के रूप में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि विभाव का यथार्थ अस्तित्त्व नहीं है। इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि सच्चे नायक का अस्तित्त्व न रहने से उसके हृदय में स्थित रस का भी अस्तित्त्व नहीं रह सकता। जिसका अस्तित्त्व ही नहीं, उसका अनुमान किस प्रकार किया जा सकता है? यह शक्तिरूप से अस्तित्त्व में रहनेवाली किसी वस्तु की अभिव्यक्ति का उदाहरण भी नहीं हो सकता। रस तो स्थायीभाव में भरा हुआ है। अभिधा व भावकत्त्व शक्तियों द्वारा काव्य व नाटक में रस का अनुभव होता है, जिससे भोग नामी आनंद-दायिनी कार्यप्रणाली के द्वारा आनंद प्राप्त किया जा सकता है। इस वाद का सम्बन्ध सांख्य से जोड़ा जाता है[१२०]।

ध्वनिकार का 'अभिव्यक्ति-वाद'—ध्वनिकार ने 'अभिव्यक्तिवाद' को उपस्थित किया है,[१२१] जिसका तात्पर्य्य यह है कि रस उत्पन्न नहीं होता और न उसका अनुमान ही किया जा सकता है। वह शक्तिरूप में तो पहिले ही से वर्तमान है, शब्दादि की शक्तियों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। स्थायीभाव व विभावों के एकीकरण से व्यङ्ग-व्यञ्जक सम्बन्ध द्वारा रस व्यञ्जित

होता है। इसलिये भरत मुनि की निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति होना चाहिये। इसे वेदान्त से सम्बन्धित किया जाता है[१२२]। अभिनवगुप्त ने काव्य में रस के महत्त्व को समझ ध्वनि से उसका सामञ्जस्य बैठाया[१२३] व परिणाम-स्वरूप 'ध्वनि वाद' के सशक्त रहते हुए भी रस को काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त होगया[१२४]। उसने यह स्पष्टतया बता दिया कि ध्वनिवादियों की व्यक्ति या व्यञ्जना को रस से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। उसने रस को परिभाषित किया व अलङ्कारशास्त्र में उसके स्थान को स्पष्ट किया। इस प्रकार रस सम्बन्धी सिद्धान्तों के अधूरेपन को दूर किया गया। ध्वनिकार व आनंदवर्धन से एक कदम आगे बढ़कर उसने रस को काव्य का तत्त्वांश या उसकी आधार-शिला मान लिया, जिसका प्रभाव भावी आलंकारिकों पर भी पड़े बिना नहीं रहा। इसलिये विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" वचन इतने सर्वमान्य होगये। इस प्रकार यह मालूम हो जाता है कि "रस-विचारसरणी" ने अलङ्कार-शास्त्र को किस प्रकार प्रभावित किया था। मम्मट आदि को काव्य की दृष्टि से इसके महत्त्व को स्वीकारना ही पड़ा।

ध्वनि-विचार०—यों तो इस विचारसरणी का प्रारम्भ ध्वनिकार से होता है, किन्तु यह संभव है कि कदाचित् ध्वनि का सिद्धान्त प्राचीन सिद्धान्तों के सहारे ही विकसित हुआ हो। ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में इस बात का उल्लेख है कि ध्वनि का सिद्धान्त पहिले से ही अस्तित्व में था[१२५]। इस मन्तव्य को इस बात से भी पुष्टि मिलती है कि वैयाकरण व दार्शनिकों के स्फोटादि[१२६] अस्पष्ट सिद्धान्तों ने ध्वनि के सिद्धान्त को प्रेरणा प्रदान की है। इस में तो कोई भी शङ्का नहीं कि जिस समय ध्वनि के सिद्धान्त को विकसित किया गया, उस समय आलङ्कारिकों के सामने स्फोटादि के सिद्धान्त वर्तमान थे।

शब्दों की शक्तियें—आलङ्कारिकों ने पहिले शब्दों की दो प्रकार की शक्तियें मानी थीं, जैसे अभिधा व लक्षणा[१२७]। अभिधा से वाच्यार्थ व लक्षणा से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। वाच्यार्थ का तात्पर्य्य शाब्दिक अर्थ से है व लक्ष्यार्थ का तात्पर्य्य शाब्दिक अर्थ को छोड़ और किसी अर्थ से रहता है, जो कि शब्दों की लक्षणा शक्ति द्वारा सूचित किया जाता है; जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर घोष) याने 'गङ्गातटवर्ती घोष'। ध्वनि-वादियों ने शब्दों की एक तीसरी शक्ति पर जोर दिया है, जिसे व्यञ्जना कहा गया है[१२८]। इस

का तात्पर्य्य यह है कि शब्दों की वह शक्ति जहां अभिधा व लक्षणा निरर्थक हो जाती हैं व एक तीसरे ही अर्थ का बोध होता है। इस गूढ़तम अर्थ को, जो कि व्यञ्जना-शक्ति से प्राप्त होता है, व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है। उत्कृष्टकाव्य में, जिसे कि 'ध्वनि-काव्य'[१२९] कहते हैं, इस व्यङ्ग्यार्थ का रहना अत्यन्त ही आवश्यकीय है, जो कि व्यञ्जना-वृत्ति द्वारा जाना जा सकता है। इसी व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहा गया है। ध्वनिवादियों के विचारानुसार यही काव्य की आत्मा है[१३०]। व्यङ्ग्यार्थ को ध्यान में रखते हुए काव्य के तीन भेद किये गये हैं; जैसे ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य व चित्र[१३१]। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अन्यों की अपेक्षा ध्वनि-विचारसरणी के अनुयायियों ने अलङ्कार-शास्त्र को अधिक प्रभावित किया है। आनंदवर्धन के पश्चात् लगभग सब आलङ्कारिकों ने इस के सिद्धान्तों को मान लिया है। इस के सामने अन्य विचारसरणियों द्वारा प्रभुत्त्व प्राप्त करने के सब प्रयत्न विफल रहे। ध्वन्यालोक के समान अन्य किसी ग्रन्थ ने अलंकार-शास्त्र के विकास को प्रभावित नहीं किया है।

विभिन्न विचारसरणियों का समन्वय—इन चार विचारसरणियों द्वारा अलङ्कार-शास्त्र का विकास होता रहा, किन्तु एक समय ऐसा आया, जब कि इन विभिन्न वादों को एक प्रवाह के रूप में बहाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह कार्य मम्मट द्वारा सम्पादित किया गया। उसने अपने काव्यप्रकाश[१३२] में इन विभिन्न विचार-सरणियों के सिद्धान्तों का उत्तम सामञ्जस्य उपस्थित किया है। इस की आलंकारिक-व्यवस्था में अलङ्कार, गुण, वृत्ति, रीति, रस, ध्वनि आदि सब को यथायोग्य स्थान दिया गया है, किन्तु ध्वनिवाद का प्रभुत्व तो फिर भी बना ही रहा[१३३]। इस प्रकार मम्मट ने इन सब सिद्धान्तों को मिलाकर अलङ्कार-शास्त्र में एक नया वाद उपस्थित किया, जिस को भावी आलङ्कारिकों ने पूर्णतया अपना लिया[१३४]। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलङ्कार-शास्त्र के विकास में मम्मट का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है।

नाट्य-शास्त्र

नाट्य रूपकादि की परिभाषा—संस्कृत के नाट्य-शास्त्र में नाटक के लिये रूपक शब्द प्रयुक्त किया गया है व नाटक भी रूपक के दस भेदों में से एक है। दशरूपक ग्रन्थ के रचयिता धनञ्जय नाट्यरूपकादि को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समावेशाद्दशधैव रसाश्रयम्"[१३५] ॥

किसी अवस्था की अनुकृति करना नाट्य कहाता है। इस के देखे जाने के कारण इसे 'रूप' कहते हैं। इस में 'रूप' का समावेश होने से इसे 'रूपक' कहते हैं। इस का आश्रय 'रस' है व इस के दस प्रकार हैं।

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि किसी अवस्था विशेष की नकल को नाट्य कहते हैं, जिस में रस भी अन्तर्हित है। इसे रूप भी कहते हैं, क्योंकि इसे देखा भी जा सकता है। जब इस में भिन्न २ पात्रों का समावेश हो जाता है, तब इसे रूपक कहा जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नाट्य रूप व रूपक एक ही अर्थ के द्योतक हैं। रूपक के दो भेद हैं—रूपक व उपरूपक। रूपक दस हैं व उपरूपक अठारह[१३६]। रूपक के दस भेद इस प्रकार हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क व इहामृग। इन में नाटक व प्रकरण के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि वे साधारणतया एक ही अङ्क के रहते हैं। नाटक की वस्तु ऐतिहासिक रहती है तथा नायक उदात्त गुणोंवाला कोई पुरुष रहता है। प्रकरण की वस्तु काल्पनिक रहती है व नायक भी साधारण व्यक्ति रहता है।

रूपक के अङ्ग—रूपक के तीन मुख्य अङ्ग रहते हैं; जैसे वस्तु, नेता व रस। वस्तु दो प्रकार की रहती है—आधिकारिक व प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु उसे कहते हैं, जिस का सम्बन्ध नेता से रहता है। नेता इष्ट-फल की सिद्धि के लिये जो कुछ करता है, उस का समावेश इसी में होता है। प्रासङ्गिक वस्तु का अस्तित्त्व आधिकारिक को सहायता देने के लिये है। इस में उन सब छोटी मोटी घटनाओं का समावेश हो जाता है, जो आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक बनती हैं। इस के दो भेद हैं—पताका व प्रकरी।

नाटकीय वस्तु के अन्य भेद—एक दूसरे दृष्टिकोणसे वस्तु के पुनः तीन भेद माने गये हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य व मिश्र। वस्तु के विकास को दृष्टि में रखते हुए उस के दो भेद और किये गये हैं—सूच्य व दृश्य-श्रव्य। सूच्य को विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार आदि के द्वारा

बताया जाता है। इसी वस्तु के तीन विभाग और किये गये हैं; जैसे सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य व अश्राव्य। सर्वश्राव्य के लिये "प्रकाशं," नियत श्राव्य के लिये "जनान्तिक" या "अपवारित" व अश्राव्य के लिये "स्वगत" शब्दों का उपयोग किया जाता है।

अर्थप्रकृति—नाटकीय वस्तु के सम्यक् विकास के लिये जिन कारणों की आवश्यकता होती उन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। ये पांच हैं; जैसे बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी व कार्य। वस्तु के विकास की पांच अवस्थाएँ भी होती हैं; जैसे आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति व फलागम[१३७]। इन पांच अर्थ-प्रकृति व पांच अवस्थाओं से पांच सन्धिएँ बनतीं हैं, जो कि इस प्रकार हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श व निर्वहण। इन सन्धियों के भी चौंसठ अङ्ग हैं। इस प्रकार नाटकीय वस्तु का विकास होता है, जिस का उद्देश धर्म, अर्थ, काम आदि त्रिवर्ग की प्राप्ति रहता है।

नेता, नायिका आदि—नाटक के नेता के लिये आवश्यकीय है कि वह विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर व युवा हो। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, मान आदि से युक्त रहना चाहिये तथा शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु व धार्मिक बनना चाहिये। नेता के चार भेद होते हैं; जैसे ललित, शान्त, उदात्त व उद्धत। पुनः ये नेता निम्नाङ्कित प्रकारों में से किसी एक के अन्तर्गत आते हैं—

(१) दक्षिण—बहुतसी नायिकाओं से प्रेम करने वाला, किन्तु ज्येष्ठा से विशेषरूप से प्रेम करनेवाला।
(२) शठ—स्वकीया नायिका के भी विपरीत जानेवाला।
(३) धृष्ट—अन्य नायिका से स्पष्ट रूपसे प्रेम करनेवाला।
(४) अनुकूल—एकपत्नीव्रती।

नायक के सहायक पात्र भी रहते हैं; जैसे पीठमर्द, विट, विदूषक आदि। नायक का विरोध करने वाला एक प्रतिनायक भी रहता है, जो कि लालची, उद्धत, उग्र, मूर्ख, अपराधी व व्यसनी रहता है। नायिका के तीन भेद हैं:—

(१) स्वीया—नायक की पत्नी
(२) अन्या—किसी दूसरे से सम्बन्धित
(३) साधारण-स्त्री—गणिका इत्यादि।

इन नायिकाओं की आठ अवस्थाएँ रहती हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया व अभिसारिका।

नाटक की वृत्तिएँ—नाटक में चार वृत्तिएँ रहती हैं; जैसे कैशिकी, सात्वती, आरभटी व भारती, जिन का विवरण इस प्रकार है—

कैशिकी—गायन, नृत्य व अन्य हाव, भाव, खेल आदि से सम्बन्धित है जिन से शृङ्गार की पुष्टि होती है। इस के चार अङ्ग हैं—नर्म, नर्मस्फंज, नर्मस्फोट व नर्मगर्भ।

सात्वती—दृढ़ता, साहस, धैर्य, उदारता, दया इत्यादि से सम्बन्धित है। शृङ्गार बहुत कम रहता है। इस के भी चार अङ्ग हैं—संलाप, उत्थापक, सांघात्य, व परिवर्तक।

आरभटी—आश्चर्ययुक्त कृत्य, जादू के खेल, युद्ध, क्रोधयुक्त झगड़े आदि से सम्बन्धित है। इस के चार अङ्ग हैं—संक्षिप्ति, संफेट, वस्तूत्थापन या वस्तूत्थान व अवपात।

भारती—यह शब्दों के परस्पर सम्बन्ध पर निर्भर रहती है व इस का सम्बन्ध आमुख से रहता है।

शृङ्गार-रस में कैशिकी, वीर-रस में सात्वती, रौद्र व बीभत्स में आरभटी प्रयुक्त की जाती है, किन्तु भारती का प्रयोग तो सर्वत्र ही होता है।

विभिन्न भाषाओं का प्रयोग—भिन्न २ पात्रों के लिये भिन्न २ भाषाओं का प्रयोग आवश्यकीय था[१३८]। अनीच व कृतात्म पात्र के लिये संस्कृत का प्रयोग निर्धारित है। कभी २ महादेवी, लिङ्गिनी आदि भी इस का प्रयोग कर सकती हैं। प्रायः स्त्रियों के लिये प्राकृत है। अधमों के लिये शूरसेनी है। पिशाच, मागध आदि अत्यन्त नीच मनुष्यों के लिये अपने २ देश की भाषा विहित है। पात्रों के परस्पर सम्बोधन करने के सम्बन्ध में भी बहुतसे नियम बनाये गये थे।

रस—किसी साहित्यिक वर्णन के चमत्कार या सौन्दर्य्य से हृदय को जो एक प्रकार का अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, उसे साहित्यिक भाषा में रस कहते हैं[१३९]। विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव, व्यभिचारीभाव आदि द्वारा इसका आस्वादन किया जाता है। विभाव स्थायीभाव की पुष्टि करता है व दो

प्रकार का रहता है, जैसे आलम्बन जो रस का मुख्य आधार रहता है व उद्दीपन जिससे रस के विकास में उत्तेजना मिलती है। नेत्र मुख आदि बाह्य इन्द्रिय द्वारा आन्तरिक भावों का जो प्रदर्शन होता है, उसे अनुभाव कहते हैं। किसी स्थायीभाव के कारण शरीर व मन पर जो प्रभाव होता है, उसके चिह्नों को सात्विक व व्यभिचारीभाव कहते हैं। स्थायीभाव नाटक में प्रधान रूप से रहता है व अन्य भावों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। इन विभिन्न भावों की सहायता से जो रस उत्पन्न होता है उसके आठ प्रकार हैं; जैसे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स व अद्भुत[१४०]। कोई २ शान्त व वात्सल्य रसों का भी अस्तित्त्व मानते हैं। इन आठ रसों के स्थायी-भाव क्रमशः इस प्रकार हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा व विस्मय।

इस प्रकार हमें मालूम होगया कि प्राचीन भारत में नाटक के भिन्न २ अङ्गों को व्यवस्थित रूप से शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किया गया था। यों तो भारतीय नाट्यशास्त्र इस प्रकार का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नटसूत्रों का जो उल्लेख किया है,[१४१] उस से स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के पूर्व भी प्राचीन आचार्यों ने इस दिशा में शास्त्रीय ढङ्ग पर प्रयत्न किया था।

चम्पू

चम्पू-काव्य पर ऐतिहासिक दृष्टि—गद्यपद्यमय जो काव्य रहता है, उसे चम्पू कहते हैं[१४२]। इस काव्य का ऐसा नाम क्यों रखा गया, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यों तो एक साथ गद्य व पद्य में लिखने की परिपाटी बहुत प्राचीन है, किन्तु साहित्यिक चम्पू की प्रारम्भिक अवस्था जातक-माला व हरिषेण के लेख में देखी जाती है। किन्तु काव्य-चम्पू तो बहुत बाद के हैं। इनमें प्राचीनतम दमयन्तीकथा या नल-चम्पू है। इसका लेखक त्रिविक्रमभट्ट है, जिसने ई० स० ९१५ में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र 'तृतीय' का नवसारीस्थित लेख लिखा है। इसे मदालसाचम्पू का लेखक भी कहा जाता है। इसी शताब्दि के सोमदेव नामी एक दिगम्बर जैन ने यशस्तिलक ग्रन्थ लिखा, जिसमें यौधेयदेश के एक राजा की कथा द्वारा लेखक ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये जैन सिद्धान्तों की उपयुक्तता बताई है। हरिचन्द्रकृत

जीवनधरचम्पू भी जैन चम्पू है, जो ई० स० ९०० के लगभग लिखा गया है । भोज व लक्ष्मणभट्टकृत रामायण-चम्पू भी प्रसिद्ध हैं । अनन्त-कृत एक भारतचम्पू भी है । लाटदेश के वालभ कायस्थ षोड्ढलकृत उदयसुन्दरीकथा ई० स० १००० के लगभग लिखी गई । इस प्रकार चम्पू-साहित्य बहुत ही थोड़ा है, क्योंकि यह अधिक रोचक नहीं बन सका, जब कि गद्य, पद्य स्वतन्त्र रूप से विकसित हो चुके थे ।

परिशिष्ट 'क'

रामायण

भारत के साहित्यिक इतिहास में रामायण का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसे संस्कृत का "आदि-काव्य" कहा गया है व इसके लेखक वाल्मीकि को "आदि कवि" । बाद के संस्कृत कवियों ने इसी ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर कितनी ही रचनाएँ की । धार्मिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं । इसके वर्तमान स्वरूप में इसमें २४००० श्लोक है व यह नौ काण्डों में विभाजित है । प्रो० जेकोबी का कहना है कि इसका मौलिक रूप केवल पांच काण्डों (२–६) का ही था, क्योंकि प्रथमकाण्ड में कही गई कितनी ही बातों का खण्डन बाद के काण्डों में है । इसके अतिरिक्त विषयसूची भी दो हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थ में बाद में मिलावट की गई है । इस ग्रन्थ में वर्णित घटनाचक्र का सम्बन्ध कोशल के इक्ष्वाकुवंशसे है ।

रामायण का रचनाकाल—रामायण के रचना-काल के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मत उपस्थित किये हैं । किन्तु इन विभिन्न मतों के होते हुए भी इस विषय में वे सभी प्रायः सहमत हैं कि वाल्मीकीय रामायण का रचना-काल ईसा के पूर्व लगभग ६ ठी शताब्दि से अधिक पहिले का नहीं है । इस सम्बन्ध के कुछ मत इस प्रकार है ।

(१) प्रो० वेबर महाभारत और यूनान देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचनाकाल मानते हैं ।

(२) प्रो० जेकोबी ईसा के पूर्व ६ ठी शताब्दि में रामायण की रचना स्वीकारते हैं ।

(३) श्री० मेकडॉनेल के मतानुसार रामायण का मौलिक रूप ईसापूर्व ५०० वर्ष के लगभग बना व बाद की मिलावट ईसापूर्व २०० वर्ष के बाद हुई ।

(४) डॉ० भाण्डारकर रामायण को पाणिनि के बाद का मानते हैं ।

(५) श्री० चिन्तामणि वैद्य वर्तमान रामायण को भारत व महाभारत दोनों के बाद ईसा के लगभग दो शताब्दी पूर्वका मानते हैं ।

(६) श्री० कीथ रामायण का रचनाकाल ईसा के पूर्व चौथी शताब्दि मानते हैं । इस सम्बन्ध में जो प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं ।

रामायण की कहानी बौद्ध साहित्य के दशरथ-जातक में वर्णित है ।

रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक ही बार आया है और वह भी ऐसे प्रकरण में जो बाद में मिलाया गया है । इस से यह सिद्ध होता है कि रामायण बौद्ध काल के पहिले रची गई ।

रामायण में यवनों का उल्लेख दो बार आया है, जो कि प्रो० जेकोबी के मतानुसार बाद की मिलावट है । प्रो० वेबर का मन्तव्य कि रामायण की कथा पर यूनान का असर है, निराधार सिद्ध कर दिया गया है ।

रामायण द्वारा जिस राजनैतिक परिस्थिति का बोध होता है, उस से भी समय-निर्णय में सहायता मिलती है । रामायण में पाटलीपुत्र का कोई उल्लेख नहीं है, जो कि ई० पू० ४ थी सदी में बसाया गया था व ई० पू० चौथी सदी के अन्त में मौर्य्यसाम्राज्य की राजधानी बना था । बालकाण्ड के ३५ वें अध्याय में राम का उसी स्थान से जाना वर्णित है, जहां पर कि यह शहर बसा था । इस अवसर पर कवि ने पूर्वी भारत के कितने ही शहरों का उल्लेख किया है । यदि पाटलीपुत्र अस्तित्व में होता, तो उसका उल्लेख भी अवश्य किया जाता । मूल रामायण में अयोध्या को कोशलदेश की राजधानी बताया गया है, किन्तु बौद्ध, जैनी, यूनानी, पतञ्जलि आदि साकेत को कोशल की राजधानी बताते हैं । रामायण के अन्तिम काण्ड में कहागया है कि लवने श्रावस्ती में अपनी राजधानी रखी, जिसका उल्लेख रामायण के प्राचीन भाग में नहीं है व बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि गौतम बुद्ध का समकालीन कोशल–नरेश श्रावस्ती में राज्य करता था । इस प्रकार यह कहा जा सकता है

कि मूल रामायण उस समय बनी, जब कि अयोध्या कोशल का मुख्य शहर था व साकेत का अस्तित्व नहीं था तथा श्रावस्ती कोशल की राजधानी नहीं बनी थी। बालकाण्ड में मिथिला व विशाला विभिन्न राजाओं द्वारा शासित अलग २ नगर के रूप में उल्लिखित किये गये हैं, किन्तु गौतम बुद्ध के समय में वैशाली के रूप में दोनों नगर एक हो गये थे।

रामायण के सम्बन्ध में विचित्र कल्पनाएँ—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मन्तव्य है कि रामायण का घटनाचक्र ऐतिहासिक नहीं है, कपोलकल्पित है। लेसन के अनुसार इस कथा में आर्यों के दक्षिण प्रवेश का वर्णन है, राम इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। जेकोबी के विचार में रामायण की आधारशिला प्राचीन दन्तकथाएँ हैं; राम-रावण युद्ध को वैदिक इन्द्रवृत्र-युद्ध से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार रामायण के पात्रों को कपोलकल्पित प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि रामायण की ऐतिहासिक भूमिका पर शङ्का करना बिलकुल निरर्थक है।

रामायण में कवित्व—कविता की दृष्टि से भी रामायण एक अच्छा ग्रन्थ है। उसमें कितने ही स्थलों पर कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। वाल्मीकि ने कितने ही अलङ्कारों को उपयुक्त किया है। उसकी उपमा व रूपक विशेष उल्लेखनीय हैं। उसकी वर्णन-शैली भी काव्यमय है। विभिन्न रसों के सुन्दर उपयोग में भी वाल्मीकि ने अच्छा कौशल दिखाया है। महाकाव्य-शैली के सर्वप्रथम दर्शन हमें रामायण में ही होते हैं। इस प्रकार रामायण को आदिकाव्य व वाल्मीकि को आदिकवि कहना बिलकुल उपयुक्त है।

रामायण की कथा-वस्तु—रामायण में वर्णित राम की जीवन-कथा से भारत का बच्चा २ परिचित है। हिन्दू-समाज में दशरथ, राम, भरत, सीता आदि पुत्रप्रेम, पितृप्रेम, भ्रातृप्रेम, पतिप्रेम आदि के आदर्श माने जाते हैं। इस मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में बहुत सी दन्तकथाएँ भी हैं; जैसे रावण की ब्रह्मा से वर-प्राप्ति, विष्णु का राम के रूप में अवतार लेना, गङ्गावतरण, विश्वामित्र व वशिष्ठ का युद्ध, श्लोक की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा आदि। इन कथाओं के कारण भी रामायण की लोकप्रियता अधिक बढ़ गई है।

महाभारत

महाभारत का मुख्य उद्देश भरतवंशजों के आपसी युद्ध का वर्णन करना है। कौरवों व पाण्डवों के अठारह दिन के युद्ध का वर्णन लगभग २०,००० श्लोकों में किया गया है। इस वर्णन के बीच में देवता, राजा, ऋषि आदि सम्बन्धी कथाएँ, व सृष्ट्युत्पत्ति, दर्शन, धर्म, वर्णाश्रम आदि का वर्णन जोड़ दिया गया है। कहीं २ भगवद्गीता आदि के समान स्वतन्त्र रचनाएँ भी उस में जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार महाभारत अपने को धर्मशास्त्र, स्मृति, कार्ष्णवेद आदि नामों से आभूषित करता है। इतनी सब मिलावट होने पर भी मौलिक कथा की ऐतिहासिकता पर किसी को शङ्का नहीं होसकती। यह ऐतिहासिक घटनाचक्र कम से कम ईसा पूर्व १० वीं शताब्दि का या उस के पहिले का होना चाहिये।

काल-निर्णय—महाभारत के काल-निर्णय के सम्बन्ध में भी निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु वर्णित विषय के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे मेकडॉनेल प्रभृति विद्वानों का कथन है कि महाभारत का मौलिकरूप इसा पूर्व ५ वीं सदी के करीब का होना चाहिये। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में भारत व महाभारत का उल्लेख आता है। इस पर से भी ईसा पूर्व ५ वीं सदी का ही समय निश्चित होता है। इस के विकास की यह पहिली अवस्था थी।

विकास की दूसरी अवस्था में महाभारत में लगभग २०,००० श्लोक हो गये, जब कि शिव व विष्णु का माहात्म्य बहुत बढ़ गया था। मीगाजथीनीज़ के भारत-वर्णन से मालूम होता है कि ईसा पूर्व ३०० वर्ष के लगभग उत्तर भारत में शिव व विष्णु की भक्ति का बहुत ज़ोर था। इस के अतिरिक्त यवन, शक, पह्लव आदि जातियों का उल्लेख भी महाभारत में आता है। उस में हिन्दू-मन्दिर, बौद्ध-स्तूप आदि का भी उल्लेख है। इस प्रकार ईसा पूर्व ३०० वर्ष के पश्चात् व ईस्वी सन् के प्रारम्भ-काल के लगभग महाभारत का स्वरूप बढ़ा होगा। ईसा की ५ वीं सदी के ताम्रपत्रों के सहारे यह कहा जा सकता है कि महाभारत ने स्मृति या धर्मशास्त्र का स्वरूप पांचवीं सदी में धारण कर लिया था। यह कार्य्य कदाचित् ई० स० ३५० के लगभग हो चुका होगा। प्रो० हॉल्ज़मैन के मतानुसार महाभारत ने धर्मशास्त्र का स्वरूप ९ वीं सदी के बाद धारण किया। ईस्वीसन् ६००–११०० के संस्कृत साहित्य के आलो-

चनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महाभारत ने अपना आधुनिक स्वरूप धारण कर लिया था; हरिवंश, गीता आदि उस के अङ्ग बनचुके थे। ईसा की ११ वीं सदी के मध्य में काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भारतमञ्जरी नाम से महाभारत को सारांश-रूप से प्रकट किया। इसी प्रकार महाभारत का जाव्हा की भाषा में अनुवाद भी प्राप्त है, जो कि ११ वीं सदी में किया गया था।

महाभारत में वर्णित विषय—महाभारत की मुख्य कथा का उद्देश कौरव व पाण्डवों के अठारह दिन के युद्ध का वर्णन करना है। परीक्षित राजा के सर्पदंश से मरजाने पर उस का पुत्र सर्पों के लिये एक बड़ा यज्ञ करवाता है। उस अवसर पर वैशम्पायन यह कथा सुनाते हैं। वैशम्पायन ने यह कथा व्यासजी से सुनी थी। इन्हीं व्यासजी ने वेदों को भी व्यवस्थित किया था तथा पुराणों को भी इन्हीं से सम्बन्धित किया जाता है।

महाभारत में आख्यान—मुख्य कथा के अतिरिक्त महाभारत में कितने आख्यानादि जोड़ दिये गये हैं, जिन में से मुख्य इस प्रकार हैं—शकुन्तला-आख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गङ्गावतरण, ऋष्यशृङ्ग-कथा, राजा शिबि व उस के पुत्र उशीनर वृषदर्भ आदि की कथा, काम्य-कवन में जयद्रथ द्वारा द्रौपदी के भगाये जाने की कथा, अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा, सावित्री की कथा, नलोपाख्यान इत्यादि। इस के अतिरिक्त, १६००० श्लोकों में कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन-चरित भी जोड़ दिया गया है, जिसे हरिवंश कहते हैं। इस प्रकार महाभारत लगभग विश्वकोष ही बन गया है।

परिशिष्ट 'ख'

पुराण

पुराण की प्राचीनता—पुराण बहुत ही प्राचीन साहित्य मालूम होता है। 'पुराण', 'पुराणविद्' आदि का उल्लेख अथर्ववेद में भी है। इसी प्रकार शतपथादि ब्राह्मणों व छान्दोग्यादि उपनिषदों में भी इस का उल्लेख आता है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में पुराण एक ही था; धीरे २, ज्यों २ उस की लोकप्रियता बढ़ती गई, त्यों २ उसमें अन्य विषय भी जोड़े गये व इस प्रकार पौराणिक साहित्य ने आधुनिक बृहत् रूप धारण कर लिया। वर्तमान

पुराणों के आलोचनात्मक परीक्षण से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस साहित्य के विकास की चार अवस्थाएँ थीं । पहिली अवस्था को वंश-आख्यान-अवस्था कह सकते हैं । प्राचीन राजाओं की वंशावलियें तथा उन के आख्यान समाज में अत्यन्त ही प्राचीन काल से प्रचलित थे । कदाचित् अथर्ववेद आदि में 'पुराण' शब्द से इन्हीं आख्यानों का तात्पर्य्य होगा । पश्चात् इन आख्यानादि को व्यवस्थित स्वरूप दिया गया व "इतिहास-पुराण" नाम से सम्बोधित किया जाने लगा, जिस का उल्लेख ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में मिलता है । यही इस साहित्य के विकास की दूसरी अवस्था है । भारत-युद्ध का समय इसी के अन्तर्गत आ जाता है व 'भविष्य' वर्णन का प्रारम्भ होता है । भारत-युद्ध के पश्चात् व्यासजी ने भारतीय संस्कृति की रक्षार्थ, उस के सब साहित्य को अन्तिम स्वरूप देया । पुराणों के भी कर्ता उन्हीं को मानते हैं । इसलिये महाभारत काल के पश्चात् की घटनाओं को भविष्य काल का उपयोग कर व्यासजी के नाम से पुराण में मिला दिया गया । समय की गति से यह 'भविष्य घटनाचक्र' इतना बढ़ गया के उसे 'भविष्यत् पुराण' के रूप में अलग करना पड़ा, जिस का सर्वप्रथम उल्लेख आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में आता है । इस प्रकार एक के दो पुराण हुए । इसी समय पौराणिक साहित्य के विकास की तीसरी अवस्था का भी प्रारम्भ होता है, जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवतोत्पत्ति, धर्मशास्त्र आदि सम्बन्धी बातें भी मिला दी गईं और 'पञ्च-लक्षण' का सिद्धान्त विकसित किया गया । इस के अनुसार पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर व वंशानुचरित आदि का वर्णन आवश्यकीय होगया । गृह्यधर्मादिसूत्र, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में पुराण का जो उल्लेख आता है, उस से इसी अवस्था का बोध होता है । इस अवस्था को पञ्चलक्षण-अवस्था कहा जा सकता है । इस के पश्चात् साम्प्रदायिक-अवस्था का प्रारम्भ होता है, जब कि पुराणों में बहुतसी साम्प्रदायिक सामग्री मिलाई जाने लगी व पुराणों की संख्या भी बढ़ते २ अठारह तक पहुँची । इस प्रकार यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि एक के अठारह पुराण कैसे हुए ।

अठारह पुराण—वर्तमान पुराणों की संख्या १८ है व उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है; यथा ब्राह्म, वैष्णव, शैव, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) ब्राह्म—

ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, ब्रह्म.

(२) वैष्णव—

विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म, वराह.

(३) शैव—

मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, वायु, स्कन्द, अग्नि.

(१) ब्रह्मपुराण—

इसके प्रारम्भिक अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक सूर्य्य व चंद्रवंश का वर्णन है। इसके पश्चात् विश्व का सारांशरूप से वर्णन आता है। उड़ीसा व वहां के पवित्र मन्दिरों का वर्णन भी किया गया है। इसके पश्चात् कृष्ण का जीवन चरित है, जो कि शब्दशः विष्णुपुराण से लिया गया है। अन्त में योग का वर्णन है।

(२) पद्मपुराण—

स्कन्द के अतिरिक्त, यह सबसे बड़ा पुराण है। इसके ५ खण्ड हैं—सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल व उत्तरखण्ड। सृष्टिखण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ऋषि व राजाओं की वंशावलियें हैं; अजमेर के पुष्कर सरोवर के पावित्र्य का वर्णन भी आता है। भूमिखण्ड में तीर्थस्थान व उनके पावित्र्य से सम्बन्धित कथाएँ वर्णित हैं व भूमि का वर्णन भी आता है। स्वर्गखण्ड में विष्णु के निवास वैकुण्ठ व वर्णाश्रम-धर्म का वर्णन आता है। पाताल-खण्ड में नागलोक वर्णित है। शेषनाग राम व कृष्ण की कथा कहता है। उत्तरखण्ड में विष्णुभक्ति, अवतार आदि का वर्णन है।

(३) विष्णुपुराण—

इसके ६ खण्ड हैं। पहिले में विष्णु व लक्ष्मी की उत्पत्ति है व ध्रुव प्रह्लादादि से सम्बन्धित कथाएँ हैं। दूसरे में भूमि व उसके सात द्वीप तथा सात समुद्रों का वर्णन है। भारतवर्ष, ग्रह, सूर्य्य, चन्द्र आदि का वर्णन भी आता है। तीसरे खण्ड में चार वेद, अठारह पुराण, वर्णाश्रम-धर्म, संस्कार, श्राद्ध आदि का वर्णन है; बौद्ध व जैनों पर भी टीका की गई है। चौथे खण्ड में सूर्य्य व चन्द्रवंश के राजाओं का वर्णन है। पांचवें खण्ड में कृष्ण का जीवनचरित है। छठवें में विष्णु-भक्ति, योग, मोक्ष आदि का वर्णन है।

(४) वायुपुराण—

इसे 'शिव' या 'शैव' भी कहा गया है । इसके चार खण्ड हैं, जिन्हें पाद कहते हैं। पहिले में सृष्टि की उत्पत्ति व विकास का वर्णन है। दूसरे में विभिन्न कल्प, ऋषिवंशावली, विश्व, मन्वन्तर, शिवस्तुति आदि वर्णित हैं। तीसरे में विविध जीवधारियों का वर्गीकरण व सूर्य्यचन्द्रादि वंशों का वर्णन है। चौथे में योग का फल व शिव का गुण-गान है।

(५) भागवतपुराण—

वैष्णवों के लिये यह सबसे अधिक पवित्र है। इसमें १२ स्कन्ध हैं। पहले दो स्कन्धों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है व बताया गया है कि किस प्रकार वासुदेव सृष्टि की रचना करते हैं । यह जगत् निरी माया है। वासुदेव की भक्ति सब वर्णों के लोग यहांतक कि म्लेच्छ भी कर सकते हैं। तीसरे स्कन्द में ब्रह्मा की उत्पत्ति, वराह-अवतार आदि का वर्णन है तथा विष्णु द्वारा कपिल (सांख्य-दर्शन के कर्ता) का अवतार धारण किये जाने का वर्णन है। चौथे व पांचवे स्कन्द में ध्रुव, वेन, पृथु, भरत आदि के आख्यानों का वर्णन है। छठवे में विष्णुभक्ति का माहात्म्य समझाने वाली कितनी ही कथाएँ वर्णित हैं। सातवें में प्रह्लादसम्बन्धी कथा वर्णित है । आठवें में ऐसी और भी कथाएँ वर्णित हैं। नवम स्कन्ध में सूर्य्य व चन्द्र-वंश का वर्णन है। दशम-स्कन्ध में केवल कृष्णचरित्र ही वर्णित है । ग्यारहवें में यादवों का नाश व कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है। बारहवें स्कन्ध में बाद के राजाओं का वर्णन है।

(६) नारदपुराण—

इसमें विष्णु की भक्ति का तथा हरि-भक्ति का उपदेश देनेवाले व्याख्यानों का वर्णन है।

(७) मार्कण्डेयपुराण—

इसमें बहुतसी दन्तकथाएँ वर्णित हैं, जैसे वृत्रवध, बलदेव का तप, हरिश्चन्द्र का आख्यान, वशिष्ठ-विश्वामित्र का युद्ध इत्यादि । इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति व मन्वन्तरों का वर्णन है। आगामी मन्वन्तर के वर्णन में दुर्गा की स्तुति भी वर्णित है, जिसको चण्डीपाठ कहते हैं।

(८) अग्निपुराण—

प्रारम्भ में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके पश्चात् धार्मिक कृत्य,

शिवभक्ति आदि का वर्णन है। इसी के बीच में पृथ्वी व विश्व का वर्णन भी है। इसके पश्चात् राजधर्म, युद्ध-नीति, वेद, पुराण आदि वर्णित हैं। राज-वंशों का वर्णन बहुत कम है। अन्त में आयुर्वेद, अलङ्कारशास्त्र, छन्द, व्याकरण आदि का विवेचन किया गया है।

(९) भविष्यपुराण—

इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, संस्कार, वर्णाश्रम-धर्म व यज्ञादि का वर्णन है। इसके पश्चात् कृष्ण, साम्ब, वशिष्ठ, नारद, व्यास आदि की बातचीत द्वारा सूर्य्य की शक्ति व प्रभुत्त्व का वर्णन किया गया है।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण—

इसके चार विभाग हैं, जिनमें क्रमशः ब्रह्मा, देवी, गणेश व कृष्ण के चरित्र चित्रित हैं। कृष्ण-भक्ति पर अधिक ज़ोर दिया गया है। वृन्दावन, कृष्ण-स्तुति व राधा तथा गोपियों की प्रेम-क्रीड़ा आदि का खूब वर्णन है।

(११) लिङ्गपुराण—

प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है व शिव को जगत् का कर्ता माना गया है। सृष्ट्युत्पत्ति के समय महान् अग्नि-मय लिङ्ग प्रकट होता है, जिससे ब्रह्मा व विष्णु के गर्व का भङ्ग हो जाता है। इसी लिङ्ग से वेदादि का प्रादुर्भाव होता है। इसके पश्चात् शिव के २८ अवतारों का वर्णन है तथा विश्व का व कृष्ण के समय तक के राजवंशों का वर्णन है। कथा, धार्मिककृत्य, शिवस्तुति आदि को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

(१२) वराहपुराण—

इस में विष्णु की भक्ति, प्रार्थना आदि का विस्तृत वर्णन है, बीच २ में आख्यानों को भी मिला दिया गया है। इस के पश्चात् तीर्थयात्रा, तीर्थस्थान आदि का विशद वर्णन है।

(१३) स्कन्दपुराण—

यह सब से बड़ा पुराण है। काशी-खण्ड में बनारस के शिव-मन्दिरों का विस्तृत वर्णन है, जिस के अन्तर्गत शिवपूजा-विधि, आख्यानादि को भी सम्मिलित किया गया है। उत्कल-खण्ड में उड़ीसा व जगन्नाथ के पावित्र्य का वर्णन है। इस के अतिरिक्त इस पुराण के अन्तर्गत कितनी ही संहिताएँ व कितने ही माहात्म्य हैं।

(१४) वामनपुराण—

इस में विष्णु के वामन-अवतार का वर्णन है । लिङ्ग-पूजा, तीर्थ-माहात्म्य आदि को भी इस में समाविष्ट किया गया है । इस में दक्ष का यज्ञ, कामदेव का भस्मीकरण, शिव व उमा का विवाह, कार्तिकेय का जन्म आदि भी वर्णित हैं । वामन-अवतार द्वारा शक्तिशाली बली का निग्रह भी इस में वर्णित है ।

(१५) कूर्मपुराण—

यद्यपि इस का नाम विष्णु के कूर्मावतार पर रखा गया है, फिर भी इस का अधिकांश भाग शिव व दुर्गा की भक्ति से सम्बन्धित है । पहिले खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य्य व चन्द्र-वंशों तथा सृष्टि, मन्वन्तरादि का वर्णन है । इस के साथ साथ शिव-भक्ति का प्रतिपादन करने वाली कहानियें भी वर्णित हैं । दूसरे खण्ड में ध्यान, वैदिक कर्मकाण्ड आदि द्वारा शिवप्राप्ति का वर्णन है ।

(१६) मत्स्यपुराण—

विष्णु के मत्स्यावतार से इस का प्रारम्भ होता है । महाप्रलय के समय मत्स्यरूप में विष्णु मनु की रक्षा करता है व उस के प्रश्नों का उत्तर देता है । इस के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति, राजवंश, वर्णाश्रम-धर्म आदि का वर्णन आता है । फिर शिव-उमा विवाह, कार्तिकेय-जन्म तथा विष्णु-सम्बन्धी कथाएँ वर्णित हैं । नर्मदादि का माहात्म्य, धर्म व नीति, मूर्तिनिर्माण-कला, भविष्य के राजा, दान इत्यादि भी वर्णित हैं ।

(१७) गरुड़पुराण—

इस में सृष्ट्युत्पत्ति का सारांश में वर्णन है । व्रत, पर्व्व, तान्त्रिक स्तुति, ज्योतिष (फलित), सामुद्रिक, आयुर्वेद आदि मुख्यतः वर्णित हैं । अन्तिम भाग में दाहसंस्कारश्राद्धादि का वर्णन है ।

(१८) ब्रह्माण्डपुराण—

वायु-पुराण का ही थोड़ा परिवर्तित रूप इसे माना जाता है । इस में भी सृष्टि की उत्पत्ति, राजवंश आदि का वर्णन है । यों तो यह शैव पुराण है, किन्तु इस में विष्णु-भक्ति का भी प्रतिपादन है । इस में परशुराम आदि सम्बन्धी कितने ही आख्यान हैं, जो वायुपुराण में नहीं पाये जाते ।

पुराणों का काल-निर्णय—पुराणों का काल-निर्णय भी एक विवादास्पद विषय है, क्योंकि इस में विभिन्न ऐतिहासिक काल की सामग्री मिश्रित है ।

विल्सनादि महानुभावों ने ऊपरी साम्प्रदायिक पुट को देख कर कह दिया कि पुराण ईसा के हज़ार बारह सौ वर्ष बाद के ही होने चाहिये । पार्जिटर के समान विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे वायु-पुराण को प्राचीनतम मान कर ई० पू० तीसरी शताब्दि का बताया है । मत्स्यपुराण ई० स० २०० के करीब का माना जाता है तथा विष्णु-मार्कण्डेय आदि गुप्त-काल के माने जाते हैं व भागवत को ७ वीं सदी तक ले जाया जाता है । किन्तु अभी भी इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद है । लगभग सब पुराणों में विभिन्न कालों में कितनी ही मिलावट की गई है, यहां तक कि अध्याय के बीच में भी बहुतसी बातें बाद में जोड़ी गई हैं । ऐसी अवस्था में इन पुराणों के लिये अलग २ रचना-काल निश्चित करना असम्भव है । किन्तु पौराणिक साहित्य के विकास की चार अवस्थाओं के काल-निर्णय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य कुछ कहा जा सकता है । इन अवस्थाओं का वर्णन पहिले ही कर दिया गया है । इन को ऐतिहासिक तिथि-क्रम में इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) वंशाख्यान-अवस्था—

(ई० पू० १२००—१०००)

राजाओं व ऋषियों की वंशावलियें, राजाओं के आख्यान आदि का इस के अन्तर्गत समावेश हो जाता है ।

(२) इतिहासपुराण (या द्वैधीकरण)-अवस्था—

(ई० पू० १०००—६००)

इस के अन्तर्गत महापुराणों के 'भविष्य-वर्णन' का समावेश हो सकता है तथा ब्राह्मण, उपनिषदादि के काल में इसी अवस्था का पौराणिक साहित्य अस्तित्व में था ।

(३) पञ्चलक्षण-अवस्था—

(ई० पू० ६००—ई० स० १००)

सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध, दार्शनिक सिद्धान्त आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है ।

(४) साम्प्रदायिक-अवस्था—

(ई० स० १००—७००)

शिव, विष्णु आदि की भक्ति, तीर्थमाहात्म्य आदि से सम्बन्धित वर्णन, इस अवस्था के हैं ।

परिशिष्ट 'ग'

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र के साहित्य को विकास व तिथिक्रम की दृष्टि से तीन विभागों में बाँटा जा सकता है; जैसे धर्मसूत्र, श्लोकबद्ध स्मृति, निबन्धकार का साहित्य।

(१) **धर्मसूत्र**—धर्मसूत्रों पर सूत्रसाहित्य के प्रकरण में कह दिया गया है, फिर भी थोड़ा उल्लेख अनुचित न होगा। इन सूत्रों को धर्मशास्त्र कहा गया है। गौतमीय धर्मशास्त्र सबसे प्राचीन धर्मसूत्रों में से है व सामवेद की राणायनीय शाखा का मालूम होता है। इस में बाद की मिलावट भी है। तीस अध्याय का हारीत-धर्मशास्त्र भी पुराने धर्मसूत्रों में से है। वाशिष्ठ-धर्मशास्त्र में ये दोनों उल्लिखित हैं। इस में भी मिलावट की गई है। मनु, यम, प्रजापति आदि का प्रमाण-रूप से उल्लेख है। कुमारिलभट्ट के मतानुसार यह ऋग्वेद की लुप्त वाशिष्ठ शाखा से सम्बन्धित है। बौधायन धर्मशास्त्र व आपस्तम्बीय धर्मसूत्र कृष्ण-यजुर्वेद की शाखाओं के सूत्रों से सम्बन्धित हैं। पहिले में मिलावट है, दूसरे में नहीं। इन धर्म-सूत्रों को ई० पू० चौथी या पांचवीं सदी में लेजाया जाता है। कोई २ इन्हें ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दि में रखते हैं। वैष्णव धर्मशास्त्र में बहुत मिलावट की गई है, क्योंकि इस में विष्णु व पृथ्वी की बातचीत के रूप में सब वर्णन किया गया है। कृष्ण-यजुर्वेद की काठक-शाखा के धर्मसूत्र से इस को सम्बन्धित किया जाता है, जिस प्रकार कि हारीत धर्मशास्त्र जो कि गद्य व श्लोक में हैं, मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित किया जाता है। यूनानी गणित व फलित ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख वैष्णव धर्मशास्त्र में आता है। इसलिये यह ईसा की तीसरी शताब्दि के पहिले का नहीं हो सकता। वैखानस धर्मशास्त्र तीन अध्यायों में वर्णाश्रम-धर्म का वर्णन करता है, विशेषकर वानप्रस्थाश्रम का। कोई २ विद्वान् इसे बहुत बाद का मानते हैं। इस के अतिरिक्त पैठीनसी (अथर्ववेद), शङ्ख-लिखित (शुक्ल यजुर्वेद), उशनस, काश्यप बृहस्पति आदि धर्मसूत्र भी हैं, जिन की प्राचीनता के बारे में शङ्का की जाती है।

(२) **स्मृति**—स्मृतियों में धर्मशास्त्र-साहित्य अधिक विकसित रूप में

दीखता है। भाषा श्लोकबद्ध है व क्षेत्र भी अधिक विकसित है। इनमें वर्णित नियमादि का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से है। राजधर्म, जैसा कि धर्म-सूत्रों में नहीं है, अधिक विस्तार के साथ वर्णित है; साथ ही दीवानी व फौजदारी कायदों का भी समावेश है। महाभारत की भाषा आदि से प्रभावित होकर स्मृतिकारों ने श्लोकों को अपनाया व समाज की प्रचलित रूढ़ी, रीति-रिवाज आदि को अपने ग्रन्थों में स्थान देकर उन को धर्मप्रामाण्य में सम्मिलित किया। इन लेखकों ने अपने ग्रन्थों को प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बन्धित किया, जिस से उन की प्रामाणिकता व पवित्रता पर शङ्का न की जा सके।

मनुस्मृति—मनुस्मृति सब से पुरानी स्मृति मानी जाती है। मनु का नाम तो ब्राह्मण, गृह्यादिसूत्र, महाभारत आदि साहित्य में भलीभाँति परिचित है। तैत्तिरीयसंहिता (२।२।१०।२) में लिखा है कि जो कुछ मनु ने कहा है वह भेषज है। शतपथ ब्राह्मण (१।५।१।७) में महापूर के उल्लेख में मनु का वर्णन आता है। यास्क (३।४) ने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मनु को उद्धरित किया है, किन्तु यह उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति में से नहीं है। महाभारत के परीक्षण से मालूम होता है कि लगभग २६० श्लोक मनुस्मृति से मिलते झुलते हैं। कहीं २ मनु व मनुस्मृति का उल्लेख भी आता है। इस प्रकार मनुस्मृति के निर्माण-काल के बारे में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का आधार, कदाचित् कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित मानव धर्मसूत्र हो। वर्तमान मनुस्मृति व मानव-गृह्यसूत्र में कुछ समानता दीखती है। महाभारत की सहायता से व यवन, शक, काम्बोज, पह्लव आदि विदेशी जातियों के उल्लेख के कारण यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति ई० पू० २०० वर्ष के पहिले की नहीं हो सकती व अन्य स्मृतियों से अधिक प्राचीन होने के कारण ई० स० २०० के बाद की नहीं हो सकती। इसलिये इस का निर्माण-काल, जैसा कि बूह्लर का मत है, ई० पू० २००-ई० स० २०० के समय में होना चाहिये।

मनुस्मृति के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा इसका कर्ता था और उसने मनु को कहा, मनु ने भृगु को व भृगु ने मानव-समाज के सामने इस स्मृति को कहा। इसमें बारह अध्याय हैं। पहिले अध्याय में वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों के तत्त्वों की सहायता से पौराणिक ढङ्गपर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है; सांख्य

के तीन गुणों पर विशेष ज़ोर दिया गया है। दूसरे अध्याय में धर्म-प्रामाण्य व ब्रह्मचारी के धर्मों का निरूपण किया है व तीसरे, चौथे व पांचवें में गृहस्थ-धर्म है—विवाह, दैनिक कर्मकाण्ड, श्राद्ध, वृत्ति, सदाचार आदि के नियम, भक्ष्य-वर्ज्य-भोजन, आशौच प्रकरण, स्त्रीधर्म आदि। छठवें अध्याय में वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम के धर्मों का निरूपण है, सातवें में राजधर्म है। आठवें व नवें अध्यायों में व्यवहार, साक्षी आदि का विवेचन है तथा ऋण व उसका परिशोध, दान, चोरी, व्यभिचार, क्रयविक्रय आदि का विवेचन है। नवें में राजधर्म व वैश्य तथा शूद्रों के कर्तव्यों का भी विवेचन है। दसवें अध्याय में वर्ण-संकर, वर्ण-धर्म, आपद्धर्म आदि का विवेचन है। ग्यारहवें अध्याय में दान, यज्ञ, तप, व बारहवें में कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म-प्राप्ति, मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का विवेचन है।

इसपर कितनी ही टीकाएँ लिखी गयी हैं। मेधातिथि (९ वीं सदी), गोविन्दराज (१२ वीं सदी), कुल्लुक (१५ वीं सदी) आदि विशेष उल्लेखनीय टीकाकार हैं। मनुस्मृति का प्रचार इतना बढ़गया था कि ब्रह्मदेश, स्याम, जाव्हा आदि तक में इसे प्रमाण-भूत माना जाता था।

बाद की स्मृतिएँ—नारद-स्मृति के कथनानुसार इसमें मनुस्मृति से भी अधिक प्राचीन विचारों का समावेश है, किन्तु इसमें वर्णित विषय के परीक्षण से यह दावा झूठा साबित हो जाता है। दीनार के उल्लेख से कहा जा सकता है कि यह स्मृति ईसा का दूसरी शताब्दि के पहिले की नहीं हो सकती। सातवीं शताब्दि में बाण को इसका पता है व आठवीं में असाय ने इसपर टीका लिखी है। इसका महत्त्व मनुस्मृति के समान नहीं है। बृहस्पति-स्मृति खंडशः ही प्राप्त है, किन्तु इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह मनुस्मृति के वार्तिक के समान है। इसका रचना-काल ईसा की छठी या सातवीं शताब्दि बताया जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति नारद, बृहस्पति आदि से अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसको शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित किया जाता है व पारस्कर गृह्यसूत्र व मानवगृह्यसूत्र से इसकी कुछ समानता भी है। इसमें बृहदारण्यक का उल्लेख है। यह मनुस्मृति के बाद की है, इस सम्बन्ध में शङ्का बिलकुल नहीं हो सकती। इसमें यूनानी ज्योतिषशास्त्र का उल्लेख है तथा सिक्के के सोने को

"नाणक" कहा गया है। इसपर से यह ई० स० ३०० के पहिले की नहीं हो सकती। मनुस्मृति की अपेक्षा इसमें वर्णित-विषय की व्यवस्था अच्छी है; आचार व्यवहार आदि के अलग २ अध्याय हैं। वेदान्त, योग, सांख्य, गर्भशास्त्र आदि के सिद्धान्तों को भी इसमें समाविष्ट किया गया है।

इस स्मृति पर बहुतसी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गयीं हैं। सर्वोत्तम टीका मिताक्षरा है, जो कि ईसा की ११ वीं शताब्दि में दक्षिण के विज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गई। मिताक्षरा हिन्दू-कानून के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण, उत्तर भारत, बनारस आदि में इसे प्रमाण माना जाता था। विज्ञानेश्वर ने विश्वरूप की टीका का उपयोग किया था। अपरार्क ने १२ वीं सदी में एक टीका लिखी तथा बालम्भट्ट वैद्यनाथ व उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवीने मिताक्षरा पर टीका लिखी। इसमें "स्त्रीधन" पर विशेष ज़ोर दिया गया।

इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य स्मृतियें भी हैं। एक सूची में लगभग १५२ स्मृतियों का उल्लेख है। इनमें पराशर-स्मृति विशेष उल्लेखनीय है, जिसपर ईसा १४ वीं सदी में माधव ने टीका लिखी। इसी प्रकार अत्रि, उशनस, आपस्तम्भ, दक्ष, शङ्ख, लिखित, संवर्त आदि स्मृतियें भी हैं।

(३) निबन्धकारों का साहित्य—स्मृतियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जाने के कारण १२ वीं शताब्दि के पश्चात् राजाज्ञा द्वारा स्मृतियों के सारांश को "धर्म निबन्ध" के रूप में तैयार करवाया गया। "स्मृतिकल्पतरु" प्राचीनतम धर्मनिबन्ध है। इस का कर्ता लक्ष्मीधर है, जो कि कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र (ई० स० ११०५-४३) का वैदेशिक मन्त्री था। बङ्गाल के लक्ष्मणसेन के लिये हलायुध ने "ब्राह्मणसर्वस्व" बनाया। इस में केवल ब्राह्मणधर्म का ही निरूपण किया गया है। यही हाल दक्षिण के देवणभट्ट की "स्मृतिचंद्रिका" (ई० स० १२००) व हेमाद्रि के "चतुर्वर्गचिन्तामणि" का है, जो कि यादव राजाओं के लिये ई० स० १२६०–१३०९ में कभी बनाये गये थे। मदनपाल (ई० स० १३६०–७०) के लिये विश्वेश्वर ने "मदन-पारिजात" लिखा। हरिसिंहदेव (ई० स० १३२५) के मन्त्री चण्डेश्वर ने "स्मृति-रत्नाकर" व वाचस्पति ने मिथिला के हरिनारायण (ई० स० १५१०) के लिये "विवादचिन्तामणि" लिखा। संभवतः ईसा की १५ वीं सदी के पहिले जीमूतवाहन ने "धर्मरत्न" को जन्म दिया, जिसमें सुप्रसिद्ध "दायभाग"

समाविष्ट है। १६ वीं सदी में रघुनन्दन ने अपने "अठ्ठावीस तत्त्वों" का निरूपण किया। १७ वीं सदी में कमलाकर के "निर्णयसिन्धु" का जन्म हुआ, जो महाराष्ट्र में प्रमाण माना जाता है। इसी सदी में नीलकण्ठकृत "भगवन्त-भास्कर" व मित्रमिश्रकृत "वीरमित्रोदय" का जन्म हुआ।

अध्याय १६

गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि

विभिन्न शास्त्रों का विकास—प्राचीन भारत में भिन्न २ शास्त्रों व विद्याओं का सम्यक् विकास भी किया गया था। अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, प्राणीशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, आयुर्वेद आदि पर अच्छी तरह से विचार कर इन्हें मानवजीवन से सम्बन्धित किया गया था। इन शास्त्रों के मूलतत्त्वों का ज्ञान वैदिक-काल में भी था व तब ही से इनका विकास भी प्रारम्भ होता है[1]। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से इस कथन का तथ्य स्पष्ट हो जाता है। आगे भी ये सब शास्त्र उत्तरोत्तर वृद्धि ही करते गये, जिससे भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास में अच्छी सहायता प्राप्त हुई[2]।

गणित-विद्या

वैदिक काल में अङ्क-गणित—गणित-विद्या के तीन भेद हैं, जैसे अङ्कगणित, रेखागणित व बीजगणित। अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिक-काल से ही होता है। उस समय छोटी से छोटी व बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी[3]। यजुर्वेद में जिन संख्याओं का उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त व परार्ध[4]। इसी वेद में दो व चार के पहाड़ का भी स्पष्ट उल्लेख है[5]। इस से स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि अङ्कगणित के मौलिक तत्त्व वैदिक-काल में पूर्णतया ज्ञात थे। बड़ी से बड़ी संख्याओं के ज्ञान से स्पष्ट होता है कि गणितविद्या सम्बधी तत्त्वों का सम्यक् विकास भी प्रारम्भ हो

चुका था। शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की संख्या दी है, जो कि ४,३२००० है[६]। अन्य वेदों के अक्षरों की गणना भी की गई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक-काल से ही अङ्कगणित के भिन्न २ सिद्धान्तों के विकास का प्रारम्भ हो चुका था। इतने प्राचीन काल में विश्व के किसी और देशने इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया था।

सशून्य दशांश-गणनाविधि—ज्यों २ समय बीतने लगा, त्यों २ अङ्कगणित का विकास होता रहा व उस के सर्वश्रेष्ठ व सबसे अधिक उपयोगी सिद्धान्त 'सशून्य दशांश गणना-विधि'[७] का आविष्कार भारतीय गणितज्ञों ने ही किया, जिस के लिये समस्त विश्व सदैव के लिये उन का ऋणी रहेगा। इस विधि के प्रारम्भ के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि ई० स० ४०० तक किसी शिलालेखादि में इस के ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता[८]। अनुमान के द्वारा यह कहा जा सकता है कि इस का ज्ञान उस से भी पहिले का होना चाहिये। इतिहास से पता चलता है कि ईसा की बारहवीं शताब्दि में अरबों ने इस विधि का प्रचार यूरोप में किया[९]। इस के पूर्व वहां इस का ज्ञान किसी को भी नहीं था। कुछ विद्वानों का मत है कि इस के आविष्कार का श्रेय अरब गणितज्ञों को मिलना चाहिये। किन्तु सुप्रसिद्ध अरब गणितज्ञ अबुजाफर मुहम्मद (ई० स० ९ वीं शताब्दि) ने इस विधि का उल्लेख करते हुए स्पष्टतया स्वीकार किया है कि इस का प्रारम्भ भारत में ही हुआ है व इस की भूरि २ प्रशंसा भी की है[१०]। एलबरूनी भी इस के आविष्कार का श्रेय भारतीयों को ही देते हैं न कि अरबों को[११]। इस के अतिरिक्त अरबी भाषा में संख्या को 'हिंसा' (हिंदसा) कहते हैं, जिस से स्पष्ट है कि अरबों ने इस विद्या को भारत से ही सीखा है। अरबों ने इस विधि को भारतीयों से सीखकर बारहवीं शताब्दि में इस का प्रचार यूरोप में किया[१२]। तब ही से वहां पर गणित-विद्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। भारत में इस गणना-विधि के ज्ञान के कितने ही प्रमाण मिलते हैं। वराहमिहिर (ईसा की छठी या सातवीं शताब्दि) को इस का ज्ञान था, क्योंकि उसने ३७५० संख्या को इस प्रकार लिखा है—"ख बाण अद्रि रामाः"[१३]। अङ्क बाईं ओर से गिने जाते हैं ("अङ्कानां वामतो गतिः), इसलिये 'राम' से प्रारम्भ करना होगा। 'राम' शब्द 'तीन'

का द्योतक है, क्योंकि राम जामदग्न्य, राम दाशरथि व बलराम ऐसे तीन राम हो चुके हैं। 'अद्रि' सात का द्योतक है, क्योंकि विन्ध्यादि सात कुलपर्वत माने गये हैं। 'बाण' पांच का द्योतक है। कामदेव के पांच बाण प्रसिद्ध ही हैं। 'ख' का अर्थ आकाश होता है, इसलिये वह शून्य का द्योतक है। इस प्रकार वराहमिहिर ने शून्य का उपयोग कर ३७५० संख्या को लिखा है। इस से स्पष्ट है कि उसे शून्य का उपयोग व महत्त्व भलीभाँति ज्ञात था।

इस के पूर्व आर्यभट्ट (ई० स० ४७९ के लगभग) को भी इस का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि उसने वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है[१४]। ब्रह्मगुप्त (ई० स० ६२४), श्रीधर (ई० स० १०००), पद्मनाथ (ई० स० १११४) आदि के ग्रन्थों को पढ़ने से स्पष्टतया मालूम होता है कि उन्हें इस विधिका ज्ञान था[१५]। ६९५ ई० के सनखेड़ा के लेख में[१६] कालचुरी संवत् ३४६, पहिले शब्दों में लिखा गया है फिर अङ्कों में, जिस से उक्त विधि के ज्ञान का अस्तित्त्व स्पष्ट हो जाता है। पञ्जाब प्रान्त के बक्खली नगर में ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दि का अङ्कगणितसम्बन्धी एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है,[१७] जिस में उक्त विधि का उपयोग किया गया है। ईसा की दसवीं शताब्दि के बाद के सब शिलालेखों में इस विधि का उपयोग किया गया है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि 'सशून्य दशांश गणना विधि' भारत में ही आविष्कृत हुई व यहीं से उस का प्रचार अरबस्थान, यूरोप आदि देशों में हुआ। "एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका" में शून्यविषयक लेख में[१८] यह स्पष्टतया स्वीकार किया गया है कि 'सशून्य-दशांश-गणना विधि' भारत से अरबों द्वारा पश्चिम के देशों में प्रचारित की गई। इस सिद्धान्त के विकास के पश्चात् अङ्कगणित की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई। ज्योतिष से इस का निकटतम सम्बन्ध रहने से इसे ज्योतिष के साथ में सम्बन्धित कर दिया गया। भास्कराचार्य्य प्रभृति के नाम इस के विकास के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं[१९]।

रेखा-गणित व उस का यज्ञ से सम्बन्ध—इस गणित का प्रारम्भ भी वैदिक-काल से ही होता है। इस के विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है[२०]। वैदिक-काल में यज्ञों का कितना प्राबल्य था, यह तो किसी से भी छिपा नहीं है। भिन्न २ यज्ञों के लिये भिन्न २ आकार की वेदियों की आवश्यकता होती

थी। यहां तक कि यज्ञवेदी के बनाने के लिये जो ईंटें बनाई जाती थीं, वे भी किसी निश्चित आकार की रहती थीं। इन वेदियों के लिये आवश्यकीय वस्तुओं का उल्लेख वेदों में किया गया है। इस सम्बन्ध के मन्त्रों में रेखागणित के बहुत से पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है, जैसे प्रमा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द इत्यादि[२१]। इस प्रकार वैदिक-कालीन रेखागणित के ज्ञान का स्पष्ट पता लगता है।

शुल्वसूत्र व रेखागणित—प्राचीन भारतीय जीवन में ज्यों २ यज्ञ का महत्त्व बढ़ने लगा, त्यों २ रेखागणित का विकास भी होने लगा। इस विकास का स्पष्ट पता शुल्वसूत्रों से चलता है[२२]। इन सूत्रों में यज्ञ की वेदी के आकार, नाप आदि के सम्बन्ध में पूरा २ ब्यौरा मिलता है। इन में रेखागणित से सम्बन्धित कोण, त्रिकोण आदि को नापने की रीति समझाई गई है[२३]। इस प्रकार ये सूत्रग्रन्थ भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। ऐसे तीन शुल्वसूत्र वर्तमान हैं—बौधायन, कात्यायन व आपस्तम्भ। इन सूत्रों के समय के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। रमेशचन्द्र दत्त ई० पू० ८०० वर्ष के करीब, मैक्समूलर व मैकडॉनेल ई० पू० ५००–२०० तक और बूह्लर ई० पू० ४०० वर्ष तक इन्हें ले जाते हैं। इन सूत्रों के लिये ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग का समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है। इन को पढ़ने से रेखागणित के पर्य्याप्त विकास का पता चलता है। इन के समय में वर्ग, त्रिकोण, वृत्त, विभिन्न कोण आदि को बनाने के नियम विकसित करलिये गये थे। इनमें विभिन्न आकारों को बनाने की विधियें भी दी गई हैं[२४]। इन में रेखागणित के सिद्धान्तों के परिणाम बताये गये हैं, न कि उन सिद्धान्तों की परिभाषाएँ और न उन तक पहुँचने के कारणों को ही समझाया गया है। इन में रेखागणित के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख आता है, उन का ब्यौरा इस प्रकार है।

(१) कुछ समीकरणों का उल्लेख आता है,[२५] जैसे $३^२+४^२=५^२$; $५^२+१२^२=१३^२$; $१५^२+=२०^२=२५^२$। इन समीकरणों के फल तक पहुँचने के कारणों को नहीं समझाया गया है। कदाचित् यह अनुभव से जान लिया गया हो कि एक लम्बवाले त्रिभुज में लम्ब के सामने वाली रेखा पर का वर्ग, अन्य दो रेखाओं पर के दो वर्गों के बराबर रहता है। यूक्लिड की रेखागणित में इसे यूनानी

गणितज्ञ पाइथोगोरस का सिद्धान्त माना गया है व यह हॉल-स्टीव्हन्स द्वारा सम्पादित रेखागणित का ४९ वां साध्य है[२६]।

(२) एक चतुर्भुज के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि[२७]।

(३) एक वर्ग के क्षेत्रफल के लगभग बराबर क्षेत्रफल वाले वृत्त को बनाने की विधि[२८]।

(४) $\sqrt{२} = १ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३} \times ४ - \frac{१}{३} \times ४ \times ३४$ ।[२९]

(५) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफलवाला वर्ग बनाने की विधि[३०]।

(६) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के अन्तर के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि[३१]।

(७) बौधायन शुल्वसूत्र में लिखा है कि यदि अ एक वर्ग की भुजा हो व ड एक वृत्त का व्यास हो जिस का क्षेत्रफल $अ^{२}$ माना गया है तो—

$$अ = ड \left(१ - \frac{२}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६ \times ८} \right)$$

अर्थात्

$$\frac{अ}{ड} = \frac{१२२४}{१३९३}$$ [३२]

ये सब रीतियें पूर्णतया आधुनिक प्रतीत होती हैं।

रेखागणित व ज्योतिष—इन शुल्वसूत्रों के पश्चात् लगभग हज़ार वर्ष तक इस विषय का कोई साहित्य प्राप्त नहीं है। इस के पश्चात् आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि ने पुनः इस विद्या को जीवन प्रदान किया[३३]। धीरे २ रेखा-गणित का सम्बन्ध धर्म से छुड़ा कर ज्योतिष-शास्त्र से जोड़ा गया। इसलिये विभिन्न कोणों की विशेषताओं को समझने के प्रयत्न किये जाने लगे, व इस समय के गणितज्ञ नये २ सिद्धान्तों का आविष्कार करने लगे, जैसे ब्रह्मगुप्त द्वारा वृत्तस्थ चतुर्भुज की विशेषताओं का ढूँढा जाना[३४]। इस प्रकार एक विशेष रेखा-गणित का विकास किया गया। ज्योतिष-शास्त्र के लिये त्रिज्यामिति के ज्ञान की भी आवश्यकता रहती है, इसलिये उस शास्त्र का भी पर्य्याप्त विकास किया गया था[३५]।

बीज-गणित का विकास—प्रत्येक गणितज्ञ यह अच्छी तरह से जानता है कि अङ्कगणित व रेखा-गणित का बीजगणित से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है।

यों तो इस का प्रारम्भ भी बहुत पहिले से हुआ है, किन्तु ई० स० ४०० व ई० स० १२०० या १४०० के बीच में इस का विशेषरूप से विकास हुआ[३६]। ज्योतिषशास्त्र के सम्यक् विकास के लिये इस की भी आवश्यकता पड़ती है। बड़ी से बड़ी संख्या को गिनने की कठिनाई को इस की सहायता से दूर किया जा सकता है।

आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्तादि के सिद्धान्त—आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि, वृत्त के प्रश्न आदि का वर्णन किया है[३७]। उसने ज्या (Sine) के कार्यों का भी वर्णन किया है[३८]। इस के द्वारा आकाश में भिन्न २ नक्षत्रों की यथावत् स्थिति को अच्छी तरह समझ सकते हैं। टोलेमी (Ptolemy, ईसा की दूसरी शताब्दि) को ज्या के कार्यों का पता नहीं था। पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि ज्या के कार्य्यों को सर्वप्रथम अरब गणितज्ञों ने ढूँढा था[३९] व इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम लिखने वाला अलबेतेनियस (Albategnius) था। किन्तु यथार्थ में ज्या के कार्य्यों को सर्वप्रथम ईसा की चौथी शताब्दि में भारतीय गणितज्ञ आर्यभट्ट ने ढूँढ निकाला है। वराहमिहिर के "पौलश सिद्धान्त" में भी इस का कुछ उल्लेख मिलता है[४०]। ब्रह्मगुप्त भी बीजगणित व रेखागणित का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसी ने सर्वप्रथम ढूँढा कि अ२ का वर्गमूल ±अ हो सकता है[४१]। उस ने "अनिश्चित प्रश्नों" (Indeterminate Problems) को भी समझने का प्रयत्न किया था[४२]।

इस प्रकार प्राचीन भारत में अङ्क-गणित, रेखागणित, बीजगणित आदि के मौलिक तत्त्वों के विकास के आधार पर इन विद्याओं की आश्चर्य्यजनक उन्नति हुई थी व इन का प्रभाव विदेशों में भी फैल गया, जिस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

ज्योतिष

वैदिक-काल में ज्योतिष शास्त्र—ज्योतिषशास्त्र का गणित से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इस का अध्ययन भी यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रारम्भ किया गया था। इसलिये इस का प्रारम्भ भी वैदिक-काल से ही होता है। भिन्न २ यज्ञों के करने के लिये भिन्न २ नक्षत्रों का समय उपयुक्त

समझा जाता था। धीरे २ बहुत समय तक रहने वाले यज्ञ भी किये जाने लगे। इसलिये ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास प्रारम्भ हो गया। वैदिक काल में ग्रह, नक्षत्र आदि को समझने के लिये कोई यन्त्र इत्यादि नहीं थे, केवल नेत्र शक्ति ही से सब काम लिया जाता था। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि का ज्ञान था[४३]। वे वर्ष के बारह महीने व लौंध मास भी जानते थे[४४]। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है[४५] कि तीस दिन का साधारण मास चान्द्रमास से थोड़ा बड़ा रहता है; चान्द्रमास २९½ दिन का होता है। इस समय चन्द्र की कलाओं का भी ज्ञान था। ऐसा माना जाता था कि देवता लोग चन्द्र को पी जाते हैं, इसलिये वह घटता है[४६]। चन्द्र के पूर्णतया लुप्त हो जाने का ज्ञान भी वर्तमान था। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि चन्द्र व सूर्य्य का सहवास ही अमावास्या है[४७]। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अमावास्या की रात्रि को चन्द्र पृथ्वी पर उतर आता है, इसलिये उस रात्रि को दिखाई नहीं देता[४८]। कदाचित् अयन-ज्ञान इस समय में नहीं था। चान्द्र व सौर वर्ष के अन्तर का भी ज्ञान था। ऋभुओं को ऋतु के समान माना गया है[४९] व कहा गया है कि उन्होंने बारह दिन तक काम बन्द कर दिया व सूर्य्य के घर में वास किया। इस समय सूर्य्य व चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था। एक मत ऐसा भी है कि ऋग्वेद के पांचवें मण्डल के मन्त्रद्रष्टा अत्रि ऋषि इन ग्रहणों को पहिले से जान सकते थे। चित्रा, रेवती, पूर्व फाल्गुनी, मघा आदि नक्षत्रों का ज्ञान भी वैदिक काल में था, क्योंकि इन का उल्लेख ऋग्वेद के विवाह सम्बन्धी सूक्त में है[५०]। दिन रात के बारे में ऐतरेय-ब्राह्मण में लिखा है कि सूर्य्य जो अस्त होता है वह उस का दिवस के अन्त तक पहुँच वापिस लौटना है[५१]।

लगधकृत वेदाङ्ग-ज्योतिष—वैदिक-काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि वेदाङ्गों में इस का भी समावेश किया जाने लगा। लगधकृत वेदाङ्ग-ज्योतिष[५२] ज्योतिष-शास्त्र का एक मामूली व छोटा ग्रन्थ है। इस के समय के बारे में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जासकता। मैक्स-मूलर इसे ई० पू० ३०० वर्ष, वेबर ईसा की पांचवीं सदी व तिलक ई० पू० १४०० वर्ष तक ले जाते हैं। इस पुस्तक का ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान साधारण ही है। इस में चन्द्र व सूर्य्य की गति को समझने का प्रयत्न किया गया है।

सूर्य्य ३६६ दिनों में एक पूरा चक्कर लेता है। ग्रहों का अन्तर व उन की गति को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। दिन का काल साठ घटिका बताया गया है। वर्ष को बारह सौर महीने में व महिने को तीस दिन में विभाजित किया गया है[५३]। इस ग्रन्थ में भी यज्ञ के लिये ज्योतिष-शास्त्र की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

ज्योतिष के प्राचीन आचार्य्य—वेदाङ्ग-ज्योतिष के पश्चात् से पञ्चसिद्धान्तों के समय तक कदाचित् और कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया, क्योंकि श्रौत यज्ञ धीरे २ पीछे पड़ते जाते थे। किन्तु बाद के ग्रन्थों में कितने ही प्राचीन ज्योतिषाचार्यों व उन के ग्रन्थों के नामों का उल्लेख है, जैसे सूर्य्य, शुक्र, गृत्समद, बृहस्पति, वशिष्ठ, सप्तर्षि, पितामह, पराशर, गर्ग, वृद्धगर्ग, काश्यप, असित, देवल, बादरायण, सावित्र ग्रन्थ, षष्ठाब्द ग्रन्थ, वत्स, कपिल, भदत्त, मणित्थ, देवस्वामी, सिद्धसेन, यवनाः, जीवशर्मन्, लाटाचार्य्य, सिंहाचार्य्य, आर्य्यभट्ट इत्यादि[५४]। इन में पराशर आदि नाम निश्चयरूप से ऐतिहासिक मालूम होते हैं। बाद के लेखकों ने पराशर-तन्त्र नाम के ज्योतिष-ग्रन्थ का उल्लेख कितनी ही बार किया है[५५]।

ज्योतिष-शास्त्र का स्वतन्त्र-विकास—इन प्राचीन आचार्य्यों के उल्लेख से पता चलता है कि लगध के पश्चात् व पञ्च-सिद्धान्तों के पूर्व के समय में ज्योतिष-शास्त्र का पर्य्याप्तरूप से अध्ययन किया गया था व एतद्विषयक ग्रन्थ भी लिखे गये थे, किन्तु दुर्भाग्य-वश वे आज अप्राप्य हैं। बाद के ज्योतिष के आश्चर्य्यजनक विकास को इस विकास से अवश्य सम्बन्धित कर सकते हैं। यहां यह कहना उचित ही होगा कि भारत में शास्त्रीय ढङ्ग से ज्योतिषशास्त्र का विकास यूनानियों के संसर्ग व प्रभाव से हुआ,[५६] इस मत को मानने वाले भ्रम में पड़े हैं। हां, यूनानी ज्योतिष का भारतीय ज्योतिष पर प्रभाव अवश्य पड़ा है, जैसे कि भारत की अन्य विद्याओं ने विदेशों को प्रभावित किया था; किन्तु इस का यह मतलब कदापि नहीं हो सकता कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र यूनानी से ही विकसित हुआ है। इतिहास इस के स्वतन्त्र-विकास की साक्षी देता है।

पञ्चसिद्धान्त—सूर्य्य, वाशिष्ठ, पैतामह, पौलश, रोमक आदि पञ्चसिद्धान्तों में इस शास्त्र की प्रगति का अच्छा पता चलता है[५७]। इन का समय लगध के

पश्चात् व आर्यभट्ट (ई० स० ४७६) के पूर्व माना जाता है। इनमें सूर्य्य व अन्यग्रहों को एक चक्कर लगाने में ठीक कितना समय लगता है, उस का विचार किया गया है[५८]। इस समय राशियों का ज्ञान नहीं था। पांच वर्ष का युग माना जाता था, जिस में दो लौंध मास तथा साठ सौर व सड़सट चान्द्र-मास रहते थे। वेदाङ्ग-ज्योतिष व पैतामह-सिद्धान्त के अनुसार चान्द्र-वर्ष ३६६ दिन का रहता है। चन्द्र व सूर्य्य की सच्ची गति का कोई ज्ञान नहीं था।

आर्यभट्ट के काल में ज्योतिष का विकास—शास्त्रीय ढङ्ग पर ज्योतिष के विकास का प्रारम्भ आर्यभट्ट के समय से होता है। इस समय में सूर्य्यादि की गति का ठीक २ पता लगाया गया था। सौर्य्य गति का समय ३६५ दिन, ५ घंटे, ५५ मि० व १२ से० निश्चित किया गया था, जो कि बिलकुल ही ठीक है। ग्रहण के सम्बन्ध में भी इस समय के आचार्य्यों का ज्ञान बहुत आगे बढ़ गया था। उन्हें राशि आदि का ज्ञान भी होगया था व दिवस के कम, अधिक होने का भी पता था[५९]। इस प्रकार इस समय ज्योतिष का पर्य्याप्त विकास हो चुका था।

भारतीय ज्योतिष पर यूनान का प्रभाव—कुछ विद्वानों का मत है कि यूनानी ज्योतिष-शास्त्र के प्रभाव के कारण ही भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की इतनी प्रगति हुई। यूनान के प्रभाव के सम्बन्ध में इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र ने कुछ सिद्धान्त यूनान या मिश्र के यूनानियों से अवश्य लिये हैं, जैसे राशि का सिद्धान्त[६०]। बहुतसे संस्कृत पारिभाषिक शब्दों से भी इस प्रभाव का पता चलता है, जैसे हारिज् (Horigon), कोण (Cone), केन्द्र (Centre कैंटर), होरा (Hora) इत्यादि[६१]। इस प्रकार के लगभग ३६ शब्द यूनानियों के शास्त्र से लिये गये हैं। इस के अतिरिक्त रोमक व पौलिश सिद्धान्तों के नामों से उन का विदेशी होना स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है। एलबरूनी के कथनानुसार पौलिश सिद्धान्त का लेखक एलेक्ज़ेन्ड्रिया (मिश्र) का रहने वाला पौलस नामी एक यूनानी था[६२]। रोमक-सिद्धान्त के बहुतसे सिद्धान्त यूनान के ज्योतिषी मेटन (Meton, ई० पू० ४३० वर्ष) के सिद्धान्तों से मिलते झुलते हैं[६३]। डॉ. भाऊदाजी व कोलब्रूक का कथन है कि रोमक-सिद्धान्त का लेखक श्रीशेष है[६४]। यह ठीक नहीं, क्योंकि वह तो रोमक-सिद्धान्त का

टीकाकार मात्र ही था, जिस ने उस ग्रन्थ में आर्य्यभट्ट आदि के सिद्धान्तों को मिला दिया है । वराहमिहिर ने रोमक-सिद्धान्त को स्मृतिबाह्य सिद्धान्त कह कर उस का तिरस्कार किया है[६५] । इस से भी उस के वैदेशिक होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । भारतीय ज्योतिषाचार्य्यों ने भी अपने ज्योतिषशास्त्र पर विदेशी प्रभाव को स्पष्टतया माना है जैसा कि 'गार्गी संहिता' में गर्गाचार्य ने लिखा है[६६] ।

प्राचीन ज्योतिषाचार्य्य आर्य्यभट्ट—अब हमें प्राचीन काल के कुछ ज्योतिषाचार्य्यों के जीवनचरित पर विचार करना चाहिये । आर्य्यभट्ट का जन्म पाटलीपुत्र में ई० स० ४७६ में हुआ था । इन के ग्रन्थ इस प्रकार हैं—आर्याष्टशतक, दशगीतिक । दूसरे ग्रन्थ में ग्रहण तथा ग्रहों की ठीक २ गति पर विचार किया गया है व मूल सूर्य्यसिद्धान्त को आधार माना गया है ।

वराहमिहिर—इन का जन्म शक संवत् ४२७ (ई० स० ५०५) के लगभग हुआ है । इन के टीकाकार पृथुस्वामी के मतानुसार इन की मृत्यु शक संवत् ५०९ (ई० स० ५८७) में हुई । इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

बृहत्संहिता—इस में फलित-ज्योतिष का वर्णन है ।

पञ्चसिद्धान्तिका—यह करण-ग्रन्थ है ।

बृहज्जातक—इस में भौतिक शास्त्र का वर्णन है ।

लघुजातक

श्रीशेष—ये या तो वराहमिहिर के समकालीन थे या उन के कुछ पश्चात् हुए थे । इन्हों ने रोमकसिद्धान्त पर टीका लिखी, किन्तु वह टीका सर्वप्रिय न हो सकी ।

ब्रह्मगुप्त—इन का जन्म अरावली पर्वत के निकट भिनमाल नगर में ई० स० ५९८ में हुआ था । ये स्वतन्त्र लेखक थे । इन्होंने अपनी स्वतन्त्र-विचारशक्ति के द्वारा कितने ही सिद्धान्तों का आविष्कार किया । आर्य्यभट्ट से भी इन का बहुत मतभेद था । इन के ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

ब्रह्म-सिद्धान्त—बारहवीं शताब्दि के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य्य इस के सिद्धान्तों को मानते थे । यह ग्रन्थ अरबी भाषा में सर्वप्रथम अनुवादित किये जाने वाले ज्योतिष ग्रन्थों में से है[६७] ।

खण्ड-खाद्य—इस का भी अनुवाद अरबी भाषा में किया गया था ।

लल्ल—इन का जन्म ईसा की दसवीं शताब्दि के कुछ पूर्व्व हुआ। पृथूदकस्वामी (ई० स० ९७०) व भट्टोत्पल (ई० स० १०३०) टीकाकार मात्र थे।

भास्कराचार्य्य—इन का जन्म खानदेश के विज्जलवीड़ गांव में सन् १११४ ई० में हुआ था। ये ज्योतिष, गणित आदि के प्रसिद्ध आचार्य्य माने जाते हैं। इन्हें गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान था, जब कि न्यूटन पैदा भी न हुआ था। इन के ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

सिद्धान्त-शिरोमणि—यह गणित का ग्रन्थ है। इस का पहिला भाग 'पाटी-गणित' या 'लीलावती' कहलाता है। इस में अङ्कगणित व मेन्स्युरेशन का वर्णन है। दूसरा भाग 'बीज-गणित' व तीसरा भाग 'गोलाध्याय' है, जिस में ज्योतिष-शास्त्र का वर्णन है।

करण-कुतूहल—यह ज्योतिष-ग्रन्थ है।

इसे लेखक ने अपनी ६९ वर्ष की अवस्था में लिखा है।

भास्कर-व्यवहार

विवाह पटल

इन के ग्रन्थों की लगभग बीस टीकाएँ प्राप्त हैं। इस से इन की लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है।

विज्ञान

विज्ञान के विकास का प्रारम्भ—भारत में वैदिक काल से ही विज्ञान के भिन्न २ अङ्गों का विकास प्रारम्भ हो गया था। भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणीशास्त्र, भूगर्भविद्या, धातुविद्या (जिसे लोहशास्त्र भी कहते थे) आदि के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख वेदों में मिलता है[९८]। वैदिक काल के पश्चात् भी इन सब शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास होते ही गया। इन विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे गये थे, जिन में से कुछ अब भी प्राप्त हैं। यहां यह याद रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में दर्शन-शास्त्र के साथ ही साथ तथा उस की सहायता के लिये ही विज्ञान का विकास किया गया था, जैसा कि डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है[९९]। प्राचीन भारत के वैज्ञानिक विकास के बारे में बहुत कुछ जानकारी हमें इन ग्रन्थों से प्राप्त होती है—पातञ्जल-

सूत्र पर व्यासभाष्य, चरकसंहिता, प्रशस्तपाद का भाष्य, उद्योतकरकृत वार्तिक, वराहमिहिर की बृहत्संहिता[७०]।

भौतिक-शास्त्र—आधुनिक भौतिक-शास्त्र ने साधारणतया सत्तर या अस्सी तत्त्वों (Elements) को माना है[७१] व 'एलेक्ट्रॉन सिद्धान्त' (Electron Theory) ने[७२] इस विभिन्नता में एकता को प्रमाणित किया है, जिससे यह मालूम होता है कि भिन्न २ तत्त्वों में 'एलेक्ट्रॉन' की संख्या की ही भिन्नता रहती है, अन्य कोई भिन्नता नहीं रहती। इस 'एलेक्ट्रॉन-सिद्धान्त' से यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक परमाणु (Atom) सौर्य्य जगत् (Solar System) का छोटा सा रूप है व उसी के समान गतिशील है। 'पॉज़िटिव्हली चार्ज्ड' (Positively Charged) 'एलेक्ट्रॉन' के चारों ओर 'निगेटिव्ह' (Negative) 'एलेक्ट्रॉन' ठीक उसी तीव्र गति से घूमते हैं, जिस से कि सूर्य्य के चारों ओर ग्रह घूमते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए यदि संस्कृत भाषा के 'जगत्',[७३] 'संसार'[७४] आदि शब्दों पर विचार किया जाय तो उन में भरा वैज्ञानिक रहस्य समझ में आजायगा। इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में, जिस "एकत्त्व" का उल्लेख है, उस में भौतिक एकत्त्व का भाव भी भरा है;[७५] क्योंकि भारतीय आचार्य्यों के मतानुसार सब चराचर जगत् का विकास उसी एक परमतत्त्व से हुआ है[७६]। सांख्य-दर्शन ने इस विकासवाद को व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया है।

प्रकृति व उस के गुण—प्राचीन काल में प्रकृति के भिन्न २ तत्त्वों को समझ उस के स्वरूप को समझने का प्रयत्न भी किया गया था, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। इस प्राकृतिक जगत् का विकास मूल प्रकृति (Original Matter) से हुआ है। उस मूलप्रकृति को सत्त्व, रज, तम आदि गुणों की साम्यावस्था बताया गया है[७७]। सत्त्व से प्रकृति के अन्तर्निहित तात्त्विक शक्ति (Essence) का बोध होता है; रज से गतिशीलता (Energy) व तम से अन्तर्व्यापिनी स्तब्धता (Mass or Inertia) का बोध होता है[७८]। इन्हीं तीन गुणों में वैषम्य होने से प्राकृतिक जगत् का विकास प्रारम्भ होता है।

परमाणुवाद—भारतीय वैज्ञानिकों को प्राचीन काल में परमाणुवाद

(Atomic Theory) का भी ज्ञान था[७९]। पाश्चात्य जगत् को तो १८ वीं शताब्दि में डॉल्टन ने इस सिद्धान्त का पाठ पढ़ाया[८०]। किन्तु उस के कितने ही वर्ष पूर्व कणाद ने इस सिद्धान्त को समझ उसे दार्शनिक जगत् के सामने उपस्थित किया था। इस सिद्धान्त को वेदान्तियों, बौद्धों, जैनों आदि ने भी अपने २ ढङ्ग पर विकसित किया था। इस के अनुसार प्रकृति अत्यन्त छोटे २ परमाणुओं की बनी है। एक परमाणु का आकार $\frac{१}{३४९५५२५}$ इन्च माना गया है। प्रकृति की गति-शीलता के कारण ये परमाणु मिलते हैं व पृथक् होते हैं[८१]। यह क्रिया अनादि काल से चली आती है। प्रकृति की गतिशीलता (Motion) के संयोग, विभाग, निरपेक्ष आदि के कारणों पर अच्छा विचार किया गया है। प्रशस्तपाद के मतानुसार प्रकृति की भिन्न २ प्रकार की गतिशीलता रहती है,[८२] जैसे क्षणिक (Instantaneous), वेग (Impressed motion), संस्कार (a series of motions) आदि। उस के मतानुसार एक द्रव्य में एक समय में एक ही प्रकार की गति रहती है। इस गतिशीलता के और भी भेद बताये गये हैं[८३]—

(१) प्रयत्न—जो इच्छा से उत्पन्न होती है।

(२) वस्तुओं का पृथ्वी की ओर आकर्षण।

(३) स्यन्दन—द्रव पदार्थों की गति, जैसे नदी का बहाव।

(४) अदृष्ट के कारण गति—जिस का कारण समझ में न आ सके।

(५) संयोगजन्य—परस्पर संयोग से उत्पन्न गति।

(६) नोदन—दबाव के कारण उत्पन्न होने वाली गति। इस के सम्बन्ध में भिन्न २ आचार्यों ने अपने २ मत दर्शाये हैं। अपना मत दर्शाते हुए उदयन विमानों का भी उल्लेख करते हैं, जो कि यथार्थ में महत्त्वपूर्ण है[८४]। डॉ० सील भी इस कथन की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि उदयन ने धूमादि से आपूरित चर्म्मपुट वाले विमानों का उल्लेख किया है व इस से सिद्ध होता है कि उदयन के समय (ई० स० ९७० के लगभग) विमानों का ज्ञान भारतीयों को था[८५]।

(७) अभिघात-गति

(८) लचीले पदार्थ के संसर्ग से उत्पन्न गति ('यथास्थितं स्थापयति')

(९) वेगवद्द्रव्यसंयुक्त-संयोग—किसी वेगवाली वस्तु के संयोग से उत्पन्न गति।

प्रकाश (Light) व उस का विश्लेषण—(Analysis) प्रकाश के सात रङ्गों को भी भारतीयों ने वैदिक काल से ही समझ लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र-धनुष के सात रङ्गों को देखकर प्रकाश का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया गया होगा। ऋग्वेद में सूर्य्य को सात घोड़ों के रथ में बैठने वाला तथा 'सप्तरश्मि' अर्थात् सात प्रकार की किरणों वाला कहा गया है[८६]। इसी प्रकार पुराणों में भी उल्लेख आता है कि सूर्य्य सात घोड़ों के रथ में घूमता है[८७]। आज भी मन्दिरों में सूर्य्य का चित्र ऐसा ही बनाया जाता है। इससे हमें पता चलता है कि हमारे पूर्वजों ने एक वैज्ञानिक तथ्य को किस प्रकार काव्य व कला की मनोहर भाषा में अनुवादित किया था। सूर्य्य की किरणों को अत्यन्त ही वेगवान् घोड़ों की उपमा देना बिलकुल ही उपयुक्त है, क्योंकि सूर्य्य का प्रकाश अत्यन्त ही शीघ्रगामी है। वैज्ञानिकों के मतानुसार सूर्य की किरणें एक सेकन्ड में एक लाख छ्याँसी हज़ार (१,८६०००) मील जाती हैं[८८]।

शब्द—भारत के दार्शनिकों ने शब्द के विभिन्न स्वरूपों को भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर समझने का प्रयत्न किया था। उन्होंने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है। मीमांसकों के अनुसार इसके तीन भेद हैं;[८९] जैसे नाद, ध्वनि व स्फोट। न्यायवैशेषिक के अनुयायी 'वीचितरङ्गन्याय' को मानते हैं,[९०] जिसके अनुसार हर क्षण शब्द आकाश में वृत्ताकार बनाता है और इस प्रकार हवा में सदैव बढ़ने वाले वृत्त बनते जाते हैं, जैसा कि जल पर दृष्टिगोचर होता है। घण्टे के कम्पन युक्त शब्द का भी विश्लेषण किया गया था व उसे "कम्पन-सन्तान-संस्कार" कहते थे[९१]। प्रतिध्वनि को शब्द की छाया माना जाता था[९२]। कोई २ इसे एक शब्द के पश्चात् तज्जन्य अन्य शब्द मानते हैं। गायनशास्त्र-सम्बन्धी श्रुति, स्वर आदि का भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर विवेचन किया गया था, जिसका विवरण भारतीय नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय में है[९३]।

रसायन-शास्त्र—रसायनशास्त्र के विकास का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही हुआ था, क्योंकि आयुर्वेद के ज्ञान के लिये इसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है व वैदिककाल में आयुर्वेद का विकास प्रारम्भ होगया था[९४]। यजुर्वेद में मणिकार, सुवर्णकार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातुज्ञान का पता लगता

है[९५]। रसायनशास्त्र के ज्ञान के बिना धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ समझ में आ ही नहीं सकतीं।

चरक-सुश्रुत आदि व रसायनशास्त्र—रसायन-शास्त्र के विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण सुश्रुत, चरक, पतञ्जलि, वराहमिहिर आदि के ग्रन्थों से मिलता है। चरकसंहिता के 'शारीर-स्थान' में भौतिक द्रव्यों के गुणों का वर्णन है[९६]। पार्थिव द्रव्य गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, सान्द्र, गन्ध इत्यादि गुणवाले होते हैं। आप्य द्रव्यों में द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, सरस आदि बहुतसे गुण रहते हैं। आग्नेय द्रव्यों में उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रुक्ष, विशद, रूप आदि गुण रहते हैं। लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श आदि गुण वायव्य द्रव्यों में होते हैं। मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द आदि बहुतसे आकाशात्मक गुण हैं। महाभूतों के परस्पर सम्मिश्रण का उल्लेख सुश्रुतादिने किया है[९७]। आकाश में वायु अग्नि व जल का, वायु में अग्नि जल तथा अणुता-विशेष से भूमि का, अग्नि में धूमादि रूप से भूमि आदि का समावेश रहता है[९८]।

पतञ्जलि का लोहशास्त्र—पतञ्जलि के लोहशास्त्र (Metallurgy) सम्बन्धी ग्रन्थ से बहुतसी उक्त शास्त्र सम्बन्धी रासायनिक क्रियाओं (Metallurgical and Chemical processes) का पता लगता है, विशेषकर धातु-सम्बन्धी क्षार (Metallic Salts), विविध सम्मिश्रण (Alloys and amalgums) आदि बनाने धातु निकालने व शुद्ध करने आदि की विधियों का वर्णन है[९९]। यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है, किन्तु इसके बहुतसे उद्धरण बाद के ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कदाचित् पतञ्जलि ने ही सर्व प्रथम 'विद' नामी मिश्रणों (Mixtures) का पता लगाया था[१००]। नागार्जुन ने, जो कि लोहशास्त्र का अच्छा विद्वान् था, पारे को बना कर रासायनिक सम्मिश्रणों (Compounds) के ज्ञान में वृद्धि की है[१०१]।

रसायन-शास्त्र व औद्योगिक विकास—प्राचीन भारत में रसायन-शास्त्र की सहायता से औद्योगिक विकास भी किया गया था। वराहमिहिर (ईसा की छठी शताब्दि का प्रारम्भिक भाग) ने अपनी बृहत्संहिता में विविध लेप, चूर्ण आदि बनाने की विधि का उल्लेख किया है[१०२]। इन लेपों में 'वज्रलेप'[१०३] भी है, जिसका उपयोग कदाचित् अशोक के स्तम्भों पर किया गया है[१०४]।

इन लेपों का उपयोग बौद्धकालीन मन्दिर, मठ आदि के बनाने में किया जाता था, जिसे कहीं २ आज भी देखा जा सकता है। अशोक के स्तम्भ रेतीले पत्थर के बने हैं, किन्तु इस वज्रलेप के कारण कितने ही दर्शकों ने समझा कि वे पौलाध के बने हैं[१०५]। यह लेप आज बावीससौ वर्ष पश्चात् भी ज्यों का त्यों ही है व वराहमिहिर के कथन को सत्य प्रमाणित करता है। इसी प्रकार बिहार में, जो आजीविकों की 'बाराबर गुफाएँ' हैं, उनकी दीवारों पर भी ऐसा ही लेप अब भी वर्तमान है, जिसके कारण वे कांच के समान चमकती हैं व उनमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब भी पड़ता है[१०६]। वज्रलेप के अतिरिक्त वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में शिलादारण, शस्त्रपान, वृक्षायुर्वेद आदि का भी उल्लेख किया है[१०७]। उसने 'यन्त्रविदः', 'यन्त्रज्ञा' आदि तथा भिन्न २ रङ्ग व सुगन्धित द्रव्यों को बनाने वालों 'रागगन्धयुक्तिविदः' का उल्लेख किया है[१०८]। उसकी बृहत्संहिता में सुगन्धित द्रव्यों का भी वर्णन है[१०९]। उसमें बकुल, उत्पल, चम्पक, अतिमुक्तक आदि पुष्पों के तत्त्वांश की सहायता से वैसी ही सुगन्ध वाले कृत्रिम द्रव्यों को बनाने की विधि वर्णित है, जिस पर श्री० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने अच्छा प्रकाश डाला है[११०]।

वराहमिहिरादि के पश्चात् रसायन-शास्त्र—रसायन-शास्त्र का ज्ञान वराहमिहिर आदि के पश्चात् भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसके विकास के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य से कितने ही प्रमाण मिलते हैं। गुणाढ्यकृत वासवदत्ता में इस शास्त्र के विद्वानों का उल्लेख है[१११]। दण्डी के दशकुमारचरित में 'योगचूर्ण'[११२] का, जिसके सेवन से एकदम गहरी नींद आ जाती थी, तथा 'योगवर्तिका'[११३] का, जो कि बिना अग्नि के प्रकाश देती थी, उल्लेख है। वासवदत्ता में एक ऐसे चूर्ण का उल्लेख है, जिससे शरीर की सब क्रियाओं का स्तम्भन हो जाता था[११४]। वृन्द (ई० स० ९५०) ने 'रसामृतचूर्ण' (Sulphide of Mercury) के बनाने का उल्लेख किया है[११५]। इसमें एक भाग गन्धक व आधा भाग पारा रहता था। उसने 'पर्पटी-ताम्र' (Cuprous Sulphide) का भी उल्लेख किया है। भस्मीकरण, अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन आदि द्वारा विभिन्न रसायनों के बनाने का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में आता है[११६]।

वनस्पति-शास्त्र—इसका प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है।

वैदिक काल से ही सब जीवधारियों को दो विभागों में बांटा गया था— स्थावर व जङ्गम । ऋग्वेद में इन्हें क्रमशः तस्थुष व जगत् शब्दों से सम्बोधित किया गया है[११७] । वैदिक ऋषियों ने अपनी तीव्र बुद्धि से इन प्राणियों का सम्यक् अध्ययन किया था तथा उनका मानव-जीवन के लिये क्या महत्त्व है उसे भी अच्छी तरह समझा था, क्योंकि ऋग्वेद में सूर्य्य को स्थावर व जङ्गम की आत्मा कहा गया है[११८] । आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य्य के महत्त्व को भलीभाँति जानते व पहिचानते हैं, क्योंकि उनका भी कथन है कि सूर्य्य जीवन-शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है[११९] ।

वनस्पतियों के विभिन्न प्रकार—वनस्पति-शास्त्र के विकास के सम्बन्ध में प्रत्यक्षरूप से चरक, सुश्रुत, उदयन आदि के ग्रन्थों से बहुत कुछ मालूम होता है । उन्होंने वनस्पतियों के भिन्न २ विभाग बताये हैं । चरक के अनुसार ये विभाग इस प्रकार हैं[१२०]—वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि व वीरुध । चक्रपाणि ने अपनी चरक की टीका में वनस्पतियों के दो मुख्य भेद किये हैं,[१२१] जैसे वीरुध व औषधि । इन दोनों के भी दो २ उपभेद बताये गये हैं । सुश्रुत ने चरक के अनुसार ही इन विभागों को माना है[१२२] ।

वनस्पतियों में जीव—वनस्पतियों में जीव है व उन्हें भी जागृति निद्रा, सुख, दुःख, आदि का अनुभव होता है, यह सिद्धान्त प्राचीन भारत में ज्ञात था । वेद तथा उपनिषदों में इस का स्पष्ट उल्लेख आया है[१२३] । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने भी इसे स्वीकार किया है । कितनी ही बार उन्होंने अपने व्याख्यानों में कहा है—"मैं दुनियां के सामने वे ही सिद्धान्त रख रहा हूं, जो भारत के ऋषिमुनियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व खोज निकाले थे" । उदयन ने वनस्पतियों के जीवन, मरण, निद्रा, जागृति, रुग्णता, ओषध्युपचार, अनुकूल के प्रति आकर्षण, प्रतिकूल से अपकर्षण आदि पर विशेष प्रकाश डाला है[१२४] । उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मानवशरीर के समान वृक्षादि भी जीते, मरते, सोते, जागते, बीमार होते व भेषजप्रयोगादि करते हैं । इन में चेतना-शक्ति रहती है, यह सिद्धान्त भी प्राचीन काल में ज्ञात था । यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि इन में सुखदुःखसमन्वित अन्तःसंज्ञा भी रहती है । महाभारत में लिखा है कि इन पर गरमी, ठंड, बादल की गरज, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का प्रभाव पड़ता है, तथा इन में इन्द्रिय-ज्ञान भी रहता है ।

उस में लिखा है कि वृक्ष सुनते, देखते, सूँघते व जलादि का पान करते हैं[१२५]।

प्राणी-शास्त्र—वनस्पतिशास्त्र के समान प्राणीशास्त्र का भी विकास प्राचीन काल में हुआ था। चरक ने सब प्राणियों के मुख्य चार विभाग किये हैं[१२६]—

जरायुज—गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली आदि।

अण्डज—अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि।

स्वेदज (उष्मज)—पसीने या गरमी से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के कीट आदि।

उद्भिज्ज—भूमि खोद कर निकलने वाले वनस्पति आदि।

प्रशस्तपाद ने इन के दो और विभाग किये हैं, जैसे योनिज व अयोनिज[१२७]। पुराणादि ग्रन्थों में विभिन्न पशुओं की कितनी ही विशेषताएँ दी गई हैं, जिन के पढ़ने से तत्कालीन प्राणीशास्त्र के ज्ञान का पता चलता है[१२८]। दुर्भाग्य से इस विषय का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। अन्य ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो कुछ दिया है, उस का थोड़ासा विवरण यहां दिया जाता है। उमास्वाती (ई० स० ४०) ने कुछ पशु आदि के लक्षण इस प्रकार बताये हैं[१२९]—

रुरु—शरद ऋतु में अपने सींगों को त्याग देता है। उस के लक्षण इस प्रकार हैं। इस के बहुतसे विकट विषाण होते हैं व देह शम्बराकार रहती है, तथा सदा जल के समीप विचरण करता है। शरद ऋतु में अपने सींगों को त्याग देता है व रोने लगता है। इसलिये 'रुरु' कहते हैं।

कारण्डव—यह सफेद हंस का एक भेद है। यह छोटा होता है। कोई २ इसे 'करहर' भी कहते हैं। इस के बारे में कहा गया है कि इस का कौवे के समान मुख, लम्बे पैर व काला रङ्ग होता है।

कङ्क—इस की चोंच लम्बी रहती है। बाणपत्र के समान पङ्ख होते हैं। इस के पैर लम्बे होते हैं व पंखों के नीचे पीला रङ्ग रहता है।

भूगर्भ-शास्त्र—इन शास्त्रों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में भूगर्भशास्त्र, धातुविद्यादि का ज्ञान भी वर्तमान था। पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा[१३०] कह कर सम्बोधित करना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयों ने पृथ्वी

के गर्भ में से नाना प्रकार की बहुमूल्य धातुएँ खोद कर निकाली होंगीं। इसीलिये तो उसे 'रत्नगर्भा वसुन्धरा'[१३१] कहा गया। इस के अतिरिक्त वेदों में सोना, चान्दी, ताम्बा आदि भिन्न २ धातुओं का स्पष्ट उल्लेख आता है[१३२]। पुराणादि ग्रन्थों में जो सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन दिया है, उस में पांच तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए इस पृथ्वी की बनावट पर भी प्रकाश डाला गया है[१३३]।

आयुर्वेद

वैदिककाल में आयुर्वेद का ज्ञान—आयुर्वेद के विकास का प्रारम्भ भी वैदिक-काल से ही होता है। ऋग्वेद व विशेषकर अथर्ववेद से इस सम्बन्ध की बहुतसी बातें मालूम होती हैं। ऋग्वेद में अश्विनीकुमार से टूटे पैर को जोड़ देने की प्रार्थना की गई है व शरीर के भग्न अङ्गों का कृत्रिम साधनों से ठीक करने का भी उल्लेख है[१३४]। अथर्ववेद में भिन्न २ रोगों का उल्लेख है तथा उनके उत्पादक कीटाणुओं का भी वर्णन है[१३५]। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि १८४९ ई० के कितने ही वर्षों पूर्व कीटाणुशास्त्र (Bacteriology) का ज्ञान भारतीयों को था। इस सम्बन्ध में, "कीटाणु-शास्त्र" पुस्तिका के सम्पादक श्री० जगन्नाथप्रसाद 'शुक्ल' वैद्य अपनी पुस्तिका में इस प्रकार लिखते हैं[१३६]—"कीटाणु-शास्त्र और कीटाणु की रोग-प्रसारिणी शक्ति को वैद्य लोग अस्वीकार नहीं करते, क्योंकि हमारे आयुर्वेद-शास्त्र में भी सूक्ष्म कीटाणुओं का अस्तित्त्व सन् १८४९ ई० से ही नहीं, हज़ारों वर्ष पहिले से स्वीकार किया गया है और उन्हें कई रोगों का कारण भी माना गया है। परन्तु हम लोग कीटाणुओं को रोगोत्पत्ति का आदि कारण नहीं मानते। ये केवल रोग-प्रसार के साधन मात्र हैं। मूलकारण वही है जिनसे ये उत्पन्न होकर बढ़ते और मनुष्य-शरीर में आश्रय कर जीसकते तथा रोग बढ़ाने में समर्थ हो सकते हैं। चरक-संहिता के विमान-स्थान में लिखा है "सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः" अर्थात् कई प्रकार के कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे आंखों से नहीं दिखाई पड़ते। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व के महर्षि किसी साधन से अदृश्य कीटाणुओं को भी देखने में समर्थ होते थे, चाहे उन के पास कोई यन्त्र रहे हों अथवा तपोबल से ही जानते रहे हों। क्योंकि यदि ऐसा न रहता तो वे यह कैसे कह सकते थे कि 'अदृश्यकीटाणु' होते हैं।

अथर्ववेद में रोगकीटाणुओं का उल्लेख—इन कीटाणुओं का उल्लेख अथर्ववेद में इस प्रकार है । 'सूर्य्य और पृथ्वी सब प्रकार सम्मिलित होकर, व दिव्य गुणवाली यह वाणी या जलधारा या नदी सङ्गत होकर, इन्द्र विद्युत व अग्नि ये दोनों भी परस्पर मिलकर रोगकारी जन्तुओं का मेरे लिये विनाश करें । सूर्य्य की किरण, तीव्र वाणी, मिट्टी, जलधारा, बिजली, अग्नि ये सब मिलकर रोग-कीटाणुओं का नाश करते हैं । हे धनपते ऐश्वर्यवान् इन्द्र (सूर्य्य), वायु, विद्युत् आप इन रोगकारी-जन्तुओं का नाश करें । मेरे बल-पूर्वक कहे गये उपदेश या वचन-बल से सब दुःखकारी पीड़ाएँ नष्ट होती हैं । जो कीट आँखों पर, नाक में या दाँतों के बीच में चला जाता है, उस कीट का हम विनाश करें । समान रूप वाले दो, भिन्न २ रूप वाले दो, काले व काटने वाले दो, लालरङ्ग के वा बढ़ने वाले दो, भूरे वर्ण के भूरे थान वाले, मांस के लोभी और भेड़िया-स्वभाव के ये सब विनाश किये जायँ । जो कीट श्वेत कोखवाले और काले सफेद पैरों वाले हैं और जो नाना रूप वाले हैं, उन क्रिमियों का हम नाश करें । सूर्य भी ठीक सामने से आवे तो वह स्वयं सब को दृष्टिगोचर होकर न दीखने वाले रोग-कीटों का नाश करता है, क्योंकि वह अपनी तेज़ किरणों से दीखने व न दीखने वाले सब कीटों का नाशकर्ता व उच्छेद-कर्ता है । ये वाष, कष्मक, एनत्, शिपिविन्तुक ये नाना प्रकार की रोग-कीट जातियाँ और दिखाई देने वाला तथा न दिखाई देने वाला रोग-कीट भी मार दिया जाय'[१३७] ।

वैदिक-काल के पश्चात् आयुर्वेद का विकास—वैदिक काल के पश्चात् भी इस शास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन किया गया था । शतपथ ब्राह्मण में, जैसा कि अथर्ववेदसे भी ज्ञात होता है, मनुष्य के शरीर की सब हड्डियों की पूरी संख्या तक दी है[१३८] । आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहना ही इसके महत्त्व व वैदिक काल के पश्चात् के इसके विकास का द्योतक है । जनश्रुति के अनुसार आयुर्वेद के आठ भेद थे, जिनमें पिशाचों द्वारा उत्पादित तथा विषों से उत्पन्न होने वाले रोगों का समावेश भी हो जाता है[१३९] ।

आयुर्वेद के विभाग—प्राचीन आयुर्वेद के साधारणतया निम्नाङ्कित विभाग माने गये थे ।

(१) शल्य—इसमें बाण, काँटे, लकड़ी आदि बाह्यपदार्थ को निकालने की विधि तथा फोड़े, फुन्सी आदि को चीरफाड़ द्वारा सुधारने की क्रिया का समावेश होता है। इस पर आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

(२) शालाक्य—आँख, कान, नाक आदि की बीमारियों से सम्बन्धित।

(३) काय-चिकित्सा—रुग्ण शरीर के लिये ओषधि आदि का उपचार।

(४) भूत-विद्या—भूत पिशाचादि के प्रभाव को दूर करने की विधि या क्रिया।

(५) कुमार-भृत्य—बालकों के स्वास्थ्य से व बच्चों की माँ, धाई आदि के रोगों से सम्बन्धित।

(६) अगद—दवा देने की क्रिया, विधि आदि।

(७) रसायन—

(८) वाजीकरण—मानव जाति की वृद्धि के लिये प्रयोगादि।

बौद्ध-काल में आयुर्वेद का ज्ञान—बौद्ध काल में भी आयुर्वेद का पर्य्याप्त विकास हुआ था, जैसा कि बौद्ध ग्रन्थों तथा अशोक के लेखों से स्पष्ट है। अशोक ने उत्तम २ जड़ी बूटियें विदेशों तक में पहुँचाई थीं तथा उसने अपने राज्य में भी औषधालय आदि खुलवाये थे[१४०]। चीनी तुर्किस्थान से ३५० ई० के आसपास के भोजपत्र पर लिखे संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं, जिनमें तीन आयुर्वेद सम्बन्धी हैं[१४१]। आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों में चरक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। चरक-संहिता वैद्यक का अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है[१४२]। सुश्रुत-संहिता भी एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है[१४३]। काम्बोडिया में नवीं तथा दसवीं शताब्दि में इसका प्रचार हो चुका था।

चरक-संहिता—चरक-संहिता के आठ भाग हैं, जिनमें भिन्न २ विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

(१) 'सूत्रस्थान'—ओषधि का प्रारम्भ, वैद्य के कर्तव्य, ओषधि का उपयोग, रोग का उपचार, भोजन आदि।

(२) 'निदान-स्थान'—ज्वर, रक्तस्राव, सूजन, मधुमेह, कुष्ठ, क्षय, मिरगी आदि रोगों का वर्णन।

(३) 'विमान-स्थान'—महामारियों का वर्णन, अन्न, रोग-निदान, उपचार, शरीर के विभिन्न रसों की विशेषताएँ।

(४) 'शारीर-स्थान'—जीव का वर्णन, विभिन्न जातियाँ, तत्त्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर व जीव का सम्बन्ध इत्यादि।

(५) 'इन्द्रिय-स्थान'—ज्ञानेन्द्रिय व उनके रोगों का वर्णन शरीर का रङ्ग, वाग्दोष, शरीर व अङ्गों के रोग, शक्तिह्रास, मृत्यु आदि का विवेचन।

(६) 'चिकित्सा-स्थान'—रोगोपचार स्वास्थ्यसुधार व जीवन-भोग के साधन, ज्वर, सूजन, बवासीर, दत्त, पीलिया, दमा, खाँसी, सङ्ग्रहणी, क्षय, विष-प्रभावादि व मदिरापान, जलना, गुप्तरोग, गँठिया, लक़वा आदि का विवेचन।

(७) 'कल्प-स्थान'—जुलाब, मन्त्रोपचार आदि।

(८) 'सिद्धि-स्थान'—वस्तिकर्म, पशु-वस्तिकर्मविधि, मूत्रदोष आदि।

सुश्रुत-संहिता—सुश्रुत के विभाग भी चरक के समान है। चरक में विशेषकर ओषधियों का विवेचन है व सुश्रुत में चीरफाड़ (शल्यकर्म) आदि पर ज़ोर दिया गया है। इसमें ६ विभाग हैं। जैसे—

(१) 'सूत्रस्थान'—ओषधि, शरीर के तत्त्व, शल्यकर्म के औज़ारों का चुनाव, घाव, फोड़े आदि का वर्णन।

(२) 'निदानस्थान'—रोगनिदान, गँठिया, बवासीर, भगन्दर, कुष्ठ, मधुमेह आदि का वर्णन तथा गुप्तेन्द्रिय के रोगों का विवेचन।

(३) 'शारीरस्थान'—शरीरशास्त्र या शरीर के विभिन्न अङ्ग प्रत्यङ्ग का विवेचन, जीव व शरीर के तत्त्व, आर्तवदोषादि, गर्भस्थिति, शरीरविकासादि का वर्णन।

(४) 'चिकित्सा-स्थान'—रोग-निदान व चिकित्सा, व्रण, फोड़े, चोट, गँठिया, बवासीर, कुष्ठ, मधुमेहादि का वर्णन।

(५) 'कल्प-स्थान'—भोज्य व पेय पदार्थ बनाने की विधि, विषाक्त अन्न, विष व उन का उपचार।

(६) 'उत्तर-स्थान'—आँख, कान, नाक, सिर आदि के रोग तथा ज्वर, संग्रहणी, क्षय, हृदयरोग, नशा, कफ, हैजा, मिरगी आदि का उपचार।

हमारे यहां शरीरविद्या (Anatomy) भी बहुत उन्नत थी । प्राचीन ग्रन्थों में हड्डियों, नाड़ियों व सूक्ष्म शिराओं आदि का पूर्ण विवेचन मिलता है[१४४]।

शल्यविद्या—बौद्ध काल में शल्य-विद्या का भी विकास हुआ था। विनयपिटक के महावग्ग में लिखा है[१४५]—'अश्वघोष ने एक भिक्षु के भगन्दर रोग पर शल्यकर्म का प्रयोग किया था'। उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिषक्, आयुर्वेद का शल्यचिकित्सा का बड़ा भारी विद्वान् हुआ, जिस का विस्तृत वर्णन 'महावग्ग' में मिलता है[१४६]। उसने भगन्दर, शिरोरोग, कामला आदि विषम रोगों के आराम करने में प्रसिद्धि पाई थी । भोजप्रबन्ध में बेहोशकर शल्य-कर्म करने का उल्लेख है। चीरफाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाये जाते थे, परन्तु राजा एवं सम्पन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे[१४७]। यन्त्रों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे तेज, खुरदरे परन्तु चिकिने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिये। भिन्न २ कार्य्यों के लिये शस्त्रों की धार परिमाण आदि भिन्न २ होते थे। शस्त्र कुण्ठित न हो जाय, इसलिये लकड़ी के शस्त्रकोष भी बनाये थे।

शल्य-कर्म—साधारणतया विस्राव्य (रुधिर का विस्रवण करना), सीव्य (दो भागों को सीना), लेख्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना) आदि आठ प्रकार के शल्यकर्म प्राचीन आचार्यों ने माने थे[१४८]। वाग्भट ने १३ प्रकार के शल्य-कर्म माने हैं। सुश्रुत ने यन्त्रों (औज़ार जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है;[१४९] परन्तु वाग्भट ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, वैद्य अपनी आवश्यकतानुसार यन्त्र बना सकता है। शस्त्रों की संख्या भिन्न २ विद्वानों ने भिन्न २ मानी है । इन यन्त्रों व शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रन्थों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनिरोग, मूत्रदोष, आर्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न २ यन्त्र प्रयुक्त होते

थे। व्रणवस्ति, वस्तियन्त्र, पुष्पनेत्र (लिङ्ग में औषध प्रविष्ट करने के लिये), सर्पमुख (सीने के लिये) आदि बहुतसे यन्त्र थे[१५०]। व्रणों व उदरादि सम्बन्धी रोगों के लिये भिन्न २ प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन किया गया है[१५१]। गुदाभ्रन्श के लिये चर्मबन्धन का भी उल्लेख है। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था[१५२]। गतिव्रण (Sinus) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था[१५३]। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल टीका लगाने के लिये लेखन करते समय जिस तीन चार सुइयों वाले औज़ार का प्रयोग होता है वह यही त्रिकूर्चक है। वर्तमान काल का "टूथ एलेव्हेटर" (Tooth Elevator) पहले 'दन्तशङ्कु' के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे[१५४]। दाँत उखाड़ने के लिये 'एनीपद' शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतिया बिन्द (Cataract) के निकालने के लिये भी शस्त्र था। कमल-नाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के "स्टमक पम्प" (Stomach Pump) का कार्य्य देता था।

वर्तमान यूरोपीय चिकित्साशास्त्र पर आयुर्वेद का प्रभाव— यूरोपीय चिकित्साशास्त्र पर भारतीय चिकित्साशास्त्र का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यूनानियों का "मेटिरिया मेडिका" यहाँतक कि यूनानी चिकित्साशास्त्र के जन्मदाता 'हिप्पोक्रेटीस' का भी, भारतीय चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों पर आश्रित था[१५५]। अरब का चिकित्साशास्त्र भी संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद पर निर्भर था[१५६]। खलीफाओं ने कई संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया[१५७]। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है। नौशेरवाँ का समकालीन 'बर्जोह्येह' (Barouhyeh) भारत में विज्ञान सीखने के लिये आया था[१५८]। प्रो० साचू के कथनानुसार अलबेरुनी के पास वैद्यक व ज्योतिष विषयक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद विद्यमान थे[१५९]। अलमन्सूर ने आठवीं सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। प्राचीन अरब लेखक सैरेफियन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उस का वर्णन किया है। इन अरबों ने इस शास्त्र का प्रचार आठवीं व नवीं सदी में यूरोप में किया[१६०]। इस प्रकार वर्तमान यूरोपीय चिकित्साशास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है।

अध्याय १७

विभिन्न कलाएँ

कला व धर्म—भारत की कलाओं का इतिहास भी बहुत पुराना है। इन कलाओं के विकास पर धर्म का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है, क्योंकि भारतीय संस्कृति सदैव धर्म-प्राण ही रही है। कला के सर्वप्रथम प्राचीन नमूनों पर धर्म की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। कला का उपयोग धर्म के तत्त्वों को समझाने के लिये किया जाता था। देवताओं के प्राचीन मन्दिर, उन की मूर्तियें, धार्मिक कथाओं को चित्ररूप से पत्थर काष्ठ आदि पर खुदवाना आदि के द्वारा कला का प्रदर्शन किया गया था। भारतीय कला के इतिहास व विकास को समझने के लिये यह बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। अब हमें इन कलाओं पर पृथक् २ विचार करना चाहिये। वे कलाएँ इस प्रकार हैं—वास्तु-निर्माण कला, शिल्पकारी, चित्रकला, सङ्गीत आदि।

वास्तु-निर्माण कला

वैदिक काल—इस कला का इतिहास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर 'पुर'[1] 'व्रज'[2] आदि का उल्लेख आता है, जिससे तत्कालीन किलों का बोध होता है। ये किले मिट्टी के बनाये जाते थे या पत्थरों के इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने प्राचीन काल में भी किले बनाने की कला लोगों को ज्ञात थी। इसी प्रकार ऋग्वेद में तत्कालीन घरों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति-मन्त्रों[3] में गृह-देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर 'गृह,'[4] 'सद्म,'[5] 'प्रसद्म,'[6] 'दीर्घप्रसद्म'[7] आदि का उल्लेख आता है, जिस से स्पष्ट है कि वैदिक काल में छोटे से छोटे व बड़े से बड़े घर बनाये जाते थे। ये घर लकड़ी, मिट्टी या पत्थर से अथवा तीनों को मिलाकर बनाये जाते थे, इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वास्तुनिर्माण-कला का ज्ञान वैदिक काल में अवश्य था।

मोहन्जोदाड़ो व हड़प्पा की कला—सिन्धु नदी के किनारे मोहन्जोदाड़ो व हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे भी प्राचीन कालीन कला

के उत्कृष्ट विकास का पता चलता है। इस खुदाई से जिस संस्कृति का पता चला है उस के समय आदि के सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि बहुमत को मानकर इस संस्कृति को वैदिक काल के पूर्व की मान लिया जाय,[८] तो भारतीय कला के प्राचीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा, किन्तु सम्भवतः यह संस्कृति वैदिक काल के पश्चात् की है[९]। इस संस्कृति के लोग ईंटें बनाने में बहुत सिद्ध-हस्त थे। इन ईंटों का उपयोग आजतक किया जाता है। इन ईंटों के बड़े २ भवन बनाये जाते थे, जिन के खंडहर खोदकर निकाले गये हैं[१०]। इन भवनों के अतिरिक्त अन्य कलाओं के नमूने भी मिलते हैं; जैसे यक्ष, पशुपति, पृथ्वी आदि की छोटी २ मूर्तियें, मिट्टी के छोटे व बड़े बर्तन तथा खिलौने, सोने आदि के छोटे २ फूल इत्यादि[११]। इस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

बौद्ध काल की इमारतें—मौर्य्य काल के पूर्व घर वगैरा अक्सर ईंट या लकड़ी के बनाये जाते थे[१२]। आजकल जितनी भी प्राचीन इमारतें या उन के भग्नावशेष वर्तमान हैं, उन में से ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दि के पहिले की बहुत ही कम हैं[१३]। कुछ ऐसी इमारतें हैं जो कि ईसा के पूर्व पांचवीं या छठी शताब्दि तक ले जाई जा सकती हैं,[१४] जैसे—

प्राचीन राजगृह (कुशागारपुर) का किला व दीवारें। राजगृह नगर के मध्य में, गृध्रकूट पर्वत पर के अशोक के आश्रम तक जाने के लिये ढालदार बहुत बड़ी २ सड़कें व दस मील पूर्व में आकगिरी पर के हंस-स्तूप तक जाने का भव्य मार्ग भी कदाचित् ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

पिपराव्हा स्तूप—गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उन की राख उन के शिष्यों में बाँटी गई थी, जिसे छोटे २ पात्रों में रखकर ज़मीन में गाड़ दिया गया था व उस स्थान पर एक स्मारक भी खड़ा किया गया था। इसी प्रकार उन के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित स्थलों पर भी स्मारक खड़े किये गये थे, जिन्हें मूलचैत्य कहते थे। राख के स्मारकों को गर्भचैत्य कहते थे। मूलचैत्य अन्दर से खोखले नहीं रहते, जैसे कि गर्भचैत्य रहते हैं। ऐसा एक मूल चैत्य सारनाथ में है। यह पिपराव्हा-स्तूप संयुक्तप्रान्त के बस्ती जिले में है व भारत की वास्तुनिर्माण-कला का प्राचीनतम नमूना है। यह गर्भचैत्य

है। इस के समय के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का मत है कि यह कम से कम अशोक के सौ वर्ष पहिले का होना चाहिये।

अन्य बौद्ध स्तूप—इस के अतिरिक्त बौद्ध काल के अन्य प्राचीन स्तूप भी हैं,[१५] जिन का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) भारुत-स्तूप—यह मध्य-भारत में सतना के पास है, जहां से दक्षिण मार्ग दो दिशाओं में जाता था—कौशाम्बी की ओर व पाटलीपुत्र की ओर।

(२) मानिक्याल-स्तूप—यह काबुल व कन्दहार के मार्गपर स्थित है। शकक्षत्रप मनिबुल ने इसे बनाया था।

(३) सांची-स्तूप—सांची में तीन स्तूप हैं, जहां दक्षिण मार्ग मथुरा व पञ्जाब की ओर मुड़ता है।

(४) धर्मराजिका-स्तूप—यह तक्षशिला में है। यहां और भी छोटे २ स्तूप हैं, जो कि इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

ये स्तूप ईंटों के बने हुए विशालरूप धारी हैं। इन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से तत्कालीन वास्तुनिर्माण-कला के विकास का पता चलता है।

बौद्ध भिक्षुओं के वर्षावास के लिये संघाराम—इन स्तूपों के अतिरिक्त इस कला के बौद्धकालीन अन्य नमूने भी प्राप्त हैं, जो कि अधिकांश अशोक के समय के या उसके पश्चात् के हैं[१६]। बौद्ध सङ्घ के नियमों के अनुसार भिक्षुओं के वर्षावास के लिये नये प्रकार की इमारत की आवश्यकता प्रतीत हुई व इस ओर तत्कालीन धनाढ्य लोगों ने कोई बात उठा न रखी। बौद्ध जातकों से मालूम होता है कि बिम्बीसार ने इस कार्य्य के लिये अपना वेणुवन प्रदान किया था व उस समय के निधनपिण्डद नामी एक धनाढ्य सेठ ने अपना जैतवन दिया था[१७]। यह प्रथा बौद्ध-काल भर में प्रचलित थी। इस प्रकार के बहुतसे संघाराम पश्चिमी पर्वत की कन्दराओं में कोरे गये थे। कार्ले, इलोरा, अजन्टा आदि की गुफाओं के अन्दर के संघाराम अधिक महत्त्वपूर्ण व प्रसिद्ध हैं[१८]। इन में बड़े २ दालान, विशाल कमरे आदि बने हुए हैं, जिनमें बौद्ध भिक्षु अपने वर्षावास का समय बिताते थे। कार्ले की गुफाएँ ईसा के पूर्व की होनी चाहिये, क्योंकि उन में मध्यवर्ती विशाल कमरे में बुद्ध की मूर्ति नहीं है[१९]। श्री० राखालदास बैनरजी के मतानुसार इन का समय

ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि होना चाहिये। यहां यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि ईसाइयों के प्रारम्भिक गिर्जे इन्हीं वर्षावासों के नमूने पर बनाये गये थे[२०]। इन वर्षावासों में भिक्षुओं के लिये जुदे २ कमरे बनाये गये थे। स्थविरों के लिये बड़े २ कमरे मध्य में रहते थे, जिन्हें विहार कहते थे। यहां पर भिक्षु लोग पूजा पाठ इत्यादि क्रिया करते थे। इसी प्रकार गुफाओं में चैत्य बनाये जाते थे, जिनमें भिक्षु, भिक्षुनी व गृहस्थों के पूजा पाठ के लिये बड़े २ कमरे रहते थे व इन सब के आने जाने के लिये अलग २ मार्ग भी थे। केन्द्रीय कमरे के एक छोर पर एक स्तूप बना रहता था। इसी की पूजा आदि की जाती थी। बौद्धों के समान जैन व ब्राह्मण भी ऐसी गुफाएँ बनवाते थे। इन सब गुफाओं का विवरण इस प्रकार है।

बौद्धादि गुफाओं का विवरण—सब मिलाकर भारत में इस प्रकार की लगभग बारह सौ गुफाएँ हैं, जिन में केवल तीनसौ ब्राह्मणों या जैनों की हैं, बाकी की नौसौ बौद्धों की हैं। इन में से $\frac{९}{१०}$ वां भाग बम्बई प्रान्त में है व $\frac{१}{१०}$ वां भाग बिहार, मद्रास, राजपूताना, पञ्जाब, अफगानिस्तान आदि में फैला हुआ है[२१]। धमनार, खोलवी, बेसनगर व बाघ (राजपूताने में), मामल्लपुरम्, बेजवाड़ा व गुन्तुपल्ली (मद्रास में), तथा पञ्जाब व अफगानिस्तान के कुछ स्थलों की गुफाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। अशोक के समय से (ई० पू० २५० वर्ष) लगभग आठवीं शताब्दि तक इन की शृङ्खला एक सी चली आती है। अब इन गुफाओं पर विस्तृत रूप से विचार करना चाहिये।

बिहार—बिहार प्रान्त में विशेष उल्लेखनीय गुफाएँ निम्नाङ्कित हैं।

बराबर की गुफाएँ जो कि भारत भर में प्राचीनतम हैं। उन में से कर्ण-चम्पार नाम की गुफा में अशोक का एक लेख है, जिस में लिखा है कि उक्त राजा के राज्याभिषेक के १९ वें वर्ष (ई० पू० २४४ वां वर्ष) यह गुफा खुदवाई गई[२२]।

सुदामा या न्यग्रोध गुफा—इस में अशोक के १२ वें वर्ष का एक लेख है, जिस समय कि उसने ई० पू० २५० वर्ष के बहुतसे धर्म-लेख खुदवाये थे। इस लेख से यह भी पता लगता है कि यह गुफा आजीविकों के लिये खुदवाई गई थी[२३]।

नागार्जुन पहाड़ी की गुफाएँ—इस पहाड़ी के निकट तीन गुफाएँ हैं। प्रत्येक में राजा दशरथ का एक २ लेख है, जिससे पता चलता है कि ये गुफाएँ भी ई० पू० २२० वर्ष के लगभग आजीविकों के लिये बनवाई गई थीं[२४]। दशरथ अशोक का नाती था व उस की मृत्यु के पश्चात् राज्यसिंहासन पर बैठा था। इन गुफाओं के नाम इस प्रकार हैं—गोपिका, वहियका व वदथिका। इन के अन्दर के भाग व दीवारों पर इतना अच्छा चमकीला लेप लगा हुआ है कि देखने वालों को आश्चर्य्यचकित करता है[२५]।

सीतामढ़ी-गुफा—गया के पूर्व में २५ मील की दूरी पर यह गुफा है। इस में भी चमकीला लेप लगा हुआ है।

पश्चिमी भारत की चैत्य गुफाएँ—भारत के इस भाग में छः या सात महत्त्वपूर्ण चैत्य गुफाएँ हैं, जो कि ईसा के पूर्व की बनी हुई हैं। इन में सबसे पुरानी भाजा की गुफा है, जो कि भोरघाट में स्थित कार्ले की गुफा से चार मील दक्षिण की ओर है। कोंडाने के चैत्य व विहार वहीं नज़दीक हैं। कार्ले से दस या बारह मील दक्षिण की ओर बेड़सा की गुफाएँ व खानदेश के चालीसगांव से बारह मील दक्षिण की ओर पीतलखोरा-गुफाएँ हैं। इसी प्रकार नाशिक में भी चैत्यगुफा है, जो कि ईसा के पूर्व लगभग १५० वर्ष की है। इन सब में कार्ले की गुफाएँ उत्कृष्ट हैं। बनावट आदि की दृष्टि से ये इस कला की परिपक्व अवस्था के सुन्दर नमूने हैं। इन का समय ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दि के लगभग निर्धारित किया जाता है[२६]।

अजन्टा, जुन्नर आदि की गुफाएँ—अजन्टा (हैद्राबाद रियासत) में चार गुफाएँ हैं[२७]। इन में से दो बहुत पहिले की हैं व तीसरी ईसा की पांचवीं शताब्दि की है। इस में बुद्ध को 'पवित्र भगवान्' मानकर पूजनीय माना गया है। उस की मूर्ति बड़े कमरे के एक छोर पर है। चौथी गुफा बाद की है। इस का समय कदाचित् ईसा की छठी शताब्दि का अन्त व सातवीं शताब्दि का प्रारम्भ है। इस में बुद्ध की बहुतसी मूर्तियें हैं, जिनसे पता चलता है कि मूर्ति-पूजा बौद्धधर्म का आवश्यकीय अङ्ग बन गयी थी। जुन्नर पूना से अड़तालीस मील उत्तर की ओर है। यहां पर गुफाओं के पांच पृथक् २ समुदाय हैं, जिन में लगभग डेढ़सौ गुफाएँ हैं। इन में जो सादगी है वही इन की विशेषता है[२८]। ये भी बहुत पुरानी प्रतीत होती हैं, क्योंकि इनमें बुद्ध की

मूर्तियें नहीं हैं। एलोरा की विश्वकर्मा-गुफा व कान्हेरी, धमनार आदि की गुफाएँ भी उल्लेखनीय हैं[२९]।

जैन गुफाएँ—इस प्रकार की बहुतसी गुफाएँ जैनियों की भी हैं। वे लोग इन गुफाओं को 'भिक्षुगृह' कहा करते थे। इनमें से ईसापूर्व दूसरी शताब्दि की गुफाओं का विवरण इस प्रकार है[३०]।—

उड़ीसा—जूनागणधर की गुफा

गुजरात—गिरनार की गुफा

पश्चिमी भारत—बादामी, पाटन, एलोरा व अंकाई की गुफाएँ

ईसापूर्व द्वितीय व प्रथम शताब्दि के करीब की उड़ीसा की गुफाएँ इस प्रकार हैं—उदयगिरिपर्वत में

हाथीगुम्फा, जिस में चेतवंशी जैन राजा खारवेल (ई० पू० १५५ वर्ष) का लेख है[३१]।

स्वर्ग-पुरी या वैकुण्ठ-गुम्फा

सर्प-गुम्फा

हरिदास-गुम्फा

गनेस-गुम्फा

रानीगुम्फा

जयविजयगुम्फा

खण्डगिरिपर्वत में—

अन्तगर्भ

वाघगुम्फा (यह ईस्वी सन् के पूर्व की नहीं है)

तात्वागुम्फा (खण्डगिरि के नीचे की ओर)

ईसा की सातवीं शताब्दि के लगभग की बादामी व ऐहोल की जैन गुफाएँ भी उल्लेखनीय हैं। हैद्राबाद जिले के धारासिनरा के निकट बहुतसी जैन गुफाएँ हैं। कन्हार (दो गुफाएँ), चमार, लेनार, एल्लूरा, अंकाई (सात गुफाएँ) आदि की जैन गुफाएँ भी दर्शनीय हैं।

ब्राह्मण-गुफाएँ—इसी प्रकार एलोरा में राष्ट्रकूट राजाओं ने ९ वीं शताब्दि के लगभग पहाड़ों को कोरकर कैलशादि शैव मन्दिर बनवाये थे, जो

आज भी वर्तमान हैं व तत्कालीन वास्तुनिर्माण-कला की उत्कृष्टता का परिचय देते हैं[३२]।

बौद्ध-विहार—इन चैत्यगुफाओं के अतिरिक्त उस समय के बहुतसे बौद्ध विहार भी वर्तमान हैं व इन से भी तत्कालीन वास्तुनिर्माण कला के विकास का पता लगता है। ईसा की सातवीं शताब्दि में चीनी यात्री 'यूएन-च्वेङ्' जब भारत आया था, तब उसने यहां हज़ारों संघाराम देखे थे, जिन में नालन्दा का सङ्घाराम सौन्दर्य्य व कला की दृष्टि से सर्वोत्तम था[३३]। यह नालन्दा बौद्ध-काल में शिक्षा का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र था[३४]। यहां पर प्राचीन काल का एक विहार है, जहां कितने ही बौद्धभिक्षु रहा करते थे। ऐसा ही एक विहार सारनाथ में भी है। इसी प्रकार के प्राचीन विहार, बङ्गाल, बिहार व दक्षिण में नाशिक, अजन्टा, कान्हेरी, एलोरा आदि स्थानों में हैं।

प्राचीन स्तम्भ—इन चैत्य व विहारों के अतिरिक्त अशोक के स्तम्भ भी इस कला के उत्कृष्ट नमूने हैं[३५]। ये रेतीले पत्थर के बने हुए हैं व साधारणतया पचास फुट ऊँचे व पचास टन वज़न के हैं। इन पर इतना अच्छा लेप लगा हुआ है कि उसके कारण ये पौलाध के बने मालूम होते हैं। आज भी यह लेप ताज़ा ही मालूम होता है। कदाचित् यही वराहमिहिर के बृहत्संहिता ग्रन्थ में उल्लिखित हज़ारों वर्ष टिकने वाले 'वज्र-लेप' का नमूना है[३६]। दक्षिण कनाड़ा के मुदबिद्री स्थान पर जो जैन-स्तम्भ बने हुए हैं, वे भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन मन्दिर—इन गुफाओं व स्तम्भों के अतिरिक्त, प्राचीन वास्तु-निर्माण कला के उत्तम नमूनों के रूप में कितने ही मन्दिर वर्तमान हैं। ये मन्दिर छठीं, सातवीं या आठवीं शताब्दि के या उस के बादके हैं[३७]। संयुक्त-प्रान्त के बरेली जिले में रामनगर में एक प्राचीन शिव मन्दिर है, जो कि ईसा के पूर्व या पश्चात् की प्रथम शताब्दि का माना जाता है। कदाचित् यही प्राचीनतम ब्राह्मण-मन्दिर है[३८]। इतिहास से पता चलता है कि गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म अपने उत्कर्ष को पहुँच चुका था[३९]। इस से सम्भव है कि उस समय बहुत से उत्तम २ मन्दिर बनाये गये होंगे, किन्तु आज उन में से एक भी अवशिष्ट नहीं है। इस का कारण यह हो सकता है कि संयुक्तप्रान्त में नरम मिट्टी की ज़मीन होने के कारण अथवा वहां पर अधिक समय तक मुस्लिम आधिपत्य रहने से कोई मन्दिर न बच पाया[४०]।

छठवीं शताब्दि के पश्चात् के मन्दिर—छठवीं शताब्दि के पश्चात् के जो मन्दिर हैं, उन के दो विभाग किये जा सकते हैं—उत्तर भारत के मन्दिर व दक्षिण भारत के मन्दिर। इन में से प्रत्येक के पुनः दो २ उपविभाग भी किये जाते हैं—उत्तर पश्चिम के, उत्तर पूर्व के, दक्षिण-पश्चिम के व दक्षिण-पूर्व के।

उत्तरभारत के मन्दिर—उत्तर भारत के मन्दिरों की विशेषता के बारे में डॉ० व्हिन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं कि आर्य्यावर्त-शैली की विशेषता यह है कि उसमें ऊपर निकली हुई गुम्मज रहती है, जिस में पसलियों के समान ऊपर उठी हुई रेखाएँ रहतीं हैं। यह बांस की बनीहुई रथ के ऊपर वाली छत की नकल है[४१]। उत्तर-पश्चिम के मन्दिरों की विशेषता यह है कि उन के शिखर सीधे रहते हैं, सिरे पर एक लम्बा शिखर रहता है व आसपास बहुतसे छोटे २ शिखर रहते हैं। इन मन्दिरों का मुख्य शिखर चौरस आधार पर से, चार स्थान पर ढाल बना कर, सीधा ऊपर उठता है व ऊपर के गोल पत्थर से मिल जाता है[४२]। इस प्रकार के मन्दिर खुजराहो (छत्तरपुर राज्य, मध्य भारत), नेमावर, खुर्दा, ऊन (इन्दौर रियासत), देउल (खानदेश), सिन्नर (नाशिक जिला), ग्वालियर आदि स्थानों में हैं। उत्तर-पूर्व के मन्दिरों की विशेषता यह है कि इन के शिखरों का आधार चतुर्भुज आकार का रहता है, किन्तु कोण अन्दर की ओर कमान बनाते हुए ऊपर जाकर गोलाकार बनाते हैं[४३]। इस प्रकार के मन्दिर पुरी, भुवनेश्वर, सोहागपुर, अमरकण्टक, छत्तीसगढ़ आदि स्थानों में हैं।

दक्षिण भारत के मन्दिर—पश्चिम-दक्षिण (चालुक्यशैली) के मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें शिखर नहीं रहते। उनका ऊपरी सिरा सीढ़ीदार "पिरेमिड" (Pyramid) के आकार का रहता है व उसके ऊपर एक ठोस गुम्मज रहती है[४४]। इस प्रकार के मन्दिर बदामी, तन्जौर (सुब्रह्मण्यम् का मन्दिर), काञ्ची (मुक्तेश्वर का मन्दिर) आदि के हैं। दक्षिण-पूर्व के मन्दिरों को 'गोपुरवाले मन्दिर' कहते हैं। इनके शिखर का ऊपरी भाग गोल या चौरस रहने के बदले लम्बे व गोल किनारों का रहता है[४५]। मदुरा में मीनाक्षी का मन्दिर, मद्रास में वेदगिरीश्वर का मन्दिर, त्रिचनापल्ली में तिरुचिन्नपतिराय का मन्दिर व तन्जौर में राजराजेश्वर का मन्दिर इसी श्रेणी के हैं।

अन्यमन्दिर—इन मन्दिरों के अतिरिक्त गुजरात व आबू पर्वत के जैन मन्दिर, जिनमें दो संगमरवर के बने हुए हैं, तथा काश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर और नेपाल के मन्दिर अपनी २ विशेषताओं से परिपूर्ण हैं व कला की दृष्टि से सुन्दर हैं[४६]।

शिल्पकारी (मूर्ति आदि बनाने की कला)

शिल्पकारी का प्रारम्भ—शिल्पकारी की कला के बारे में वैदिक-काल का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु यजुर्वेद में मणिकार, सुवर्णकार आदि का जो उल्लेख आता है,[४७] उसके सहारे यह कहा जा सकता है कि कदाचित् इस कला का ज्ञान उस समय रहा हो। क्योंकि गहने पहिनने की भावना में ही कला की भावना भरी हुई है। गहने भी तो कला के सौन्दर्य्य के ही नमूने हैं। मोहन्जोदाड़ो व हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे भी हमें इस कला के विकास के बारे में बहुत कुछ माल्रम होता है। वहां पर यक्ष, पृथ्वी, पशुपति आदि की छोटी २ सुन्दर मूर्तियें, मिट्टी के छोटे व बड़े बर्तन, खिलौने, सोने आदि के छोटे २ फूल इत्यादि कला के सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं[४८]।

मौर्य-काल में शिल्पकारी का विकास—इस कला के बारे में निश्चित रूप से हमें मौर्य्यकाल से पता चलता है। इस काल की शिल्पकारी के अच्छे २ नमूने आज भी वर्तमान हैं[४९]। जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है, अशोक के स्तम्भ व उनके ऊपर का लेप उत्कृष्ट कला के अच्छे नमूने हैं। सारनाथ में जो अशोक का स्तम्भ है, उस के ऊपर सिरे पर एक ही ओर पीठ किये हुए चार सिंहों की मूर्तियें हैं, जो अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी गयीं हैं। ये मूर्तियें इतनी अच्छी बनी हैं कि देखने में माल्रम होता है कि मानो सचमुच के सिंह ही बैठे हों। डॉ० स्मिथ का तो कहना है कि इतनी अच्छी मूर्ति बनाने की कला का ज्ञान भारत के सिवाय और कहीं नहीं दिखाई देता[५०]। इस समय की और भी अच्छी २ मूर्तियें उपलब्ध हैं। बेसनगर में स्त्री की दो बड़ी २ मूर्तियें मिली हैं, जिन्हें देखकर जीती जागती स्त्री की मूर्ति याद आये बिना नहीं रहती[५१]। परखम से प्राप्त यक्ष की मूर्ति, जो आजकल मथुरा के संग्रहालय में है, इस काल के कुछ पूर्व की कला का नमूना है[५२]। इसी प्रकार की मूर्तियें सांची से भी प्राप्त हुई हैं[५३]।

पत्थरों पर की खुदाई—इन मूर्तियों के अतिरिक्त उस समय के कलाविदों के कौशल का पता तत्कालीन बौद्ध-स्तूपों की पथरीली चारदीवारी व उसमें बने हुए तोरणों पर खुदे हुए चित्रों की उत्कृष्ट कला से चलता है[५४]। ऐसे स्तूपों में मध्यभारत में भारूत का स्तूप विशेष उल्लेखनीय है, जो कि कमसे कम ई० पू० दूसरी शताब्दि का बना हुआ है। इसकी चारदीवारी व तोरण के कुछ भाग कलकत्ता के संग्रहालय में रखे गये हैं। इन तोरणों पर व चारदीवारी पर गौतमबुद्ध के जीवन की बहुतसी घटनाएँ या जातकों की कथाएँ चित्र के रूप में खोदी गयी हैं, जो देखने में बहुत ही सुन्दर मालूम होती हैं। एकस्थान पर नागजातक का वर्णन चित्रित है व दूसरे स्थान पर गौतम बुद्ध की माता मायादेवी के स्वप्न का वर्णन चित्रित किया गया है। एक तीसरे स्थान पर श्रावस्ती के जेतवन का चित्र है, जिसमें वहां के वृक्ष पवित्र स्थल व भूमि, जिस पर अनाथपिण्डद सिक्कों से लदी बैलगाड़ी खाली कर रहा है, अङ्कित हैं। इसी प्रकार अजात-शत्रु व प्रसेनजित् का एक बड़े जुलूस में बुद्ध से मिलना अङ्कित है[५५]। इस प्रकार की कला का नमूना बोधगया के मन्दिर की चारदीवारी व स्तम्भों पर भी दीखता है। इनमें भी सुन्दर खुदाई का काम किया गया है।

साँची के स्तूपों पर की कला—इस कला के सौन्दर्य्य की चरमसीमा तो सांची स्तूपों की चारदीवारी के तोरणों पर की गई कारीगरी में होती है। इन में बौद्ध देव लोक, बिम्बीसार का अपने दरबारियों के साथ बुद्ध के दर्शन करने के लिये राजगृह से निकलना, निरञ्जना नदी के पूर में बुद्ध को डूबने से बचाने के लिये अपने शिष्यों सहित काश्यप का नाव में बैठकर शीघ्रता से जाना, बुद्ध का पानी की सतह पर से चलकर आना आदि घटनाएँ बहुत ही सुन्दरता से अङ्कित की गई हैं[५६]। पत्थर पर खुदे हुए इन चित्रों को देखकर बरबस कहना ही पड़ता है कि इन के बनाने वाले अवश्य ही मँजे हुए व अत्यन्त ही निपुण कलाकार थे, अन्यथा इतना सुन्दर काम कदापि न कर सकते। इन के अतिरिक्त मौर्य्यकाल की कला के और भी अच्छे २ नमूने हैं, जिन का विवरण स्थानाभाव से यहां नहीं दिया जाता।

शुङ्गकाल के पश्चात् शिल्पकारी—शुङ्ग-काल के पश्चात् भारत में बहुत राजनैतिक उथल पुथल हुई। भारत के पश्चिमोत्तर भाग में व पञ्जाब

आदि में विदेशियों का प्रभुत्त्व जम गया[५७]। इस राजनैतिक परिवर्तन का प्रभाव कला के विकास पर भी पड़े बिना नहीं रहा। शुङ्गकाल के पश्चात् यदि कला के विकास पर ध्यान दिया जाय, तो इस के तीन भिन्न २ प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

गान्धार की कला।

मथुरा की कला।

अमरावती (दक्षिण में कृष्णा नदी के किनारे) की कला।

गान्धार की कला—जब बेक्ट्रिया के यूनानियों ने अफगानिस्तान व पञ्जाब को जीता, तब वे अपने साथ अपनी कला को भी ले आये। यह विदेशी कला स्थानीय वातावरण में पुष्पित व पल्लवित होकर आसपास फैलने लगी। बेक्ट्रिया की कला से प्रभावित पश्चिमोत्तर भारत की इस कला को ही गान्धार की कला कहते हैं[५८]। समय की गति से इस का विस्तार दूर २ तक होने लगा।

प्रारम्भ में भारत में रहने वाले यूनानियों ने ही अपने कलाकारों के द्वारा मूर्तियें, मन्दिर आदि बनवाये। किन्तु बाद में अफगानिस्तान के हिन्दू व बौद्ध निवासी भी अपनी २ मूर्तियें व मन्दिर बनवाने में उन का उपयोग करने लगे। समय के प्रवाह से सब यूनानी बौद्ध या हिन्दू बन गये। इन नये कलाकारों ने कदाचित् सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति बनाने का तरीका शुरु किया। क्योंकि ई० पू० दूसरी शताब्दि के पहिले की बुद्ध की कोई भी मूर्ति नहीं मिलती। पुरानी शिल्पकारी में बुद्ध की उपस्थिति दोनों पैरों के चिह्नों द्वारा दर्शाई जाती थी, जैसा कि बुद्धगया के महान् मन्दिर में व भारुत-स्तूप की चारदीवारी पर स्पष्टतया देखा जाता है[५९]। इस प्रकार इन यूनानी-भारतीय कलाकारों ने सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति बनाना प्रारम्भ किया। ये मूर्तियें कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं। इन पर कपड़े के जो मोड़ पत्थर में बनाये गये हैं, वे इतने नैसर्गिक हैं कि देखते ही बनते हैं[६०]। ये कलाकार बुद्ध की जीवन-घटनाओं व जातक-कथाओं को पत्थर पर खुदे हुए चित्रों की भाषा में अनुवादित करने लगे। यूनानियों के शकों द्वारा राजनैतिक पतन के पश्चात् इस यूनानी कला की भी अवनति प्रारम्भ हुई। ऐसी हालत में इसे कुशान-सम्राटों ने अपनाया। कनिष्क के तीसरे वर्ष की बोधिसत्त्व की मूर्ति से, जो

कला से होता है[६६]। प्राचीन जैन मूर्तियें पत्थर के बड़े २ टुकड़ों पर पाई जाती हैं, जिन्हें "आयागपट्ट" कहा जाता था। इनमें से बहुतेरों पर जैनस्तूप का चित्र खुदा हुआ है, जैसा कि बौद्धों ने भी किया था। बौद्धों के समान जैनियों ने भी अपने चौबीसवें तीर्थंकर की घटनाओं को पत्थर पर चित्र के रूप में खुदवाया था। सन् १८९२ में मथुरा के पास के कंकाली टीले में से एक बड़ा जैन स्तूप खोदकर निकाला गया है, जिससे मालूम होता है कि साँची, भारुत, अमरावती आदि के बौद्ध-स्तूपों के समान जैनस्तूप भी चारदीवारी, तोरणों आदि से घिरे रहते थे[६७]। मथुरा के बहुतसे शिला-लेखों में जैन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है। पहिले तीर्थंकर ऋषभदेव, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व, चौबीसवें तीर्थंकर महावीर आदि के नाम बहुतायत से पाये जाते हैं। ये पत्थर के टुकड़े, जिन पर नाम खुदे हुए हैं, मूर्ति के नीचे के भाग में लगे होंगे। इन प्राचीन जैन मूर्तियों में आधुनिक जैन मूर्तियों के समान वृक्ष, यक्ष, लाञ्छन, वाहन, शासनदेवी आदि नहीं दिखाई देते।

मथुरा की बौद्धमूर्तियें—मथुरा की बौद्ध मूर्तियें जैनमूर्तियों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम हैं। इन बौद्धमूर्तियों पर विचार करने से मालूम होता है कि मथुरा के बौद्ध बुद्ध व बोधिसत्त्व की मूर्तियों की पूजा करते थे, किन्तु उन्हों ने भिन्न २ बुद्धों व बोधिसत्त्वों में भेद करना नहीं सीखा था। यहां की कला इतनी विख्यात होगई थी कि कनिष्क के तीसरे वर्ष में लाल पत्थर की बनी हुई बड़े छत्र व दण्ड से युक्त बोधिसत्त्व की एक मूर्ति सारनाथ ले जाई गई थी। ऐसी एक और मूर्ति श्रावस्ती (संयुक्त प्रान्त के गोन्डा व बहराइच ज़िलों की सीमा पर स्थित आधुनिक साहेत माहेत) व एक तीसरी मूर्ति शक संवत् २८ में वाशिष्क के राजत्वकाल में सांची ले जाई गईं थीं। इसी प्रकार बोधगया में बोधी वृक्ष के नीचे पत्थर का बना बड़ा सिंहासन मथुरा में बनाया गया था व वहां से आठसौ मील की दूरी पर गया तक ले जाया गया था[६८]।

मथुरा-कला का दक्षिण पर प्रभाव—मथुरा की कला कुशानसाम्राज्य के पतन-काल तक वर्तमान रही। पश्चात् गुप्तों के राजत्व-काल में इस का पुनरुत्थान किया गया था। इस ने दक्षिण-भारत के दो स्थानों (मद्रास के नेल्लोर जिले में देनुबुलपादम् व कृष्णा जिले में अमरावती) की कला पर गान्धार-कला का प्रभाव डाला[६९]।

अमरावती की कला—यद्यपि अमरावती की कला में विदेशी प्रभाव के कुछ चिह्न पाये जाते हैं, तथापि यह कला पूर्णतया भारतीय है। यहां भी सुन्दर कला से युक्त बौद्ध स्तूप व बौद्ध-मूर्तियें पाई गई हैं[७०]। पहिले कुछ ऐतिहासिक यहां की कला की मौलिकता पर शङ्का करते थे, किन्तु अब इसके महत्त्व को सब मानते हैं, जिससे कि फर्ग्युसन के इस मन्तव्य का पूर्णतया निराकरण होता है कि अमरावती की कला, गान्धार-स्थित बैक्ट्रिया की कला व सांची, भारूत आदि की कला के वैवाहिक सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है[७१]।

गुप्तकाल की कला—गुप्त-काल सांस्कृतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इस काल में शिल्प-कला का भी अच्छा विकास हुआ था। इस समय के प्राचीन-तम कला के नमूने ईसा की पांचवीं शताब्दि के हैं[७२]। बेसनगर के पास उदयगिरि पर्वत में की गुफाओं के अन्दर अच्छी शिल्पकारी की गई है। यहां पर नदी देवता की जो मूर्ति है, वह विशेष उल्लेखनीय है। इस समय की नदी-देवताओं की ऐसी मूर्तियें अन्यत्र भी मिली हैं। दिल्लीमें ढले हुए लोहे का एक स्तम्भ है, जिसे ऐतिहासिक लोग इसी काल का बताते हैं[७३]। इसके बारे में डॉ० स्मिथ कहते हैं[७४] कि दुनियां की बड़ी से बड़ी लोहे की भट्टी में भी ऐसे स्तम्भों का बनाना असम्भव होता व आज भी ऐसी भट्टियें बहुत कम होंगी, जिनमें लोहे का इतना बड़ा स्तम्भ ढाला जासके। इस समय के बहुतसे पत्थर के बने स्तम्भ भी उपलब्ध हैं। इनमें व अशोक के स्तम्भों में बहुत अन्तर है, जिस पर डॉ० स्मिथ ने अच्छा प्रकाश डाला है[७५]।

गुप्तकाल के पश्चात् शिल्पकारीका विकास—गुप्तकाल के पश्चात् भी इस कला का विकास होता रहा। पश्चिमी व दक्षिणी भारत में इसके अच्छे नमूने मिलते हैं[७६]। अजन्टा, बाक, औरङ्गाबाद आदि की गुफाओं के अन्दर पत्थरों को खोद २ कर जो काम किया गया है, वह सचमुच में सराहनीय है। मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् जब कि उत्तरी भारत में मुसलमानों का प्रभुत्त्व जमने लगा भारतीय कला का विकास भी रुक गया व एक प्रकार से उसका अन्त भी उसी समय होगया।

चित्र-कला

प्रागैतिहासिक कला—भारत की चित्रकला का इतिहास बहुत ही प्राचीन है, क्योंकि अभीतक मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में प्रागैतिहासिक

लोगों के बनाये हुए चित्र मिलते हैं[७७]। सरगुजा रियासत में कई जगह ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं। संयुक्त प्रान्त के मिर्जापुर जिले में भी कई गुफाओं में प्रागैतिहासिक चित्र, प्रायः जंगली जानवरों व आखेट के विषय के मिलते हैं। यह भी सम्भव है कि यह चित्रकला जंगली जातियों की हो, जो आज भी भारत के जंगलों में बसती हैं। इसलिये इसको प्रागैतिहासिक कहना भी कदाचित् अनुचित हो।

ऐतिहासिककाल की कला—प्राचीन भारत की ऐतिहासिक कालीन चित्रकला का भी अच्छा विकास हुआ था। प्राचीन साहित्य में इस कला का स्पष्ट उल्लेख है। बौद्धजातक व रामायण, कालिदास व भास के नाटक तथा पालीग्रन्थ महावंशादि में इस कला की लोकप्रियता का स्पष्ट उल्लेख है[७८]। भारत में आये हुए चीनी यात्रियों ने भी अपने भारत-वर्णन में इसका उल्लेख किया है[७९]। भवभूतिकृत उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में[८०] राम के वनवास सम्बन्धी अर्जुन चित्रकार कृत चित्र देखकर सीता ऐसी विह्वल हो जाती हैं कि राम स्मरण कराते हैं कि वे जो देख रहीं हैं वह चित्र है, जीवन की वास्तव घटना नहीं है। जैन ग्रन्थ नायधम्मकथा में[८१] एक मनोरञ्जक आख्यायिका है। मिथिला-नरेश कुम्भराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिये सुन्दर चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवारों पर एक चित्रकारने राजकुमारी मल्लिका का केवल अंगूठा देखकर उसका पूरा व सच्चा चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहिनका चित्र चित्रशाला में देखा, तब उसके मन में चित्रकार व राजकुमारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ और चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। परन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि भित्तिचित्र केवल चित्रकार की अनुपम कारीगरी का परिणाम है, तब उसकी कूँची रङ्गों की डिबिया आदि को तोड़ फोड़कर उसे हमेशा के लिये निर्वासित कर दिया। ये सभी चित्र "दर्पणे प्रतिबिम्बवत्" की श्रेणी के सादृश्य चित्र थे। पुराने उल्लेखों से इस प्रकार के चित्रों के प्रति जन-समाज की विशेष रुचि प्रतीत होती है। प्रासादों एवं चैत्यों के भित्ति-चित्रों का एक रोचक वर्णन रामचन्द्रगणीकृत कुमारविहारशतक में मिलता है[८२]। गुर्जर नरेश कुमारपाल के बनाये जैनचैत्य का इसमें सुन्दर वर्णन है। एक स्थान पर लिखा है कि चित्रशालाओं की दीवारें ऐसी रम्य व

दर्पण सी बनी हैं कि एक तरफ के बने हुए चित्र सामने की दीवारों पर प्रतिबिम्बित होते हैं।

प्राचीन चित्र कला के नमूने—चित्र-कला के आश्चर्यजनक विकास का पता हमें प्राचीन चित्रों के अवशेष के आलोचनात्मक अध्ययन से चलता है। इस का सब से पुराना नमूना रामगढ़-पर्वत (बिहार) की जोगीमारा गुफा के अन्दर ईसा पूर्व दूसरी व पहिली शताब्दि के बने हुए जो चित्र अब भी वर्तमान हैं, उन में है[८३]। इस के पश्चात् इस कला का उत्कृष्ट नमूना, जब कि यह अपनी चरम-सीमा को पहुँच गयी थी, अजन्टा की गुफाओं के सुन्दर चित्रों में मिलता है[८४]। ये चित्र ई० स० ५० से लेकर ई० स० ६४२ तक के हैं। इस प्रकार इन गुफाओं में लगभग छः सौ या सात सौ वर्ष तक के इस कला के लगातार विकास के नमूने वर्तमान हैं। इटली के पॉम्पीआई (Pompeii) नगर के अतिरिक्त, दुनियां में और कहीं प्राचीन चित्र-कला की इतनी सौन्दर्य्ययुक्त सामग्री नहीं है[८५]। इन चित्रों में अधिकांश का साँची की शिल्पकारी से घनिष्ट सम्बन्ध दीखता है, इसलिये ये बहुत पुराने होने चाहिये। इन के अतिरिक्त बाघ (मालवा), एलौरा (हैद्राबाद रियासत), सित्तन्नवासल (पुदुकोटा रियासत), तन्जौर, काँची (मद्रास प्रान्त) आदि के मन्दिरों में अनेक भित्तिचित्र अभीतक वर्तमान हैं, जो कि ईसा की छठी या सातवीं शताब्दि के बाद के हैं[८६]।

चित्रकला का साहित्य—प्राचीन काल में चित्र-कला सम्बन्धी शास्त्रीय साहित्य भी अवश्य रहा होगा, जिसमें इस के भिन्न २ नियम तथा चित्र बनाने की विधि आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया होगा। इस प्रकार का कुछ साहित्य आज भी उपलब्ध है। इस सम्बन्ध के उल्लेख बहुतसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र में भी इस का कुछ वर्णन है[८७]। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण के प्रसिद्ध अध्याय चित्रसूत्र[८८] में इस का विस्तृत उल्लेख है। शिल्प, नृत्य और चित्र का महत्त्व समझने के लिये चित्रसूत्र अत्यन्त महत्त्व का है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मार्कण्डेय-मुनि कहते हैं, नृत्य-शास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्र मुश्किल से समझ में आते हैं[८९]। ईसवी सन् ११२९ में चालुक्यवंशीय राजा सोमेश्वर ने अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास नामका विलक्षण ग्रन्थ लिखा, जो १९२६ में मैसूर विश्वविद्यालय

ने प्रकाशित किया। तृतीय अध्याय के प्रथम प्रकरण में १९५ से लेकर २५८ तक के पृष्ठ चित्रकला के अभ्यासियों के लिये विशेष महत्त्व के हैं[९०]। सोमेश्वर अपने को चित्र-विद्या विरञ्चि कहते हैं और उन के मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं।

चार प्रकार के चित्र—चित्रों के चार प्रकार ये हैं[९१]—

विद्ध-चित्र—जिस में वस्तु का साक्षात्कार होता है या उस की साक्षात् प्रतिकृति होती है। परन्तु इस 'सादृश्य' का अनुभव चित्रकार अपने मन से करता है।

अविद्धचित्र—जिस का विधान आकस्मिक कल्पना से ही होता है। अविद्ध-चित्रों के प्रमाण उन के आकार में—रचना में ही होते हैं।

रसचित्र

धूलिचित्र

चित्र-निकालने की विधि—मानसोल्लास पुस्तक चित्रकारों के लिये लिखी गई है[९२]। आरम्भ में सुन्दर श्लक्ष्ण (चिकनी) क्षतविवार्जित, दर्पणाकार दीवारों पर की ज़मीन नाना प्रकार के वर्णविचित्र चित्रों के लिये बनाने की सूचना दी गई है। ऐसे चित्रों के विधायक प्रगल्भ, भावुक, सूक्ष्म रेखा-विशारद, निर्माणकुशल, पत्रलेखनकोविद और चतुर 'वर्णकार' रङ्गरेज होने चाहिये। शुष्क भित्ति, वज्रलेप व श्वेतमिट्टी से तीन बार पोती जाती है। शङ्ख-चूर्ण, शक्कर, और 'चन्द्रममप्रभ'—श्वेतजस्ताभस्मसे भूमि बार २ लीपी जाती है और जब स्वच्छ और दर्पणतुल्य हो जाती है, तब चित्रकार 'आलेख्य आदि कर्म' करता है[९३]। अनेक प्रकार की कूँचियों—तूलिका वर्तिका, लेखनी का वर्णन किया गया है। लेखनी भी तीन प्रकार की होती थी स्थूल, मध्य व सूक्ष्म। प्रारम्भ में वर्तिका बारीक कूंचि से तिण्डुक लेख्य-रेखाचित्र बनाया जाता था। पुनः वर्णविहीन 'आकार मात्रिका-रेखा' गेरु से बना कर पीछे रंगविधान किया जाता था। स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय चित्रकार का "सादृश्य" उस का मनोगत अनुभव था; उस की मानसिक प्रतीति थी। वैज्ञानिक प्रकृति का 'विद्धचित्र' में स्थान हो सकता है; शुद्ध और मिश्र रङ्गों का भी वर्णन किया गया है। अभिलषितार्थचिन्तामणि के मतानुसार शुद्ध वर्ण केवल चार हैं[९४]। रेखाओंका न्यूनाधिकत्व तीक्ष्ण छुरी की धार से दूर करना

चाहिये, परन्तु इस तरह कि जिससे नीचे के सफेद पलास्टर को नुकसान न हो। उस के पश्चात् आभरणों के लिये सुवर्ण-रज बनाने की विधि कही है। जबतक सुवर्ण लेप प्रभात की अरुणिमा की कान्तिवाला न हो, तबतक उस को पानी से गलाना चाहिये। सूखने के बाद उस को वराहदन्त से कान्तिमय बनाना चाहिये। चित्रों की रूपरेखा कज्जलसे बनाना चाहिये और लाख से वस्त्राभरण, पुष्प, मुखरागादिक बनाकर फिर रंगविधान होना चाहिये[९५]।

शिल्परत्न ग्रन्थ—ई० स० १९२२ में महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री ने केरल निवासी श्रीकुमारकृत शिल्परत्न नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया था[९६]। यह ग्रन्थ १६ वीं शताब्दि का है। यह ग्रंथ प्राचीन परम्परा के आधार पर बना हुआ है। चित्रलक्षण के अध्याय में चित्र की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखा है कि तीनों लोकों की जंगम व स्थावर वस्तुओं का स्वाभाविक चित्रण ही चित्र है[९७]। इस से यह सिद्ध होता है कि आलेखन और तक्षण दोनों के लिये चित्र शब्द का उपयोग किया जाता था। आलेखन के अर्थ में चित्राभास शब्द का भी प्रयोग किया गया है। चारों ओर से जिस वस्तु का निरीक्षण किया जा सके, ऐसे वस्तुविधान को चित्र कहते थे। श्रीकुमार ने चित्रों के तीन भेद गिनाये हैं—धूलिचित्र, सादृश्य चित्र, रसचित्र। दूसरी श्रेणी में मुगल-कला के लगभग तमाम चित्र आजाते हैं। हिन्दूकला के अधिकतर चित्र तीसरी श्रेणी के हैं। धूलिचित्र अभी तक हिन्दुस्थान में प्रायः सर्वत्र बनते हैं। बङ्गाल में उन को 'अल्पना' तथा गुजरात और संयुक्त प्रान्त में "चौकपूरना" कहते हैं। ब्रज और बुन्देलखण्ड में उत्सवों के दिन जो रंगीन धूलिचित्र बनाये जाते हैं, उन्हें 'साँझी' कहते हैं। भित्तिचित्र बनाने के भी नियम दिये गये हैं। "दर्पण की तरह साफ और चिकनी दीवार पर चित्रालेखन करना चाहिये" ऐसा लिखा है। फिर एक स्थान पर कहा है कि चित्रों का विषय वेद-पुराण आदि से लेना चाहिये; एवं विविध वर्ण विभूषित, विषयोचित आकार, रस भाव व क्रियायुक्त आलेखन करना चाहिये[९८]। शिल्परत्न के नियमों की परम्परा चित्रसूत्र की परम्परा से भिन्न नहीं है। चित्रसूत्र के ४१ वें अध्याय में चार प्रकार के चित्रों का वर्णन है—सत्य, वैणिक, नागर व मिश्र। सारांश यह है कि जिस चित्र में संसार की वस्तुओं का तद्वत् चित्रण होता है, उसे 'सत्य' कहते हैं। शरीर के

बड़े २ भागों का जिसमें पारस्परिक अनुपात ठीक हो, जिस में रेखाएँ कोमल हों और जिस का आधार सुन्दर हो, जो चारों ओर से दृश्य हो, सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो, न बहुत दीर्घ हो न बहुत छोटा हो, जिस के अनुपात, स्थान और लम्ब ठीक हों, ऐसे चित्र को वैणिक कहते हैं। जो सर्वाङ्ग दृढ़ रेखाओं से चित्रित हों और जो गोलाकार हो, तथा न दीर्घ न खर्व हो, और माल्य व अलङ्कार की जिसमें अधिकता न हो, ऐसे चित्र को 'नागर' चित्र कहते हैं।

नाना विषयों में चित्रकला का उपयोग—नाना विषयों में किस प्रकार चित्रकला का उपयोग करना चाहिये इसका वर्णन चित्रसूत्रकार ने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया है[९९]। नदियों को नौकाओं के साथ दिखाना चाहिये, देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ 'माल्यालंकारधारी' 'लिखना' चाहिये। ब्राह्मणों को शुक्लाम्बरधर, ऋषियों को जटाजूटोपशोभित, प्रजाजनों को शुभवस्त्रविभूषित और गायक तथा नर्तकगण को बांकी पोशाक में दिखाना चाहिये। आकाश को उडुगणों से विभूषित अथवा विवर्ण और पक्षियों से भरा हुआ, पर्वतों को उत्तुङ्ग शिखरों और अनेक वृक्षों से सुशोभित, निर्झरों को जलबिन्दुओं से झरते हुए, वनों को नाना प्रकार के वृक्ष विहंग और पशुओं सहित, पानी को अनेक मत्स्य, कच्छप आदि जलचरों से भरा हुआ और नगरों को अनेक सुन्दर राज-मार्ग और उद्यानों से रमणीय बनाना चाहिये। ऋतु-चित्र बनाने की भी नियमावली दी गई है। इसी भाँति सन्ध्या और उषा के चित्र-विधान के भी उपयुक्त नियम दिये गये हैं।

निषिद्धचित्र—कुछ श्रेणी के चित्र कई स्थानों के लिये निषिद्ध गिने गये हैं[१००]। युद्ध के, स्मशान के तथा करुण और अमंगलचित्र कभी निवास-स्थान में न बनाने चाहिये। राजसभा और देवमन्दिरों में सब प्रकार के चित्र रह सकते हैं, परन्तु वासगृह में केवल शृङ्गार, हास्य और शान्त रस के ही चित्र बनाने चाहिये। अच्छे चित्रों की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि उसमें माधुर्य्य, ओज और सजीवता हो। जीवित प्राणी की भाँति चित्र में भी एक प्रकार की चेतना होनी चाहिये। यही सम्पूर्ण चित्रकला का रहस्य है।

चित्रशाला—प्राचीन काल में इस कला को लोकप्रिय बनाने के लिये व इसे प्रोत्साहन प्रदान करने के लिये चित्रशालाओं का आयोजन किया गया था[१०१]। चित्रशाला में सभी श्रेणी के लोगों के मनोरञ्जनार्थ सामग्री उपस्थित

रहती थी। मस्त हाथियों से बालकों को, वानर ऊँट और रथों से ग्रामीणों को, देवचरित्रालेखन से भक्तजनों को, इन्द्र के अन्तःपुरवासियों के चित्रों से रानियों को, नाना प्रकार के नाटकों से नटों को, देवासुर सङ्ग्राम से वीरों को ये चित्र आनन्दित करते थे। बौद्ध जातकों में भी चित्ररचना के सम्बन्ध में ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं[१०२]। चित्रकला भारतीय-संस्कृति का प्रधान अङ्ग थी। कविता व सङ्गीत की तरह उसे सर्वत्र स्थान था। किन्तु अजन्टा के प्रासाद-मन्दिरों को छोड़कर प्राचीन-भारत के भित्ति-चित्र के अवशेष प्रायः नहीं जैसे हैं।

सङ्गीत-कला

ऐतिहासिक दृष्टि—अन्य कलाओं के समान सङ्गीत-कला का प्रारम्भ भी भारत में अत्यन्त ही प्राचीन काल से हुआ है। इसका सम्बन्ध गन्धर्वों व किन्नरों से जोड़ा जाता है। प्राचीन दन्त-कथाओं के अनुसार तो इसका विकास गन्धर्वों द्वारा ही हुआ। इसीलिये इसे गन्धर्व-विद्या व इसके ग्रन्थ को गान्धर्व वेद भी कहा गया है[१०३]। इस लोकोक्ति के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में इस कला का इतना विकास हुआ था कि कुछ लोगों ने इसे ही अपने जीवन का सब कुछ मान लिया था। कदाचित् प्राचीन कालीन गवैयों को ही गन्धर्व नाम से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में सङ्गीत कला—इस कला की प्राचीनता पर ऋग्वेद भी अच्छा प्रकाश डालता है। इतने प्राचीन काल में भी सङ्गीत-विद्या के भिन्न २ अङ्गों का सम्यक् विकास किया गया था। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, जैसे दुन्दुभि,[१०४] वाण[१०५] (बांसुरी) व वीणा[१०६]। वाण का मधुर शब्द यम के निवासस्थान में सुनाई देने का उल्लेख भी इसी वेद में है। इस में सामन् का कितने ही स्थलों पर उल्लेख है[१०७]। पुरुषसूक्त में तो कहा है कि परमात्मा से साम गीत भी उत्पन्न हुए हैं[१०८]। सामवेद का गाया जाना तो लोक-प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ये सामगीत ऋग्वेद-काल में पूर्णतया ज्ञात थे व स्थान २ पर ऋषियों द्वारा गाये जाते थे। इससे भी सङ्गीत के विकास का पता चलता है। यजुर्वेद में भिन्न २ व्यवसायों के साथ में वीणा, बांसुरी, शङ्ख आदि बजाने वालों का स्पष्ट उल्लेख[१०९] है व सामवेद तो सामगान का भाण्डार ही है[११०]। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार

गान्धर्व-कला का प्रारम्भ इसी सामवेद से होता है। इस वेद का उपवेद ही गान्धर्ववेद है, जो कि आज अप्राप्य है[१११]।

रामायण आदि के काल में सङ्गीत कला—इस प्रकार सङ्गीत कला का उत्तरोत्तर विकास होता ही गया, जिस का उल्लेख रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में स्थान २ पर आता है। वाल्मीकि के शिष्य लव व कुश के द्वारा रामायण का गाया जाना,[११२] पातञ्जल महाभाष्य में कुशीलवों व उन के गीतों का उल्लेख[११३] तथा महाभारत में अज्ञातवास के समय अर्जुन का बृहन्नला बन राजा विराट के यहां राजकुमारी को नृत्य गायनादि सिखाने का उल्लेख,[११४] नाट्य व सङ्गीत का घनिष्ट सम्बन्ध आदि इसी सङ्गीत-कला के विकास के ज्वलन्त उदाहरण हैं। कृष्ण की बांसुरी व उस की मधुर आवाज़ आज भी भारतीयों को दिव्य आनंद देने में समर्थ होती है।

सङ्गीत कला व राजाश्रय—प्राचीन काल में राजा, धनाढ्य व समर्थ लोग इस कला के विशेष प्रेमी थे। प्राचीन राजा ललित कलाओं के विकास पर पूरा २ ध्यान देते थे, इतना ही नहीं, स्वतः भी उन का अभ्यास करते थे। गुप्तवंशीय सम्राट समुद्रगुप्त के अलाहबाद वाले स्तम्भलेख से मालूम होता है कि वह स्वतः सिद्धहस्त गवैया था, जिसने नारद व तुम्बरु को भी नीचा दिखा दिया था[११५]। समुद्रगुप्त के कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन पर वह वीणा बजाते हुए अङ्कित किया गया है[११६]। प्राचीन संस्कृत साहित्य से ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिन से राजा की छत्र-छाया में सङ्गीत-कला के विकास का पता लगता है[११७]।

सङ्गीत सम्बन्धी साहित्य—इस कला का शास्त्रीय ढङ्ग पर वर्णन सर्व प्रथम भरतमुनिकृत नाट्य-शास्त्र में मिलता है[११८]। भामह आदि आलङ्कारिकों ने भी अपने अलङ्कार-ग्रन्थों में इस का कुछ २ वर्णन किया है[११९]। इस सम्बन्ध के महत्त्वपूर्ण साहित्य का विवरण इस प्रकार है[१२०]—

(१) भारतीय नाट्य-शास्त्र।
(२) भामहकृत अलङ्कारशास्त्र
(३) मतङ्गकृत बृहद्देशी
(४) कल्लिनाथकृत सङ्गीतरत्नाकर
(५) रागविबोध
(६) सङ्गीतपारिजात
(७) सङ्गीतदर्पण

इन ग्रन्थों में इस विद्या का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिन के पढ़ने से इस के मूलसिद्धान्त समझ में आ सकते हैं। इस प्राचीन सङ्गीत कला के मूल तत्त्व श्रुति, जाति, ग्राम, राग आदि थे। आधुनिक सङ्गीत-कला इन तत्त्वों पर नहीं बनी है। वह तो देशी राग रागिनियों पर बनी है, जो कि बाद के गवैयों ने भिन्न २ समय पर बनाये थे[१२१]। मुख्य राग छः हैं, जो भिन्न २ समय में गाये जाते हैं; जैसे हिन्दोल, श्रीराग, माघमल्लार, दीपक, भैरव व मालकौन्स। इन से सम्बन्धित छत्तीस रागिनियें हैं। फिर इनके भी बहुतसे भेद, उपभेद हैं, जिन की गिनती लगाना भी मुश्किल है। इस आधुनिक सङ्गीतविद्या के शास्त्रीय विकास का श्रेय गत चार सौ वर्षों के गवैयों को मिलना चाहिये।

एक प्राचीन जनश्रुति—उत्तर भारत के नामी गवैयों में एक प्राचीन दन्तकथा प्रचलित है कि यथार्थ में सङ्गीत-विद्या के चौदह प्रकार हैं, जिन में से इस का वर्तमान स्वरूप भी एक है। वर्तमान-शैली का आधार हनूमान के सिद्धान्त हैं। अन्य ग्रन्थों में भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हनूमान इस शास्त्र के प्राचीन लेखकों में से थे। सङ्गीत-रत्नाकर, सङ्गीत-पारिजात सङ्गीतदर्पण, राग-विबोध आदि में हनूमान को गान्धर्व विद्या का लेखक कहा गया है व एक स्थान पर उस के ग्रन्थ के कुछ उद्धरण भी दिये गये हैं[१२२]।

सङ्गीत कला का विदेशों में प्रचार—अन्य विद्याओं के समान सङ्गीत विद्याने भी विदेशों को प्रभावित किया था। इस का प्रचार भी प्राचीन-काल में विदेशों में हुआ था। यह विद्या भारत से पारस, अरब आदि देशों में होती हुई ईसा की ग्यारहवीं शताब्दि तक यूरोप पहुँच गई थी। अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस के यूनान पहुँचने के प्रमाण मिलते हैं। स्ट्रैबो के कथन से मालूम होता है कि प्राचीन यूनानी स्वतः इस बात को स्वीकार करते थे कि उनकी समस्त गायन विद्या भारत की देन है[१२३]। भारत के वीणा, बांसुरी आदि वाद्यों का भी यूरोप में प्रचार हुआ था। इस प्रकार भारतीय सङ्गीतकला का पाश्चात्य देशों पर जो प्रभाव पड़ा, वह समझ में आजायगा। आज भी भारतीय सङ्गीत कला के समान शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किसी अन्य देश की सङ्गीत कला नहीं है।

नृत्य-कला

नृत्यकला—सङ्गीत नृत्य व अभिनय के बिना नीरस है । नृत्य-कला के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र है । भरतमुनि ने सङ्गीत, नृत्य, नाट्य आदि ललित कलाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अच्छा प्रकाश डाला है । इसके पश्चात् शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ रत्नाकर में नर्तन का खूब ही अच्छी तरह से व विस्तारपूर्वक विवेचन किया है[१२४] । उस ने अपने विषय का विवेचन इस प्रकार किया है—स्वर्ग में से नर्तन का इस जगतीतल पर आना; नर्तन का महत्त्व व उस की कीर्ति; नाट्य के प्रकार व लक्षण; अभिनय के प्रकार; नृत्य, नृत्त आदि का वर्णन व उन के प्रभेद; आङ्गिक अभिनय, मण्डल, लास्य आदि का विवेचन ।

नृत्य के प्रकार; ताण्डव—ताण्डव, नृत्य का एक प्रकार है, जिस का प्रारम्भकर्ता शिव को बताया जाता है । शिवजी ने अपने शिष्य को इस का ज्ञान दिया व उस ने भरत मुनि को । किन्तु शिव का सच्चा ताण्डव तो महाप्रलय के समय होता है, जब कि विश्व का विनाश प्रारम्भ होता है । पतञ्जलि व व्याघ्रपद ऋषि की प्रार्थना के कारण शिवजी ने "आनन्द ताण्डव" का प्रदर्शन किया था । उस समय चतुर्मुखी ब्रह्मा ताल देते थे, महाविष्णु मृदङ्ग बजाते थे तथा तुम्बरु व नारद साथ २ गाते थे । महावैयाकरण पाणिनि ने शिवजी द्वारा बजाये जाने वाले डमरू के शब्दों से व्याकरण के चौदह मौलिक सूत्रों को रचा, जो कि "माहेश्वर-सूत्र" कहलाते हैं[१२५] ।

नृत्त, लास्य—इस कला का दूसरा प्रकार नृत्त है, जो कि विशुद्ध व सरल नर्तन-मात्र ही है । इस में भावभङ्गी, भाषादि का समावेश नहीं होता । तीसरा प्रकार लास्य है, जिस का सम्बन्ध स्त्रियों से है । इसीलिये इस को पार्वती ने अपनाया था ।

ऐतिहासिक दृष्टि—नृत्य कला का उल्लेख प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्य में आता है । ऋग्वेद में नृत्यकलाप्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है, जो अपनी विशेष पोशाक में सजधजकर नृत्य करती हैं[१२६] । पुरुष-वर्ग सुवर्णादि के आभूषणों से सुसज्जित होकर युद्ध सम्बन्धी नृत्य का प्रदर्शन करता था[१२७] । यजुर्वेद में "वंशनर्तिन्"[१२८] का उल्लेख है, जो बाँस पर नाचा करता था । इस वंशनर्तिन् को आज भी देखा जा सकता है । इस प्रकार वैदिक-काल में

नृत्य को मनोरञ्जन का विशेष साधन माना गया था । रामायण में भी इस कला का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है । अयोध्या में नृत्य व गीत रात दिन हुआ करते थे । राजा लोग इन्हीं से सोते व इन्हीं से जागते थे । वानरराज वालि के अन्तःपुर में भी रानियों के मनोरञ्जनार्थ इस कला का प्रदर्शन किया जाता था । रावण के यहां तो गीत व नृत्य दोनों का बहुत विकास हुआ था । एक नृत्य-कला-निष्णात नर्तकी ने अपनी सौन्दर्य्ययुक्त कला-पटुता से रावण को मोह लिया था । महाभारत में अर्जुन का राजा विराट के यहां वृहन्नला बनकर रहना व राजकुमारी को नृत्यादि कला सिखाना स्पष्टतया उल्लिखित है । अर्जुन की सुभद्रा भी इस कला में निष्णात थी । बौद्ध काल में भी नृत्य का पर्याप्त विकास हुआ था । बौद्ध भिक्षुओं को विशेष रूप से मना किया गया था कि वे नृत्य आदि के प्रदर्शन में उपस्थित न हों । बाद के संस्कृत साहित्य में भी इस का उल्लेख है । कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र से पता लगता है कि राज-भवन में नृत्यशाला का भी समावेश होता था[१२९] । इस कला के प्रेमी व पण्डितों को राजाश्रय सरलता से प्राप्त होता था । इस पुस्तक में 'उद्धत,' 'लास्य' आदि नृत्य के भेदों को क्रमशः शिव व पार्वती से सम्बन्धित किया गया है । इन सब उल्लेखों से प्राचीन भारत में नृत्य-कला की लोकप्रियता का पता चलता है ।

नृत्यकला व सांस्कृतिक विकास—सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यदि भारत की नृत्य-कला पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि नृत्य भारतीयों के जीवन में ओत प्रोत हो गया था । इस कला का स्वागत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया गया था । इस का सँस्कारितापूर्ण विकास राजा व धनाढ्यों के आश्रय में हुआ, जैसा कि प्राचीन साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है । राजकुल व धनिक कुल की युवतिएँ गीतादि के साथ २ इस को भी बड़े चाव से सीखती थीं । धीरे २ धनिक-कुल में इस कला का सम्बन्ध विलासिता से होने लगा; परिणामतः इस का प्रचार वेश्याओं में विशेषरूप से होने लगा व कुलबालाओं ने इससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया । धनिकों द्वारा पालित व पोषित नृत्य-कला की आज यही दुर्दशा है, किन्तु अब सुधार होने लगा है ।

प्राचीन-भारत में नृत्य-कला को सामाजिक क्षेत्र में भी अपनाया गया था ।

मनोरञ्जन के विशिष्ट अवसरों पर नृत्यादि का पेशा करने वाले तो रहते ही थे, किन्तु इन के अतिरिक्त समाज के स्त्री-पुरुष भी सामूहिक या वैयक्तिक रूप से नृत्य-कला का प्रदर्शन करते थे। इस के भग्नावशेष आज भी भारत के विभिन्न भागों में देखे जा सकते हैं। गुजरात का 'गर्बा' नृत्य आज भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट समझा जाता है। मध्य भारत, राजपूताना आदि की मारवाड़ी प्रभृति जातियों में आज भी विवाहादि के अवसरों पर महिलामण्डल के सामने महिलाओं को नाचना पड़ता है। इस प्रकार का नाचना एक आवश्यकीय सामाजिक रूढ़ी समझा जाता है। दुःख की बात है कि आधुनिक सभ्यता के द्वारा इस रूढ़ी का अन्त किया जा रहा है। मलाबार के "कथकली" "चाक्यार-कूत्त" आदि नृत्य भी इसी सामाजिक श्रेणी के हैं।

धर्म का क्षेत्र भी इस कला के प्रभाव से न बच सका। भारतीय संस्कृति तो पूर्णतया धर्मप्राण है, इसलिये यदि नृत्य कला का प्रारंभ पार्वती, शिव आदि के समान देवी देवताओं से कराया जाय, तो इस में कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। भक्ति-मार्ग के प्रादुर्भाव से धर्म के क्षेत्र में इस कला का विशेष स्थान होगया। कृष्ण व गोपियों की रासक्रीड़ा के रूप में इस की उपयोगिता व लोक-प्रियता बढ़ने लगी। भक्ति के स्रोत के साथ में नृत्य का स्रोत भी मिल गया और ये दोनों स्रोत मिलकर सम्पूर्ण भारत में बह निकले। इसी में से कदाचित् 'कृष्णलीला' व 'रामलीला' का जन्म हुआ। मीरा, तुकाराम आदि भक्तों के जीवन में भी ये दोनों धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। धार्मिक क्षेत्र की नृत्य कला का स्वरूप आज भी भारत के विभिन्न भागों में वर्तमान है, जिसको कथा, कीर्तन, भजन आदि में देखा जा सकता है। दक्षिण-भारत के मन्दिरों की देवदासियों ने भी इस कला को बचाये रखने का कुछ कम प्रयत्न नहीं किया है।

अध्याय १८

शारीरिक-विकास

प्राचीन भारत में शारीरिक विकास का महत्त्व—जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है, शारीरिक विकास भी भारतीय संस्कृति का मुख्य अङ्ग था। कविशिरोमणि कालिदास के समान प्राचीन भारतीयों ने

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"[१] के रहस्य को भलीभाँति समझ लिया था। उपनिषदों के ऋषियों के समान वे यह भी अच्छी तरह से जानते थे कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'[२]। क्योंकि दैनिक जीवन के अनुभव ने उन्हें परमात्मा के दिये हुए इस शरीर की उपयोगिता भलीभाँति समझा दी थी। शरीर को कष्ट देने से ही मुक्ति मिलती है, यह सिद्धान्त तो बाद में प्रतिपादित किया जाने लगा, जब कि समाज के ऊपर एक प्रकार का निराशावाद छाने लगा था। गौतम-बुद्ध भी पहिले इस का शिकार हुआ और जंगल में जाकर उसने अपने शरीर को नाना प्रकार के कष्ट दिये। किन्तु बाद में वह ऐसे जीवन की निरर्थकता समझ गया व सच्चे आर्य्य-पथ पर अग्रसर हुआ[३]।

वैदिक काल में शारीरिकविकास—वैदिक काल से ही शारीरिक विकास का पता चलता है। वेदों में सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा प्रदर्शित की गई है और वह भी सब इन्द्रियों के पूर्णतया सशक्त रहते हुए[४]। सौ वर्ष तक जीवित रहना, सुनना, बोलना आदि तब ही सम्भव हो सकते हैं, जब कि हमारी शरीरयष्टि उत्तम व सुदृढ़ हो, किसी रोग आदि ने उसे जर्जरित न कर दिया हो। उपरोक्त वेदवचन से स्पष्ट है कि वैदिक काल के आर्य्य शारीरिक विकास के महत्त्व को भलीभाँति समझ गये थे। भारतीय प्राचीन संस्कृति के मूलतत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह भी मालूम हो जाता है कि प्राचीन काल में शारीरिक विकास की कोई सुन्दर आयोजना अवश्य बनाई गई होगी, जिस के स्वरूप को प्राचीन साहित्य के सहारे कुछ २ अवश्य समझा जा सकता है[५]।

शरीर-विज्ञान का ज्ञान—प्राचीन भारतीयों ने शरीर-विज्ञान को भलीभाँति समझ लिया था, जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है। वे शरीर की विभिन्न क्रियाओं को जानते और पहिचानते थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि शरीर की रक्षा व पुष्टि के लिये वायु, जल, अन्न आदि तीन वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यकीय हैं। उपनिषदों में जो 'अन्नमय कोष,'[६] 'अन्नं वै प्राणाः'[७] आदि वचन आते हैं, उन सब का यही तात्पर्य्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि इन तीनों में से एक भी पर्य्याप्त मात्रा में न मिले, तो जीवन दुष्कर ही नहीं बल्कि असम्भव हो जायगा। इस बात को प्राचीन भारतीयों ने भी समझ लिया था। इसीलिये इन तीनों का योग्य मात्रा में, योग्य अवस्था में

किस प्रकार सेवन करना चाहिये, इस सम्बन्ध में शास्त्रीय ढङ्ग पर उन्हों ने विचार किया था[८]।

वायु, जल, अन्नादि की शुद्धि; वायु—शारीरिक विकास के लिये वायु, जल, अन्न आदि की पूर्ण शुद्धि अत्यन्त ही आवश्यकीय है, क्योंकि यदि इस पर ध्यान न दिया जाय तो नाना प्रकार के रोग मानव-समाज में फैल जायँगे व आनंदमय जीवन असम्भव हो जायगा। वायु का हमारे जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया हमारा प्राण है, जो कि पूर्णतया वायु पर निर्भर है। इसलिये प्राचीन काल से ही यह व्यवस्था की गई थी कि अधिक से अधिक शुद्ध वायु मनुष्य के शरीर के भीतर व बाहिर पहुँच सके, जिससे जीवन-शक्ति बढ़े। इसीलिये आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थ को छोड़ अन्य आश्रमों को जङ्गल से सम्बन्धित किया गया, जहां शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का लगभग तीन चतुर्थांश भाग जंगल की शुद्ध हवा में बिताना पड़ता था। यही कारण था कि प्राचीन काल में लोगों का स्वास्थ्य साधारणतया अच्छा रहता था। इस के अतिरिक्त वायु को दूषित होने से बचाने की भी व्यवस्था की गई थी। अथर्ववेद से हमें मालूम होता है कि वैदिक काल के भारतीयों को कीटाणु-शास्त्र का पता था[९]। वे यह जानते थे कि नाना प्रकार के रोग-कीटाणु, जिनमें से अधिकांश अदृश्य भी रहते हैं, वायु में इधर उधर भ्रमण करते हैं व इस प्रकार वायु दूषित हो जाती है। उस दूषित वायु के श्वासोच्छ्वास की क्रिया द्वारा शरीर में प्रवेश करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिये वायु-शुद्ध्यर्थ यज्ञ करने का आयोजन किया गया था।

यज्ञ—यज्ञ से दो प्रकार के लाभ होते हैं, वायु का शुद्धीकरण व वायु की बादल धारण करने की शक्ति में वृद्धि। यज्ञ में घी, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डालने का आदेश है। कुछ लोगों का मत है कि इन सुगन्धित द्रव्यों के अग्नि में पड़ने से जो धुँआ निकलता है, उसमें वायु में विचरण करने वाले नाना प्रकार के रोग आदि कीटाणुओं के नाश करने की शक्ति रहती है, इसलिये इन यज्ञों द्वारा वायु को शुद्ध किया जाता था। प्रत्येक आर्य को सायं प्रातः अग्निहोत्र करना पड़ता था तथा दार्शपौर्णमास आदि यज्ञ सामूहिक रूप से किये जाते थे[१०]। इन के अतिरिक्त

बहुतसे नैमित्तिक यज्ञ भी किये जाते थे[११]। भिन्न २ संस्कारों के अवसर पर भी यज्ञ करना अनिवार्य्य था। स्वास्थ्य की दृष्टि से अन्त्येष्टि-संस्कार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है[१२]। यों तो मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना अधिक उत्तम है, किन्तु शव को यदि घृत, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से जलाया जाय, तो वायु को शव-दाह द्वारा दूषित होने से बचाया जा सकता है। वैदिक अन्त्येष्टि संस्कार के महत्त्व को हम महामारी के अवसर पर अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस प्रकार यज्ञ वायुशुद्धि का प्रधान साधन भी था।

प्राणायाम—केवल वायु-शुद्धि से ही शुद्ध वायु को शरीर के अन्दर प्रविष्ट नहीं कराया जा सकता। शुद्ध वायु का शरीर के अन्दर प्रवेश तो श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर निर्भर रहता है और यह क्रिया फुफ्फुसों द्वारा होती है। यदि फुफ्फुस अशक्त रहें, तो यह क्रिया बिगड़ जायगी व परिणाम-स्वरूप शुद्ध वायु के रहते हुए भी शारीरिक शक्ति का ह्रास होता जायगा। परिणामतः, श्वास के कितने ही रोग शरीर में घर बना लेंगे व हृदय भी अशक्त हो जायगा, जिससे यकायक मृत्यु भी हो सकती है। इसलिये फुफ्फुसों का सशक्त रहना अत्यन्त ही आवश्यकीय है। इन को सशक्त बनाने के लिये ही प्राचीन काल में प्राणायाम का आयोजन किया गया था। श्वास को यथा-विधि बाहिर भीतर ले जाना व वहां रोके रखना ही प्राणायाम की मुख्य क्रिया है[१३]। नियमित रूप से प्राणायाम करने से फुफ्फुसों को पूरी कसरत मिलती है व वे सशक्त बन जाते हैं। परिणाम-स्वरूप श्वासोच्छ्वास क्रिया भी सुधर जाती है व शुद्ध वायु के कारण सहज ही में दीर्घ-जीवन का उपभोग किया जा सकता है। यदि इस प्रकार फुफ्फुसों को सशक्त न बनाया जाय, तो हम अकाल मृत्यु के ग्रास बने बिना नहीं रहेंगे व अल्पजीवी भी हो जायँगे, जैसा कि आज कल देखा जाता है। आजकल प्राणायाम को धर्म का ढकोसला समझ हम लोगों ने उसे तिलाञ्जलि दे दी है व उस के बदले में धूम्रपानादि की खराब आदतें बनाली हैं, जिनसे फुफ्फुसों को कितनी ही हानि पहुँचती है। परिणामतः, हम अशक्त होते जाते हैं व दमा खाँसी आदि का हमारे शरीर में दौर-दौरा हो जाता है। आजकल हमारे समाज में कितने ही व्यक्ति इन श्वासरोगों से ग्रसित रहते हैं व नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं।

जल—प्राचीन काल में जल की शुद्धि पर भी पूरा २ ध्यान दिया जाता

था, जैसा कि मनुजीने कहा है[१४]। साधारणतया नदी, कुएँ आदि का जल पीने के काम में लाया जाता था। वर्षा ऋतु में नदी का पानी पीना वर्जित था[१५]। कुएँ का जल विशेषरूप से पवित्र माना जाता था, क्योंकि वह पृथ्वी के गर्भ में से आता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह जल ठीक ही रहता है। शरीर-शुद्धि के लिये भी जल को अत्यन्त ही आवश्यकीय माना गया था। भारतवर्ष उष्णप्रधान देश रहने से यहां जल की आवश्यकता पद २ पर होना बिलकुल स्वाभाविक ही है। यदि उसे साक्षात् देवता भी माना जाय, तो आश्चर्य्य न होना चाहिये। यही कारण है कि प्राचीन भारत में इन्द्र व वरुण देवताओं द्वारा जल को ही स्तुत्य व पूज्य माना गया था[१६]। कृषि-प्रधान देश में वर्षा व उस के जल का इतना महत्त्व होना ही चाहिये।

दैनिक स्नान—प्राचीन भारत में प्रतिदिवस स्नान करना लगभग अनिवार्य्य सा ही था। इसे धर्म का अङ्ग मान लिया गया था[१७]। स्नान के बिना तो कुछ हो ही नही सकता था। आज भी हिन्दुओं में प्रति-दिवस स्नान करना एक नियम सा ही है। संसार में कदाचित् ही भारत के अतिरिक्त अन्य कोई देश हो, जहां के निवासी धार्मिक नियम मान भोजनादि के पूर्व प्रतिदिवस स्नान करते हों। यह प्राचीन भारतीय वैयक्तिक शुद्धता का अच्छा प्रमाण है। शीत-प्रधान देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में स्वास्थ्य की दृष्टि से दैनिक स्नान अनिवार्य्य हो जाना चाहिये। जो लोग प्रतिदिवस स्नान नहीं करते, वे ऊपर से भले ही साफ सुथरे कपड़े पहिने हों, किन्तु अन्दर से गन्दगी से भरे रहते हैं। उन के पास बैठते ही उन के शरीर की दुर्गन्ध नाकों दम कर देगी। नियमित रूप से स्नान न करनेवालों के निकटतम सहवास से इस बात का अच्छा अनुभव हो सकता है।

अन्न—अन्न व शारीरिक विकास के घनिष्ट सम्बन्ध से भी प्राचीन भारतीय भलीभाँति परिचित थे। उपनिषदों में, विशेषकर छान्दोग्य उपनिषद् में इस सम्बन्ध को बहुत ही रोचक ढङ्ग पर समझाया गया है[१८]। आयुर्वेदादि के ग्रन्थों में भोजन की विभिन्न विक्रियाओं का भी वर्णन आता है। उन में बताया गया है कि किस प्रकार अन्न से रक्त, मेद, मज्जा, वीर्य्य आदि बनते हैं[१९]। इसलिये शारीरिक पुष्टि के लिये अन्न का शुद्ध रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। अन्न का असर मनुष्य के स्वभाव पर भी पड़ता है; इसीलिये

भोजन के भी तीन प्रकार बनाये गये—सात्त्विक, राजस, तामस[२०]। इस के छः प्रकार और बताये गये हैं, जिन के कारण "षड्रस भोजन" नाम पड़ा। इसे स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा है। आधुनिक स्वास्थ्य-शास्त्र के अनुसार शरीर की पुष्टि व वृद्धि के लिये भोजन में चार प्रकार के द्रव्य रहने चाहिये[२१]। षड्रस भोजन में इन सब का समावेश हो जाता है।

भारतीय भोजनव्यवस्था—भारतीय भोजन-व्यवस्था में, जिस में साधारणतया प्राचीन काल से अभीतक कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ, उपरिनिर्दिष्ट चारों तत्त्वों का समावेश हो जाता है। रोटी, दाल, चांवल, शाक आदि ये चार पदार्थ भारतीय भोजन-व्यवस्था के प्रधान अङ्ग हैं[२२]। आजकल जिन व्हिटामिन्स (Vitamins) को स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता है, उन का समावेश भी इस व्यवस्था में हो जाता है। हरे २ शाक भाजी व भोजनोपरान्त खाये जाने वाले फलों में इन व्हिटामिन्स का समावेश हो जाता है। प्राचीन भारतीय इन सब का उपयोग अपने भोजन में करते थे[२३]। कदाचित् यह सम्भव हो कि सब लोगों को इस व्यवस्था के अनुसार भोजन न मिलता हो, जैसा कि आर्थिक दुरवस्था के कारण आजकल दिखाई देता है। किन्तु इस से उक्त व्यवस्था की वैज्ञानिकता व शारीरिक विकास के लिये उपयोगिता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

षड्रस-भोजन—जिस प्रकार भोजन के पदार्थ छः रस वाले (मीठे, खट्टे, चरपरे, कड़ुए, कसैले व नमकीन) होते हैं, उसी प्रकार तैयार करने की विधि से भी भोजन छः प्रकार का है[२४]—चोष्य–वे पदार्थ जो चूस कर खाये जाते हैं; जैसे ऊख, नींबू, अनार आदि; पेय–पीने के पदार्थ; जैसे पानी, शर्बत, दूध आदि; लेह्य–चाटने के पदार्थ जैसे शिखरन, लपसी, कढ़ी आदि; भोज्य-भोजन के पदार्थ; जैसे भात, दाल रोटी आदि; भक्ष्य-नाश्ते या जलपान अथवा फलाहार के पदार्थ जैसे लड्डू, पेड़े, बरफी आदि; चर्व्य–चर्वण करने या चबाने के पदार्थ; जैसे लाई, चिवड़ा आदि। क्रमशः ये पदार्थ एक दूसरे से अधिक भारी हैं।

हमारा शरीर पञ्चमहाभूतों का बना हुआ है। इसलिये भोजन में ऐसे पदार्थों का होना आवश्यक है, जिनसे शरीर के पञ्च-महाभूतों का परिमाण व्यवस्थित रहे। इसीलिये प्राचीन भारत में छःरस-प्रधान भोज की व्यवस्था

की गई। मधुर रस में पृथ्वी व जल का भाग अधिक रहता है। खट्टे रस में पृथ्वी व अग्नि का अंश विशेष रहता है। कटुरस में आकाश व वायु की विशेषता रहती है। चरपरे रस में अग्नि व वायु तत्त्व की विशेषता रहती है। कषैले रस में पृथ्वी व वायु तत्व की प्रधानता रहती है[२५]। इसीलिये मधुर रस का सेवन करने से मुँह में चिकनापन, शरीर में आनन्द व इन्द्रियों में तेजी आती है। खट्टे रस के सेवन से मुँह में पानी छूटता, दाँत सिहरते व शरीर में रोमाञ्च होता है। नमकीन रस के सेवन से मुँह से पानी गिरता है व गले में जलन होती है। कटुरस से मुँह साफ होता और दूसरे रसों की पहचान करने की जीभ की शक्ति नष्ट होती है। चरपरे रस के सेवन से जीभ में जलन और मुँह में चुनचुनी छूटती है तथा मुँह व नाक से पानी छूटता है। कषैले रस के सेवन से जीभ भारी पड़ जाती है, कण्ठ व श्रोतसों का अवरोध होता है। इन सभी रसों की मूल उत्पत्ति जल से हुई है[२६]।

आयुर्वेद से विटामिन का समन्वय—हमारे यहां पदार्थों के तीन भाग किये गये हैं—शमन, कोपन व स्वस्थहित[२७]। शमन पदार्थ वे हैं, जो अपने गुणों के द्वारा वात पित्त कफ आदि दोषों का शमन करते हैं। ये पदार्थ प्रत्यक्ष में शारीरिक क्रिया-सञ्चालन में प्रधान सहायक न होते हुए भी दोषसाम्य स्थिर रखते हैं। इस प्रकार वे शारीरिक स्वास्थ्य सम्पादन कराने वाली क्रियाओं का काम सुगम करदेते हैं। शमन पदार्थ दोषों का शोधन नहीं करते अर्थात् वात, पित्त, कफ आदि को मूत्र, मल, वान्ति आदि के द्वारा निकालते नहीं हैं और जो दोष समान अवस्था में हैं, उन्हें भड़काते या कुपित नही करते, किन्तु जो दोष विषम अवस्था में होते हैं, उन्हें समान अवस्था में कर देते है। यह सात प्रकार से होता है। जो पदार्थ वात पित्त कफ आदि दोषों व रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, धातु व पुरीष मूत्र तथा पसीना आदि मलों को कुपित करते हैं, वे कोपन पदार्थ कहलाते हैं; जैसे नमकीन पदार्थों या फलों के साथ दूध खाना, अथवा हरी शाक-भाजी व मूली खाकर दूध पीना, उड़द की दाल के साथ मूली, उड़द या अन्य दाल के साथ बड़हर खाना आदि विरुद्ध आहार हैं। इस से धातु, मल इत्यादि कुपित होते हैं। इसी तरह जो पदार्थ वातादि दोष, रसादि धातु और पुरीषादि मलों को अपने प्रभाव से अपने प्रमाण के अनुसार कायम रखते हैं,

अर्थात् उन्हें समानावस्था में रखने के कारण होते हैं, वे स्वस्थहित कहलाते हैं। वे स्वास्थ्य के लिये हितकारी हैं, इसलिये स्वस्थहित कहलाते हैं। प्रत्येक ऋतु के अनुकूल जो सेव्य पदार्थ हैं वे स्वस्थहित हैं; जैसे साठी के चांवल, गेहूं, जव, हर्र, आंवला, अंगूर, मुनक्का, अनार, सेव आदि फल, परवर आदि शाक, मूँग, अरहर की दाल, शक्कर, दूध, मक्खन, घी, शहद, सेंधा नमक आदि पदार्थों का सेवन तथा रात में घी, शहद के साथ त्रिफला सेवन करना सदा स्वास्थ्य के लिये हितकारी है, क्योंकि इन पदार्थों में जीवनीय तत्त्व विशेषता से रहता है[२८]।

पदार्थों में उष्ण-वीर्य और शीत-वीर्य दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। जिन २ पदार्थों में उष्णता उत्पादन करने तथा पचनशक्ति बढ़ाने की शक्ति होती है, वे उष्णवीर्य पदार्थ हैं, और जिनमें स्नेहन, शान्ति, वीर्य्य, बल आदि बढ़ाने की शक्ति होती है, वे शीतवीर्य्य पदार्थ कहलाते हैं। पदार्थों में बीस प्रकार के गुण होते हैं। उन गुणों के गण आयुर्वेद-शास्त्र में विस्तार से कहे गये हैं। उनमें से स्वस्थहित अर्थात् स्वास्थ्य के लिये हितकारी पदार्थों के जीवनीय, बृंहणीय, सन्धानीय, दीपनीय, बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य, हृद्य, तृप्तिकर, स्तन्यजनक, शुक्रजनक, वीर्यशोधक, स्नेहोपयोगी, श्रमहर, दाहनाशक, शोणितस्थापन, संज्ञास्थापन, प्रजास्थापन तथा वयःस्थापन करनेवाले गण वर्णित हैं[२९]। पश्चिमी विद्वानों का व्हिटामीन-सम्बन्धी वर्गीकरण भी इन्हीं गणों का अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित विवेचन है। व्हिटामिन ए. को "ओजोवर्धनीय गण" कह सकते हैं, क्योंकि कहा गया है कि शरीर में ओज के बढ़ने से तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता, पुष्टि अर्थात् शारीरिक बल की वृद्धि और सामर्थ्य की वृद्धि होती है। 'ए' व्हिटामिन का भी यही कार्य्य है। अतएव इसे ओजोवर्धनीय अथवा जीवनीय-वर्ग का खाद्य-प्राण कहना चाहिये। व्हिटामिन 'बी' के गुण व्हिटामिन 'ए' से मिलते झुलते हैं। इस का प्रभाव स्थायी होता है। यह सरलता से नष्ट नहीं होता, ज्ञान-तन्तुओं को बल पहुँचाता है और पचन-शक्ति व पाचक इन्द्रियों को बल देता है। इस के द्वारा दैहिक परिपुष्टि होती है व चर्मरोग-निवारण में इस का उपयोग होता है। यह दूध, मलाई, अखरोट, नारङ्गी, नींबू, टमाटर, गाजर, प्याज आदि में पाया जाता है। ये पदार्थ विशेषतः रसायनगुण-विशिष्ट हैं। शास्त्र में कहा गया है कि रसायन से दीर्घ

आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुणवय, वाक्सिद्धि, कान्ति आदि की प्राप्ति होती है। पचनशक्ति और दिमागी ताकत बढ़ाते हुए शरीर में बल की वृद्धि और इन्द्रियों की पुष्टि व्हिटामिन 'बी' के द्वारा होती है। अतएव हम इसे "रसायनीय वर्ग" का खाद्यप्राण कहेंगे। रसायन से शारीरिक चर्म का परिवर्तन होता है व व्हिटामिन 'बी' भी चर्मरोगों के लिये हितकारी है।

व्हिटामिन 'सी' का प्रभाव विशेषकर पित्ताशय पर पड़ता है, जिससे पचन-शक्ति पर भी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि रञ्जनपित्त के साथ ही रक्त पर भी इस का परिणाम होता है। जिन पदार्थों में यह पाया जाता है, वे प्रायः यकृत को बल देने वाले और रक्तशोधक तथा रक्तवर्धक होते हैं। यकृत और पित्ताशय का काम ठीक २ होने से शरीर की रङ्गत खुलती है। अतएव इस वर्ग को हम वर्ण्य-वर्ग का खाद्य-प्राण अथवा रञ्जनीय या रक्त-संशोधनीय वर्ग का खाद्य-प्राण कहेंगे।

व्हिटामिन 'डी' शरीर की वृद्धि करता है, अस्थियों की बनावट पर प्रभाव डालता है। यह अपने प्रभाव से अङ्ग-हीनता व कुरूपता को रोकता है। छाती की चौड़ाई और हाथों की सुन्दरता को कायम रखता है। इन कार्य्यों की पूर्ति बृंहणीय वर्ग के पदार्थों से होती है। अतएव व्हिटामिन 'डी' को बृंहणीय तत्त्व कह सकते हैं। दूध, मक्खन, गोभी, गाजर, सरसों का तेल, नींबू का अर्क, गरी के तेल आदि में यह व्हिटामिन पाया जाता है।

व्हिटामिन 'ई' तो स्पष्ट ही वृष-तत्त्व या वाजीकरणीय वर्ग है। व्हिटामिन 'ई' के अभाव से स्त्रियों में बन्ध्यारोग हो जाता है। बच्चों को दूध पिलाने वाली स्त्री को ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है, जिस में व्हिटामिन 'ई' हो। जो स्त्री-पुरुष विषयभोग में रहते हैं, उन के शरीर में वीर्य की न्यूनता से एक प्रकार की कमी आजाती है। उस कमी की पूर्ति वाजीकरण-प्रयोग से हो सकती है[३०]। इस प्रयोग से मन में सन्तोष और शरीर की पुष्टि होती है। आरोग्य व गुणवान् सन्तान की प्राप्ति होती है। वाजीकरण सेवन करने वालों के सन्तान की वृद्धि व सन्तान की शारीरिक वृद्धि और तत्काल चैतन्य-प्राप्ति होती है। इस के योग से शरीर में घोड़े के समान ताकत आती है। शरीर हृष्ट, पुष्ट और न थकने वाला बनता है। जैसे धूप में घूमने से शरीर में 'डी' व्हिटामिन की वृद्धि होती है, उसी तरहसे ब्रह्मचर्य्य से रहने से और

वीर्य्यरक्षा करने से शरीर में 'ई' व्हिटामिन संरक्षित रह सकता है। यह 'ई' व्हिटामिन मक्खन, खमीर, हरे व ताज़े फल, मेवा, तेल, प्याज़ व बिनौले में अधिकता से पाया जाता है।

शारीरिक शक्ति के विकास के साधन—इस प्रकार वायु, जल, अन्न आदि को शास्त्रीय ढङ्गपर शरीर-पुष्टि की सामग्री बनाने में प्राचीन भारत ने बहुत आगे कदम बढ़ाया था। किन्तु शारीरिक शक्ति का विकास इतने से ही नहीं हो सकता। इस सामग्री के रहते हुए भी यदि शरीर का ढाँचा व उस के अन्तर्गत भिन्न २ कल व पुर्ज़े अच्छी अवस्था में न रहकर ठीक २ काम न करें, तो उस सामग्री से कोई भी लाभ नहीं हो सकता। एक बीमार व्यक्ति, जिस की पाचनक्रिया दूषित व शिथिल होगई है, घृतादि पुष्टिवर्धक पदार्थों के सेवन से अपनी अवस्था बिगाड़ लेगा व जल्द ही चलकूँच का डंका बजायेगा। इसीलिये प्राचीन भारत में इस शरीररूपी यन्त्र को सुदृढ़ बनाने की अच्छी व्यवस्था की गई थी, जिस का उल्लेख कृष्ण भगवान् ने अपनी गीता में किया है[३१]। शरीर-सम्पत्ति की वृद्धि व पुष्टि के लिये प्राचीन भारत में जो साधन आयोजित किये गये थे, वे इस प्रकार हैं—शरीर के अङ्ग, प्रत्यङ्ग तथा भिन्न २ अवयव व उनकी क्रियाओं के सम्यक् ज्ञान के द्वारा, जिस को शरीरशास्त्र के नाम से जाना जा सकता है,[३२] शारीरिक विकास किया जा सकता है। इस शरीर-शास्त्र में पाश्चात्यों के "एनाटॉमी" (Anatomy) व "फिज़ियॉलॉजी" (Physiology) का समावेश हो जाता है। व्यायाम के द्वारा[३३] इन विभिन्न अङ्ग प्रत्यङ्गों की शक्ति की वृद्धि की जाती है व उन की विभिन्न क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है, जिस से वे क्रियाएँ यथोचित रूप में हुआ करें।

व्यायाम—प्राचीन काल में नाना प्रकार के व्यायाम ज्ञात थे, जो कि विभिन्न वय, अवस्था, जाति आदि के अनुकूल होते थे। इस के अन्तर्गत प्राणायाम का भी समावेश हो सकता है, जिस का वर्णन पहिले ही कर दिया गया है। उस से फेफड़ों को अच्छी कसरत मिलती है। व्यायाम में योगासन[३४] भी सम्मिलित किये जा सकते हैं, क्योंकि वे सब आसन मानव-शरीर के भिन्न २ अङ्गों को सुदृढ़ बनाते हैं तथा उन की क्रियाओं को सञ्चालित करते हैं। वे आसन विभिन्न पक्षियों के बैठने आदि के तरीके का अच्छा

अध्ययन कर बनाये गये हैं । इन से शरीर, सुदृढ़, लचीला व फुर्तीला बनता है । शीर्षासन, पद्मासन आदि का महत्त्व कितने ही लोग आज भी अनुभव से समझ सकते हैं । इन सब आसनों पर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें, तो समझ में आजायगा कि इस में किस प्रकार मानव-शरीर के मेरुदण्ड (Spinal Chord) व उस से सम्बन्धित स्नायु-व्यवस्था (Nervous System) को सुदृढ़ बनाये रखने का तत्त्व निहित है[२५] । आज कल मेरुदण्ड को सीधा बनाये रखने के तत्त्व को न समझने के कारण कितने भारतीय नवयुवक समय के पहिले ही बुढ़ापे का कटु अनुभव करने लगते हैं । मेरुदण्ड के झुक जाने से स्नायु-व्यवस्था भी ढीली हो जाती है व इस प्रकार शरीर की पुष्टि में बाधा आने लगती है । परिणामतः, शारीरिक शक्ति का ऱ्हास होने लगता है ।

स्त्रियों का व्यायाम—प्राचीन काल में व्यायाम के भिन्न २ तरीके ज्ञात थे । स्त्रियों व पुरुषों के व्यायाम में साधारणतया भेद माना गया था । स्त्रियों का दैनिक जीवन ही इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया था कि उन्हें पर्य्याप्तरूप में व्यायाम मिले व उन की शरीर-सम्पत्ति अच्छी बनी रहे[२६] । भारत पहिले ही से कृषिप्रधान देश रहा है । यहां के अधिकांश स्त्री-पुरुष देहातों में ही रहते आये हैं । देहातों में स्त्रियों को कितने ही घरेलू व्यायाम हो जाया करते थे, जैसा कि आजकल भी देखा जाता है । प्रातःकाल उठकर चक्की पीसना, कपड़े धोना, बर्तन मलना, घर की सफाई आदि करना, गाय बैल आदि का सब काम आदि देहाती स्त्रियों को करने पड़ते थे । नगरों में भी साधारणतया घरेलू काम स्त्रियें अपने हाथों से ही करती थीं, जिस से उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था । आज-कल तो शिक्षित समाज की देवियें घरेलू काम अपने हाथों करना शिष्टाचार के विपरीत समझती हैं । परिणामतः, उन का स्वास्थ्य हमेशा खराब ही रहता है । व्यायाम न करने से प्रसूति के समय भी बहुत ही पीड़ा होती है व नवजात-शिशु को पिलाने के लिये माता के स्तनों में दूध तक नहीं रहता । प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियों की ऐसी हालत नहीं थी । वे हमेशा खुली हवा में रहकर अपना सब काम करती थीं । इसीलिये उन्हें प्रसूति आदि की यातनाएँ नहीं भोगनी पड़ती थीं व उन का जीवन आनंदमय रहता था ।

इस के अतिरिक्त और कई प्रकार से स्त्रियें अपने शारीरिक बल का विकास करती थीं। मनोरञ्जन के साधन भी ऐसे बनाये गये थे, जिनसे पर्य्याप्त मात्रा में व्यायाम मिलकर शरीर की पुष्टि हो सके। प्राचीन साहित्य के पठन से मालूम होता है कि धनाढ्य व ऊँचे कुल की स्त्रियें खेलकूद, तैरना आदि भी जानती थीं[३७]। पार्वती की 'कन्दुकक्रीड़ा' का उल्लेख कालिदास के कुमार-सम्भव में आता है[३८]। नृत्यकला का उपयोग भी शारीरिक शक्ति के विकास के लिये किया जाता था। यों तो स्त्री-पुरुष दोनों ही प्राचीन काल में इस कला के उपासक थे,[३९] जैसा कि आजकल भी देखा जाता है; किन्तु कला की दृष्टि से स्त्रियों ने ही इस का अच्छा विकास किया था व आज भी यह कला उन्हीं के हाथ में है, यद्यपि उदयशंकर के समान कलाविद् आज भी वर्तमान है[४०]। इस कला द्वारा स्त्रियों का मनोरञ्जन भी होता था, साथ ही उन्हें पर्य्याप्त व्यायाम भी मिल जाता था। ऊँचे कुल की स्त्रियें व बड़े २ राजाओं की राजकुमारियें नृत्यकला सीखती थीं। विराट राजा के यहां अर्जुन को बृहन्नला के रूप में राजकुमारियों को यही कला सिखानी पड़ती थी[४१]। साधारण व गरीब स्त्रियें भी इस कला से वञ्चित नहीं रहती थीं। उत्सव आदि के अवसर पर सामूहिक रूप से स्त्रियों द्वारा इस का प्रदर्शन भी होता था। आजकल भी गर्बा, फुगड़ी आदि के रूप में यह कला स्त्री-समाज में व्याप्त है[४२]। कुछ २ जातियों में तो विवाह आदि के शुभ अवसरों पर स्त्रियों का नाचना आज भी परमावश्यकीय माना जाता है[४३]।

इस के अतिरिक्त कितनी ही स्त्रियें विशेषकर क्षत्राणियें, अस्त्र शस्त्र चलाना जानती थीं व अपने पति के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाती थीं[४४]। अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखने में भी बहुत व्यायाम होता था। इस से उनकी शारीरिक शक्ति का खूब विकास होता था। प्राचीन कालीन क्षत्राणियों की गणना इस श्रेणी की स्त्रियों में की जा सकती है। रानी दुर्गावती व लक्ष्मीबाई इन वीराङ्गनाओं के मार्ग पर चलने वाली ही थीं[४५]।

पुरुषों के व्यायाम—प्राचीन काल में पुरुषों के लिये भी व्यायाम की सुन्दर व्यवस्था थी। रामायण, महाभारत आदि से ज्ञात होता है कि सर्वसाधारण को व्यायामशालाओं का बड़ा भारी शौक था। राजा, महाराजाओं के यहां बड़ी २ मल्लशालाएँ रहा करती थीं,[४६] जिनमें कितने ही

मल्ल मल्लविद्या का अभ्यास किया करते थे। रामायण में लङ्का-वर्णन के प्रसङ्ग पर मल्लों तथा मल्लशालाओं का भी उल्लेख आता है[47]। इसी प्रकार महाभारत में कंस की मल्लशाला तथा उस के मल्लों का वर्णन आता है,[48] जिन को कृष्ण ने अपने मल्लयुद्ध-कौशल द्वारा धराशायी कर अपनी शारीरिक शक्ति का परिचय दिया था। भीम के मल्लविद्या-नैपुण्य को कौन नहीं जानता?[49] इस भीमकाय भीम की अद्वितीय शारीरिक शक्ति का लोहा दुर्योधन आदि कौरवों को बालपन से ही मानना पड़ा था[50]। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मल्लविद्या व्यायाम का एक विशेष अङ्ग थी तथा बड़े २ राजा महाराजा भी इसे प्रोत्साहन देते थे। इन राज-मल्लों के अतिरिक्त इस विद्या का प्रचार जनसाधारण में भी था। वे भी दण्ड, बैठक, मुगदर फेरना आदि नाना प्रकार की कसरत कर अपनी शारीरिक शक्ति का विकास करते थे। यह प्राचीन व्यायामप्रणाली आज भी विकृत रूप में हमारे देश में वर्तमान है। आधुनिक अखाड़े प्राचीन मल्लशालाओं व व्यायामशालाओं के ही भग्नावशेष हैं। प्राचीन मल्लों के समान आजकल के पहलवान भी देशी-रियासतों में राजाश्रय पाते हैं व दुनियां भर में भारतीय मल्लविद्या की कीर्ति-पताका फहराते हैं। विश्वविजेता मल्लराज गामा भी तो भारत की ही देन है।

प्राचीन मल्लों के व्यायाम—प्राचीन काल के मल्ल, कुश्ती के अतिरिक्त अन्य कसरतें भी किया करते थे। मुगदर, लाठी, दण्ड, बैठक आदि जो आज-कल 'देशीकसरत' के नाम से प्रसिद्ध है, वह सब हमारी अपनी है। इन कसरतों में सर्वसाधारण लोग भी भाग लेते थे। आजकल जिस प्रकार खेलकूदादि के वार्षिक जलसे हुआ करते हैं, वैसे ही प्राचीन काल में शुभ अवसरों आदि पर हुआ करते थे,[53] जब कि सब लोग अपने २ कौशल का प्रदर्शन करते थे। यह प्रथा कुछ बिगड़े हुए स्वरूप में आज-कल भी वर्तमान है। नागपञ्चमी आदि त्यौहारों के अवसर पर विभिन्न अखाड़े अपने कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

धनुर्विद्या—धनुर्विद्या में धनुष्बाण आदि के ज्ञान का समावेश हो जाता है। प्राचीनकाल से ही इस का शास्त्रीय ढङ्ग पर विकास किया गया था। इस का एक बड़ा ग्रन्थ भी था, जिसे धनुर्वेद कहा जाता है[55]। धनुर्विद्या का ज्ञान क्षत्रियों व विशेषकर राजकुमारों के लिये अनिवार्य

था व इस के सिखाने की भी व्यवस्था की गई थी। रामायण,[५६] महाभारत[५७] आदि में कितने ही स्थलों पर इस का उल्लेख आता है। लव कुश के धनुष चलाने का कौशल किस से छिपा है? वैसे ही पाण्डवों का व विशेषकर अर्जुन का द्रोणाचार्य्य से बाणविद्या में असाधारण नैपुण्य प्राप्त करना महाभारत का प्रत्येक पढ़ने वाला जानता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्षत्रिय बालकों को धनुर्विद्या सीखनी पड़ती थी, जिस के सिखाने की अच्छी व्यवस्था की गई थी। यह व्यवस्था या तो गुरुकुलों में ही की जाती थी अथवा स्वतन्त्ररूप से रहती थी। यहां युद्ध से सम्बन्धित नाना प्रकार के शस्त्रों का कौशल प्राप्त कराया जाता था, जिस से शारीरिक शक्ति का भी अच्छा विकास हो जाता था। क्षत्रियों को तो सर्वदा अपनी भुजाओं के बल पर निर्भर रहकर वीरत्त्व का बाना पहिनना पड़ता था। इसीलिये वेदों में कहा गया कि 'पुरुष' की भुजाओं से क्षत्रिय पैदा हुए[५८]। विवाह के अवसर पर भी उन्हें अपने बल, पौरुष, वीरत्त्व आदि को प्रदर्शित करना पड़ता था, अन्यथा उन के गले में वरमाला पड़ ही नहीं सकती थी। प्राचीन काल के स्वयंवरों का वर्णन पढ़ने से यह बात समझ में आजायगी[५९]। सीता-स्वयंवर में राम का बलपौरुष, द्रौपदी-स्वयंवर में अर्जुन का व कालिदासकृत रघुवंश में वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर में अज का पुरुषार्थ व शस्त्रविद्यानैपुण्य स्पष्ट ही है। जो बल, पौरुष, युद्धकौशल आदि से युक्त नहीं था, ऐसे व्यक्ति को क्षत्रिय ही नहीं कहा जाता था। उस के लिये इन सब गुणों का रहना अनिवार्य्य था।

आखेट—इस के अतिरिक्त प्राचीन काल में राजा, महाराजा, रईस आदि, जैसा कि आजकल देखा जाता है, आखेट को जाने के बड़े शौकीन थे। आखेट भी एक प्रकार का व्यायाम समझा जाता था। रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस का स्थान २ पर वर्णन है[६०]। राजा दशरथ द्वारा श्रवणकुमार का मारा जाना इसी आखेट का दुष्परिणाम था।

अभ्यङ्ग तैलमर्दन—अभ्यङ्ग तैलमर्दन भी प्राचीन काल में व्यायाम का मुख्य अङ्ग माना जाता था। प्राचीन साहित्य, इतिहास आदि से पता चलता है कि प्राचीन काल के भारतीय तैलमर्दन के बड़े शौकीन थे[६१]। क्या छोटे, क्या बड़े, सब ही अपने शरीर में मालिश करते या करवाते थे। चन्द्रगुप्त

मौर्य्य को इस का इतना शौक था कि वह जब राज-दरबार में बैठा रहता था, उस समय भी उस के शरीर पर मालिश की जाती थी[६२]। बौद्ध जातकों में भी मालिश करने वालों का उल्लेख है। आजतक भी यह प्रथा भारत में वर्तमान है व संयुक्तप्रान्त में बहुतायत से पाई जाती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से तैलमर्दन अत्यन्त ही हितकर है। इस से त्वचा का रूखापन जाकर रक्त की क्रिया में प्रोत्साहन मिलता है, जिस से जीवन-शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

खेलकूद—प्राचीन काल में शारीरिक विकास के लिये बहुत से खेल आदि भी खेले जाते थे, जिन के द्वारा बालक व नवयुवक मनोरञ्जन के साथ २ अपनी शारीरिक शक्ति का विकास भी करते थे। प्राचीन साहित्य में कहीं २ तत्कालीन खेले जाने वाले खेलों का उल्लेख आता है। क्षत्रियों के लिये तो अस्त्रशस्त्र विद्या का प्रदर्शन ही खेलकूद का काम देता था। किन्तु अन्यों के मनोरञ्जन के लिये भी साधारण खेलकूदों की आवश्यकता समझी गई थी। यजुर्वेद में वंशनर्तिन् (दोबांस से बँधी हुई रस्सी पर नाचने वाला) का उल्लेख है[६३]। बौद्ध जातकों में भिक्षुओं के लिये जो कुछ निषिद्ध है उस की एक तालिका दी गई है, जिस में 'अक्खरिका' नाम के एक खेल का उल्लेख है[६४]। कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती की कठिन तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है कि जो (पार्वती) कन्दुकक्रीड़ा[६५] से भी थक जाती थी, वह इतना दुष्कर तप कैसे कर सकती है। इस कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख भास ने भी किया है[६६]। इस प्रकार कन्दुकक्रीड़ा प्राचीन काल में बहुत ही प्रिय थी। इस का स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि स्त्रियों को इस से विशेष दिलचस्पी थी। संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के कुछ और खेलों का उल्लेख है। कालिदास के मेघदूत में वर्णन आता है कि अलकापुरी की कन्याएँ सुवर्ण-सिकता में "गुप्तमणि" नाम का खेल खूब खेलती थीं[६५]। इसी प्रकार "क्रीड़ाशैल"[६६] का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में कितने ही स्थलोंपर आता है, जहां पर क्या बालक, क्या युवक, क्या युवती, सब ही सन्ध्यादि के समय मनोरञ्जनार्थ जाते थे। यहां नाना प्रकार की क्रीड़ाओं—खेल कूदादि-के लिये व्यवस्था अवश्य होगी।

इन्द्रिय-निग्रह—शारीरिक विकास के लिये इन्द्रिय-निग्रह कितना आवश्यकीय है, इस को भी प्राचीन भारतीयों ने अच्छी तरह से समझ लिया था। इसीलिये जहां देखो वहां इन्द्रिय-निग्रह पर जोर दिया गया है[६७]। इस के बिना शारीरिक ही क्या और किसी भी शक्ति का विकास नहीं किया जा सकता, बल्कि उन का ह्रास ही होता जाता है। प्राचीन भारत में यह आदेश था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नियमित बनाकर, इन्द्रियों का दमन कर संयम का जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार उस के वीर्य्य, शौर्य्य, तेज आदि की वृद्धि होती थी। ऐसे जीवन को साधारणतया ब्रह्मचर्य्ययुक्त जीवन भी कहा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक तो ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण करना पड़ता था। उसे काम-वासना से दूर रहकर स्त्री का ध्यान करना भी वर्जित था[६८]। भूल से वीर्य्यपात होने पर उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था, जिस का उल्लेख मनुजीने स्पष्ट शब्दों में कर दिया है[६९]। पच्चीस वर्ष की अवस्था में विवाह आदि के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन संयम-युक्त रखना पड़ता था। सन्तानोत्पत्ति के लिये ही मैथुन करने का आदेश था, अन्यथा वीर्य्यरक्षा करना ही उचित समझा गया था[७०]। इसी वीर्य्य-रक्षा के कारण प्राचीन काल के आर्य्य अपनी शरीर-सम्पत्ति को बढ़ाकर दीर्घायु का उपभोग लेते थे व वृद्धावस्था में भी सशक्त रहते थे। हनुमान, भीष्म आदि के समान कितने ही व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे व अद्वितीय बल के आगार बन जाते थे[७१]। इन प्राचीन ब्रह्मचारियों के बल की कथाओं को कदाचित् कपोलकल्पित कहा जाय, किन्तु स्वामी दयानन्द के अद्वितीय शारीरिक बल को कौन नहीं मानेगा?[७२] उन्होंने कितने ही अवसरों पर अखण्ड ब्रह्मचर्य्य-जन्य, अतुल शारीरिक बल का परिचय दिया था। आजकल तो वीर्य्य-रक्षा के महत्त्व को समझने की कोई परवाह ही नहीं करता। कोई २ तो पाश्चात्य-शिक्षा की चकाचौंधी में अन्धे बनकर वीर्य रक्षा करना स्वास्थ्य के लिये अहित कर मानते हैं व सन्तति-निरोध के गीत गाते हुए परले दर्जे के व्यभिचारी बन जाते हैं। अब ब्रह्मचर्य्य का महत्त्व या तो पुस्तकों में है अथवा बड़े २ व्याख्यान फटकारने वाले व्याख्याताओं की जबान पर। इस मनोवृत्ति का समाज पर इतना खराब परिणाम हो रहा है कि समाज का स्वास्थ्य बिगाड़कर

शारीरिक शक्ति से भी हम लोग मुख मोड़ रहे हैं व हर प्रकार से निकम्मे बन कर बहुत ही जल्द इस संसार से चलते बनते हैं।

प्राचीन वेषभूषा—प्राचीन भारत की वेष-भूषा भी ऐसी थी, जिस से स्वास्थ्यवृद्धि व शारीरिक विकास में पूरी २ सहायता मिलती थी। वैदिक-काल से मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व तक हमारी वेषभूषा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में सादगी का सिद्धान्त अपनाया गया था। कपड़े केवल शानशौकत, ठाठ बाट के लिये नहीं पहिने जाते थे, जैसा कि आजकल साधारणतया देखा जाता है। किन्तु स्वास्थ्यहित का विचार करके शारीरिक विकास में जिन से सहायता हो, ऐसे वस्त्र काम में लाये जाते थे। प्राचीन भारत में साधारणतया दो वस्त्र काम में लाये जाते थे, जिन का उल्लेख वेदों में भी है। ये वस्त्र उत्तरीय व अधर वस्त्र कहलाते थे[७५]। उत्तरीय से कमर के ऊपर का भाग व अधर से उस से नीचे का भाग ढाँका जाता था। बाद में सिर पर भी कपड़ा लपेटा जाने लगा। यही प्राचीन साफा था। इस का पता भारूत, साँची आदि की प्राचीन शिल्पकारी से चलता है[७६]। उत्तरीय व अधरवस्त्र के उपयोग को दक्षिण भारत के निवासियों ने आजतक सुरक्षित रखा है। उष्णप्रधान भारत में ऐसा ही लिवास स्वास्थ्य-वर्धक हो सकता है। यहां कपड़े ढीले ही होने चाहिये। चुश्त कपड़े तो शीत-प्रधान देशों के लिये हितकर हो सकते हैं। यहां यह न भूलना चाहिये कि राजसी वेषभूषा इस साधारण वेषभूषा से कुछ अलग प्रकार की थी, जैसा कि मध्य-युग से मालूम होता है। आज बहुत से भारतीय पाश्चात्य वेषभूषा को अपनाकर अपना स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं तथा मानसिक दासत्व का परिचय भी देते हैं।

उपसंहार—इस प्रकार प्राचीन भारत में शारीरिक विकास के लिये भी अच्छी व्यवस्था की गई थी। शुद्धवायु-सेवन के महत्त्व को समझ कर ही मानव-जीवन का अधिकांश भाग जंगल के शुद्ध व पवित्र वातावरण में व्यतीत किया जाता था। आहारशास्त्र को विकसित कर शुद्ध अन्नजल का ग्रहण किया जाता था। साथ ही मानव-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर उन की शक्ति बढ़ाने के लिये नाना प्रकार के व्यायाम आयोजित किये गये थे। ये सब प्रयत्न पूर्णतया सफल होवें इस भावना से प्रेरित होकर मानव-जीवन को

सञ्चालित करने के लिये ब्रह्मचर्यपालन (इन्द्रियनिग्रह) आदि के नियम बनाये गये थे। शारीरिक विकास की इस व्यवस्था के अनुसार प्राचीन भारत का जीवन सञ्चालित होता था। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय दीर्घायु होते थे तथा ऊँचे पूरे व सुन्दर डीलडौल के रहते थे। यूनान आदि प्राचीन देशों के निवासी इन के ऊँचे कद व इनकी सुन्दर सबल शरीरयष्टि को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे व उन्हें साक्षात् देवता समझते थे[७७]। इन्हीं शक्तिशाली, विशाल व सबल कायवाले प्राचीन आर्यों की हम अभागी सन्तान हैं, जिन के शारीरिक पतन का कोई ठिकाना ही नहीं !

अध्याय १९

भारतीय-संस्कृति व विदेश

प्राचीन भारत का विदेशों पर प्रभाव—प्राचीन भारतीयों ने अत्यन्त ही प्राचीन काल से सांस्कृतिक विकास कर अपने जीवन को उन्नत बनाया था, जिस का स्पष्ट विवेचन पहिले ही कर दिया गया है। उन्होंने अपनी संस्कृति को भारत की भौगोलिक सीमा में ही परिसीमित नहीं रखा, किन्तु विदेशों में भी इस का प्रचार व प्रसार किया। प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति का प्रचार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ था। क्या पूर्व, क्या पश्चिम, प्राचीन काल के कितने ही सभ्य देशोंने भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर बहुतसी बातें भारत से सीखीं। धर्म, दर्शन, साहित्य, गणित, विज्ञान, कला आदि के कितने ही बहुमूल्य सिद्धान्त विदेशियों ने भारत से सीखे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रभाव के कारण—भारतीय संस्कृति के इस विश्वव्यापी प्रभाव के दो मुख्य कारण हैं—प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार व प्राचीन भारतीयों की धर्मप्रचार-वृत्ति। भारत के वैदेशिक व्यापार के बारे में "आर्थिक विकास" के अध्याय में विस्तृतरूप से लिख दिया गया है, जिस से हमें पता चलता है कि प्राचीन भारत के व्यापारी विश्व के विभिन्न भागों में व्यापार के लिये जाते थे। इस

व्यापार का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है । इस प्रकार प्राचीन भारतीय विदेशियों के निकटतम संसर्ग में आने लगे व अपनी उच्चतर संस्कृति द्वारा उन लोगों को प्रभावित करने लगे । इस के अतिरिक्त प्राचीन भारतीयों में धर्मप्रचार-वृत्ति भी थी, जिस का सर्व्वप्रथम उल्लेख "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्"[1] (सारे विश्व को आर्य्य बनायँ) आदि वैदिक वचनों में मिलता है । इसी प्राचीन प्रणाली को मानकर ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दि में अशोक ने बौद्ध-धर्म-प्रचारक पश्चिमी एशिया, उत्तरी आफ्रिका व दक्षिणी यूरोप के विभिन्न देशों में भेजे थे,[2] जिन के प्रचार के प्रभाव को हम ईसा द्वारा प्रतिपादित ईसाई-धर्म के रूप में देखते हैं । इसी प्रकार ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दि से बौद्धधर्म-प्रचारक पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों व द्वीपों में भी पहुँचना शुरु हो गये थे,[3] जिन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बौद्ध-धर्म का प्रचार मध्य-एशिया, चीन, कोरिया, जापान आदि में हुआ । इसी समय जाव्हा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि में ब्राह्मण-धर्म फैल गया, जिस के चिह्न आज भी वहां वर्तमान हैं[4] । इसीलिये प्राचीन भारत विदेशों का धर्मगुरु माना जाता था । इस पवित्रभूमि के दर्शन करने व ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिये विदेशी लोग हजारों कोस पैदल चल कर यहां आते थे । फाईयान, वुनसुन, यूएनच्वेङ्, इत्सिंग आदि चीनी यात्री, जो कि बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, इन्हीं में से थे[5] । इस बात को ध्यान में रखने से मनुजी के 'एतद्देश प्रसूतस्या'दि का रहस्य समझ में आजायगा[6] ।

ऐतिहासिक प्रमाण—प्राचीन भारतीय संस्कृति की विश्वव्यापकता के कारणों पर विचार करने के पश्चात् उस के ऐतिहासिक प्रमाणों का विवेचन करना भी आवश्यकीय है । वे प्रमाण सारांशरूप में इस प्रकार हैं—

भाषा-साम्य
धार्मिक व सांस्कृतिक साम्य
प्राचीन लेखादि
प्राचीन भारत का औपनिवेशिक विकास ।

भाषा-साम्य—यूरोप की भाषाओं तथा जेन्द, संस्कृत आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि इन में परस्पर बड़ी आश्चर्य-जनक समानता है । परिणाम-स्वरूप, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की सहायता से

इस निष्कर्ष तक पहुँचा जाता है कि ये सब भाषाएँ किसी एक ही भाषा से बनी हैं, या किसी एक भाषा से प्रभावित हुई हैं[७]। निम्नाङ्कित उदाहरणों द्वारा यह भाषासाम्य भलीभाँति समझ में आजायगा।

(१) शतम् (संस्कृत)
केन्टम (लैटिन)
सेतेम (जेन्द)
एकेटन (ग्रीक)
केट (केल्टिक)
हुंड (जर्मन)
हन्ड्रेड या सेन्चरी (इंग्लिश)

(२) अहम् (संस्कृत)
अजम (जेन्द)
अजे (प्राचीन बल्गेरियन)
हेगो (ग्रीक)
इगो (लैटिन)
इक (गॉथिक)

(३) द्वि (संस्कृत)
द्व (जेन्द)
दुओ (ग्रीक व लैटिन)
ट्वै (गॉथिक)
द्व (स्लेव्होनिक)
टू (इंग्लिश)

इसी प्रकार संस्कृत त्रि, चतुर्, पञ्च आदि के रूप भिन्न २ भाषाओं में मिलते हैं।

(४) पितृ (संस्कृत)
पितर् (जेन्द)
पैटर् (लैटिन)
फॉडर (गॉथिक)
फॉदर (इंग्लिश)

(५) मातृ (संस्कृत)
मातर (ज़ेन्द)
मेटर् (लैटिन)
मोटे (लिथ्युनियन)
मदर (इंग्लिश)
(६) भ्रातृ (संस्कृत)
भरातर (ज़ेन्द)
फ्रेटर (लैटिन)
ब्रदर (गॉथिक)
ब्रोटेरलिस (लिथ्युनियन)
ब्रदर—(इंग्लिश)
(७) सूनु (संस्कृत)
हुनु (ज़ेन्द)
सुनुस (लिथ्युनियन)
सन (इंग्लिश)
(८) स्वसृ (संस्कृत)
ख़्वेन्हर (ज़ेन्द)
सोरोर (लैटिन)
स्विस्टर (गॉथिक)
सेसु (लिथ्युनियन)

इस भाषासाम्य से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि इन भाषाओं पर संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ा है। कदाचित् भारतीय आर्य अत्यन्त ही प्राचीन काल में इन देशों में जाकर बसे होंगे व उन्होंने वहां की भाषाओं को प्रभावित किया होगा। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये सब भाषाएँ, जिन में वैदिक संस्कृत भी सम्मिलित की जाती है, किसी अन्य प्राचीन भाषा से बनी हैं व उस प्राचीन भाषा के बोलने वाले एक ही स्थान पर रहते थे। उन्हें "आर्य" नाम से सम्बोधित किया जाता है[८]। इन आर्य्यों का निवास-स्थान यूरोप के किसी देश में बताया जाता है। इस मत का खण्डन पहिले ही कर दिया गया है। पाश्चात्य धार्मिक सिद्धान्तों, दन्तकथाओं आदि पर के भारतीय प्रभाव के

चिह्नोंपर दृष्टि-पात करने से पाश्चात्य देशों पर भारत का जो प्रभाव पड़ा है, वह स्पष्ट हो जाता है[१]। इस मत की पुष्टि में प्राचीन लेखों का हवाला भी दिया जा सकता है। इस प्रकार यह भाषासाम्य संस्कृत भाषा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही है।

धार्मिक व सांस्कृतिक साम्य—प्राचीन ईरानियों के धार्मिक सिद्धान्तों व यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि के सिद्धान्तों में बड़ी समानता है व ये सिद्धान्त भारत के धार्मिक सिद्धान्तों से बहुत मिलते झुलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन यूनान व रोम के धार्मिक सिद्धान्त व सामाजिक रीतिरिवाज़ों की भारतीय धार्मिक सिद्धान्त व रीति-रिवाज़ों से आश्चर्य्यजनक समानता दिखाई देती है, जिस का स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

वैदिक धर्म व ईरानी धर्म—ऋग्वेद की भाषा व ईरानियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता की भाषा में इतना साम्य है कि उन का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस के कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

भाषा-साम्य—(क) संस्कृत का 'स' ज़ेन्द में 'ह' हो जाता है।

संस्कृत	**ज़ेन्द**
असुर	अहुर
सोम	होम
सप्त	हप्त
सेना	हेना

(ख) संस्कृत का 'ह' ज़ेन्द में 'ज़' हो जाता है।

संस्कृत	**ज़ेन्द**
हृदय	ज़र्दय
हस्त	ज़स्त
वराह	वराज़
हिम	ज़िम
बाहु	बाज़ु

(ग) संस्कृत का 'ज' ज़ेन्द में 'ज़' हो जाता है।

संस्कृत	**ज़ेन्द**
जन	ज़न

वज्र	वज्र
अज	अज्र
जानु	ज्ञानु
यजत	यज्ञत

(घ) संस्कृत का 'श्व' जेन्द में 'स्प' हो जाता है ।

संस्कृत	**ज़ेन्द**
विश्व	विस्प
अश्व	अस्प
श्वान	स्पान

(ङ) संस्कृत का 'त्र' जेन्द में 'थ्र' हो जाता है ।

संस्कृत	**ज़ेन्द**
मित्र	मिथ्र
मन्त्र	मन्थ्र

(च) बहुतसे शब्द दोनों भाषाओं में एक समान हैं—

संस्कृत	**ज़ेन्द**
पितर	पितर
मातर	मातर
पशु	पशु
गो	गो
नमस्ते	नमस्ते
मक्षि	मक्षि

अवेस्ता व ऋग्वेद के धार्मिक सिद्धान्त—अवेस्ता व ऋग्वेद के धार्मिक सिद्धान्त भी अधिकांश एक से ही हैं[१०]। ऋग्वेद के देवता व अवेस्ता के देवताओं की एकता निम्नाङ्कित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी ।

ऋग्वेद	**अवेस्ता**
असुरमेध	अहुरमज़्द
अर्यमन्	ऐर्यमन्
मित्र	मिथ्र
भग	भग

वैदिक चातुर्वर्ण्य का साम्य अवेस्ता में भी है, जिस में चारों वर्ण उल्लिखित हैं, किन्तु उन के नाम दूसरे हैं—अथ्रवण (ब्राह्मण या पुरोहित), रथेस्टर (क्षत्रिय), वस्त्रियोशस् (कृषक या वैश्य), हुइटिस (शूद्र)[११]। प्रो० दर्मेस्तर के मतानुसार भी "दिनकिर्त" में चारवर्णों का उल्लेख मिलता है,[१२] जो कि भारतीय वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के वर्णन से बहुत मिलता झुलता है। चार वर्णों की व्यवस्था भारत से ही ली गई थी। भारत के द्विजों के समान प्राचीन ईरानी भी यज्ञोपवीत धारण करते थे व ऐसा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे। इस यज्ञोपवीत को "कुस्ती" कहा जाता था व यह सातवें वर्ष दिया जाता था। इसे कमर में पहिना जाता था। आज भी इन प्राचीन ईरानियों के प्रतिनिधि पारसी कमर में "कुस्ती" धारण करते हैं। इस सम्बन्ध में 'वेनिदाद'–'फरगर्द' १८ में लिखा है[१३]—"ज़रतुश्त्र ने अहुरमज़्द से पूछा 'ऐ अहुरमज़्द किस अपराध के कारण एक अपराधी मृत्युदण्ड पाने का अधिकारी बनता है'?—इस पर अहुरमज़्द ने कहा—'जो कोई बसन्त ऋतु में "कुस्ती" धारण नहीं करता, गाथा नहीं पढ़ता, जलपूजा नहीं करता, वह मृत्युदण्ड का भागी है'।"

भारतीयों के समान ईरानी भी पुनर्जन्म को मानते व गाय की पूजा करते थे। उन के यज्ञ भी वैदिक यज्ञों के समान रहते थे। उन के घरों में हमेशा अग्नि प्रज्वलित ही रहती थी[१४]। इस प्रकार ये प्राचीन ईरानी प्राचीन भारत के अग्निहोत्री ब्राह्मणों का स्मरण दिलाये बिना नहीं रह सकते। और भी बहुतसी धार्मिक समानता ऋग्वेद व अवेस्ता के मध्य दीखती है, जिस से यह बरबस कहना पड़ता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल में भारत से अग्निहोत्री ब्राह्मणों की एक शाखा ईरान जाकर बस गई होगी। ईरान नाम भी यथार्थ में "आर्य" नाम से ही बना है।

ज़रतुश्त्र-धर्म व यहूदीधर्म—यहूदी-धर्म विशेषरूप से ज़रतुश्त्र के धार्मिक सिद्धान्तों पर विकसित हुआ है[१५]। यहूदी देवता 'जेहोवा' व ईरानी देवता 'अहुरमज़्द' में बहुत समानता है। ज़रतुश्त्र की 'अहुरमज़्द' की भावना व "ओल्ड टेस्टामेन्ट" की 'इलोहिम' या 'जेहोवा' सम्बन्धी भावना बहुत मिलती झुलती है[१६]। अवेस्ता में 'अहुर-मज़्द' के लगभग बीस नामों का उल्लेख है[१७]। उनमें से दो 'अह्मि' व 'अह्मि यद् अह्मि' हैं। यहूदी-

देवता के भी ऐसे ही नाम हैं । "एक्सोडस" में लिखा है[१८] कि "और ईश्वर ने मूसा से कहा कि 'आय एम दैट आय एम' (I am that I am), व यह भी कहा—इस्रैल के बच्चों को तू इस प्रकार कहना कि 'आय एम' (I am) ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है" । इन नामों से भगवद्गीता के 'अहम्' की तुलना की जा सकती है[१९] । लोकमान्य तिलक के मतानुसार 'जेह्वोवा' व खाल्डियन 'यह्वे,' संस्कृतके 'यहु,' 'यह्व,' 'यह्वत' व स्त्रीलिङ्ग रूप 'यह्वी,' 'यह्वती' के बिलकुल समान ही हैं, जो कि ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर उल्लिखित हैं[२०] । वेद में 'यह्व' शब्द 'महान्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[२१] व सोम, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिये प्रयुक्त किया गया है । इस प्रकार 'जेह्वोवा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'यह्व' से होती है । इस सम्बन्ध में टॉमस टेलर का कथन है—"यह शब्द (जेहोव्हा) यहूदियों को भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के कारण प्राप्त हुआ । यह व्यापार खाल्डिया व पारस की खाड़ी के द्वारा होता था"[२२] ।

अंग्रमेन्यु व शैतान—ईरानियों का अंग्रमेन्यु व यहूदियों का शैतान एक दूसरे के समान ही हैं । बाइबिल में शैतान सर्प का रूप धारण करता है[२३] । अवेस्ता में अंग्रमेन्यु भी जलते हुए सर्प का रूप धारण करता है[२४] । ऋग्वेद के इन्द्रवृत्र-युद्ध में भी वृत्र को अहि कहा गया है[२५] । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के वृत्र ने अवेस्ता के अंग्रमेन्यु व बाइबिल के शैतान को जन्म दिया । जर्मन दार्शनिक शोपनहार इस सम्बन्ध में कहता है—"इस से उस कथन की भी पुष्टि होती है, जो कि अन्य युक्तियों से प्रमाणित किया जा चुका है कि जेहोव्हा, आर्मेज़ का व शैतान, अहीमन का परिवर्तित स्वरूप है । आर्मेज़ स्वतः ही इन्द्र का परिवर्तन मात्र है"[२६] ।

उत्पत्ति व प्रलय सम्बन्धी सिद्धान्त—संसारोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी ईरानियों व यहूदियों के सिद्धान्तों में समानता है । जरतुश्त्र के मतानुसार "पहिले काल-विभाग में आकाश उत्पन्न किया गया, दूसरे में जल, तीसरे में भूमि, चौथे में वृक्ष, पांचवे में प्राणी व छठवें में मनुष्य"[२७] । मूसा के मतानुसार "पहिले दिन स्वर्ग व पृथ्वी उत्पन्न किये गये; दूसरे दिन आकाश व जल; तीसरे दिन भूमि, घांस, पक्षी, फल व वृक्ष; चौथे दिन प्रकाश, सूर्य्य,

चन्द्र व तारागण; पांचवें दिन जंगम प्राणी, पङ्खवाले पक्षी व बड़ी २ मछलियें; छठवें दिन जीवधारी, मवेशी, लता, पशु, मनुष्य।"[२८] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी सृष्टि की उत्पत्ति का लगभग ऐसा ही वर्णन आता है[२९]।

यहूदियों के प्रलय-सम्बन्धी विचार भी ईरानियों से लिये गये हैं[३०]। महाप्रलय तथा 'हज़रत नूँ की किश्ती, की कथा शतपथ ब्राह्मण में भी आती है,[३१] जहां मनु एक नाव द्वारा प्राणियों की रक्षा करते हैं। यह कथा कुरान में भी आती है[३२]। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस कथा का प्रारम्भ शतपथ ब्राह्मण से होता है।

अवेस्ता में लिखा है कि स्वर्ग में सात अमेशस-पन्त, हैं[३३]। बाइबिल में भी लिखा है कि ईश्वर के सिंहासन को सात देवदूत घेरे हुए हैं[३४]। यज्ञ करने की प्रथा भी यहूदियों ने ईरानियों से ली,[३५] जिन्होंने स्वतः उसे भारतीयों से सीखी थी। इस प्रकार यहूदी मत का प्रारम्भ, जो कि ईसाई व इस्लाम मतों का जन्मदाता है, ज़रतुस्त्र के सिद्धान्तों से होता है।

यहूदी मत व ईसाईमत—ईसा मसीह के धार्मिक सिद्धान्त यहूदी मत के सिद्धान्तों पर विकसित हुए हैं। इन के विकास पर बौद्ध धर्म का भी ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है, जिसका प्रचार अशोक (ई० पू० २७२–२३२) ने पश्चिमी देशों में किया था। सुप्रसिद्ध रोमनिवासी प्लिनी (ई० स० ७५ के लगभग) ईसा के लगभग सौ वर्ष पूर्व पेलेस्टाइन में 'एसीनीज़' नाम के एक धार्मिक पंथ के अस्तित्त्व का उल्लेख करता है[३६]। मिश्र में भी ऐसा ही एक पंथ था, जिसे 'थेरापॉट्स' कहते थे[३७]। ये 'एसेनीज़' बौद्ध ही थे, यह बात अब निर्विवाद ही है। बेपटिस्ट जॉन, जो ईसा के पहिले हुआ है व जो सैद्धान्तिक दृष्टि से भी उस का अग्रगामी था, 'एसेनीज़'-सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित था[३८]।

ईसाई मत पर बौद्ध-सिद्धान्तों का प्रभाव—इस प्रकार हमें मालूम होता है कि ईसा मसीह ने भी बहुतसे बौद्ध सिद्धान्त जॉन से सीखे थे। कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि ईसा स्वयं 'एसेनी' था। 'साम्स' (Psalms) व ईसाई मत पर जो बौद्ध सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है, वह धम्मपद के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्टतया समझ में आजायगा[३९]। शोपनहार स्पष्टतया यह स्वीकार करता है कि यद्यपि ईसाईमत यहूदीमत की

आधार शिला पर है, तो भी उस पर बौद्ध धर्म का बहुत ही प्रभाव पड़ा है। ईसाई मत का ऐसा हाल है मानो यहूदी धर्म के सूखे ठूठ पर भारतीय ज्ञान की सुन्दर लता फैल गई हो[५०]। ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल सैद्धान्तिक ही नहीं था, बल्कि ईसाई मत के पवित्र भवनों पर भी स्पष्टतया देखा जाता है। प्रथम ईसाई गिर्जे प्राचीन बौद्ध मठों से बिलकुल ही मिलते झुलते थे। डॉ० फर्ग्युसन भी इस मन्तव्य की पुष्टि करते हैं। यूरोप के कुछ गिरजाघरों में व कार्ले की बौद्ध गुफाओं में वे आश्चर्य्य-जनक समानता पाते हैं[५१]। श्री० रमेशचन्द्र दत्त के मतानुसार ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा है कि आज भी रोमन केथोलिक सम्प्रदाय के बहुत से धार्मिक कृत्य बौद्ध कृत्यों से बिलकुल ही मिलते झुलते हैं[५२]। एक रोमन केथोलिक पादरी को यह देखकर अत्यन्त ही आश्चर्य्य हुआ था कि तिब्बत में बौद्ध धर्म सम्बन्धी पूजा, रीतिरिवाज, प्रार्थनादि की विधि, बौद्ध-धर्म-गुरुओं की वेषभूषा आदि रोमन-कैथोलिक सम्प्रदाय के बिलकुल ही समान हैं। मध्यकालीन यूरोप के ईसाई मठों व वहां के जीवन में तथा बौद्ध मठों व वहां के जीवन में भी समानता दिखाई देती है[५३]। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसाई धर्म को बौद्ध धर्म ने पूर्णतया प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में शङ्का का लेश भी नहीं रहता।

इस्लाम व यहूदी मत—ईसा की सातवीं शताब्दि में मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम मत यहूदी व ईरानी मतों से कुछ भिन्न नहीं है। इस्लाम के धर्म ग्रन्थ कुरान में ही इस बात को मान लिया गया है[५४]। डॉ० सेल अपने कुरान के अनुवाद में लिखते हैं—"ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मदने रोजा वगैरह के बारे में भी, जैसा कि अन्य बातों में, यहूदियों के सिद्धान्तों को माना है। यहूदी लोग भी जब रोज़ा रखते हैं, तब सूर्योदय से सूर्यास्त तक न केवल अन्नजल त्याग देते हैं, किन्तु स्त्री-सङ्ग, अङ्ग-लेप आदि को भी नहीं छूते व रात्रि को जो चाहे सो खाते पीते हैं। वे भी बच्चेवाली माँ, बूढ़े व बच्चों को रोज़ों से बरी कर देते हैं"[५५]। इस्लाम के धार्मिक वचन "ला इलाह इल्लिला"[५६] में ज़रतुश्त्रके वचन "नेस्त एज़द मगर यज़दन"[५७] का प्रभाव स्पष्टतया दीखता है। कुरान का प्रत्येक अध्याय (नवें के अतिरिक्त) "बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम"[५८] शब्दों से शुरु होता है,

और ये शब्द "बनाम यज़दन, बख़्शिशे गर ददर"[४९] आदि ज़रतुश्त्रियों के शब्दों की, जिनसे प्रत्येक ज़रतुश्त्री अपनी पुस्तक प्रारम्भ करता है, याद दिलाये बिना नहीं रहते। मुसलमानों की नमाज़ भी अवेस्ता की ईश-प्रार्थना के आधार पर है[५०]।

प्राचीन यूनान व रोम में आर्यों का प्रभाव—भाषा-साम्य व सांस्कृतिक साम्य के आधार पर प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों को भी आर्यों की एक शाखा कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में सभी ऐतिहासिकों का एक ही मत है। प्राचीन यूनानियों के सम्बन्ध में सिनोबस कहते हैं—"जो लोग इस छोटे से सुन्दर देश (यूनान) में आ बसे थे, वे हिन्दुओं व पारसियों से सम्बन्धित आर्य्य थे व उन्हीं के समान एशिया के पर्वतों से या कास्पियन समुद्र की पारवर्ती तृणाच्छादित भूमि से आये थे। यूनानी इस लम्बी यात्रा को, जिसे कि उन के पूर्वजों ने की थी, भूलचुके थे। वे कहते थे कि इस भूमि के टिड्डीदल के समान हम भी इसी भूमि के हैं। किन्तु उन की भाषा व उन के देवताओं के नामों के कारण उन के आर्य होने में शङ्का का लेश भी नहीं रहता"।[५१] यूनान के प्राचीनतम निवासी मवेशी, भेड़ आदि पालते थे तथा दूध व मांस खाते थे। वे झुन्ड में घूमते फिरते थे व हमेशा हथियारबन्द रहते थे। वे भिन्न २ देवताओं के रूप में प्रकृति के अङ्गों की पूजा करते थे। उन के देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—ज़्यूस, हेरा, एथिना, अपोलो, आर्टेमिस, हर्मिस, हेपेसटस, एफ्रोडाइट, पोज़ीडन, डायोनिसस इत्यादि। मन्दिरों में इन देवताओं की मूर्तियें पूजी जाती थीं। इन देवताओं के कार्य, शक्ति आदि भिन्न २ थीं। उन का निवासस्थान हिमाच्छादित ऑलिम्फस पर्वत पर था, जहां कोई भी मर्त्य नहीं पहुँच सकता था[५२]।

रोम में मुर्दों का जलाना व मृतक-श्राद्ध—रोम के निवासियों का धर्म यूनानियों के धर्म से कुछ भिन्न नहीं था। वे लोग भी नाम बदलकर यूनानी देवताओं को ही पूजते थे। मूर्ति-पूजा भी वहां प्रचलित थी। ये देवता वैदिक देवताओं के समान भी मालूम होते हैं। यूनानी व भारतीयों के समान रोम-निवासी भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्त्व को मानते थे व मुर्दों को जलाते थे। वे लोग मृतक-श्राद्ध भी करते थे, जैसा कि सिनोबस ने लिखा है—"इसलिये जीवित व मृत दोनों के लिये यह महत्त्वपूर्ण था कि सब रस्में

अदा की जायँ। मृत-व्यक्ति के पारिवारिकजन एक चिता बनाते व उस पर शव को जलाते थे, तथा राख को एक पात्र में रख किसी स्थान में गाड़ देते थे। यही उन आत्माओं का मन्दिर माना जाता था, जो कि देवता बन चुकी थीं। वर्ष के निश्चित दिनों में मृतव्यक्ति के सम्बन्धी इस स्थान पर भोजन लेकर आते थे, क्योंकि उन का विश्वास था कि आत्मा को भोजन की आवश्यकता पड़ती है। यहां जमीन पर दूध व सुरा उँढ़ेल दी जाती थी, व बलि-पशु का मांस जलाया जाता था। दूध व रोटियों के बर्तन वहीं छोड़ दिये जाते थे। ये मृतक-क्रियाएँ बहुत समय तक जारी रखी जाती थीं। प्रत्येक परिवार को यह सब करना पड़ता था"।[५३]

रोम में अग्नि-पूजा—रोम के निवासी अग्नि के भी पूजक थे, जो कि उन के घरों में व सार्वजनिक स्थानों में हमेशा जला करती थी, जिस में सुगन्धित द्रव्यादि डालकर हवन किया जाता था[५४]। भोजन करने के पहिले प्रत्येक रोमनिवासी यज्ञ-वेदी के देवता को धन्यवाद देता था व भोजन का थोड़ा सा भाग उसे प्रदान करता था व थोड़ी सुरा भी उस के लिये उँढेलता था।[५५] यह भारत के बलिवैश्वदेव का ही विकृत स्वरूप है। होरेस के समान नास्तिक भी भोजन करते समय यह सब करता था।[५६] यूनानियों के समान रोमनिवासी भी विवाह को एक धार्मिक कृत्य समझते थे, क्योंकि धर्म की आज्ञा थी कि वंशोच्छेद न होने पाय। इसलिये, प्रत्येक रोम-निवासी विवाह के समय कहता था कि मैं सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश-सातत्य की रक्षा के लिये विवाह करता हूं[५७]। यहां हमें पारस्करादि गृह्य-सूत्रों के "प्रजां संजनयाव-है"[५८] आदि वचनों की स्मृति सहसा आजाती है। आज भी हिन्दू-विवाह-पद्धति के अनुसार वरवधू दोनों को यह प्रण करना पड़ता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिये ही हम विवाह करते हैं, न कि इन्द्रिय-लोलुपता के शिकार बनने के लिये। इस प्रकार प्राचीन रोम के रीति-रिवाजों पर भारतीय झलक स्पष्ट ही दीखती है।

यूनान व रोम के दर्शनशास्त्र पर भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव—यूनान व रोम के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शन की छाप बिलकुल ही स्पष्ट है। यूनान के प्रारम्भिक दर्शनशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। विश्व व ईश्वर का ऐक्य,

अनेकत्त्व का मिथ्या आभास, मानस-शक्ति व वैयक्तिक अस्तित्त्व का तादात्म्य आदि 'एलेटिक्स' के सिद्धान्त उपनिषदों व वेदान्त-दर्शन में पाये जाते हैं। एम्पिडोक्लीज़ के सिद्धान्तों में सांख्य का प्रकृति के अनादित्त्व व अनन्तत्त्व का सिद्धान्त स्पष्ट दीखता है। पाइथोगोरस के धार्मिक व वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर भारत का कितना असर है, यह तो लगभग सर्वमान्य ही है। उस का पुनर्जन्म व पञ्च-तत्त्वों के सिद्धान्त को मानना तथा उस के नाम से विख्यात रेखागणित के सिद्धान्त का उस के भी पहिले आपस्तम्ब, बौधायन आदि शुल्वसूत्रों में पाया जाना इस मन्तव्य की पुष्टि करते हैं[५९]। यूनान की जनश्रुति के अनुसार थेल्स, एम्पीडोक्लीज़, एनेनेगोरस, डेमोक्रायटस आदि विद्वानों ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिये भारत की यात्रा की थी।[६०] इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स लिखते हैं कि "दर्शनशास्त्रों के बारे में यह कहना पर्याप्त होगा कि न्याय व 'पेरिपेटेटिक,' वैशेषिक व 'आयोनिक,' वेदान्त व 'प्लेटोनिक,' सांख्य व 'इटेलिक,' योग व 'स्टोइक' आदि दर्शनों में समानता दिखाई देती है, जिस से गौतम की तुलना एरिस्टॉटल से, कणाद की थेल्स से, जैमिनि की सुकरात से, व्यास की प्लेटो से, कपिल की पाइथोगोरस से व पतञ्जलि की ज़ेनो से तुलना की जा सकती है"।[६१]

सांख्य का प्रभाव—आत्मा व प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्त्व, दुःख का प्रकृति से सम्बन्ध न कि आत्मा से, आत्मा का तेज से तादात्म्य आदि 'नियोप्लेटोनिस्ट दर्शन' (ईसा की प्रथम कुछ शताब्दियें) के प्रधान सिद्धान्त सरलतापूर्वक सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों से सम्बन्धित किये जा सकते हैं।[६२] इसलिये यह कहा जा सकता है कि सांख्य-दर्शन ने 'नियो-प्लेटोनिस्ट' दर्शन को अवश्य प्रभावित किया था। क्योंकि उस समय भारत व मिश्र में खूब ज़ोरदार व्यापार होता था।

'नॉस्टीसीज़्म' पर भारत का प्रभाव—ईसाइयों के 'नॉस्टीसीज़्म' (Gnosticism) पर भी, जो कि ईसा की दूसरी व तीसरी शताब्दि में ज़ोरदार था, भारत का प्रभाव पड़ा है। आत्मा व प्रकृति का पारस्परिक विरोध, बुद्धि मन आदि का स्वतन्त्र अस्तित्त्व, आत्मा व तेज का तादात्म्य, मनुष्यों का तीन विभागों में विभाजित किया जाना—'फेनामेटिक्रॉय,' 'सायकिक्रॉय' व 'हायलिकॉय'—आदि सिद्धान्त सांख्य-दर्शन से लिये

गये हैं।[६३] सिरिया के नॉस्टिक दार्शनिक बार्डेसनिस ने भारतीय दार्शनिकों से भारत के बारे में बहुत जानकारी प्राप्त की थी। वह सांख्य-दर्शन के समान लिङ्ग-शरीर के अस्तित्व को भी मानता था। नॉस्टिकों ने स्वर्गों की भावना भी बौद्ध धर्म से ली है। वर्तमान काल में भी उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व शोपनहॉर, हर्टमेन आदि जर्मन दार्शनिकों के मन पर अमिट प्रभाव डाले बिना नहीं रहे।[६४]

पाश्चात्य विज्ञान व साहित्य पर भारत का प्रभाव—विज्ञान व साहित्य के क्षेत्र में भी पाश्चात्य जगत् प्राचीन भारत का कुछ कम ऋणी नहीं है।[६५] यूनानी गणित-विद्या, चिकित्सा-शास्त्र आदि पर भारतीय प्रभाव के चिह्न आज भी दिखाई देते हैं। भारतीयों द्वारा शोधे गये अङ्कों व 'सशून्य-दशांशगणनाविधि' का उपयोग आज भी समस्त संसार में होरहा है।[६६] इस गणना-विधि का, न केवल विश्व की गणित विद्या पर, बल्कि विश्व के सांस्कृतिक विकास पर कितना बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है, उस की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय शुल्वसूत्र व यूनानियों के ग्रन्थों में रेखागणित सम्बन्धी इतनी समानता है कि गणित-विद्या के इतिहासकार कैन्टोर को मान लेना पड़ा कि अवश्य यूनान व भारत में परस्पर आदानप्रदान हुआ है[६७]। उस के मतानुसार शुल्वसूत्रों पर हेरो (ई० पू० २१५) के रेखागणित का प्रभाव ई० पू० प्रथम शताब्दि के पश्चात् पड़ा है। किन्तु शुल्वसूत्र तो हेरो के कितने ही पहिले के हैं व भारत में रेखागणित का प्रारम्भ यजुर्वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल से होता है, क्योंकि उन ग्रन्थों में यज्ञवेदी बनाने की विधि, उसके आकार आदि का वर्णन है। अतएव भारत ने ही इस क्षेत्र में यूनान को प्रभावित किया था, यह स्पष्ट ही है। खोज से पता चला है कि यूनानियों का "मेटिरिया मेडिका", यहां तक कि 'चिकित्सा शास्त्र के पिता' हिप्पोक्रेटीस का भी, भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थों के आधार पर बना है[६८]।

मध्यकालीन यूरोप पर भारत का प्रभाव—यूरोप के माध्यमिक युग में भी भारत के विज्ञान, शास्त्र, साहित्य आदि ने यूरोप को प्रभावित किया था। इस बार यह काम अरबों द्वारा किया गया था। अरब विद्वानों ने भारतीय विद्याओं को सीखकर उन का प्रचार स्पेन के विश्वविद्यालयों द्वारा यूरोप भर में किया।[६९] यहां यह याद रखना चाहिये कि इस समय अरबों का

साम्राज्य उत्तरीय आफ्रिका व दक्षिण यूरोप के स्पेनादि देशों तक फैला हुआ था,[७०] व स्पेन के सेलेंमेनका आदि के विश्वविद्यालयों में भारतीय विद्यानिष्णात अरब आचार्यों के चरणों में बैठकर भारतीय ज्ञान प्राप्त करने के लिये यूरोप के विभिन्न भागों से विद्यार्थी आते थे।[७१]

भारत का अरबों पर सांस्कृतिक ऋण—अरब विद्वान् स्वतः ही अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति, चिकित्साशास्त्र आदि के ज्ञान के लिये अपने को भारत का ऋणी मानते हैं। अरबी भाषा में अङ्कों के लिये 'हिंसा' (हिन्द-सा) शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिस से स्पष्ट है कि उन्होंने अङ्कज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। अबुजाफर व अलबेरुनी के समान अरब विद्वान् यह स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि 'सशून्य-दशांशगणनाविधि' को ढूँढने का श्रेय भारतीयों को ही मिलना चाहिये[७२]। एनसायक्लोपीडिया-ब्रिटेनिका भी इस मत की पुष्टि करता है। इस सम्बन्ध में उस में लिखा है—"जो कुछ निश्चित है, वह यह है कि हमारी 'सशून्य-दशांशगणनाविधि' अपने पूर्ण विकसित रूप में, जिस के कारण एबेकस के खानों के बिना भी हम संख्या गिन सकते हैं, भारत में उत्पन्न हुई है। भारतीयों से यह विधि ज्योतिष के टेबलों के साथ ई० स० ७०३ के लगभग भारतीय राजदूत द्वारा बगदाद लाई जाकर अरबों के पास आई। किसी तरह ९ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध अबुजाफर मुहम्मद अल खारिज़्मी ने इस विधि को अरबी भाषा में समझाया। उस समय से यह धीरे २ अरबी जगत् में फैलने लगी। यूरोप में १२ वीं शताब्दि में यह विधि अपने सर्वाङ्ग-रूप में अरबों से प्राप्त की गई थी व इस पर आधारभूत अङ्क-गणित 'अलगोरित्मस,' 'अलगोरिथ्म' आदि नाम से जाना जाता था। यह आश्चर्यजनक शब्द 'अल-खारिज़्मी' के परिवर्तितरूप के सिवाय और कुछ नहीं है, जैसी कि रेनार्ड ने कल्पना की थी। उक्त गणितज्ञ के ग्रन्थ की केम्ब्रिज-स्थित हस्तलिखित प्रति के प्रकाशित होने पर उपरोक्त कथन को पुष्टि मिली है। खारिज़्मी के अङ्क-गणित की रीतियें बाद के पूर्वीय ग्रन्थों में सरल बनाई गयी थीं। पिसा के लियोनार्डो ने पश्चिम में व मेक्सिमस प्लेनेडिस ने पूर्व में इन सरल रीतियों का प्रचार किया। अरबी 'सिफ्र' के लिये लियोनार्डो द्वारा प्रयुक्त किये गये

'जेफिरो' (Zephyro) से ही अंग्रेजी का 'ज़ीरो' (Zero) शब्द बना मालूम होता है" ।[७३]

अरब-चिकित्साशास्त्र का मूल आधार आयुर्वेद—अरब के सम्पूर्ण चिकित्सा-शास्त्र का मूल आधार आयुर्वेद के संस्कृत ग्रन्थों के अरबी अनुवाद हैं। ऐसा कहा जाता है कि बग़दाद के खलीफ़ाओं ने बहुतसे संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में करवाया था।[७४] इस प्रकार अरब के चिकित्सा-शास्त्र का सूत्रपात हुआ। चरक का नाम लैटिन भाषा तक में पहुँच गया था।[७५] अनुशीरवाँ का समकालीन बेज़ोयेह आयुर्वेद का अध्ययन करने भारत आया था। ८ वीं शताब्दि में अल-मन्सूर ने कितने ही संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया।[७६] खलीफा हारूनल रशीद ने भारतीय वैद्यों को अपने राजदर्बार में आमन्त्रित किया था।[७७] इस प्रकार चिकित्साशास्त्र के लिये अरब लोग भारत के ऋणी हैं, जिस का प्रचार उन्होंने यूरोप में भी किया। इस सम्बन्ध में मेकडॉनेल का कथन है—"ईसा के सातसौ वर्ष पश्चात्, अरबों पर भारतीय आयुर्वेद का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है, क्योंकि बगदाद के खलीफ़ों ने तद्विषयक कितने ही संस्कृत ग्रन्थों को अरबी में अनुवादित करवाया। चरक व सुश्रुत के ग्रन्थ ८ वीं शताब्दि के अन्त के लगभग, अरबी में अनुवादित किये गये व दसवीं शताब्दि के सुप्रसिद्ध अरब हकीम अलरज़ी द्वारा प्रमाणग्रन्थ माने जाकर उद्धृत किये गये हैं। यह अरबी चिकित्साशास्त्र ईसा की १७ वीं शताब्दि तक यूरोप के वैद्यों के लिये प्रमाणभूत रहा। यूरोपीय वैद्य भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थों के लेखकों को भी बहुत मानते होंगे, क्योंकि अरब लेखक इब्नसीना, अलरज़ी, इब्नसरफ्यूँ आदि के ग्रन्थों के लैटिन अनुवाद में चरक का बार २ उल्लेख आता है। आधुनिक काल में भी यूरोपीय शल्यविद्याने 'ह्विनोप्लेस्टी' के 'ऑपरेशन' का ज्ञान गत शताब्दि में भारत से प्राप्त किया" ।[७८]

यूरोप के कथासाहित्य पर भारत का प्रभाव—प्राचीन यूनान की कुछ कथाओं पर भारतीय कथा-साहित्य का प्रभाव दिखाई देता है।[७९] किन्तु मध्यकालीन यूरोप के कथासाहित्य (Fairy tales and Fables) पर यह प्रभाव बिलकुल ही स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रभाव भी अरबों ही के कारण था। फारस के सेसेनियन राजा खुसरु

अनुशीरवाँ (ई० स० ५३१–ई० स० ५७९) ने बौद्ध कथाओं के संग्रह पञ्चतन्त्र का अनुवाद बरज़ोई नामी फारसी हकीम द्वारा पेहेलवी भाषा में करवाया।[८०] ई० स० ५७० में उस का अनुवाद सिरिक भाषा में किया गया। ईसा की ८ वीं शताब्दि में पेहेलवी से अरबी में अनुवाद किया गया। यह अरबी अनुवाद अत्यन्त ही महत्त्व का है, क्योंकि इस पर से बहुतसे अनुवाद किये गये, जैसे बाद का सिरिक भाषा में अनुवाद (ई० स० १०००), यूनानी में (ई० स० ११८०), पारसी में (ई० स० ११३०) व दूसरी बार पारसी में (ई० स० १४९४), प्राचीन स्पेनिश भाषा में (ई० स० १२५१), हिब्रू भाषा में (ई० स० १२५१) इत्यादि।[८१] इन अनुवादों का यूरोप के मध्यकालीन साहित्य को बनाने में पूरा २ हाथ था। इस अनुवाद की चौथी आवृत्ति केपुआ के जॉन द्वारा किये गये हिब्रू के लैटिन अनुवाद (ई० स० १२७०) के रूप में हुई। इस अनुवाद का नाम "डिरेक्टोरियम ह्यूमेनी व्हिलो" था। इससे "डास बुश डेर बेइसफेल डेर अल्टेन वायसेन" नामी जर्मन अनुवाद किया गया, जो सर्वप्रथम ई० स० १४०१ में छपवाया गया, उल्म नगर में इस के ई० स० १४८३ से १४८५ तक चार संस्करण व ई० स० १५९२ तक तेरह संस्करण और निकले। इससे स्पष्टतया मालूम होता है कि ईसा की १५ वीं व १६ वीं शताब्दि में मनोरञ्जन व शिक्षा के लिये यह अनुवादित कथासाहित्य कितना महत्त्वपूर्ण था।[८२] डिरेक्टोरियम से इटेली-भाषा में भी अनुवाद किया गया, जो ई० स० १५५२ में व्हेनिस नगर में छपवाया गया। इसी अनुवाद से ई० स० १५७० में सर टॉमस नार्थ ने अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार इस अंग्रेज़ी अनुवाद व मूल-संस्कृत में अनुवादों की पांच आवृत्तियें व एक हज़ार वर्ष के समय का अन्तर हो जाता है[८३]।

"बरलाम व जोसेफेट्स" का कथा-संग्रह—भारतीय कथा-साहित्य के पाश्चात्य देशों में प्रचार के इतिहास में दमश्क के जॉन द्वारा यूनानी भाषा में लिखित "बरलाम व जोसेफेट्स" का कथासंग्रह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।[८४] यह जॉन ईसाई था व खलीफ अलमन्सूर (ई० स० ७५३–७७४) के दरबार में रहता था, जब कि "कालिलाह व दिमनाह" का अनुवाद अरबी में किया गया था। जॉन द्वारा लिखित कथा धीरे २ ईसाई मत की धर्म-

पुस्तक बनगई व मध्ययुग में एशिया व यूरोप की बहुतसी भाषाओं में अनुवादित की गई। इस में भारतीय कथाएँ हैं। कथा-नायक भी बोधिसत्त्व के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है, क्योंकि जोसेफेट उसी का विकृत रूप है। यह जोसेफेट ग्रीक व रोमन चर्च में ईसाई-सन्त के पद तक पहुँच गया, यहां तक कि उस का एक दिवस भी निश्चित कर दिया गया—ग्रीक चर्च में २६ अगस्त व रोमन चर्च में २७ नवम्बर। विश्व के धार्मिक इतिहास में, यथार्थ में, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि बौध धर्म का बोधिसत्त्व ईसाई-मत में एक महान् ईसाई-सन्त मान लिया जाय।

शतरञ्ज के खेल का यूरोप में प्रचार—कथा-साहित्य के साथ ही साथ शतरञ्ज (चतुरङ्ग) के खेल ने भी भारत से अपनी पश्चिमी यात्रा प्रारम्भ कर दी थी।[८५] यूरोप के मध्यकालीन सरदार (Feudal Lords), जिन्हें कुछ काम न था व जिन के लिये समय बिताना भी बहुत मुश्किल था, इसी शतरञ्ज के खेल को खेलकर व पञ्चतन्त्र के किस्से पढ़कर अपना समय बिताते थे। यह सचमुच में भारत के लिये गौरव की बात है कि वह मध्य-कालीन यूरोप के इन निकम्मे सरदारों को काल-यापन की मनोरञ्जन व शिक्षा से परिपूर्ण सामग्री प्रदान कर सका।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्टतया मालूम होता है कि ईसा के जन्म के पूर्व से ही भारतीय संस्कृति का प्रभाव पाश्चात्य देशों पर दिखाई देने लगता है। इन देशों में प्राचीन काल से ही भारतीय आर्य्य जाकर बसे थे। मिश्र, बेबिलोनिया आदि के प्राचीन लेखों से भी इस कथन को पुष्टि मिलती है। इन प्राचीन लेखों का ब्यौरा इस प्रकार है।

केसाईट्स आदि के प्राचीन लेख; केसाईट्स[८६] (ई० पू० १७६०)—इन के प्राचीन राजाओं के नाम मिले हैं, जो कि उन के प्राचीन लेखों में उल्लिखित हैं। उन नामों में भारतीय देवताओं के नाम अंशरूप से दिखाई देते हैं; जैसे 'सुरियस,' 'मरुत्तस,' 'बगस्'। इस के अतिरिक्त, इन केसाइट लोगों ने रथ में घोड़ों को जोतने की प्रथा प्राचीन बेबिलोनिया आदि में प्रारम्भ की थी। घोड़े के अर्थ में प्रयुक्त किये जानेवाला बेबिलोनिया की भाषा का 'सुसु' शब्द संस्कृत अश्व से बना मालूम होता है।

मिटान्नी-शासक[८७] (ई० पू० १४६०)—केसाइट-लेखों के तीन

शताब्दि बाद के 'टेल-एल-अमर्ना'[८८] के राजकीय पत्रों से मालूम होता है कि पश्चिमी एशिया के मिटान्नी लोगों पर यूफ्रेटिस नदी के ऊपरी किनारे के भागमें आर्यवंश के राजा राज्य करते थे । इन राजाओं के नाम पूर्णतया भारतीय थे; जैसे 'सुत्तर्न,' 'दसरत्त,' 'अर्ततम', तथा ये राजा वैदिक देवताओं के उपासक थे ।

मिटान्नी राजा व हिट्टाइट्स (ई० पू० १३६०)—ई० स० १९०७ में विंक्लर ने यह प्रमाणित किया कि ई० पू० १३६० के सन्धिपत्र में जिन देवताओं का साक्षीरूप में आह्वान किया गया है, उन में चार वैदिक देवता भी हैं व इस प्रकार उस ने शिक्षित जगत् को आश्चर्य चकित कर दिया ।[८९] इस पत्र में दस बेबिलोनिया के, चार मिटान्नी व चार वैदिक देवता उल्लिखित हैं । उन वैदिक देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—'इन्द्-अ-र' (इन्द्र), 'उरुव्-न' या 'अ-रु-न' (वरुण), 'मित्र,' व 'नासत्य' ।

बोगेज़कुई के प्राचीन लेख—कुछ वर्षों पूर्व हिट्टाईट लेखों में कुछ प्राचीन मिटान्नी लेख एशिया-मॉयनर के बोगेज़कुई स्थान से मिले हैं । उस में अश्वपालन आदि के बारे में लिखा है, जहां 'ऐक,' 'तेरस्' 'पंज़स्,' 'सत्त,' 'नव' आदि भारतीय संख्याओं का उल्लेख "ऐकवर्तन्त वसन्न सत्र" आदि वचनों में है ।[९०] हमें यह भी ज्ञात होता है कि इस समय मिटान्नी लोगों में योद्धाओं की एक जाति थी, जो अपने को 'मरन्न' कहती थी । इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के मर्य शब्द से जोड़ा जा सकता है ।[९१]

'टेल-एल-अमर्ना' के पत्र (ई० पू० १४०० वर्ष के करीब)—इन पत्रों में सिरिया व पेलेस्टाइन में राज्य करनेवाले भारतीय राजाओं के नाम भी उल्लिखित हैं; जैसे 'येनोम का बिरिदास,' 'कीलह का सुवरदत,' 'तानाश का यसदत,' 'तिरबशान का अर्तमन्य' इत्यादि ।[९२]

हिक्सॉस जाति का मिश्र पर आक्रमण—प्राचीन मिश्र के एखनॉटन[९३] नामी राजा के राजत्त्व-काल के पहिले मिश्र देश पर हिकसॉस नामी विदेशी जाति ने आक्रमण किया[९४] व उसने मिश्र में रथ के उपयोग का श्रीगणेश भी किया ।[९५] एकनॉटन का एकेश्वर-वाद,[९६] जो कि मिश्र के लिये बिलकुल ही नयी बात थी, कदाचित् इसी हिक्सॉस के आक्रमण का फल हो । क्योंकि हिक्सॉस आर्य थे व एकेश्वर-वाद को भलीभाँति अपना

चुके थे तथा उन्होंने मिश्र में भी इस सिद्धान्त का प्रचार किया होगा। यही कारण है कि वहां का राजा एकनॉटन एकेश्वरवादी बन गया। हिक्सॉस लोगों के आर्य्य होने में किसी भी ऐतिहासिक को सन्देह नहीं है।

इन सब ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि ईसा के लगभग १५०० या १६०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्यों का प्रभुत्त्व पश्चिमी एशिया पर था। तथा उन्होंने वहां की संस्कृति को भी प्रभावित किया था। इस प्रकार हमनें देख लिया कि पाश्चात्य देशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव प्राचीन काल से ही था। भारतीय राजा पश्चिमी एशिया के देशों में राज्य करते थे।

सुदूर पूर्व पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव—चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार—पश्चिमी देशों के समान पूर्वी देशों पर भी भारतीय संस्कृति की जबरदस्त छाप पड़ी थी, जिस के कितने ही चिह्न आज भी वर्तमान हैं। इस कार्य्य में बौद्ध धर्म का बड़ा भारी हाथ रहा है। चीन के इतिहासकारों के मतानुसार, ई० पू० २१७ वर्ष के लगभग बौद्ध प्रचारक चीन में पहुँचे थे व अपने धर्म का प्रचार करने के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गये थे।[९७] इस के कितने ही समय पश्चात् चीनी सम्राट ने एक बार सपने में देखा कि एक पीले देवता पूजा माँग रहे हैं। राज्य के ज्योतिषी ने इस सपने का यह मतलब निकाला कि पीला देवता स्वतः बुद्ध था। इस पर सम्राट् ने भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाये, व ई० स० ६७ में यहां से काश्यप व मातङ्ग नामी दो बौद्ध भिक्षु चीन भेजे गये।[९८] इस प्रकार चीन देश में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया जाने लगा। परिणामतः, चीन में बौद्ध धर्म की जड़ें मजबूत होने लगीं। किन्तु कन्फ्युशियस मत इस के मार्ग में रोड़े अटकाने लगा, क्योंकि बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार संसार को छोड़ भिक्षु का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस विरोध के कारण लगभग दो शताब्दि तक किसी भी चीनी को बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होने की अनुमति ही प्राप्त न हो सकती थी। किन्तु भारत से बौद्ध भिक्षु बराबर चीन जाते ही रहे। उन के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप ईसा की चौथी शताब्दि में चीनियों को बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गई।[९९] अब चीनियों ने भी भारत की पवित्र भूमि की यात्रा करना प्रारम्भ कर दिया।[१००] सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारजीव चीन में ही था,

जब कि चीनी बौद्ध यात्री फाईयान भारत आया था। ईसा की ८ वीं शताब्दि में जब इत्सिंग, जो एक चीनी बौद्ध यात्री था, भारत की यात्रा कर रहा था, तब उसे भारत में कितने ही चीनी भिक्षु मिले, जो उसी के समान पवित्र भारत-भूमि के दर्शनों के लिये आये थे।[१०१] इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में रेवे० जोसेफ एड्किन्स कहते हैं—"चीन में बौद्ध धर्म का जो विकास तीव्रगति से हुआ था, वह निकटवर्ती देशों से छिपा नहीं था। चीन के राजा शुंगवेनटि के राजत्वकाल में, जिसने तीस वर्ष से अधिक राज्य किया व जिस का अन्त ई० स० ४५३ में हुआ, भारत व चीन के बीच के देशों के राजदूत चीन पहुँचे थे। उन के चीन जाने का उद्देश यह था कि वे चीन में बौद्धधर्म के विकास के लिये वहां के राजा को बधाई दें, जिससे भविष्य में चीन से उन के देशों का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होजाय, क्योंकि वे भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इस राजवंश के इतिहास में अरबन के राजा पिशनबर्म का उक्त चीन सम्राट को भेजा हुआ पत्र अब भी सुरक्षित है"।[१०२]

चीन में बौद्ध धर्म के विपरीत लहर—भिन्न २ चीन सम्राटों के राजत्वकाल में बौद्ध धर्म की कभी उन्नति व कभी अवनति होती रही। ईसा की सातवीं शताब्दि तक इस के विकास को कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचाया गया। इस के पश्चात् राष्ट्रीय धर्म व गार्हस्थ्य जीवन पर अधिक प्रेम रहने के कारण ऐसा राजनियम बनाया गया, जिससे लगभग बारह हज़ार चीनी बौद्ध भिक्षुओं को ज़बरन गृहस्थ बनना पड़ा। ईसा की नवीं शताब्दि में लगभग ४६०० बौद्ध मठों का विध्वंस किया गया व २,६०,००० भिक्षुओं को गृहस्थ बनना पड़ा। ईसा की दसवीं शताब्दि में ३०,००० बौद्ध मन्दिर बन्द कर दिये गये। इतना सब करने पर भी बौद्ध धर्म चीन से न निकाला जा सका। किन्तु उसे वहां के राष्ट्रीय धर्म टाओइज़्म के साथ कुछ आदान-प्रदान करना पड़ा। उस के कुछ देवता बौद्ध धर्म ने अपना लिये व उसने बौद्ध मठप्रथा को अपना लिया। अब कोई भी बौद्ध भिक्षु बिना किसी रुकावट के गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म चीनियों के जीवन में ओत प्रोत हो गया, जैसा कि आजकल भी है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार—तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार

कुछ आकस्मिक कारणों से हुआ । ई० स० ६३२ के लगभग वहां स्ट्रांगसेन गेम्पो नामी एक सशक्त व महत्त्वाकाङ्क्षी राजा राज करता था।[१०३] उस की इच्छा चीन व नेपाल से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की हुई, जहां के राजा पूर्णतया बौद्ध थे। इसलिये वहां की राजकुमारियों के लिये उसे भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाने पड़े। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनसेंग के समय में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था।[१०४] उसने तिब्बत के राजदूत को देखा था, जो अपने देश को बौद्ध साहित्य ले जाने के लिये यहां आया था। स्ट्रांगसेन से छठवीं पीढ़ी के राजा के राजत्वकाल में नालन्दा का पद्मसम्भव नामी बौद्ध भिक्षु तिब्बत में बौद्ध धर्म की देख भाल के लिये बुलवाया गया था।[१०५]

तिब्बत में बौद्ध धर्म की प्रगति—बिहार व बङ्गाल के बौद्ध धर्म पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ने के कारण तिब्बत का बौद्ध धर्म भी विकृत होगया। ई० स० ७४९ में पहिला बौद्ध मठ बनवाया गया। इस समय तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म 'बॉनपूजा' था। इसमें भूत, पिशाच, शव आदि की पूजा की जाती थी। नरमेध-यज्ञ भी किये जाते थे। ऐसी भूमि में बौद्ध धर्म सरलता से पुष्पित व पल्लवित होसका, यद्यपि वहां का मौलिक धर्म पूर्णतया न निकाला जा सका। ईसा की नवीं शताब्दि में तिब्बती भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया गया व भिक्षु तथा भिक्षुनियों को राजोचित अधिकार दिये गये। ईसा की दसवीं शताब्दि में बौद्ध धर्म के विकास को ज़रा धक्का लगा, क्योंकि उस समय का राजा बौद्ध धर्म के विपरीत था, किन्तु थोड़े ही समय में वह मार डाला गया। ईसा की तेरहवीं शताब्दि में तिब्बत मुग़लों के अधिकार में गया। मुग़ल सम्राट कुबलाखाँ ने बौद्ध धर्म के राजनैतिक महत्त्व को समझ लिया व उसने मंगोलिया में इस के प्रचार का आदेश दिया। इस प्रकार मंगोलिया में भी तिब्बती बौद्ध धर्म ('लामाइज़्म') का प्रचार होगया।[१०६] ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दि में सांग-कापा लामा ने बौद्ध धर्म को सुधारा व उस के संगठन को अधिक कड़ा बनाया। उसने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि प्रत्येक लामा पद्मसंभव का अवतार है। इस के पश्चात् की शताब्दि में लामा 'अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व' का अवतार माना जाने लगा।[१०७]

कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार—ई० स० ३७२ के लगभग चीनियों ने कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस समय कोरिया के तीन विभाग थे। इन तीनों ने धीरे २ बौद्ध धर्म अपना लिया। पचास वर्ष में ही पूरे देश ने इस नये धर्म को अपना लिया था। ई० स० ९१२ में तीनों राजवंश एक करदिये गये, व यह नया राजवंश बौद्ध धर्म का इतना हिमायती था कि उसने यह राज-नियम बनाया कि तीन पुत्रों में से किसी एक को अवश्य ही बौद्ध सङ्घ में प्रविष्ट होना चाहिये। ईसा की १६ वीं शताब्दि में इस राजवंश का अन्त हुआ। इस के पश्चात् जो राजवंश आया, उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कोरिया में बौद्ध धर्म का पहिला प्रभुत्त्व न रहा, तो भी आज वह वहां बहुत शक्तिशाली है।

जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार—कोरिया से जापान भेजे गये बौद्ध प्रचारकों का पहिले अच्छा स्वागत नहीं किया गया। किन्तु ईसा की सातवीं शताब्दि में जापान के राजा ने बौद्ध धर्म का पक्ष ग्रहण किया और इस का प्रचार बढ़ने लगा।[१०८] ईसा की आठवीं शताब्दि में वहां ऐसा राजनियम बनाया गया कि शिन्तो देवता बोधिसत्त्व के अवतार ही हैं। इस प्रकार ईसा की सत्रहवीं शताब्दि तक बौद्ध धर्म जापान के सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र रहा। किन्तु ईसा की सत्रहवीं शताब्दि में उच्च वर्ग के लोगोंने कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त मान लिये, किन्तु साधारण जनता तो बौद्ध सिद्धान्तों को ही मानती रही। ई० स० १८६७ तक बौद्ध धर्म का यह स्थान बना रहा। इसी वर्ष जापान में क्रान्ति हुई व उस के परिणामस्वरूप नये शासन में जो चार बातें हुई, उन में शिन्तोइज़्म को राजधर्म स्वीकार कर लिया गया। इस से बौद्ध धर्म को बड़ी ठेस लगी। फिर भी आजतक जापान में इस का प्रभुत्त्व बना ही हुआ है, यहां तक कि ईसाई धर्म भी उस की बराबरी नहीं कर सकता।

ब्रह्मदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार—दिव्यावदान से मालूम होता है कि अशोक ने सोण व उत्तर को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये ब्रह्मदेश भेजा था[१०९]। परिणाम-स्वरूप, पेगु व अराकान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। किन्तु ब्रह्मदेश की जनश्रुति के अनुसार ईसा की पांचवीं शताब्दि में लङ्का के बुद्धघोष ने वहां बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यह बुद्धघोष पहिले मगध में

रहता था। लङ्का में उस के जीवन के बारे में जो कुछ जन-श्रुति प्रचलित है, उस में उस के ब्रह्म-देश में धर्मप्रचार-कार्य्य का कोई उल्लेख नहीं है। कदाचित्, उस का कोई शिष्य ब्रह्मदेश गया हो। ब्रह्मदेश के लोगों का कोई धर्म नहीं था। अतएव उन्होंने इस नये धर्म को एकदम अपना लिया। आज वहां बौद्ध धर्म ही एक मात्र धर्म है।

मध्य-एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार—चीनियों के ऐतिहासिक ग्रन्थों व मध्यएशिया में की गई खोज के द्वारा हमें स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मध्य एशिया में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था,[११०] जहां तक भारत के बौद्ध सम्राट कनिष्क (ई० स० ७८ के लगभग) का राज्य-विस्तार था। ईसा की प्रथम छः या सात शताब्दियों तक वहां इस का प्राबल्य रहा। चीनी यात्री ह्यूएनसंग (ईसा की ७ वीं शताब्दि) ने इस देश का अच्छा वर्णन किया है। इसी समय के लिखेहुए बहुतसे ग्रन्थ अभी ढूंढे गये हैं। लौटती बार वह चीनी यात्री काशगर, खोटान, यारकन्द होता हुआ चीन गया। प्रत्येक स्थान पर उसने बौद्ध धर्म को बहुत शक्तिशाली पाया। उस समय वहां के बौद्ध मठों में हज़ारों बौद्ध भिक्षु रहते थे। ह्यूएन-संग ने लिखा है कि यहां के लोगों में किसी प्रकार की समानता न थी। वेष-भूषा, रीति-रिवाज़, भाषा, लेखनशैली आदि सब भिन्न २ थे। उन में केवल धर्म की ही समानता थी, जो कि बुद्ध-प्रतिपादित था[१११]। तुर्कों ने इन सब को जीता व उन्हें एकता के सूत्र में बाँध दिया। फिर भी पूर्वी तुर्किस्तान धार्मिक दृष्टि से भारत का ही एक प्रान्त था। धीरे २ यहां ईसाईमत ने भी प्रवेश किया। किन्तु यहां जल्द ही इस्लाम का पदार्पण हुआ व उस ने धीरे २ बौद्ध धर्म को धर दबाया। ईसा की चौदहवीं शताब्दि के पश्चात् से वहां इस्लाम प्रबल होगया। ई० स० १७५० में वह चीन के अधीन होगया, किन्तु कोई भी धर्म-परिवर्तन न हुआ।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि पौर्वात्य देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार कब व कैसे हुआ। इस सम्बन्ध में कनिंघम लिखते हैं—"हाल ही में की गई खोजके द्वारा वहां बौद्ध प्रचारकों का क्या प्रभाव था, यह स्पष्ट हो जाता है। तिब्बत, चीन, जापान, मंचूरिया आदि के साथ भारत का जो सम्बन्ध

रहा, उस पर कोई टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है । यहां तक कि मंचूरिया के दूरवर्ती लार्डनार्थ द्वीप में भी बौद्धों ने धर्मप्रचार किया था" ।[११२]

पूर्वीय द्वीप समुदाय में 'ब्राह्मण-धर्म' का प्रभाव—ईसा की प्रथम व द्वितीय शताब्दि में पूर्वीय द्वीपसमुदाय में 'ब्राह्मण-धर्म' का प्रचार प्रारम्भ हो गया था । प्राचीन तामिल साहित्य में उन द्वीपों तक की जाने वाली समुद्र-यात्रा का उल्लेख आता है ।[११३] वाल्मीकि रामायण में यवद्वीप नाम से जाव्हा का उल्लेख किया गया है ।[११४] पूर्वी बोर्नियो में मूलवर्म्मन् नामी किसी राजा के ईसा की चौथी शताब्दि के चार यूपलेख ढूंढे गये हैं,[११५] जिनमें ब्राह्मणों के एक उपनिवेश का उल्लेख है, जिन्होंने विशुद्ध वैदिक रीति से वहां यज्ञ किया था । ईसा की चौथी शताब्दि के फाईयान के ग्रन्थ से भी मालूम होता है कि उस समय जाव्हा में ब्राह्मण रहते थे । फाइयान कहता है—"इस प्रकार ९० दिन तक आगे बढ़ने पर वे (हम) 'जवद्वीप' नामी देश में पहुँचे, जहां नाना प्रकार के भ्रमपूर्ण सिद्धान्त व ब्राह्मण-धर्म प्रचलित हैं । बौद्ध धर्म का तो नाम भी नहीं लिया जा सकता" ।[११६] जाव्हा में ब्राह्मण-प्रभाव के बारे में इन्टरनेशनल-ज्योग्रफी में लिखा है—"जाव्हा का पश्चिमी भाग सुंडानीज़ लोगों से बसा हुआ है, इसके पूर्वी छोर पर मदुरा द्वीप मदुरीज़ लोगों से बसा हुआ है । सब के सब मलायिज़ हैं, किन्तु जाव्हानीज़ में हिन्दूरक्त का अंश है । इनके अतिरिक्त बहुतसे चीनी, अरब व अन्य राष्ट्र के लोग भी यहां रहते हैं ।……यहां की तीन मुख्य भाषाएँ हैं, जो कि परस्पर भिन्न हैं । जाव्हानीज़ भाषा सबसे अधिक विकसित व बृहत् है । इस का साहित्यिक व बोलचाल का रूप ऐसे दो हैं । इस की अपनी एक लिपि भी है, जिसका उद्गम भारत में हुआ है । ये सब लोग मुसलमान हैं, किन्तु पश्चिम में पेगेनिज़्म व पूर्व में ब्राह्मेनिज़्म से प्रभावित हैं ।……मलाया लोगों के बाद, जहां तक ज्ञात है, सर्वप्रथम भारतीय यहां आकर बस गये । ई० स० १४७८ में मुसलमानों द्वारा हराये जाने के लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व वे यहां आये । उन्होंने अपने धर्म व अपनी ऊँची संस्कृति का जाव्हा व बाली द्वीपों में प्रचार किया, जो कि प्राचीन मन्दिर व नगरों के खण्डहरों के अवलोन से स्पष्ट हो जाता है' ।[११७]

बाली-द्वीप में ब्राह्मणों का उपनिवेश—बालीद्वीप में भी प्राचीन

ब्राह्मणों ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था। यहां आज भी कितने ही प्राचीन हिन्दू-मन्दिर हैं। आजकल के बाली-निवासियों का धर्म 'ब्राह्मणधर्म' से बहुत मिलता झुलता है। वे हिन्दू देवता व हिन्दू साहित्य को आज भी पूज्य मानते हैं। वे गाय को पवित्र मानते हैं, उसका दूध तक नहीं पीते। इस सम्बन्ध में इन्टरनेशनल ज्यॉग्रफी में लिखा है—"बालिनीज़ मलायज़ हैं व उनमें हिन्दूरक्तांश है। ये अभी भी ब्राह्मणधर्म को मानते हैं, जो कि द्वीपसमुदाय में कहीं नहीं बच पाया। उनका अपना साहित्य अपनी भाषा में है, जो जाव्हानीज़ से कुछ भिन्न है" [११८]।

इसके अतिरिक्त स्याम, कम्बोडिया, इन्डो-चायना आदि देशों पर भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जिसके कुछ चिन्ह आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।[११९]

उपसंहार—इस अध्याय में वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों के सहारे यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीयोंने "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" आदि वेद के आदेश को सफलतापूर्व कृति में अनुवादित किया था। उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धान्तों व संस्कृति के मूलतत्त्वों को विश्व के विभिन्न भागों में फैलाया। वे भारतीय क्या यूरोप, क्या एशिया सर्वत्र ही पहुँचकर अपनी संस्कृति का प्रकाश फैला कर मानव-जाति के कल्याण के मार्ग में अग्रसर होते थे।

अध्याय २०

उपसंहार

प्राचीनत्व तथा नावीन्य—भारतीय संस्कृति के बारे में पीछे जो कुछ लिखा गया है, उससे हमें इस प्राचीन संस्कृति का महत्त्व समझ में आजायगा। इस संस्कृति पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि यद्यपि यह अत्यन्त ही प्राचीन है, तथापि एक प्रकार से नवीन ही है। ऋग्वेद में उषा को "युवती पुराणी" कहा गया है। ठीक वही विशेषण इस संस्कृति व उसके आधारभूत सिद्धान्तों के लिये दिया जासकता है। यह ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर स्थित है, जो पुराने होते हुए भी नये हैं। जिस प्रकार सूर्य्यादि

पुराने होते हुए भी आज तक मानव-जीवन के लिये हितकारी हैं, अतएव नये कहे जासकते हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति का भी हाल है।

सनातन सिद्धान्त—यदि बारीकी से विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि इस संस्कृति की जड़ में वे सिद्धान्त हैं, जिनसे किसी देश-विशेष या जाति-विशेष का ही नहीं, किन्तु समस्त मानव-जाति का सतत कल्याण हो सकता है। भारत के प्राचीन ऋषिमुनियों के सामने सांस्कृतिक विकास के समय यही बृहत् दृष्टिकोण उपस्थित था कि किस प्रकार मानव-समाज का कल्याण हो और वह अधिक सुखी हो। भारत के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि सिद्धान्तों को यदि इस कसौटी पर कसा जाय तो वे खरे उतरेंगे। ये ही सिद्धान्त इस संस्कृति के प्राण भी हैं तथा देशकालादि से बाधित नहीं हैं।

जीवन-शक्ति व विश्वव्यापी प्रभाव—भारतीय संस्कृति इतनी प्राचीन होते हुए भी आज वर्तमान है, चाहे काल के प्रताप से उसका स्वरूप भले ही विकृत होगया हो। किन्तु आज भी उसमें वह अग्नि है, जिसको यदि देदीप्यमान किया जाय, तो पुनः उसके प्रकाश से समस्त विश्व जगमगा उठेगा। इसी जीवन-शक्ति के कारण उसने कितने ही आघातों को सहन किया व अपने अस्तित्त्व को सुरक्षित रखा। पहिले पहल तो वह इतनी दृढ़काय व जीवन से परिपूर्ण थी कि उसने अपना प्रकाश समस्त विश्व में फैला दिया था। प्राचीन कालीन संस्कृतियें उसके प्रकाश में चौंधिया गईं। प्राचीन भारत के क्षत्रिय व ब्राह्मण वेदों का पवित्र सन्देश लेकर व "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" का जाप जपते हुए विश्व के विभिन्न भागों में पहुँच मानव-जाति के लिये कल्याणकारी संस्कृति का पाठ पढ़ाने लगे। कुछ अग्निहोत्री ब्राह्मण जाकर ईरान में बस गये व वहां उन्होंने संस्कृति का सूर्य्योदय किया। इसी सांस्कृतिक प्रकाश से यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि ने प्रेरणा प्राप्त की। भारत के क्षत्रिय प्राचीन सिरिया, बेबीलोन, मिश्र आदि देशों में पहुँचे व उन्होंने वहां अपना राज्य स्थापित किया। प्राचीन यूनान, रोम आदि में भी आर्य्य पहिले ही से बस गये थे। इस प्रकार पाश्चिमात्य जगत् इस संस्कृति से प्रकाशित होने लगा था, जिसके कुछ अंश को यूरोप में आज भी देखा जा सकता है। आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व भारतीय सम्राट् अशोक ने पश्चिमी एशिया, आफ्रिका, यूरोप आदि में

बौद्ध प्रचारक भेज कर इस संस्कृति के प्रकाश को अधिक देदीप्यमान किया। पौर्वात्य देशों का भी यही हाल रहा। बौद्ध धर्म के रूप में भारतीय संस्कृति ने मध्य-एशिया, चीन, कोरिया, जापान आदि को सांस्कृतिक जीवन प्रदान कर अपने तेज़ से उन्हें प्रकाशित किया। जाव्हा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि पूर्वीय द्वीपसमुदाय में यही काम ब्राह्मणों ने किया। इस प्रकार इन प्राचीन भारतीयों ने "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" को चरितार्थ करने का प्रयत्न किया।

संस्कृति पर प्रहार—ऐतिहासिक काल में इस संस्कृति पर कितने ही प्रहार हुए। किन्तु ईसा की १२ वीं शताब्दि तक तो इन प्रहारों का इसके सुदृढ़ काय पर कोई असर न हुआ। इसके विपरीत आघातकारियों को ही इसके चरणों में बैठकर इसका शिष्यत्त्व स्वीकार करना पड़ा। कहा जाता है कि सिन्धुनदी का कछार, पञ्जाब इत्यादि भारत का भूभाग ईरानी राजा डेरियस के राज्य का प्रान्त था व यह केरियंडा के स्कायलेक्स की भारतयात्रा का फल था। इसके पश्चात् यूनान का सिकन्दर विश्वविजेता बनकर भारत जीतने आया। वह पञ्जाब की व्यास नदी तक गिरते पड़ते पहुँच गया, किन्तु जब वहां उसके सिपाहियों ने सुना कि पूर्व में एक बड़ा भारी साम्राज्य है, तो उनके छक्के छूट गये। आगे बढ़ने की इच्छा रहते हुए भी उसे वापिस लौटना पड़ा। उसके सिपाहियों का आगे बढ़ने से इन्कार कर देना स्पष्टतया बताता है कि थोड़े ही मासों में वे भारत के क्षात्रतेज से भलीभाँति परिचित हो चुके थे। इस प्रकार सिकन्दर को लौटना पड़ा। भारतीय संस्कृति पर सिकन्दर के आक्रमण का कोई असर नहीं पड़ा। इसके विपरीत उसे भारत के नंगे फकीरों से बुरी तरह हार खानी पड़ी। इसके पश्चात् यूनानी, पार्थियन, शक आदि विदेशी जातियें भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बसते लगीं। राजनैतिक दृष्टि से भले ही ये जातियें कुछ समय तक विजयी रही हों, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से तो उन्हें भारत ने पूर्णतया जीत लिया था। बैक्ट्रियन आक्रमणकारी मीनन्दर ने बौद्ध सिद्धान्तों के सामने अपना सिर झुकाया व मिलिन्दपञ्ह के साहित्य का जन्म हुआ। यूनानी राजा एन्टीयाल्कीडास का राजदूत हिलीयोडोरस विदिशा जाकर वैष्णव बन गया व उसने अपने को "परम-भागवत" पदवी से विभूषित किया। शक, यूशी आदि विदेशी जातियें भी इस संस्कृति द्वारा पचा ली गईं। कनिष्क, वासुदेव आदि यूशी जाति के रहते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया

भारतीय ही थे। रुद्रदामन् आदि शकक्षत्रप विदेशी रहते हुए भी पूरे भारतीय ही थे, जैसा कि रुद्रदामन् के गिरनारस्थित शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है। हूणों का भी यही हाल हुआ। तोरमाण व मिहिर-गुल पक्के शैव बन गये थे, जैसा कि उनके स्तम्भ-लेखों से मालूम होता है व भारतीय संस्कृति के रङ्ग में रङ्गे गये थे। इस प्रकार ईसा की १२ वीं शताब्दि तक भारतीय संस्कृति की पाचन-क्रिया बहुत ही अच्छी थी। किन्तु उसके पश्चात् वह बिगड़ने लगी।

मुस्लिम-आक्रमण—मुस्लिम-आक्रमण राजनैतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के लिये अवश्य हानिकारक थे। मुस्लिम आक्रमणकारी सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीयों से ऊँचे तो नहीं थे, किन्तु उनमें नवधर्म-प्रचार की दृढ़ भावना व सच्ची लगन अवश्य थी। इस समय कालगति से भारतीय संस्कृति का कलेवर जर्जरित हो गया था। इसलिये इन ज़ोरदार आक्रमणों की चोट से वह सहम गया। परिणामतः, ये आक्रमणकारी पचाये न जासके। भारतीयों के अङ्गके कुछ टुकड़े इस्लाम की भेंट भी चढ़ने लगे। इस आघात के पश्चात् भी यह संस्कृति बहुत सम्हली। समय के फेर से इसे नये रूप की आवश्यकता थी। कबीर, तुलसी, नरसिंह मेहता, चैतन्य, तुकाराम, वल्लभ आदि मध्यकालीन सन्त व भक्तों ने इस कमी को पूरा किया। ब्रह्मा, विष्णु व महेश की भक्ति की त्रिवेणी नये सिरे से बहाई गई। इसमें भारतीय संस्कृति का वही जल था, जिससे पुनः भारत के सांस्कृतिक जीवन का पौधा मुरझाने से बचाया गया।

अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना—ईसा की १९ वीं शताब्दि के उत्तरार्ध में एक और जबरदस्त आघात इस जर्जरितकाय भारतीय संस्कृति पर पड़ा और वह था अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के परिणामस्वरूप इसका पाश्चात्य संस्कृति से संघर्ष। इस संघर्ष के कुछ समय बाद तक ऐसा मालूम होता था कि भारतीय संस्कृति कदाचित् सदा के लिये संसार से बिदा हो जायगी, किन्तु सनातन सिद्धान्तों पर अवलम्बित संस्कृति में जीवन क्षीण नहीं हुआ था। इस ज़बरदस्त आघात से कुछ समय के लिये मूर्छा अवश्य आगई। किन्तु इसे पुनः चेत आया व वह उठ बैठी। राजा राममोहनराय ने ब्राह्म-समाज स्थापित कर इसमें चेतनाशक्ति भरने का प्रयत्न किया, किन्तु उनका प्रयत्न विफल रहा, क्योंकि जिन हाथों से यह काम किया जा रहा था, वे पाश्चात्य संस्कृति के विष से विषैले थे। काठियावाड़ के एक बाल-ब्रह्मचारी ने

इस काम का बीड़ा उठाया। उसने भारत में चारों ओर आर्यत्व के प्राण वेदों का बिगुल फूँका और इस संस्कृति को चेत आगया। भारतीय जाग बैठे व अपने स्वरूप को समझने लगे। दयानंद ने भारतीय संस्कृति के विशुद्ध व परिष्कृत स्वरूप को विश्व के सामने रखा। परिणामस्वरूप, भारतीय अपने खोये हुए रत्नों को पुनः प्राप्त करने लगे।

भारत की महत्त्वाकांक्षाएँ—आज भारत की आकांक्षाएँ व महत्त्वाकांक्षाएँ महात्मा गांधी के रूप में प्रकट हुई हैं। वे ही मानों शरीरधारी भारत हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति को न केवल अपने जीवन में ओत प्रोत किया है, किन्तु मानवजीवन के सञ्चालन में भी उसकी उपयुक्तता चरितार्थ करके बता दी है। उन्होंने पुनः समस्त भारत में भारतीय संस्कृति के प्रतीक सत्य, अहिंसा व तप की त्रिवेणी बहा दी है और वह ऐसे समय में, जब कि विश्व शान्ति के मृगजल के पीछे दौड़ता हुआ अशान्ति के गर्त में गिरता है व नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। ऐसे समय में महात्मा गान्धी ने विश्व को बता दिया है कि मानवता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित भारतीय संस्कृति को अपनाने ही से सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार यथार्थ में हमारी संस्कृति का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

संस्कृति के दोष—हमें अपनी संस्कृति के गुणों के साथ कालवशात् उसमें जो दोष आगये हैं, उन्हें भी न भूलना चाहिये। समाज को संगठित व व्यवस्थित बनाने के लिये आयोजित वर्णव्यवस्था आज बहुत ही बिगड़ गई है। उसी के कारण ऊँच नीच का भाव बढ़ गया व परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति पर अस्पृश्यता का बड़ा भारी कलङ्क लग गया। यदि हम अपनी संस्कृति को पुनः विश्वविजेत्री बनाना चाहते हैं, तो हमें यह कलङ्क धोना होगा। इसके अतिरिक्त और भी दोष व त्रुटियें इस संस्कृति के जीर्ण व जर्जरित कलेवर में समा गई हैं, जिन के कारण इसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो रही है।

भारतीयों का कर्तव्य—इस प्राचीन संस्कृति के प्रति भारतीयों का भी कुछ कर्तव्य है। किसी वस्तु को केवल पुरानी ही समझ कर ठुकरा न देना चाहिये और न अपना ही लेना चाहिये। वे अपनी प्राचीन संस्कृति को समझे व यह जानने का प्रयत्न करें कि किस प्रकार इसके द्वारा मानव-जाति का कल्याण किया जा सका। साथ ही, उन्हें इसके मूल-सिद्धान्तों को अपने जीवन

में ओत प्रोत भी करना चाहिये । तब ही सच्चे राष्ट्रीय व भारतीय भाव की जागृति हो सकती है । वे अपने पूर्वजों के गौरवशील कर्मों से अपने लज्जास्पद कर्मों की तुलना करें और उससे कुछ शिक्षा प्राप्त कर अपना उद्धार करें । प्रत्येक भारतीय को कम से कम निम्नाङ्कित बातें कभी भी न भुलानी चाहिये ।

भारतीय संस्कृति की विश्व को देन—प्राचीन भारतीयों ने विश्व हित के लिये निम्नाङ्कित तत्त्वों को ढूँढा, जिनसे विश्व आज भी लाभ उठा सकता है । यही भारतीय संस्कृति की विश्व को देन है—

(१) हमारे ऋषियों ने जीवन-मरण की पहेली सुलझाने के लिये पुनर्जन्म का सिद्धान्त ढूँढा व योग के समान सच्चे जीवन की एक योजना उपस्थित की ।

(२) हमारे भारत ने वर्णाश्रमव्यवस्था के सिद्धान्त को ढूँढा, जिसके कारण हम आज भी जीवित हैं ।

(३) हमारे प्राचीन विद्वानों ने गणित-शास्त्र के परम आवश्यकीय सिद्धान्त 'सशून्य-दशांशगणनाविधि' को जन्म देकर विश्व का बड़ा भारी उपकार किया । समस्त विश्व ने उक्त गणना-विधि को अपना लिया है ।

(४) हमारे आयुर्वेद के सिद्धान्तों को पाश्चिमात्य जगत् ने अपनाया । आयुर्वेद के कितने ही ग्रन्थ अरबी आदि प्राचीन भाषाओं में अनुवादित किये गये ।

(५) हमारे धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त पौर्वात्य व पाश्चात्य देशों द्वारा अपनाये गये ।

(६) हमारी भाषा ने पाश्चिमात्य देशों की भाषाओं को प्रभावित किया ।

(७) हमारे ब्राह्मणों ने पूर्वीय समुदाय में कितने ही उपनिवेश स्थापित किये ।

(८) हमारे व्यापारियों ने प्राचीनकाल में पाश्चिमात्य देशों से व्यापार किया व इस प्रकार वे कितना ही द्रव्य भारत में लाये ।

(९) हमारे कथा-साहित्य ने मध्यकालीन यूरोप के साहित्य पर खूब ही असर डाला । पञ्चतन्त्र का अनुवाद यूरोप की सब ही भाषाओं में हुआ ।

(१०) हमारा चतुरङ्ग (शतरञ्ज) का खेल मध्य-कालीन यूरोप में खेला जाता था ।

॥ समाप्त ॥

परिशिष्ट क

अध्याय १

भौगोलिक विवेचन

(१) जयचंद्रविद्यालंकार—"भारतीय इतिहास की रूपरेखा" जि. १, पृ. १४

(२) मेकडॉनेल—"इन्डियाज़ पास्ट" पृ० २

(३) रेगोज़िन—"वैदिक इन्डिया" पृ० ४

(४) मेकडॉनेल—"इन्डियाज़ पास्ट" पृ० ३,४,

(५) "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया" जि० १, पृ० ५६४

(६) ऋग्वेद ८।२४।२७

(७) मेकडॉनेल—"इन्डियाज़ पास्ट" पृ० ४

(८) वही

(९) डडले स्टाम्प—"दी वर्ल्ड" पृ० २१९-२५

(१०) जयचंद्र विद्यालंकार—"भारतीय इतिहास की रूपरेखा" जि. १, पृ० ३-१४,

---

अध्याय २

ऐतिहासिक दृष्टि

(१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ५६-६४

(२) पार्जिटर—एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० २५३-८७

(३) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, चौथी आवृत्ति, पृ० ११-१२

(४) वही, पृ० ४६-४९, ५१, २०६,२०७

(५) वही, पृ० ४४, टि० २, २१९, टि० १

(६) आर्केयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इन्डिया, जि० ५, पृ० ५९

(७) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० १३९,१४०

(८) फ्लीट—कार्पस इन्स्क्रिपशनम् इंडिकेरम, जि० ३ (गुप्तलेख)
(९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि० १, पृ० ६१
(१०) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आवृत्ति) पृ० १०, टि० १,
(११) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि० १, पृ० ३३४–३३५
(१२) हीरोडोटस, ३।९४,९८
(१३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि० १, पृ० ३९८,३९९
(१४) वही, ३९९–४२६
(१५) वही, पृ० ५८,५९
(१६) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० १३
(१७) वही पृ० १४
(१८) वही
(१९) वही पृ० १५
(२०) भारतीय विद्या (अंग्रेजी), जि० २, भा० १ (नवम्बर १९४०) पृ० ३–४
(२१) पार्जिटर—एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० ५२–५३
(२२) जर्नल ऑफ दी बेनारस हिंदु यूनिव्हर्सिटी, १९४०, पृ० २१३
(२३) एच. सी. रॉयचौधरी-पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २७-२९
(२४) पार्जिटर—एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० १८२–१८३
(२५) जर्नल ऑफ दी बेनारस हिन्दु यूनिव्हर्सिटी, पृ० २१३–२१८
(२६) पार्जिटर—एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० १८२
(२७) वायु. ८८।८–२१३; मत्स्य. १२।२५–२७; वायु. ९१।५१–९६; ब्रह्माण्ड. ३।६६।२२–६८,७५
(२८) वायु. ८५।२-४; विष्णु. ४।१।४–५
(२९) मत्स्य. ११।४०; पद्म. ५।८।७५; वायु. ८५।३–४; विष्णु. ४।१।५
(३०) वायु. ८८।५–७; विष्णु. ४।२।२
(३१) मत्स्य. १२।२५; विष्णु. ४।१।१३

(३२) वायु. ८८।५–७; विष्णु. ४।२।२; ब्रह्माण्ड. ३।६३।५–७
(३३) ऋग्वेद १०।९२; वैदिक इन्डेक्स २।३६४; ३७५
(३४) वायु. ९६।३–१५
(३५) पार्जिटर-एन्शन्ट इन्डियन हिटॉरिकल ट्रेडिशन्स पृ० ३०
(३६) वही, पृ० २५७ और आगे
(३७) वायु. अ. ८८
(३८) विष्णु. ४।५।३३–३४
(३९) वायु. ८५।२७; मत्स्य. ११।४०, १२।१९; ब्रह्माण्ड. ३।६०।२७
(४०) ऋग्वेद १०।९५
(४१) पार्जिटर–एन्शन्ट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० २९५–२९६
(४२) वही
(४३) वही, पृ० ८५–८८, ४१
(४४) पुरूरवस्-ऋग्वेद १०।९५; गाधि—ऋग्वेद १९–२२; विश्वामित्र-ऋग्वेद ३।१–२, २४–३७, ३९–५३, ५७–६२; गृत्समद—ऋग्वेद ९।८६।४६–४८; प्रतर्दन—ऋग्वेद ९।९६; ययाति—ऋग्वेद ९।१०१।४–६
(४५) वायु० ९१।९।५०
(४६) कालेद्वारा सम्पादित (१९२२) विक्रमोर्वशीय, भूमिका
(४७) ऋग्वेद १०।९५
(४८) वायु. ९१।५१–५२
(४९) वही, ९३।१६–१७
(५०) वही, अ. ९४
(५१) विष्णु. ४।२०–२४
(५२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ४६७
(५३) अङ्गुत्तर. १।२१२
(५४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० १७५
(५५) वही, पृ० १९८–२१९
(५६) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आवृत्ति) पृ० ३२–४०

(५७) वही, पृ० ४१–४५
(५८) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ३४९, ३५८–६०
(५९) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आव्रृत्ति) पृ० ५२–८२
(६०) वही, पृ० १५३, २५१–५६
(६१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ४७३
(६२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आव्रृत्ति) पृ० १२६–१४२
(६३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि० १, पृ० ४७४ और आगे
(६४) वही, पृ० ५०२; स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आव्रृत्ति) पृ० १९३,
(६५) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आव्रृत्ति), पृ० २६३–२९२
(६६) वही, पृ० २७२–२७३
(६७) वही, पृ० २८१–२८६
(६८) वही, पृ० २८२
(६९) वही, पृ० २८८
(७०) वही, पृ० ३०१–३०६
(७१) वही, पृ० ३०६–३१६
(७२) जर्नल एशियाटिक, १९२३, पृ० २०१–२०६; जर्नल ऑफ दी बिहार एन्ड उरीसा रिसर्च सोसायटी, जि. १४, पृ० २५१; वासुदेव उपाध्याय—गुप्तसाम्राज्यका इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ७६–८२
(७३) दांडेकर—हिस्ट्री ऑफ दी गुप्ताज़, पृ० १९३–२०२
(७४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आव्रृत्ति), पृ० ३२२–३२६
(७५) फ्लीट—इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ दी अरली गुप्त किंग्स, पृ० ६–१०
(७६) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आव्रृत्ति), पृ० ३४८–३६६

(७७) वही, पृ० ३५५; वैटर्स-ऑन यूएनच्वेङ्गस ट्रैव्हल्स इन इंडिया; बील-बुद्धिस्ट रेकॉर्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, भा. २
(७८) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २२०-२२३
(७९) ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८
(८०) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २२०-२२३
(८१) इन्डियन एन्टिक्केरी, १९१९, पृ० ७७ और आगे
(८२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ४४० और आगे
(८३) वही, पृ० ४४३-४४७
(८४) वही, पृ० ४५१-४५२
(८५) वही, पृ० ४६९-४७८, ४८०-४९०
(८६) वही, पृ० ४२२-३१
(८७) भारतीयविद्या (अंग्रेजी), जि. २, भा. १, नवम्बर १९४०, पृ० १५ और आगे
(८८) कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० ३५२
(८९) वही, पृ० ३६१ और आगे, ४१७-४१८, ४३१, ४३२
(९०) वही, पृ० ३६०-३६१
(९१) भारतीयविद्या (अंग्रेजी) जि. २, भा. १, नवम्बर, १९४०, पृ० ११
(९२) कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० ४२८-४३२
(९३) वही, पृ० ५८३

अध्याय ३

संस्कृति

(१) आप्टे—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (तृतीय आवृत्ति), पृ० ९४२
(२) कोल—सोशियल थियरी, पृ० २०१-०९

(३) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट सिव्हिलिज़ेशन, पृ० १३०–३३
(४) ऑस्कर ब्राउन—ऑउटलाइन ऑफ दी हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० ९०
(५) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट सिव्हिलिज़ेशन, अ० ४, १८, १९
(६) एच. जी. वेल्स, बर्नर्ड शॉ, टेगोर आदि विश्वविख्यात विचारकों के साहित्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार आधुनिक युग से असन्तुष्ट हैं।
(७) पातञ्जल योगसूत्र—साधनापाद, सू० २८
(८) यजुर्वेद ३६।२४
(९) मनुस्मृति ४।२०४; योगसूत्र, साधनापाद, सू. ३०,३२
(१०) योगसूत्र, साधनापाद, सू. २४; मनुस्मृति ६।७१; नारायणस्वामी—कर्तव्यदर्पण, पृ० १०४–११३
(११) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट सिव्हिलिज़ेशन पृ० ४०–४६ २४–३१, ११२–१८, २०८–१९
(१२) योगसूत्र १।२–४, ३०, २।१–८, २।५३–५४
(१३) ऋग्वेद ७।८९, १०।१२१
(१४) यजुर्वेद ४०।७
(१५) छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७
(१६) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट सिव्हिलिज़ेशन पृ० ३३९–४२
(१७) रवीन्द्रनाथ ठाकुर—गीताञ्जलि
(१८) मत्स्यपुराण १।४; वायुपुराण १।१५
(१९) मनुस्मृति ३।१, ६।१–५; मुण्डकोपनिषद् २।११
(२०) ईशोपनिषद् मं. ९
(२१) अथर्ववेद ११।५।१९
(२२) योगसूत्र २।२९: यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।
(२३) छान्दोग्योपनिषद् ८।७।१
(२४) ट्रायल एन्ड डेथ ऑफ सॉक्रेटीज़, पृ० १४६–४८

(२५) महाभारत, आदि. ६२।५३:
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥
(२६) मेकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४२१-२४
(२७) देखो लेखक की पुस्तिका "वेदों का महत्त्व"
(२८) यन्त्रवाद के इसी दोष के कारण आज जगत् के सामने बेकारी का मसला मुँह फाड़े खड़ा है।
(२९) उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध की व इस बीसवीं शताब्दि की राजनैतिक हलचल की जड़में औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम ही हैं।—देखो ए. जे. ग्रेन्ट—ए हिस्ट्री ऑफ यूरोप, भाग ३, पृ० ७०८-०९, ७६०-६२
(३०) अब यह बात इतिहास-सिद्ध है कि अरस्तू प्रभृति यूनानी दार्शनिकों पर भारतीय संस्कृति की छाप पड़ी थी। देखो मेकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२३
(३१) मध्यकालीन यूरोप की मठ-प्रथा के लिये प्रेरणा प्राचीन मिश्र से ली गई थी; व मिश्र पर बौद्ध धर्म की छाप पड़ी थी, यह भी इतिहास-विख्यात हो है।
(३२) मेकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२५-२७
(३३) वही, पृ० ४१७-२७

अध्याय ४

हिन्दू या आर्य?

(१) काशी-विश्वनाथ के मन्दिर के द्वार पर यह लेख अब भी खुदा हुआ है-"आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः"
(२) ऋग्वेद २।१२।१२
(३) वही, १०।७५; ३।३३।१-१२
(४) वही, ७।१८, ३३, ८३,
(५) मनुस्मृति २।१७-२२

(६) दिसकलकर—सेलेक्शन्स फ्रॉम संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स, प्रथम भाग, पृ० ५

(७) विष्णु पुराण २।३।१

(८) वायु पुराण ४५।६९

(९) विष्णु पुराण २।१।१८–२३

(१०) वही, २।१।४१

(११) वायु पुराण ४५।७५,७६

(१२) अ. १७, 'देशविभाग'

(१३) अथर्ववेद, १९।६२।१

(१४) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० १४०–१४१; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ३२४–२८, अवेस्ता, वेनिदाद १।१८

(१५) इस सम्बन्ध में प्रे मैक्समूलर (चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्क शॉप, जि. १, पृ० ८२–८३) कहते हैं—

"It is clear from his (Eugene Burnouf's) works and from Bopp's valuable remarks in his *Comparative Philology* that Zend in its Grammar and Dictionary is nearer to Sanskrit than any other European language; many Zend words can be retranslated into Sanskrit simply by changing the Zend letters into their corresponding forms in Sanskrit. It differs from Sanskrit principally in its sibilants, nasals and aspirates. The Sanskrit 'S' for instance is represented by the Zend 'H'."

(१६) इस सम्बन्ध में पञ्जाब के श्री. ज्ञानेन्द्रदेव सूफी ने जो कि अरबी के अच्छे विद्वान् है व आर्यसमाज के प्रचारक हैं, प्राचीन अरबी साहित्य की छान बीन की है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे इस मन्तव्य पर पहुँचे हैं कि मुहम्मद पैगम्बर के पूर्व भारतीय अरब

में जा बसे थे व प्राचीन अरबी साहित्य में उन्हें "हिन्दू" तथा उनके देश को "हिन्द" कहा गया है।

(१७) डॉ. ई. ए. शेवेनबेक द्वारा संकलित मेगाज़थीनीज़कृत "इन्डिका" के भग्नावशेष के अनुवादक अपने ग्रन्थ "एन्शन्ट इंडिया" की भूमिका में लिखते हैं—

"They (the Greeks) have known of its (India's) xistence as early as the heroic times; for we find rom Homer that they used even then articles of ndian merchandize which went among them by ames of Indian origin." (पृ० १)

"But India centinued to be to the Greeks little etter than a land of mystery and fable till the imes of the Persian Wars, when for the first time; hey became distinctly aware of its existence. The rst historian who speaks clearly of it is Hekataios f Miletus (*B. C.* 549-486)." (पृ० ३)

(१८) वैटर्स द्वारा अनुवादित 'ह्वेनत्वेङ् की भारत यात्रा"

(१९) चंद बरदाई—पृथ्वीराज रासौ

(२०) भूषण—शिवाबावनी

(२१) गुरुगोविन्दसिंह—विचित्र नाटक

अध्याय ५

आर्य लोग व उनका आदिम निवासस्थान

(१) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट सिव्हिलिजेशन, पृ० १८

(२) टैलर—दी ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स, पृ० २

(३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६६

(४) वही, पृ० ६३-६४

(५) वही, पृ० ६५
(६) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० ५-६
(७) वही, पृ० ६
(८) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६६-६७; चाईल्ड-दी आर्यन्स, पृ० ४-७
(९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६७
(१०) वही
(११) वही
(१२) गंगाप्रसाद उपाध्याय—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलिजन्स पृ० ९६-१०१; हॉग्ज़ एसेज़, पृ० ६९-७२
(१३) गंगाप्रसाद उपाध्याय—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन्स, पृ० ९७
(१४) वही, अ. १,२,४
(१५) वही, पृ० २५-२८
(१६) चाईल्ड—दी आर्यन्स, पृ० २३
(१७) सिनोबस—हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट सिव्हिलिज़ेशन, पृ० २०८-१९
(१८) वही, पृ० १००
(१९) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० १५९
(२०) मैक्समूलर—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ११-१६
(२१) स्मिथ—अरली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, चौथी आवृत्ति, पृ० २६३-६६
(२२) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० ९४
(२३) भारतीय अनुशीलन, विभाग १, पृ० ४३-५८
(२४) वही
(२५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया जि. १, पृ० ६७
(२६) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० २०-२४
(२७) वही, पृ० ७-८
(२८) वही, पृ० २६
(२९) वही, २६,२७
(३०) वही, पृ० १९२-१९३, २०४

(३१) पार्जिटर—एन्शेन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० २९५-३०२
(३२) वही, पृ० २९५
(३३) चाईल्ड—दी आर्यन्स, पृ० ३३
(३४) तिलक—आर्कटिक होम इन दी वेदाज़, पृ० १९
(३५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६६,६७
(३६) वही, पृ० ६८
(३७) वही, पृ० ६८,६९
(३८) वही, पृ० ६६-६९
(३९) चाईल्ड—दी आर्यन्स, पृ० १३८-१५८
(४०) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६६, ४९१;
(४१) चाईल्ड—दी आर्यन्स, पृ० १३८-१५८
(४२) वही, १८३-२०६
(४३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६९
(४३ अ) ऋग्वेद ९।६३।५
(४३ ब) वही, १०।६५।११
(४४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६५, ६६
(४५) चाईल्ड—दी आर्यन्स, पृ० ९५
(४६) टेलर—दी ओरिजिन ऑफ दी आर्यन्स, पृ० २
(४७) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६८, ६९
(४८) मनुस्मृति, २।१७-२२
(४९) सर जॉन मार्शल—मोहेन्जोदारो एन्ड दी इन्डज़ सिव्हिलिज़ेशन, अध्याय १६
(५०) मेके—फर्दर एक्सकेव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो, अ. ११
(५१) भारतीय अनुशीलन, विभाग १, पृ० ६५, ६६
(५२) सर जॉन मार्शल—मोहेन्जोदारो एन्ड दी इन्डज़ सिव्हिलिज़ेशन, अ. १, पृ० ५४
(५३) डॉ. हॉल—एन्शेन्ट हिस्ट्री ऑफ दी फार ईस्ट, (१९१२), पृ० १७३, १७४

(५४) भारतीय अनुशीलन, विभाग १, पृ० ६६
(५५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ९६
(५६) वही,
(५७) महाभारत, भीष्मपर्व, ११।२८; मत्स्यपुराण १२२।१-४७; वायु पुराण ४९।१३५
(५८) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, चौथी आवृत्ति, पृ० २८८, ३३७
(५९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ५३२

अध्याय ६

वेद

(१) मैक्समूलर—चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशॉप, जि. १, पृ० ४
(२) आप्टे—संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष, पृ० ८८७
(३) यास्क—निरुक्त १।२०
(४) स्वामी दयानंद—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ९-२६; विन्टरनीज़-हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जि. १, पृ० ५२-५३
(५) विन्टरनीज़—हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० ५२-५६
(६) आर्य्यसमाजी केवल मंत्रभाग को ही ईश्वरप्रणीत मानते हैं।
(७) विन्टरनीज़—हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० २९२-२९४
(८) इन्डियन एन्टिक्केरी (१८८४), पृ० २४५; ज़ेड. डी. एम. जी. जि. ५०, पृ० ७१; विन्टरनीज़-हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जि. १, पृ० २९४-२९९
(९) वही, पृ० ३००-३१०
(१०) वही, पृ० ३०७
(११) वही, पृ० ३०८; कलकत्ता रिव्यू, मार्च, १९२४, पृ० ५४
(१२) विन्टरनीज़—हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० ३०४, ३०५
(१३) वायु० १।२००-२०१

(१४) पार्जिटर—एन्शन्ट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० १९३–१९४
(१५) विष्णु० ४।१।५; मत्स्य० ११।४०, १२।१९, पद्म० ५।८–१२४
(१६) ऋग्वेद १०।९२
(१७) वायु० ८८।६७–६९; ब्रह्माण्ड० ३।६३।६९–७०
(१८) वायु० ८८।६५; हरिवंश० १२।७११
(१९) ऋग्वेद १०।१२४
(२०) वही, १०।९५
(२१) मत्स्य० ११।४०–१२।१९
(२२) वायु० ९१।६३–६५
(२३) वही, ९१।९२–९३
(२४) ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३।१८
(२५) वायु० ९३।७–११
(२६) वही, ९२।२–४
(२७) वही, ९९।३६–४६
(२८) ऋग्वेद १।१४७।३; १।१५८।१,४,६; १।१४०–१६४
(२९) विष्णु० ४।८।८
(३०) वायु० ९२।६०–६७; विष्णु० ४।८।५–७; ऋग्वेद ९।९६। १–२४
(३१) वायु० ९३।९०; मत्स्य० २४।५५–५६
(३२) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५४
(३३) ऋग्वेद ९।१०१।४–६
(३४) वही, ८।८३; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ८१–८२
(३५) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० ५२
(३६) वही, पृ० ५१–५२
(३७) वही, पृ० ४१–४२
(३८) ऋग्वेद १०।१२५
(३९) वही, १०।३९, १०।४०
(४०) वही, ८।९२
(४१) ग्रिस्वोल्ड—रिलीजन ऑफ दी ऋग्वेद, पृ० ८०–८६

(४२) ऋग्वेद ३।४६।२; १।१०।३-६; २।२७।१०
(४३) मैकडॉनेल—हीम्स फ्रॉम दी ऋग्वेद, पृ० १०-१५, अथर्ववेद ४।१६
(४४) ऋग्वेद १।१।१; १०।९०
(४५) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १७५-१७६
(४६) यजुर्वेद १७।२; १८।२४ २३।६२
(४७) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८५-१८६
(४८) अथर्ववेद ३।४।२; ७।१२।१-२; २।३१-३३

अध्याय ७

पारिवारिक जीवन

(१) सांख्य दर्शन में प्रकृति व पुरुष दोनों को मुख्य तत्त्व माना गया है व दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। किन्तु पुरुष प्रकृति के चक्कर में पड़कर युग्म-भावना को जन्म देता है व इस प्रकार संसार-चक्र चलता है। ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका, ६५: तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्। प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः पुरुषः ॥; वही, २०: तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥
(२) तैत्तिरीय उप. ब्रह्मानंदवल्ली, ६
(३) ऋग्वेद १०।१९।१-४; यजुर्वेद ३६।१८
(४) तैत्तिरीय संहिता ६।३।१०।५ जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः। प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ॥; मनु० ४।२५७; वही, ६।३५-३६
(५) मनु० ३।७०, ७३, ८०-८३,
(६) ऋग्वेद ३।३०।१-४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि. १, पृ० ८९-९०

(२४) गीता, ३।१४
(२५) मनु, ३।८४
(२६) वही, ३।९२
(२७) वही, ३।१०२—११३
(२८) वही, २।२६—३८
(२९) वही, २।४१—५७
(३०) वही, ३।४—२०,४।१
(३१) वही, ६।१—१०
(३२) वही, २।३९—४०
(३३) वही, ४।२०४
(३४) वही, १।८८—९१
(३५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ९०
(३६) ऋग्वेद, १०।१९१,१९२
(३७) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ८९,९१
(३८) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६०—१७०

अध्याय ८

प्राचीन शिक्षाप्रणाली

(१) अथर्ववेद ११।५।१९: ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । इन्द्रो ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

(२) हितोपदेश: धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते । अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म सदा वृथा ॥

(३) मनु. ६।८७—९१
(४) अथर्ववेद ११।५
(५) टिप्पणी सं. १
(६) मनु. २।२२४, व उस पर कुल्लूकभट्ट की टीका; वही ६।४२
(७) अथर्ववेद मनुस्मृति आदिमें वर्णित ब्रह्मचर्य्याश्रमसे स्पष्ट हो जाता

कि उसमें शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि शक्तियों पर पूरा ध्यान रखा जाता था।

(८) मनु. २।१९१

(९) छान्दोग्योप० ८।३।४

(१०) मनु. ६।३५,३६

(११) वही, २।३६–३९

(१२) वही, २।६९

(१३) छान्दोग्य उप. ३।१६; मनु. ३।१

(१४) मनु. २।१७५

(१५) वही,

(१६) ग्रैन्ट—हिस्ट्री ऑफ यूरोप, भाग ३,

(१७) मनु. २।१८३–१८८

(१८) वही, २।१८८

(१९) वही, २।१७७–१७९

(२०) वही, २।६४

(२१) अथर्व. ११।५।४–७

(२२) मनु. २।२१९

(२३) वही, ३।१–२

(२४) छान्दोग्योप. ७।१।२: ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।

(२५) मनु. ७।४३

(२६) पुणतांबेकर—इन्डियन सिटिज़नशिप, पृ० १६५–१६६,

(२७) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।२२।२; पारस्कर गृह्यसूत्र २।३; आपस्तम्ब मंत्रपाठ २।६।१४; मनु. २।४९–२४९

(२८) आप. ध. सू. १।१।१।१६–१८: स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः; गौतम. १।९–११ तद् द्वितीयं जन्म। तद्यस्मात्स आचार्यः। वेदानुवचनाच्च।

(२९) वही, मनु. २।१७२; अथर्व. १९।७१।१
(३०) पुणतांबेकर—इन्डियन सिटिजनशिप, पृ० २९८, महा. १२।२४३; तैत्तिरीय उप. शिक्षावल्ली, अनु. ११
(३१) २।२०: एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(३२) पुणतांबेकर—इन्डियन सिटिजनशिप, पृ० ३०५-३०६,
(३३) वही, पृ० ३०७-३०९
(३४) वही, पृ० २९८
(३५) वही, पृ० ३०५-३०६
(३६) वही,
(३७) वही, पृ० ३०६
(३८) वही, पृ० ३०७-३०९
(३९) वही
(४०) वही
(४१) वही
(४२) वही
(४३) वही
(४४) वही
(४५) वही
(४६) वही, पृ० ३०९-३१२
(४७) कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० ७१७
This, he (Macaulay) supposed would produce a class of persons. "*Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals, in intellect.*"

अध्याय ९

सामाजिक जीवन

(१) कोल—सोशियल थियरी, पृ० १-३
(२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ९०-११०

(३) ऋग्वेद २।१२।४: योऽदासं वर्णमधरं गुहाकः, १०।९०।१२: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत; यजु. २६।२; अथर्व० १९।६२।१
(४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, अ. ४
(५) ऐतरेय ब्राह्मण, ७।१३–१८
(६) वर्तमान काल के कितने ही प्रगतिशील देशोंमें सन्तानोत्पत्ति को शासन की ओर से पूरा प्रोत्साहन दिया जाता है।
(७) मनु. ६।३६
(८) आपटे—संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (तृतीय आवृत्ति) पृ० ३१०
(९) सांकलिया—यूनिव्हर्सिटी ऑफ नालंदा, पृ० ५३–६१
(१०) मनु. ६।३६
(११) ऋग्वेद ४।२२।३; अथर्व. ३।१५।५, पाणिनि–अष्टाध्यायी ३।३।१२०; मनु. १२।११७; गीता ११।११; तैत्तिरीय संहिता, ३।५।४।१
(१२) आपटे—संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (तृतीय आवृत्ति) पृ० ५०९,५१०
(१३) गीता ३।७
(१४) ऋग्वेद १०।९०
(१५) कोल—सोशियल थियरी, पृ० २०८–२०९
(१६) ऋग्वेद १०।९०।१२
(१७) मनु. ४।५
(१८) वही १।९३–१०१
(१९) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० १२४
(२०) मनु. १।८८
(२१) वही, १।८९
(२४) तुलसी—रामचरितमानस, बालकाण्ड, ३१८।३।४
(२५) टॉड—राजस्थान, जि. १, पृ० ८०,३४९
(२६) महा० १२।५९,१२५; रघुवंश ४।१२
(२७) विष्णु० १।१३।११–२९
(२८) मनु. ७।४१।९।६६–६७; रघुवंश ४।८६
(२९) वही १।९०

(३०) रहीस डेविड—बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० ९८-९९, टि० १
(३१) मनु. १।९१
(३२) मनु. २।१५५,१६८
(३३) महा० १२।२३।११-१२
(३४) मनु. १०।६५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२
(३५) मनु. १०।६५
(३६) वही, ७।३५
(३७) ब्रह्म०—अ. २२९
(३८) बन्यानकृत 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' में मानव-जीवन को एक यात्रा के रूप में समझाते हुए, विभिन्न विश्रामस्थलों की ओर निर्देश किया गया है।
(३९) यजु. ३६।२४
(४०) मनु ३।१,२
(४१) बृहदारण्यक० २।३।६,५।४।१,५।५।१
(४२) केनोपनिषद् १।४
(४३) इस बीसवीं शताब्दि को विज्ञान व संस्कृति का युग कहते हैं, किन्तु इसमें नृशंसतापूर्ण अत्याचार द्वारा कितना ही रक्तपात किया जाता है।
(४४) मनु. २।१७५-२४९
(४५) वही, २।१८६
(४६) वही, २।१८३-१८८
(४७) आजकल यज्ञोपवीत-संस्कार के समय "भवती भिक्षान्देहि" कहकर ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता है, तब उसकी मातादि अच्छे २ आभूषण उसे भिक्षामें देते हैं।
(४८) समद्दार—ग्लोरीज़ ऑफ मगध (दूसरी आवृत्ति), पृ० १३७-१३८
(४९) शतपथ ब्राह्मण, ११।३।३।५,७
(५०) इस सम्बन्धमें कृष्ण व सुदामा का उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है।
(५१) मनु. २।१४०-१४१
(५२) वही, ४।१

(५३) वही, ३।७७,७८
(५४) रघुवंश १।७
(५५) महा. १२।५६।४, १२।५९।२९-३१
(५६) यजु० ४०।१
(५७) बृहदारण्यको० १०।५।१: एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।
(५८) मनु० ६।१-६
(५९) वही, ६।१-३५

"एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥"

स्नातक द्विज इस प्रकार विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम में रहकर फिर शास्त्रोक्तविधि से इन्द्रियों को रोककर नियम से वन में वास करे।

"गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥"

जब गृहस्थी देख ले कि अपने शरीर का चमड़ा ढीला हुआ और केश पक गए और पुत्र के भी पुत्र हो गया तब वन का आश्रय ले।

"संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥"

गांव के आहार को और (शैय्या, वा सवारी आदि) सब ठाठ को त्यागकर स्त्री को पुत्रों के हाथ सौंप या स्त्री को साथ लेकर वन को जाय।

"मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥"

अनेक प्रकार के (नीवार आदि) मुनियों के शुद्ध अन्नों से या शाकमूलफल से इन्हीं (पांच) महायज्ञों को विधिपूर्वक करे।

"वसीत चर्म चीरं च सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥"

मृग आदि का चर्म या पुराना वस्त्र धारण करे, प्रातःकाल और सायंकाल स्नान करे, जटा डाढ़ी आदि के बालों को और नखों को सदा धारण करे॥

"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥"

नित्य स्वाध्याय में लगा रहे, सरदी गरमी आदि को सहे, सब का उपकार करे, मन को रोके रहे, सदा दान दे परन्तु प्रतिग्रह न ले और प्राणियों पर दया रक्खे।

"वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥"

वसन्त और शरदऋतु में उत्पन्न हुए पवित्र और आप ही लाये हुए, मुनियों के (नीवारादि) अन्नों से पुरोडाश और चरुओं को शास्त्रविधि से जुदा २ करे।

"स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥"

पृथ्वी और जल में उत्पन्न हुए शाक और पवित्र वृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्प, मूल, फल और फलों से निकले अर्क आदि का भक्षण करे।

"वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥"

शरद, मांस, भूमि में उत्पन्न हुए छत्राक, भूस्तृण, शिग्रु और बेहड़े के फलों को त्याग दे।

"अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥"

अग्नि से पके हुए अन्न का भोजन करे अथवा समय पर पके हुए फल आदि खाय, अथवा फलों को पत्थर से कूटकर या दांतों से चबा कर खाय।

"सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥"

एक ही दिन के लिये अथवा एक मास के लिये, अथवा छः महीने के लिये, अथवा एक वर्ष के निर्वाह के लिये नीवार आदि का संचय करे।

"पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥"

अथवा वानप्रस्थ द्विज समय पर पके हुए और अपने आप गिरे हुए केवल फलमूल से सदा जीवन निर्वाह करे।

"भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः॥"

भूमि पर लोटे या दिन भर एक चरण से खड़ा रहे, अथवा कभी आसन पर और कभी आसन से उठ कर अपना समय बितावे, और तीनों काल स्नान करे।

"ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥"

अपने तप को क्रम से बढ़ता हुआ वानप्रस्थ ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि में तप करे, वर्षाऋतु में वर्षा की जगह नग्न बैठा रहे और हेमन्तऋतु में गीले वस्त्र धारण करे।

"अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥"

सुख देने वाले विषयों में लिप्त होने का यत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, भूमि पर सोवे, निवासस्थान से ममता न करे और वृक्ष की जड़ में निवास करे।

"एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥"

वानप्रस्थ ब्राह्मण वन में बसकर इन पूर्वोक्त तथा अन्य सब नियमों का पालन करे और आत्मज्ञान की सिद्धि के लिये उपनिषद् आदि अनेक श्रुतियों का अभ्यास करे।

"वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्॥"

इस प्रकार आयु के तीसरे भाग को वनों में विहार करके और आयु के चतुर्थ भाग को विषयों से त्यागकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे।

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥"

ऋषि, देव और पितृ इन तीनों के ऋण चुकाकर मोक्षसाधन में मन लगाना

चाहिये, क्योंकि इनका ऋण बिना चुकाये मोक्ष के लिये यत्न करने से नरक प्राप्त होता है।

"अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥"

घर से निकल दण्ड कमण्डलु आदि पवित्र वस्तुओं से युक्त होकर सब इच्छाओं के नष्ट होने पर निरपेक्ष वृत्ति से परिव्राजक बने।

"एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥"

सिद्धि के लिये किसी की भी सहायता की अपेक्षा न करते हुए अकेला ही विचरण करे। अकेले को न तो सिद्धि छोड़ सकती है और न वह उसे छोड़ सकता है।

"अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥"

लौकिक अग्नि के संयोग से रहित व गृहशून्य होकर अन्न के लिये ग्राम का आश्रय ले व उपेक्षावृत्ति व स्थिरमति धारणकर एकमात्र मुनिभाव में ही ध्यान रखे।

"कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥"

कपाल (मिट्टीका खपरा) वृक्षमूल फटे पुराने वस्त्र किसी की सहायता को स्वीकार न करना सब में समता का भाव ये ही मुक्त के लक्षण हैं।

"नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥"

न मृत्यु चाहे न जीवन। अपने काल की प्रतीक्षा करे जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है।

"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥"

अच्छीतरह देखकर भूमि पर पैर रखे कपड़े से छानकर पानी को पिये सत्य से परिशुद्ध वाणी को बोले मन द्वारा पवित्र किये हुए आचरणों को करे।

"अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥"

दूसरों की व्यर्थ की बकवाद को सहन करे किसी का अपमान न करे। इस देह का आश्रय लेकर किसी से वैर न करे।

"क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥"

क्रोध करने वाले पर क्रोध न करे, किसी के द्वारा अपनी निन्दा किये जाने पर निन्दक के लिये अच्छे भाव व्यक्त करे। शरीर के सात द्वारों में अवकीर्ण ऐसी अनृत वाणी को न बोले।

"अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥"

अध्यात्मरति प्राप्तकर निरपेक्ष वृत्ति से योगासनस्थ होकर मांसभक्षण का त्याग कर, अपने आत्मा की सहायता से सुख की इच्छा करता हुआ, इस लोक में विचरण करे।

"क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥"

केश, नख, डाढ़ी आदि कटवा कर, भिक्षा-पात्र दण्ड व कमण्डलु लेकर इन्द्रियों का दमन कर सर्व भूतों को पीड़ा न पहुँचाते हुए विचरण करे।

"अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥"

सुवर्ण आदि के उसके पात्र न हो व उनमें कोई छिद्र भी न हो । यज्ञ के चमसों के समान, उनकी शुद्धि भी जल से कही गई है।

"एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥"

एकबार ही भैक्षचर्य्या करे तिस पर भी अधिक भिक्षा ग्रहण न करे। भैक्ष्य में प्रसक्त होने वाला यति विषयों में भी प्रसक्त हो जाता है।

"अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥"

अल्प-भोजन व एकान्त सेवन से विषयों द्वारा आकर्षित की जाने वाली इन्द्रियों का नियन्त्रण करे।

"इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥"

इन्द्रिय-निरोध रागद्वेषक्षय व भूतों के प्रति अहिंसा से अमृतत्व को प्राप्त होता है।

(६०) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० ३०
(६१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १ पृ० ३५८-३५९
(६२) मनु. ६।९५,९६
(६३) वही, ६।४१ और आगे
(६४) देखो टिप्पणी ५५
(६५) आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।२।२।४
(६६) मत्स्य०-३०।१७-२२
(६७) मनु. १०।११; याज्ञ० आचार० ९३-९५
(६८) मनु. ३।२०-३४
(६९) वही, ९।१५८-१६०,१६६-१७८
(७०) वही, ९।५९-६३
(७१) ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३-१८
(७२) यजु. २६।२
(७३) ग्रिस्वोल्ड—रिलीजन ऑफ दी ऋग्वेद पृ० ३६ और आगे; ऋग्वेद १।१०२।५, ३।३२।१४, ६।३३।३, ६।२२।१०, ७।८३।१; वैदिक इन्डैक्स, पृ० २६५
(७४) मनु. १०।४३४
(७५) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० ३३७
(७६) वही, पृ० २२५
(७७) वही
(७८) मनु. २।६: वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(७९) मनु. २।१२,१३
(८०) अनंतदेव—स्मृतिकौस्तुभ, पृ० ४७०-४८०

अध्याय १०

स्पृश्यास्पृश्यविचार

(१) इस दिशा में महर्षि दयानंद, महात्मा गांधी प्रभृति के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं ।

(२) कुण्ठित मनोवृत्तिवाले ब्राह्मण व उनके अनुयायी ऐसे प्रयत्नों का तीव्र विरोध करते हैं । इन्हीं लोगों ने इसी उद्देश की पूर्ति के लिये कुछ वर्ष पूर्व "वर्णाश्रम स्वराज्यसंघ" नाम की एक संस्था स्थापित की थी ।

(३) इस दिशा में पण्डित कालूराम, अखिलानंद आदि ने बहुत कुछ लिखा है ।

(४) ऋग्वेद १०।९०।११

(५) मनु. १०।४

(६) यजु. ३०।७

(७) मक्रिन्डल—एन्शन्ट इन्डिया एज डिसक्राईब्ड बाय मेगास्थीनीज़ एन्ड एरियन, पृ० ३८–४१

(८) अथर्व० १९।६२।१

(९) यजु. २६।२

(१०) वही ३०।२१

(११) ऋग्वेद १०।३०–३४

(१२) वही, १।११६–१२५

(१३) वही, १०।३९–४०

(१४) शतपथ ब्रा० ५।४।६।९

(१५) तैत्तिरीय सं० १।८।९।१–२; तैत्तिरीय ब्रा० १।७।३; शतपथ ब्रा० ५।३।१

(१६) मनु. १।३१

(१७) मन्वादि में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को जो पद दिया गया है उससे मालूम होता है कि पहिले ऐसे विवाह समाज में

प्रचलित थे, किन्तु धीरे धीरे बुरे समझे जाने लगे। मनु. १०।११; याज्ञ०, आचार०, ९३-९५

(१८) मनु. ३।१२, १३, ४३, ४४; याज्ञ० व्यव० १२५
(१९) ऐतरेय ब्राह्मण, २।१९; कौषीतकी ब्राह्मण १२।३
(२०) पद्मपुराण ५।१६।१३०-१३२, १८४-१८५
(२१) महा० १।१००।९९,१।१०।११
(२२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १२५
(२३) दण्डी—दशकुमारचरित
(२४) मनु. ३।१२, १३, ४३, ४४; याज्ञ० आचार० ९३-९५
(२५) काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरैचर, जि. २, भा. १, पृ० ४५१
(२६) बौधायनधर्मसूत्र, १।८।६-८; १।९।३
(२७) गौतमधर्मसूत्र ३।३।२३
(२८) बौधायनधर्मसूत्र २।२।१०
(२९) वशिष्ठधर्मसूत्र (अशौचप्रकरण)
(३०) मनु. ३।१२, १३, ४३, ४४
(३१) वही ९।१४९-१५८
(३२) याज्ञ०, व्यव०, १२५
(३३) मनु. १०।११
(३४) याज्ञ० आचार०, ९३-९५
(३५) जस्टिस शाह व आशुतोष मुकर्जी ने अनुलोम विवाहों को कानूनी करार दिया था। काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरैचर, जि. २, भा. १, पृ० ४५२, टि० १०६५
(३६) मनु. १०।११
(३७) आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।१।३।४
(३८) गौतम २।४१
(३९) बौधायन धर्म. १।२।१८-१९
(४०) आङ्गिरस. १२०-१२१
(४१) आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२।२।४
(४२) याज्ञ०, आचार०, १६६

(४३) साचू—अलबेरूनीज़ इन्डिया, जि. १, अ. ९
(४४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १ पृ० १२५, १३१
(४५) तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।४।८
(४६) गौतमधर्मसूत्र २।१, ५।४
(४७) महा०, शान्ति, ५०।४०
(४८) वही, अनु०
(४९) काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरैचर, जि. २, भा. १, पृ० १५८–१५९
(५०) वही
(५१) लघु विष्णु. १५०
(५२) काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरैचर, जि. २, भा. १, पृ० १५८–१५९
(५३) वही
(५४) कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार महाराष्ट्र में केवल दो ही वर्णों का विकास हुआ था ब्राह्मण व शूद्र। इस प्रकार संत तुकाराम को शूद्रवर्ण में रखा जाता है।
(५५) रैदास तो चमार थे ही, यह तो सर्वमान्य है।
(५६) कबीर यथार्थ में किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, किन्तु माता द्वारा नवजात शिशु के त्यागे जाने पर एक वृद्ध जुलाहा दम्पतीने उसका पालन पोषण किया। इस प्रकार भारत को कबीर प्राप्त हुआ।
(५७) मनु. १०।१२०–१२५, १।९१
(५८) गौतमस्मृति १०।१६
(५९) विष्णुस्मृति २।१४
(६०) मनु. १।९१, १०।२०
(६१) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आवृत्ति), पृ० १२३
(६२) वही, पृ० ३१४
(६३) अत्रि. १९९
(६४) यम. ३३
(६५) उशनस, ३१–३२

(६६) अङ्गिरस. पृ० ५५

(६७) याज्ञवल्क्य, ३।२६५, मिताक्षरा टीका

(६८) अत्रि. २४९: देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च । उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥

(६९) मनु. १०।१२५-१२६ व १०।११७

(७०) वही ९।४१७

(७१) महा० अनु. १६५।१०; काणे-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरैचर, जि. २, भा. १, पृ० १६१.१६४

अध्याय ११

समाज में स्त्रियों का स्थान

(१) सांख्य-दर्शन के अनुसार पुरुष लंगड़ा है व प्रकृति के सहारे बिना कुछ नहीं कर सकता । ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका, २१: पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।

(२) मुसलमान आदि में जो पड़दा-प्रथा है, उससे स्त्री-जाति की बड़ी हानि होती है ।

(३) पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंधी में अन्धे स्त्रियों के प्रति यही भाव धारण करते हैं ।

(४) धनलोलुप व विषयासक्त लोग स्त्रियों के प्रति ऐसा ही भाव धारण करते हैं ।

(५) शत. ब्रा. ५।२।१।१०: अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति ।; वही ८।७।२।३; तै. सं. ६।१।८।५; महा. आ. ७४।४०: अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥ मनु.; ३।५६-५८

(६) मनु. ३।५६–६२. शाकुन्तल ४।१८; महा० शां. १४४।६६: न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥

(७) रघुवंश ८।६७: गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

(८) आप. ध. सू. २।६।१३।१६–१७: जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु।; महा० आ. ७४।४०: भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

(९) आश्व. गृ. सू. १।७।३–६ और आगे

(१०) वही, १

(११) ऋग्वेद १०।८५; आश्व., १।७।३–२२

(१२) आश्व. १।७।१९: अथैनामपराजितायां दिशि सप्त पदान्यभ्युत्क्रामयतीष एकपद्यूर्जे द्विपदी रायस्पोषाय त्रिपदी मायोभव्याय चतुष्पदी प्रजाभ्यः पञ्चपदृतुभ्यः षट्पदी सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव। पुत्रान्विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टय इति।

(१३) आश्व. १।७।७: परिणीय परिणीयाश्मानमारोहयति। इममश्मानमारोहाश्मैव त्वं स्थिरा भव ॥

(१४) वही, १।७।२१: ध्रुवमरुन्धतीं सप्तऋषीनिति दृष्ट्वा।

(१५) कुमारसंभव ५।३९: प्रयुक्त सत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हति। यतः सतां सन्नतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।

(१६) ऋ. १०।८५।३६; अथर्व. १४।१।५०; आश्व. गृ. सू. १।७।३

(१७) वही,

(१८) तैत्तिरीय ब्रा. २।२।५।५–६; ऋ. १०।८५।३६, अथर्व० १४।१।५०; ऋ. १०।८५।३९–४२. यजु. ११७१; अथर्व० १४।१।४७–४८

(१९) 'सिव्हिल मैरेज' में ऐसा ही होता है।

(२०) इस्लामी कानून में ऐसा ही विधान है।

(२१) मनु. ३।५५–६२

(२२) उत्तररामचरित (रत्नम् ऐय्यर द्वारा सम्पादित), पृ० ५६

(२३) रघुवंश ८।६७

(२४) कुमारसंभव ४।३३

(२५) विश्ववाराात्रेयी (ऋ. ५-२८); घोषा काक्षीवती (ऋ. १०।३९-४०), अपालात्रेयी (ऋ. ८।८०।९१) आदि मन्त्रदृष्ट्रियें थीं।
(२६) अथर्व० ११।२४।१८ ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
(२७) बृहदा० ३।६, ३।८; मनु. ६।३
(२८) अष्टाध्यायी ४।३।३२२, पातञ्जलभाष्य
(२९) मनु. २।१४१
(३०) ३।५।१८
(३१) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।५
(३२) मनु. ३।४-११
(३३) टि. २५,
(३४) महा. शां. ३२१; पातञ्जल. ४।१।१४०
(३५) वेंकटेश्वर—इन्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज, जि. १ (१९२८), पृ० २९३; वालावलकर-हिन्दु सोशियल इन्स्टिटयूशन्स, पृ० १३७
(३६) वही
(३७) स्वयंवरप्रथा, गांधर्वविवाह आदि के उल्लेख से पति चुनने की स्वतन्त्रता का पता लगता है।
(३८) सावित्री-सत्यवान् की कथा से यह बात भलीभाँति समझ में आजायगी।
(३९) महा० आ० ९५।६५, १२५।२९, विराटपर्व २३।८; विष्णु पु. ५।३८।२
(४०) कुमारसंभव ४।३३
(४१) महाभारत की यह कथा सुप्रसिद्ध ही है कि अभिमन्यु जब अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में था, तब एक बार अर्जुन ने व्यूहभेदन का वर्णन सुभद्रा के मनोरञ्जन के लिये किया था, किन्तु वह अपूर्ण ही रहा था।
(४२) मनु. ५।१३९, ११।१५२; लाईट ऑफ ट्रुथ, पृ० ७१, टिप्पणी; स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्।
(४३) तैत्तिरीय उपनिषद् ७।१३।१-४
(४४) पातञ्जलमहाभाष्य (निर्णयसागर, १९३५), पृ० ३२१

(४५) इस सम्बन्ध में देवासुर-संग्राम के अवसर पर कैकेयी का युद्धक्षेत्र में वीरतापूर्वक दशरथ के प्राण बचाना उल्लेखनीय है।

(४६) कुमारसंभव ५।६–२९

(४७) बौद्ध धर्म के विकास में भिक्षुनियों का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था

(४८) इस सम्बन्ध में हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री का अपनी पति की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठना उल्लेखनीय हैं।

(४९) ऋ. १०।८५।४१: रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।; वही मं. ४२: इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।

(५०) मनु. ९।५९–६४

(५१) ब्रह्माण्ड पु. ७४।७१–७२

(५२) महा० आदि. अ. १२३–१२४

(५३) मनु. ९।१७६

(५४) वही ९।१७५

अध्याय १२

आर्थिक विकास

(१) कितने ही वैदेशिक विद्वानों का मत है कि भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति, जैसा कि धर्म व दर्शन से स्पष्ट होता है, निराशात्मक है। इस सम्बन्ध में देखो मैकडॉनेल–इन्डियाज़ फर्स्ट; ग्रिस्वोल्ड–रिलीजन ऑफ दी ऋग्वेद; रेगोज़िन-वैदिक इन्डिया आदि।

(२) रहीस डेविड्स-बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० २३९–२४७; वही लेखक–डायलॉग्ज़ ऑफ दी बुद्ध, पृ० २२६–२३२

(३) वर्गचतुष्टय या त्रिवर्ग में अर्थ का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है।

(४) महा. १२।५६।४, १२।५९।२९–३१

(५) ऋग्वेद १०।९०

(६) आप्टे—संस्कृत-इंग्लिश कोश

(७) वही

(८) ऋग्वेद ५।३२।१०, ५।४२।१३, १०।४।३, ५।५८।७, ८।१८।६, ७।४०।४
(९) भारतीय अनुशीलन, वि. १, पृ० ६५,६६
(१०) बसु—इन्डो आर्यन पॉलिटी, पृ० ७७–८१
(११) ऋग्वेद १।३२, २।१२, ७।८३,
(१२) वही ५।५९।३; यजु. ३।६
(१३) ब्रह्माण्ड. ६४।१५–१६: उद्भिन्ना कर्षता येन सीता राज्ञा यशस्विनी ॥ रामस्य महिषी साध्वी सुव्रतानि यतव्रता ।
(१४) मैकडॉनेल—हीम्स फ्रॉम दी ऋग्वेद, पृ० ४३–४७
(१५) बसु—इन्डो–आर्यन पॉलिटी, पृ० ८२–८५
(१६) वही, पृ० ८६
(१७) ऋग्वेद १।२३।१५, १।१७६।२
(१८) वही, १०।६२।११
(१९) प्राचीन भारतीय साहित्य में कितने ही स्थलों पर कृषि का उल्लेख किया गया है ।
(२०) ऋग्वेद १।१६४।२७,४०, ४।१।६, ५।८३।८, ८।६९।२१, १०।८७।१६; निरुक्त ११।४३: अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नी इति वा ।
(२१) ऋग्वेद १।१५४।६: ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥
(२२) रामायण, महाभारत, पुराण आदि में वशिष्ठादि की कथा के प्रसङ्ग में कामधेनुका सुन्दर विवेचन किया है । मत्स्य. २७९; लिङ्ग २।३५
(२३) कालिदास—रघुवंश २।१: अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् । वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥; वही, ३।१३
(२४) वही, स. २
(२५) भागवतकार ने कृष्ण की बाललीला का वर्णन करते समय गायमय वातावरण को अच्छा चित्रित किया है ।
(२६) इस मुहूर्त में होने वाले विवाह बहुत अच्छे समझे जाते हैं ।

(२७) याज्ञ. १।२०६-२०७; विष्णु ध. सू. ८८।१-४, महा० वन. २००। ६९-७१
(२८) ऋग्वेद ५।६।७
(२९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया जि. १ पृ० ९-९८,
(३०) बसु—इन्डो-आर्यन पॉलिटी, पृ० ४१-४३
(३१) वही, पृ० ९५-९६
(३२) यजु० ३०।१७, २०
(३३) भारतीय अनुशीलन, वि. १, सिन्धुसंस्कृति पर कीथ का लेख, पृ० ६५ और आगे
(३४) ऋग्वेद, ६।२८।६, ७।४।९, ८।३४।६
(३५) वही, १।४३।५, ३।३४।९, ४।१०।६, ४।१७।११, १।११७।५, ६।४७।२३, ८।७८।९
(३६) वही, १।१६६।४, ९।७१।४, १०।७३।१०
(३७) यजु० ३०।६-७, ११, १७, २०
(३८) मनु. १।९०
(३९) जातक २।२६७, ४।४८८, ६।२९, १।५५, ३५०, ३।४०६; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २१४-२१६
(४०) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ९७-९८
(४१) ऋग्वेद १।५६।२, १।४८।३, १।२५।७, १।११६।३, २।४८।३, ७।८८।३-४
(४२) वही, १।११६।३
(४३) वही १०।१०८।३
(४४) वही, ६।५३।७-८
(४५) मुंशी—गुर्जरदेश, जि. १, पृ० ५९-६१, ८७
(४६) सिनोबस—एन्शन्ट सिव्हिलिजेशन, पृ० ८०-८४
(४७) वही, पृ० ७६-७९
(४८) ऑस्कर ब्राउन—ए जनरल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० १५९-१६३
(४९) र्‍हीस डेविड्स—बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० ९८
(५०) जातक, ४।१५

(५१) वही १।१२२, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० १२२
(५२) जातक २।१२८, नं. १९६
(५३) जातक २।१२८, ५।७५
(५४) रहीस डेव्हिड्स-बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १०२-१०५,
(५५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २११; जातक १।४०४, २।१८१, ४।३५०
(५६) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २११; जातक २।२-९४
(५७) र्‌हीस डेव्हिड्स-बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० ९९
(५८) वही, पृ० १०२
(५९) वही, पृ० १०३-१०४
(६०) रॉलिन्सन—इन्डिया एन्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० १२२
(६१) वही
(६२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २१२-१३
(६३) वही, पृ० २१४-२१६
(६४) वही
(६५) र्‌हीस डेव्हिड्स—बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १९०
(६६) वही, पृ० १०१
(६७) जातक १।१२१, ६।५२१; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २१७-२१८
(६८) र्‌हीस डेविड्स—पृ० १०३-१०५
(६९) रॉलिन्सन—इन्डिया एन्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० १०३; जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी, (१९०४), पृ० २०० और आगे।
(७०) कनिङ्घम—एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया; भारतीयविद्या (अंग्रेजी). जि. २, भा. १, पृ० ९७
(७१) रॉलिन्सन—इन्डिया एन्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ९६-९९
(७२) वही, पृ० ९९
(७३) वही, पृ० २-३,
(७४) रॉलिन्सन—इन्डिया एन्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ३

(७५) वही, पृ० ३-४,
(७६) वही, पृ० ९३,९४
(७७) वही, पृ० १०२-१०३
(७८) वाल्मीकि—रामायण, किष्किन्धा०, ४०।२५
(७९) वही, ४०।२३; राधाकुमुद मुकर्जी-इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ५५, टि० २
(८०) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ५६, टि० १
(८१) वही, पृ० ५६
(८२) वाल्मीकि—रामायण, अयोध्या०, ८४।७८
(८३) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ५७
(८४) महा० सभा. ३१।६५-६८
(८५) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ५८
(८६) वही
(८७) वही
(८८) वही
(८९) वही, पृ० ५८-५९
(९०) बौधायन धर्मसूत्र २।२।२, १।२।४
(९१) वही १।१८।१४
(९२) गौतम धर्मसूत्र १०।३३
(९३) मनु. ८।४०४-४०६
(९४) वही, ३।१५८, ४।४०८-४०९
(९५) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ६२
(९६) वही, याज्ञवल्क्य स्मृति ४।८
(९७) वराहमिहिर—बृहत्संहिता, ४।८
(९८) वही, ७।६
(९९) वही १०।१०
(१००) वही, ४४।१२
(१०१) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ६३-६४
(१०२) वही, पृ० ६४
(१०३) रघुवंश ४।३६ पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
(१०४) राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिङ्ग, पृ० ६५

(१०५) वही
(१०६) वही, पृ० ६५,६६
(१०७) वही, पृ० ६६
(१०८) वही,
(१०९) सोमदेव—कथासरित्सागर ९।१,२,४,६
(११०) राधाकुमुद मुकर्जी-इन्डियन शिपिङ्ग पृ० ६७
(१११) वही, पृ० ६८
(११२) वही, पृ० ७३
(११३) वही
(११४) जातक ३, नं. ३३९ (कैम्ब्रिज प्रति)
(११५) जातक ४।१३८–१४२, ६।३२–३५, नं. ५३९, ६।१५–१७, नं. ४४२, ३।१८८, नं. ३६०
(११६) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३०७,३०८
(११७) बसु—इन्डो–आर्यन पॉलिटी, पृ० ११७
(११८) वही, ११५–११७
(११९) ऋग्वेद २।३।६
(१२०) वही, ६।९।२,३; १०।७१।९; ६।९।२; १०।१३०।२; ७।९९।३; १०।२६।६
(१२१) यजु० ३०।६–७, ११, १७, २०
(१२२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० १९८–२१९
(१२३) वही, पृ० २०५, २०८
(१२४) र्‌हीस डेविड्स—बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० ९६–९७
(१२५) वही
(१२६) वही
(१२७) वही
(१२८) मनु ७।४३: त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः ॥
(१२९) कौटिलीय अर्थशास्त्र (शामशास्त्री द्वारा अनुवादित), पृ० ५–६, १३–१४

अध्याय १३

राजनैतिक विकास

(१) ऋग्वेद १०।१७८; अथर्व० ६।८७-८८

(२) ऋग्वेद १०।७१।१०; अथर्व० ७।१२; यजु० १६।२८, १६।२४

(३) अथर्व० ६।८८।३, ५।१९।१५

(४) वही, ३।५।६-७

(५) वही, ३।४।२

(६) वही, ४।८।४, ३।३।५, ३।४।६

(७) कौटिल्य—अर्थशास्त्र (शामशास्त्री द्वारा अनुवादित), पृ० ५-६, १३-१४

(८) महाभारत, शान्तिपर्व्व, अ. ५९, ६८, ६९, ७१ इत्यादि

(९) आपस्तम्ब, आश्वलायन आदि धर्मगृह्यादि सूत्रों के राजधर्मप्रकरण के अध्ययन से यह बात समझ में आजायगी। आप. ध. सू. २।५।१०। १४; आश्व. गृ. सू. ३।१२।१६

(१०) मनु ७।१: राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृप. । संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥

(११) सिनोबस—एन्शन्ट सिव्हिलिजेशन, पृ० १३३-१३४; ऑस्कर बाउनिङ्ग—जनरल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० ७८, १०८-११०

(१२) लीकॉक—पोलिटिकल साइन्स, अ. १

(१३) ऐतरेय ब्राह्मण १।१४

(१४) मनु. ७।३

(१५) वही ७।२०; महाभारत, शान्तिपर्व्व

(१६) जातक १।३९९

(१७) शुक्रनीति १।७१

(१८) कामन्दक नीतिसार १।१०

(१९) लॉक—ऑन सिव्हिल गव्हर्नमेन्ट, C, VIII: "Men being by nature all free, equal and independent, no one can be put out of this state and subjected to the political power of

onther without his own consent. The only way whereby any one diverts himself of his natural liberty, and puts on the bonds of civil society is by agreeing with other men to join and unite into a community."

(२०) लीकॉक—पोलिटिकल थियरीज़

(२१) ऑस्कर ब्राडनिङ्ग—जनरल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० ६४६–६५७

(२२) महाभारत, शान्तिपर्व्व, ६६

(२३) अर्थशास्त्र १।१४: मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः।; प्लेटो—लॉज़, ७१३

(२४) लीकॉक—पोलिटिकल थियरीज़

(२५) ग्रिसवोल्ड—दी रिलीजन ऑफ दी ऋग्वेद, पृ० ३,४

(२६) सर हेनरी मेन के मतानुसार रूस में सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दि में दो सौ या तीन सौ परिवार ऐसे थे जिनका सञ्चालन गृहपति द्वारा होता था।

(२७) अथर्व० ८।१०।१–३: विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ सोदक्रामत् सा गार्हपत्येन्यक्रामत् ॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ सोदक्रामत् सा मन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥

(२८) होमरनिर्मित साहित्य के अध्ययन से यह मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है।

(२९) ऐतरेय ब्राह्मण ८।१३

(३०) जायस्वाल—हिन्दु पॉलिटी, भाग २, पृ० ७–१३

(३१) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आवृत्ति), पृ० १२१–१५८, ३१८–३४५, ३४८–३७३,

(३२) जायस्वाल—हिन्दुपॉलिटी, भाग १, पृ० ९१–९२

(३३) अङ्गुत्तरनिकाय ३।७६; अशोक के चट्टान पर खुदे हुए चौदह धर्मादेश, गिरनार आदेश सं. ५, शाहबाज़गढ़ी, आदेश सं. १३

(३४) जायस्वाल—हिंदुपॉलिटी, भाग १, पृ० ९५

(३५) वही, पृ० ९५,९६

(३६) वही, पृ० ९६,९७

(३७) महाभारत, सभा० अ. ३१, उद्योग० १६५

(३८) फ्लीट—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, एपेन्डिक्स ४

(३९) आयारङ्गसुत्तम् (जेकोबी द्वारा सम्पादित), २।३।१।१०; जायस्वाल—हिन्दुपॉलिटी, भाग १, पृ० ९७–१००

(४०) अथर्व० ३।४।२; आयरङ्गसुत्तम् २।१।२।२; जायस्वाल—हिन्दुपॉलिटी, भाग १, पृ० १००

(४१) यजु. १५।१३

(४२) शुक्रनीति, १।१४–१५ और आगे

(४३) ब्रह्माण्ड. मध्य. भा. ६९।२३; इन्डियन एन्टिक्वेरी १८।११३, ४१।२०२–२०३; एपिग्रेफिया इन्डिका ११।५४–५५

(४४) ऐतरेय ब्राह्मण ४।१९; रघुवंश ५।८६; आश्वलायन श्रौतसूत्र १०।६–१०; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५।१७–२७

(४५) एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जि. ११, पृ० १०

(४६) महाभारत, शांति० ५९।१२५ : रञ्जिताः प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्यते ।

(४७) बौधायन धर्मसूत्र, ९।१०।१; मनु ७।३,१३–२१; वाल्मीकि—रामायण, अयोध्या० ६७।३१; नारद० १७।४८; एपिग्रेफिया इंडिका, जि. ४, पृ० २४८

(४८) टि. ४६

(४९) दीघनिकाय, अग्गञ्ञ सुत्तन्त, २१, जि. ३, पृ० ९३; महावस्तु (सेनर्ट द्वारा सम्पादित), जि. २, पृ० ७०

(५०) शतपथ ब्राह्मण ५।१५।१४

(५१) ऐतरेय ब्राह्मण ८।२।६

(५२) महाभारत, शांति. ५९
(५३) मनु. ७।८
(५४) शुक्रनीति
(५५) नारदस्मृति
(५६) महाभारत, अनुशासन. ६१।३२,३३
(५७) कालिदास, भवभूति आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में प्रसङ्गवशात् इस मन्तव्य को अच्छी तरह से समझाया है।
(५८) उक्त साहित्य में कितने ही स्थलों पर प्राचीन राजाओं का तथा उनके वंशों का उल्लेख आता है जिससे प्राचीन इतिहास पर कितना ही प्रकाश पड़ता है।
(५९) ये राजवंशावलियें विशेषतः सूर्य व चंद्रवंशों से सम्बन्धित हैं और उनके आलोचनात्मक अध्ययन से प्राचीन भारत के कितने ही ऐतिहासिक युगों पर प्रकाश पड़ सकता है। इस सम्बन्ध में देखो पार्जिटर कृत 'एन्शन्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन्स'।
(६०) ऋग्वेद १०।१७३; अथर्व० ६।८७–८८; अथर्व० ३।४।७
(६१) अथर्व० ६।८८।३, ५।१९।१५; ऋग्वेद ९।९२।६
(६२) कैम्ब्रिज ऑफ हिस्ट्री इन्डिया, जि. १, पृ० ९६
(६३) टि० ६०,६१
(६४) अथर्व० ७।१२।१–२: सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु। विद्म ते समे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु स वाचसः॥; १२।१।५६: ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥
(६५) ऋग्वेद ९।९२।६: परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समितीरियानः। सोमः पुनानः कलशाँ अयासीत्सीदन्मृगो न महिषो वनेषु॥
(६६) वही १०।१९१।३: समानो मन्त्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

(६७) अथर्व० ३।४।२: त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः । वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥
(६८) अथर्व० ३।५।७
(६९) वही, ३।३।६, ३।४, १।९
(७०) शतपथ ब्राह्मण, ५।३।५।२; तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।१०।१-६
(७१) पाली साहित्य के अनुसार साधारण बात में भी राजा को जनता की अनुमति लेनी पड़ती थी ।—दीघनिकाय-कूटदंतसुत्त, १२
(७२) महावंश ४।५-६
(७३) वाल्मीकि—रामायण, १४।५२,
(७४) वही, ६७।२, ११।३३
(७५) महाभारत, उद्योग० १४९।२१-२५
(७६) वही, आदि० ८५।३२ : पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा । अभ्यषिञ्चत्ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥
(७७) एपिग्रेफिया इंडिका, जि. ८, पृ० ४३ : सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन ।
(७८) वही, जि. ४, पृ० २४८
(७९) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, (चौथी आवृत्ति), पृ० ४९७
(८०) अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से चीनी यात्री के कथन को पुष्टि नहीं मिलती ।
(८१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ९६
(८२) जायस्वाल—हिन्दू पॉलिटी, भा. २, पृ० १८४-१८७
(८३) मनु. ७।३९१,४४२
(८४) कल्हण—राजतरंगिणी (स्टाइन द्वारा अनुवादित), ५।१०।१२८-२२७
(८५) मनु. ७।४४-४६
(८६) वही ८।३८
(८७) वही ७।४३
(८८) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २१९, टि. १

(८९) कल्हण—राजतरङ्गिणी
(९०) अर्थशास्त्र १।१-४
(९१) वही,
(९२) वही १।१६
(९३) महाभारत, शांति. ६९।६४,६५
(९४) वही, ६९।६६-६८
(९५) वही, और आगे
(९६) रामायण २।१००।३६, अर्थशास्त्र १।१२।८ पृ० २१-२२
(९७) महाभारत, शां. ६९।७२ और आगे.
(९८) अर्थशास्त्र १।१२।८, ५।२।९१
(९९) तैत्तिरीय ब्रा. १।७।८
(१००) पञ्चविंश ब्राह्मण
(१०१) अर्थशास्त्र १।५, १।६
(१०२) मनु ७।५८-६०
(१०३) बौद्ध साहित्य में यत्र तत्र इसका उल्लेख है।
(१०४) फ्लीट—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, नासिकलेख सं. ३,४, रुद्रदामन् का गिरनार स्थित शिलालेख आदि।
(१०५) ऋग्वेद १०।१०७।५
(१०६) रमेशचन्द्र मजुमदार—कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शन्ट इन्डिया, अ. २
(१०७) मनु. ७।११५-११६; विष्णु स्मृति ३।७,११
(१०८) डॉ. अल्टेकर ने अपनी पुस्तक "व्हिलेज कम्युनीटिज इन एन्शन्ट इन्डिया" में ऐसे साहित्यिक उल्लेखों पर अच्छा प्रकाश डाला है।
(१०९) रमेशचन्द्र मजुमदार—कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शन्ट इन्डिया, अ. २
(११०) वही
(१११) अर्थशास्त्र १।१।६
(११२) वही
(११३) वही,
(११४) वही

(११५) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १३३-१३६

(११६) मुकर्जी—लोकल गव्हर्नमेन्ट इन एन्शन्ट इन्डिया, अ. १—'पूगाः समूहा भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनामेकस्थानवासिनां यथा ग्रामनगरादयः; नाना जातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः; नाना जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः; एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणिः ।; मनु. ८।२२१; याज्ञ. १।३६१; विष्णु ३।२; नारद १०।२; वशिष्ठ १९।७

(११७) रमेशचंद्र मुजुमदार—कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शन्ट इन्डिया, अ. १

(११८) मनु. ८।१-२, ९-१२; याज्ञ. २।३०; नारद १।३०७

(११९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ५१४; स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १७२,

(१२०) एपिग्रेफिया इन्डिका, १५।१४२; रमेशचन्द्र मजुमदार—दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ बेङ्गाल, पृ० १४-१५

(१२१) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३५४-३५५

(१२२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ८८-९३

(१२३) महा० शां. ८७

(१२४) अष्टाध्यायी ५।३।११४: आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्; काशिकावृत्ति पृ० ४५५-४५६: वाहीकेषु य आयुधजीविसंघस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद् ब्राह्मणराजन्यवर्जितात्स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्। राजन्ये तु सरूपग्रहणमेव…क्षौद्रक्यः। क्षौद्रक्यौ। क्षूद्रकाः। मालव्यः। मालव्यौ। मालवाः…॥; अष्टा. ४।१।१६८: जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्; कात्यायन—क्षत्रियादेकराजात्संघप्रतिषेधार्थम्।

(१२५) एरियन ६।४।६८

(१२६) महा० शां. ८१।१-२९

(१२७) कन्निङ्गम—कॉइन्स इन एन्शन्ट इन्डिया, पृ० ७०, प्लेट ४

(१२८) अवदान शतक (पेट्रोग्रेड १९०२) २।१०३: अथ मध्यदेशाद्वणिजो दक्षिणापथं गताः। तैः महाकप्फिणस्य प्राभृतमुपनीतम्। राज्ञा उक्तं भो वणिजः कस्तत्र राजेति। वणिजः कथयन्ति। देव केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीना इति।; जायस्वाल—हिन्दु पॉलिटी १।३१, टिप्पणी २.

(१२९) जातक ३।१५७; र्‍हीस डेव्हिड्स—बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० २२–२३

(१३०) जातक १।५०४

(१३१) अर्थशास्त्र (सामशास्त्री द्वारा सम्पादित), अ. ११, पृ० ३७६–३७९; जायस्वाल—हिन्दु पॉलिटी, भा. १, अ. ७

(१३२) मक्रिन्डल—इनव्हेज़न ऑफ इन्डिया बाय एलेक्ज़ेन्डर दी ग्रेट, पृ० ११५, टि., मक्रिन्डल—मेगाज़थीनीज़ एन्ड एरियन, १२, पृ० २१२

(१३३) एपिग्रेफिया इन्डिका, ८।४४

(१३४) फ्लीट—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ८

(१३५) वही, पृ० २५२

(१३६) कनिङ्घम—कॉइन्स ऑफ एन्शन्ट इन्डिया, पृ० ७०, प्ले. ४, पृ० ७७,८९, प्ले. ५–७; जायस्वाल–हिन्दु पॉलिटी. भा. १, पृ० ४०.

(१३७) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३०–३१

(१३८) जायस्वाल—हिन्दु पॉलिटी, भा. १, पृ० ८१–८२,८६–८७

(१३९) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३०–४०, २२२, ३०२,३२६

अध्याय १४

धर्म व दर्शन

(१) इस दृष्टिकोण का विवेचन इन ग्रन्थों में किया गया है—मैक्स-मूलर—इन्डिया एन्ड व्हॉट कैन इट टीच अस, इन्डियन फिलॉसफी; मैकडॉनेल—इन्डियाज़ पास्ट; मैकडॉनेल व कीथ—वैदिक इन्डैक्स ('धर्म' शब्द); हरबिलास शारदा—हिन्दु सुपिरियारिटी।

(२) यह परिभाषा वैशेषिकसूत्रकार कणादप्रणीत है। वैशेषिक सूत्र १।१।२
(३) मैक्समूलर—इन्डियन फिलॉसफी, पृ० १३७–१४७
(४) साधारणतया उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के विद्वानों का यह मत था, किन्तु अब ऐतिहासिक खोज के परिणामस्वरूप वैदिक काल की विकसित सभ्यता को इतिहास के विद्वान् मानने लगे हैं।
(५) कीथ—रिलीजन एन्ड फिलॉसफी ऑफ दी वेद, पृ० ५८–६५
(६) ऋग्वेद, १०।१२१, १।१६४।४६
(७) मैक्समूलर—इन्डियन फिलॉसफी, पृ० ५३
(८) ऋग्वेद, १।१६४।४६
(९) वही १।२३।५, १।२५।१–२
(१०) गीता, ३।१४: अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥; यजु. ३३।११
(११) ऋग्वेद १।१
(१२) तैत्तिरीय सं. ३।३।१।१: अग्ने तेजस्विन् तेजस्वी त्वं देवेषु भूयाः तेजस्वन्तं मामान्तं युष्मन्तं वर्चस्वमनुष्येषु कुरु।; यजु. ७।२८
(१३) कीथ—रिलीजन एन्ड फिलॉसफी ऑफ दी वेद, पृ० २०० और आगे
(१४) मनु. ४।२१–२८
(१५) ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, पुराणादि में कितने ही राजाओं द्वारा इन यज्ञों के किये जाने का उल्लेख है।
(१६) मैकडॉनेल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० २४४–२६२
(१७) वही, पृ० २०२–२१७
(१८) यजु. ७।४२: चित्रन्देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥
(१९) ई. पू. ७ वीं शताब्दि में यही हाल था, जिसके विरोधरूप से अहिंसा का प्रतिपादन करने वाले जैन, बौद्धादि सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।
(२०) श्री. रामकृष्ण भाण्डारकर ने शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों से

सम्बन्धित अपनी पुस्तक में भक्ति के विकास का सुन्दर विवेचन किया है।

(२१) ऋग्वेद १।९२, १।११३, १०।७१

(२२) वही, १।१५४

(२३) केनोपनिषत् १: ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

(२४) छान्दोग्योप० ६।८।७: स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति…… ।

(२५) यजु. ४०।७: यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(२६) ऋग्वेद १०।१९०: ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

(२७) वही १०।१२१

(२८) वही, १०।१२९

(२९) वही, १०।९०

(३०) अथर्ववेद १९।६७।६८: भवेम शरदः शतम् ॥ भूयेम शरदः शतम् ॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥

(३१) ऋग्वेद ६।६।१०, ९।४१।२, १०।८८।५

(३२) वही १।१५४।५,६: तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥

(३३) बृहदारण्यक उप. १।४।१०, छान्दोग्योप० ३।१४

(३४) बृहदारण्यक उप० १।१।२; छान्दोग्योप० १।१,१०, १।१२

(३५) बृहदारण्यक उप० १।३।२७

(३६) वही ८।९।१, ४।३।६, ४।३।२३; छान्दोग्योप० ३।१३।७, ८।१।३; मुण्ड० १।१

(३७) तैत्तिरीयोप० ३।१: यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥

(३८) बृहदारण्यक उप० २।५।१५ : स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाँ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एव आत्मानः समर्पिताः ॥

(३९) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. २. अ. ८

(४०) बृहदारण्यक उप. १।२।१४; छान्दोग्योप. ६।१०

(४१) ऐतरेयोप. १–२; तैत्तिरीयोप. २।१

(४२) ऐतरेय उप. ३।३; प्रश्नोप. ४।८; तैत्तिरीय उप. २।१

(४३) ऐतरेयोप. १–२; तैत्तिरीयोप. २।१

(४४) छान्दोग्य उप० ८।८।४–५

(४५) वही ३।१।६

(४६) छान्दोग्योप. ५।१०।७; बृहदारण्यकोप. ३।२।१३; ६।३।१६,

(४७) मैक्समुलर—इन्डियन फिलॉसफी; पृ० ३९३–३९५

(४८) बृहदारण्यक उप. ६।२।२; ४।४।३,४,६; छान्दोग्योप. ५।१०।२, प्रश्नोप. ३।२।४

(४९) चीन, पारस, यूनान आदि के इस काल के इतिहास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

(५०) दीघनिकाय १, मज्झिमनिकाय १, बम्हजालसुत्त

(५१) सर्वदर्शन संग्रह, अ. १; प्रबोधचन्द्रोदय नाटक अङ्क २;

(५२) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. १, अ. ५, हरिभद्रसूरि षड्-दर्शन समुच्चय (चौखम्भा सं. सिं. ९५), पृ० ७३–८०

(५३) मैक्समूलर—इन्डियन फिलॉसफी, पृ० २१–२८

(५४) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. १, अ. १

(५५) वही, अ. ६, विभाग ५

(५६) वही
(५७) वही
(५८) वही
(५९) हरिभद्रसूरि—षड्दर्शन समुच्चय (चौखम्भा सं. सि. ९५), पृ० २०: जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ । बन्धश्च निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ॥
(६०) वही, पृ० ५६: "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" इति ॥
(६१) श्रीमती स्टीवेन्सन—दी हार्ट ऑफ जैनिज़म, अ. १०
(६२) वही, अ. २
(६३) वही अ. १३
(६४) वही अ. १४
(६५) जहां जैनियों का प्रभुत्त्व रह चुका है, वहां आज भी मांसाहार-निषेध का प्राबल्य है। इस सम्बन्ध में पश्चिम भारत व दक्षिण भारत विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।
(६६) कर्न—ए मेन्युअल ऑफ इन्डियन बुद्धिज़्म, भा. ३
(६७) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी भा. १, अ. ७, वि. ९, १०
(६८) वही, अ. १, वि. १०
(६९) कर्न—ए मेन्युअल ऑफ इन्डियन बुद्धिज़्म, भा. २, ३,
(७०) वही, भा. ३, वि. ३
(७१) वही, भा. २
(७२) वही, भा. ४, वि. ५
(७३) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, १, वि. १९
(७४) वही, भा. २, अ. १०, १,
(७५) वही, वि. ४
(७६) वही
(७७) वही, वि. ६
(७८) कर्न—ए मेन्युअल ऑफ इन्डियन बुद्धिज़्म, भा. ५, वि. ८
(७९) वही

(८०) वही
(८१) वही
(८२) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. ३, अ. १ वि. ३
(८३) वही; अ. २, वि. १ बुद्ध्या यदुत्पन्नं तत्सर्वं न्यायमतम् ।
(८४) केशवमिश्र—तर्कभाषा (बनारस, १९२२), पृ० ५१–५२: आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः; वही, पृ० ५८: तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम् ॥
(८५) न्यायसूत्र १।१।९: आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।
(८६) न्यायभाष्य, ३।२।३४: एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वम् ।
(८७) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी भा. ३, अ. ३, वि. ४
(८८) वही
(८९) वही, वि. ६
(९०) वही
(९१) ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका, २२: प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥
(९२) वही, २४, २५
(९३) वही, ११
(९४) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. ३, अ. ४, वि. १९
(९५) वही, अ. ५, वि. १
(९६) पातञ्जल योगसूत्र १।२: योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।
(९७) वही, २।२९: यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥
(९८) वही, ४।३४: पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥
(९९) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा० ३, अ. ६, वि. १४

(१००) जैमिनि—मीमांसासूत्र १।१।२: चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥
(१०१) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. ३, अ. ७, वि. ४
(१०२) वही
(१०३) वही, वि. ५,६
(१०४) वही, अ. ९, वि. १,६; अ. १०, वि. ६,१५,१६
(१०५) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० २७७
(१०६) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० २९८–२९९
(१०७) श्रीमद्भागवत व अन्य बाद के पुराणों में भक्ति का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है।
(१०८) पुराणों के साम्प्रदायिक अंश में इन सब बातों का वर्णन है।
(१०९) मध्ययुगीन साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्रादि के आलोचनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।
(११०) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, भा. २, वि. ५
(१११) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २३८, टि. १३
(११२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३४७
(११३) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ४०८
(११४) फलीट—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स–समुद्रगुप्तादि के लेख
(११५) ब्रह्माण्डपुराण १।१९।९०।०
(११६) मैके—फर्दर एक्स्केव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो, जि. १, पृ० ३९९
(११७) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २८८
(११८) वही, ३३७
(११९) इस भक्ति-साहित्य का प्रभाव आज भी हिन्दू-जनता पर पर्य्याप्त मात्रा में है।
(१२०) इन सन्तों द्वारा बहाई गई भक्ति की धारा का प्रवाह आज भी कुछ कम नहीं हुआ है।

अध्याय १५

साहित्यिक विकास

(१) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० २७७–२८१

(२) मम्मट—काव्यप्रकाश (आनंदाश्रमप्रति पृ० ६) १।४: तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।

(३) वही पृ. ६: इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।

(४) विश्वनाथ—साहित्यदर्पण (काणे द्वारा सम्पादित, १९१०) १।३, पृ० ५: वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः । उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ।

(५) दण्डी—काव्यादर्श १।१०,११: तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः । शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ पद्यं गद्यं च चम्पू तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् । पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥

(६) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० १७७

(७) वही, पृ० २०२–२०३

(८) वही, पृ० २१८,२४१

(९) वही, पृ० २६९–२७०

(१०) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४५२–४६२

(११) वही, पृ० ४२७–४२९

(१२) वही, पृ० ४८–५०

(१३) वही, पृ० ७७–७९

(१४) दण्डी—काव्यादर्श १।२३: अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिकाकथे । इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥

(१५) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३७५–३८१

(१६) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १०३–१०५ पृ० १७३–१७५

(१७) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३१९–३२६

(१८) वही, पृ० ३१६–३१९

(१९) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४१७–४२०
(२०) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० २४६
(२१) वही, पृ० २५०
(२२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४१७
(२३) दण्डी—काव्यादर्श १।१४–२२:

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः ॥
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥
वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥

(२४) कीथ—संस्कृत लिटरैचर पृ० ४२–४५
(२५) वही, पृ० ४५
(२६) वही
(२७) वही, पृ० ५८
(२८) वही, पृ० ४८–५०

(२९) वही, पृ० ५०–५१
(३०) दिसकलकर–संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स, भा. १
(३१) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ७७–७९
(३२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३१९–३२१
(३३) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १४३ और आगे, हिलेब्रॉड—कालिदास (१९११); इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १, पृ० ३०९ और आगे
(३४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० १६७–१६८
(३५) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ८०–८१
(३६) रघुवंश १५।४१ः कवेराद्यस्य शासनात्
(३७) बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, कालिदास सम्बन्धी प्रकरण
(३८) रघुवंश स. ६; वही, श्लो. ६७ः संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा। नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥
(३९) वही, १३।५४–५७ः क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा । अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः । अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव । अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य । पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥
(४०) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३२८
(४१) कालिदास—कुमारसम्भव ५।४ः पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥, ५।९ः न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥; ५।१३ः पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् । लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥
(४२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३२९

(४३) वही
(४४) कीथ—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ० १२६–१२७
(४५) वही, पृ० १३९–१४३
(४६) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३३१
(४७) वही, पृ० ३३५–३३८
(४८) वही, पृ० ३३५–३३६
(४९) वही, पृ० ३३६
(५०) वही, पृ० ३३७
(५१) वही, पृ० ३३८
(५२) वही, पृ० ३३८–३३९
(५३) वही, पृ० ३३९
(५४) वही
(५५) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० १७७ और आगे
(५६) वही, पृ० १९०–१९८
(५७) वही, पृ० १७५–१८३
(५८) वही
(५९) भारतीय नाट्यशास्त्र १।२ और आगे; कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १२–१३
(६०) ऋग्वेद १०।९५
(६१) वही १०।१०
(६२) वही ३।३३
(६३) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० २८–३१
(६४) वही, पृ० २३–२४
(६५) पातञ्जल महाभाष्य, ३।२।१११; कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१–३६
(६६) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३६–४९
(६७) बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्यका इतिहास, भास से सम्बन्धित प्रकरण
(६८) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ९१–९३

(६९) वही, पृ० ९३–९५
(७०) वही, पृ० १०३
(७१) वही, पृ० १०९
(७२) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० १०१
(७३) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १५७–१६०
(७४) वही, पृ० १५६–१५७
(७५) वही पृ० १२८–१३१
(७६) वही, पृ० १३१–१४०
(७७) मृच्छकटिक, अङ्क ३
(७८) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १८६–१८७
(७९) वही, पृ० १८७–१८८
(८०) मालतीमाधव, अङ्क ६,
(८१) उत्तररामचरित, अङ्क २।३
(८२) वही
(८३) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० २४३–२४४
(८४) ऋग्वेद, १।९२, १।११३
(८५) भारतीय नाट्यशास्त्र, अ. २
(८६) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३७५–४००
(८७) काणे—साहित्यदर्पण (१९२३), भूमिका, पृ० २५ और आगे
(८८) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३८२–३८३
(८९) वही, पृ० ३८२
(९०) वही पृ० ३८३
(९१) वही, पृ० ३७५
(९२) वही, पृ० ३८२–३८३
(९३) वही
(९४) वही
(९५) उद्भट—काव्यालङ्कारसंग्रह
(९६) रुद्रट—काव्यालंकार

(९७) वामन—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (कुलकरणी द्वारा सम्पादित) १।२।६, पृ० ४
(९८) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० २९६–२९९
(९९) दण्डी—काव्यादर्श, १।४०: अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥
(१००) बाणभट्ट—कादम्बरी, हर्षचरित
(१०१) दण्डी—काव्यादर्श १।१०
(१०२) वही, १।४१,४२: श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य्य सुकुमारता। अर्थ-व्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौड़वर्त्मनि ॥
(१०३) वामन—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।२।७: विशिष्टा पदरचना रीतिः।
(१०४) वही, ३।१।१: काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
(१०५) वही, ३।१।४: ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिसौकुमार्योदारतार्थ-व्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ॥
(१०६) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३८४–३८५
(१०७) अग्निपुराण ३४०।१: वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा। पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥
(१०८) एस. के. डे—संस्कृत पोएटिक्स, जि. २
(१०९) वही
(११०) वही
(१११) दण्डी—काव्यादर्श २।२७५,२८१–२८३: प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥
(११२) भोज—कविकण्ठाभरण
(११३) भामह—काव्यालङ्कार
(११४) वही,
(११५) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१६; एकावली ३।८६
(११६) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१६
(११७) वही

(११८) वही
(११९) वही, पृ० ३१७–३१८
(१२०) वही, पृ० ३१८
(१२१) वही, पृ० ३१८–३१९
(१२२) वही
(१२३) एस. के. डे—संस्कृत पोएटिक्स, जि. २, ध्वनि का प्रकरण; कीथ—संस्कृत ड्रामा पृ० ३१८
(१२४) वही
(१२५) ध्वन्यालोक १।१
(१२६) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३८७
(१२७) वही
(१२८) वही, और आगे
(१२९) मम्मट—काव्यप्रकाश, १।४
(१३०) ध्वन्यालोकः ध्वनिरात्मा काव्यस्य ।
(१३१) मम्मट—काव्यप्रकाश, १।५ः अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् । शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम् ॥
(१३२) एस. के. डे—संस्कृत पोएटिक्स, जि. २
(१३३) मम्मट—काव्यप्रकाश, २।७ः सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।
(१३४) मम्मट ने विभिन्न विचारसरणियों में सामञ्जस्य स्थापित करने के हेतु से एक नयी विचारसरणी उपस्थित की जिसको भावी आलङ्कारिकों ने अपना लिया ।
(१३५) धनञ्जय—दशरूपक, १।७ः अवस्थानुकृतिर्नाट्यं, रूपं दृश्यतयोच्यते । रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ॥
(१३६) वही, १।८ः नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः । व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥; वही १।९ और आगे
(१३७) वही, १।१९ः अवस्था पञ्च कार्य्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः । आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥
(१३८) वही, २।६३–६६

(१३९) वही ४।१: विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

(१४०) मम्मट—काव्यप्रकाश, ४।२९: शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

(१४१) पाणिनि—अष्टाध्यायी, ४।३।११० और आगे

(१४२) दण्डी—काव्यादर्श १।३१: मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः । गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते ॥

अध्याय १६

गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि

(१) शि. द. ज्ञानी—वेदों का महत्त्व

(२) मैक्समूलर, मैकडॉनेल, दत्त प्रभृति विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इसका अच्छा विवेचन किया है ।

(३) छान्दोग्योप. ७।१।१–४; महाभारत शांति. २०१, इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जि. ५, १९२९, पृ० ४७९–५१२; बी. बी. दत्त का लेख—'दी स्कोप एन्ड डेव्हेलपमेन्ट ऑफ हिन्दु गणित' ।

(४) यजुर्वेद १७।२: इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश-च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्च······॥

(५) वही १८।२५

(६) शतपथ ब्राह्मण में अन्य स्थलों पर भी अङ्कगणना का उल्लेख है । शतपथ ब्रा. ३।३।१।१३; १०।२।१।११; १३।४।१।१६

(७) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२४

(८) कायें—इन्डियन मैथमेटिक्स (१९१५)

(९) एनसायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जि. १७, पृ० ६२६

(१०) कायें—इन्डियन मैथमेटिक्स; गो. ब. माकोड़े–भारतीयांची गणित-शास्त्रांतील प्रगति, पृ० ५–९

(११) अलबरुनी—तह्कीकाते हिंद (साचू द्वारा सम्पादित)

(१२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२४: "What is quite certain is that our present decimal system, in its complete form with the Zero, which enables us to do without the ruled columns of the abacus, is of Indian origin. From the Indians, it passed to the Arabians, probably along with the astronomical tables brought to Baghdad by an Indian ambarsador in 773 A.D. At all events the system was explained in Arabic in the early part of the 9th century by the famous Abu Jafar Mohammad at Kharizmi and from that time continued to spread, at first slowly, through the Arabian word."

"In Europe the complete system with the zero was derived from the Arabs in the 12th century, and the arithmetic based on this system was known my the name of algoritmus, algorithum. This barbarous word is nothing more than a transcription of Al-Kharizmi, as was conjectured by Reinand, and has become plain since the publication of a unique Cambridge MS., containing a Latin translation—perhaps by Adelhard of Bath—of the lost arithmetical treatise of the mathematician. The arithmetical methods of Kharizmi were simplified by later Eastern writers, and these simpler methods were introduced to Europe by Leonardo of Pisa in the West and Maximus Planudes in the east. The term zero appears to come from the Arabic Sifr through the form zephyro used by Leonardo."

(१३) प्रफुल्लचन्द्र रॉय के मतानुसार व्यासभाष्य के पहिले से यह गणना-विधि भारतीयों को ज्ञात थी । प्रे. चं. रॉय हिन्दू कैमिस्ट्री जि. २, पृ० ११७

(१४) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३ पृ० ३६१–३७१; रमेशचंद्र दत्त—एन्शन्ट इन्डिया ५।२४३–२४४; हरबिलास शारदा–हिन्दु सुपिरियॉरिटी, पृ० २७२

(१५) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३७१–३७४
(१६) अन्य लेखों में भी इस विधि का अनुसरण किया गया है।
(१७) उक्त ग्रन्थ का समय कदाचित् तीसरी सदी से पूर्व भी हो सकता है।
(१८) एनसायक्लोपिडिया ब्रिटेनिका, जि. १७, पृ० ६२६
(१९) टिप्पणी १४, १५
(२०) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर पृ० ४२४–४२५; दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३८४–३९४
(२१) ऋग्वेद १०।१३२।३: कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।
(२२) टिप्पणी २०
(२३) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३८४–३९४
(२४) वही
(२५) विभूतिभूषण दत्त—दी ओरिजिन ऑफ हिन्दु इन्डिटरमिनेट एनेलिसिस, जि. १२ पृ० ४०१–४०७; दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३ पृ० ३८९–३९४
(२६) बौधायन शुल्वसूत्र १।४८, १।४५; आपस्तम्ब शुल्वसूत्र १।४।५; कात्यायन शुल्वसूत्र २।११,१२, २।८,९; बौधायन श्रौतसूत्र १०।१९,१९।१, शतपथ ब्राह्मण १०।२।३।७–१४; दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३८४–३८६
(२७) वही
(२८) वही
(२९) बौधायन शुल्वसूत्र १।६१–६२; आपस्तम्ब शुल्वसूत्र १।६; कात्यायन शुल्वसूत्र २।१३; आर्यभट की आर्यभटीय, नीलकण्ठ की टीका।
(३०) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३८९–३९४
(३१) वही,
(३२) वही
(३३) वही

(३४) वही, पृ० ३६१-३७७
(३५) गौ. ही. ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
(३६) टि. ३०
(३७) टि. ३४
(३८) मिल—इन्डिया, जि. २, पृ० १५०; हरबिलास शारदा-हिन्दु सुपिरीयॉरिटी, पृ० २७३
(३९) वही
(४०) वराहमिहिर—पौलिशसिद्धान्त
(४१) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३८९-३९४
(४२) टि. २५
(४३) इसके अतिरिक्त ज्योतिषसम्बन्धी और भी कितनी ही बातें वैदिक आर्यों को ज्ञात थी। दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि० ३, पृ० ३४१-३४९
(४४) शतपथ ब्राह्मण २।२।१।२७
(४५) तैत्तिरीय संहिता ४।४।१०; तैत्तिरीय ब्रा. १।५।१; दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४२-३४३
(४६) यह कदाचित् आलंकारिक वर्णन हो। कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४१
(४७) शतपथ ब्राह्मण १।६।४।५ और आगे
(४८) वही
(४९) ऋग्वेद ४।३३-३७; ऐतरेय ब्रा. ३।३०।२; कीथ-रिलीजन एन्ड फिलॉसफी ऑफ दी वेद, पृ० १७६-१७८
(५०) ऋग्वेद १०।८५; दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४२
(५१) किन्तु वैदिककाल में आर्यों को दिनरात सम्बन्धी शास्त्रीय ज्ञान था, इसके कितने ही प्रमाण मिलते हैं।
(५२) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४६-३४८
(५३) लगध—वेदाङ्ग ज्योतिष (याजुषज्योतिष) २८-२९,

(५४) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४८–३४९; महाभारत ९।३७।१४–२७, १२।५९।१११ में वृद्धगर्ग का उल्लेख
(५५) बृहत्संहिता ३।४ पर भट्टोत्पल की टीका
(५६) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२५–४२६
(५७) वराहमिहिर—पञ्चसिद्धान्तिका, १।४; दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३४९–३६१
(५८) वराहमिहिर—पञ्चसिद्धान्तिका, २।२–६, १८।१–६०
(५९) आर्यभट्टीय—"कालक्रिया," १७–१९; ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, १४।१०–१२, भास्कर २, गोलाध्याय, ५।७।१०–३२; दी कल्यरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३६१–३७१
(६०) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२५–४२६
(६१) वही,
(६२) अलबरुनी—तहकीकाते हिन्द (साचू द्वारा सम्पादित)
(६३) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२५–४२६
(६४) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ३५३–३५४
(६५) वराहमिहिर—पञ्चसिद्धान्तिका, १।४
(६६) गर्गाचार्य—गार्गी संहिता
(६७) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२५–४२६; वेबर—इन्डियन लिटरैचर, पृ० २५५
(६८) छि. द. ज्ञानी–वेदों का महत्त्व, पृ० १२–२०; ऋग्वेद १।५१।८; यजु. ७।४२; अथर्व. २।३१–३३
(६९) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉजिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज, अ. १, (प्रारंभिक प्रकरण)
(७०) वही
(७१) इन तत्त्वों की संख्या निश्चित नहीं है।
(७२) हेडले—एव्हरी डे फिजिक्स, (१९२४), पृ० ३२२: "Through nearly the whole of the nineteenth century it was thought that the small *atom* of any element was quite homogenenous, or uniform throughout. But though so extremely

small (a single row of fifty millions of hydrogen atoms would be only 1 centimetre long), recent experiments have proved that each atom consists of oue or more small particles of 'negative' elecricity rotating rapidly round a nucleus, or core, carrying a 'positive' charge of electricity–exactly like the planets moving in their orbits round the sun. These particles of negative elecricity called *electrons*, are vastly smaller than the atom itself, their diameter being perhaps 25000 times less than the diameter of the atom, so that the atom, though so small, consists largely of empty space."

(७३) आपटे—संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष

(७४) वही

(७५) यजुर्वेद ४०।७: यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(७६) ऋग्वेद १०।९०

(७७) ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका, ३; वाचस्पतिमिश्रसांख्यतत्त्वकौमुदी, (गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित), पृ० ७: प्रकरोति प्रकृतिः प्रधानम्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ।

(७८) ब्रजेन्द्रनाथसील—पॉज़िटिव्ह साइन्सेज़ ऑफ दी हिन्दूज़, अ. १

(७९) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, जि. २, पृ० १९४–२०३

(८०) यूनानी दार्शनिकों ने भी दार्शनिक ढङ्ग पर इस का विकास किया था ।

(८१) राधाकृष्णन्—इन्डियन फिलॉसफी, जि. २, पृ० १९६–१९९

(८२) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉज़िटिव्ह साइन्सेज़ ऑफ दी हिन्दूज़, अ. २, वि. १

(८३) वही,

(८४) वही, वि. २: 'वायुर्मेघादिप्रेरणाधारणादिसमर्थः'–प्रशस्तपाद; 'वायुनिरूपणमेघादीत्यादिपदेन यानपोतादिपरिग्रहस्तेषामपि वायुना प्रेर्यमाणत्वात् ।'–श्रीधर

(८५) वही—'मेघादीति आदिग्रहणात् वैहायसानां विमानादीनां भौमादीनां च यानपात्रपांशुपटलादीनां जलानलयोश्च परिग्रहः' । (उदयन–किरणावली, वायुनिरूपण)

(८६) ऋग्वेद १।५९।८, १।१०५।९ १।१५२
(८७) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, (बी. बी. दत्त का 'वैदिक गणितविद्या' पर लेख) पृ० ३८१:
(८८) हेडले—एव्हरी डे फिजिक्स, पृ० २५२
(८९) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉझिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज, अ. ३, वि. १
(९०) वही
(९१) वही, वि. २
(९२) वही, वि. ३
(९३) भारतीय नाट्यशास्त्र, अ. २८
(९४) अथर्व. ५।२३।१-७,
(९५) यजुर्वेद ३०।६-७,११,१७,२०
(९६) चरकसंहिता, शारीरस्थान, १।२७-३१:

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥
खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥
गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥

यजुर्वेद ७।४२; चि. द. ज्ञानी-वेदों का महत्त्व, पृ० १८-२०

(९७) सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, १४।७-९
(९८) वही, और आगे
(९९) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ४४७
(१००) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉझिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज—अ. १
(१०१) वही

(१०२) वही: "Early in the sixth century Varāhamihira in the Vṛhatsaṁhitā gives several preparations of cements or powders *Vajralepa* 'cement strong as the thunderbolt', and there was ample use for these in the temple architecture of the Buddhist period, the remains of which hear testimony to the adamentine strength of these metal or rock cements."

(१०३) वराहमिहिर—बृहत्संहिता, अ. ५६: प्रासादहर्म्यवलभीलिङ्गप्रतिमासु कुड्यकूपेषु । सन्तप्तो दातव्यो वर्षसहस्रायुतस्थायी ॥

(१०४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १७३, १७४

(१०५) वही, पृ० ११७–१२४

(१०६) वही, पृ० १७४

(१०७) अग्निपुराण, अ. २८२; वराहमिहिर-बृहत्संहिता, ३२।११२–११७; वही, खड्गलक्षण, ४९।२३–२६

(१०८) वराहमिहिर—बृहत्संहिता अ. १५,१६

(१०९) वही, अ. ७६

(११०) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉजिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज, अ. १:

"Varāhamihira gives various recipes for artificial imitation of natural flower-scents, as of the essence of बकुल, उत्पल, चम्पक, अतिमुक्तक etc., arranges compound scents in a sort of scale according to the proportions of certain ground essences used in their preparation, and determines by the mathematical calculus of combination (लोष्टकप्रसार) the number of variations of the different notes in this scale. To these classes of professional experts were due three of the great Indian discoveries in the chemical arts and manufactures which enabled India to command for more than a thousand years the market of the East as well as the West and secured to her an easy and universally recognised pre-eminence among the nations of the world in manufactures and exports: (1) the preparation of fast dyes for textile fabrics by the treatment of natural dyes like मंजिष्ठा with alumc (तुबरी मंजिष्ठा रागबन्धिनी) and other chemicals (e. g.

sulphete of iron) also cowdung (c. f. the "Cowdung substitute," Roscoe), (2) the extraction of the principle of indigotin from the indigo plant by a process which, however, crude is essentially an anticipation of modern chemical methods and (3) the tempering of steel in a manner worthy of advanced metallurgy, a process to which the mediæval world owed it Damascus swords. It was this applied chemistry more than handicraft skill which gave India her premier position in the Middle Ages and earlier (indeed from Pliny to Tavernier) in exports and manufactures; for in handicraft skill, as in design and workmanship, great as were her merits, India came to be surpassed by her disciples China and Japan."

(१११) वही,

(११२) वही

(११३) वही

(११४) वही

(११५) वही

(११६) वही

(११७) यजुर्वेद (७।४२) में ऐसा ही उल्लेख है।

(११८) इसी प्रकार यजुर्वेद (७।४२) में भी कहा गया है।

(११९) इस सम्बन्ध में 'फोटोसिन्थेथिस' (Photosynthesis) की क्रिया विशेष उल्लेखनीय है।

(१२०) चरक संहिता, सूत्रस्थान १।७१–७२: भौममौषधमुद्दिष्टमौद्भिदं तु चतुर्विधम्। वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥ फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि। ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥

(१२१) वही

(१२२) सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १।२९: तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, ओषधय इति। तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥

(१२३) वाजसनेयी सं. २२।२८; तैत्तिरीय सं. ७।३।१९।१, ७।३०।२०; ऋग्वेद १।३२।५; अथर्व० १०।७।३८; बृहदारण्यक अ. ४।६।१; महाभारत, शान्ति० २४; विष्णुपुराण ७।३७-३९; शुक्रनीति १।७६७; सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, पृ० १८९

(१२४) ब्रजेन्द्रनाथ—पॉजिटिव्ह साइन्सेस ऑफ दी हिन्दुज, अ. ४, वि. १:

"Udayana notices in plants the phenomena of life, death, sleep, waking, disease, drugging, transmission of specific characters by means of ova, movement towards what is favourable and away from what is unfavourable."

"वृक्षादयः प्रतिनियतभोक्त्रधिष्ठिता जीवनमरणस्वप्रजागरणरोगभेषजप्रयोगबीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादिभ्यः प्रसिद्धशरीरवत्" (उदयन-पृथिवीनिरूपण)

(१२५) ऋग्वेद २।१।१४, ८।४३।९; महाभारत, शांति.

उष्मते म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्य्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्य्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्व्वतश्चैव गच्छति ।
नह्यदृष्टुश्च मार्गोस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणात् छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥

(१२६) इसी प्रकार सुश्रुत ने भी चार विभाग किये हैं। सुश्रुत सं. सूत्रस्थान १।२२: तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञ... ।

(१२७) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉजिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज, अ. ५, वि. १
(१२८) वही; भविष्य पुराण, पञ्चम कल्प,
(१२९) ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉजिटिव्ह साइन्सेज ऑफ दी हिन्दूज, अ. ५, वि. १
(१३०) आपटे—संस्कृत-अंग्रेजी कोष
(१३१) आधुनिक विज्ञान की सहायतासे इस उक्ति की सत्यता समझा में आ सकती है।
(१३२) ऋग्वेद १।५७।३, १।१६३।९, ४।२।१७, ६।३।५, १४३।५, ३।३४।९, ४।१०।६, ४।१७।११, १।१२२।२
(१३३) ब्रह्माण्ड, पूर्वभाग, अ. ३-६, ८-११, १४
(१३४) ऋग्वेद ८।७१।२,५
(१३५) अथर्ववेद २।३१-३३
(१३६) जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—कीटाणुशास्त्र
(१३७) टि. १३५
(१३८) शतपथ ब्राह्मण १०।५।४।१२; १२।३।२।३ और आगे
(१३९) सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, १।६-७
(१४०) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १९२
(१४१) कीथ—संस्कृत लिटरैचर पृ० ५०९-५१०
(१४२) वही, पृ० ५०६-५०८
(१४३) वही
(१४४) सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान,
(१४५) महावग्ग ६।१-१४; मज्झिमनिकाय, १०१,१०५
(१४६) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ५०६
(१४७) सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, अ. ८
(१४८) वही, अ. २५; वही २५।१-२: अथातोऽष्टविधशस्त्रकर्मीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ ये आठ प्रकार के शल्य इस प्रकार हैं—छेद्य, भेद्य, लेख्य, वेध्य, एष्य, आहार्य, स्राव्य व सीव्य।

(१४९) वही, ७।३: यन्त्रशतमेकोत्तरम् । अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणाम-वगच्छ, (किं कारणं ? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव) तदधीन-त्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥

(१५०) वही, अ. ७

(१५१) वही, २५।२८

(१५२) वही, २५।११

(१५३) वही, २५।१२-१५

(१५४) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२७

(१५५) वही ४२६; जॉली—मेडिसिन, पृ० १७ और आगे; जी. एन. बैनर्जी—हैलेनिज़्म इन एन्शन्ट इन्डिया, पृ० २२० और आगे कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ५१३ और आगे

(१५६) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२६

(१५७) वही

(१५८) वही

(१५९) साचू—अलबरुनी

(१६०) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२७

अध्याय १७

विभिन्न कलाएँ

(१) ऋग्वेद, ११०३।३; २।२०।८; ३।१२।६, ४।३२।१०

(२) वही, ५।६।७

(३) वही ७।५४,५५

(४) वही, ६।२।८, ११२।११, १०।१४६।३, ११।१८, ११६।१९; ८।२२।३, ८।२६।१७

(५) वही, ७।१८।२२

(६) वही, ८।१०।१

(७) वही, ८।१०।१: यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः । यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना ॥

(८) मार्शल—मोहेन्जोदारो एन्ड दी इन्डज्ञ सिव्हिलिज़ेशन, पृ० १०२–१०७; मेके—फरदर एक्स्केव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो जि. १, पृ० ६–८

(९) अभी जो कुछ इस संस्कृति के बारे में ज्ञात हुआ है उससे तो यह पौराणिक काल की संस्कृति के समान मालूम होती है । यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिकादि काल-गणना की विधि पूर्णतया दोषपूर्ण है। इस संस्कृति को वैदिक काल की पहले की प्रमाणित करने के सम्बन्ध की कीथ आदि की युक्तिएँ पूर्णतया निःसार हैं।

(१०) मार्शल—मोहेन्जोदारो एन्ड दी इन्डज्ञ सिव्हिलिज़ेशन, अ. १६; मेके—फर्दर एक्केव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो, जि. १, अ. ७ (पृ. १६२–१७३)

(११) मेके—फर्दर एक्स्केव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो, जि. १, अ. ८ (पृ० १७४–२५६) अ. ९ (पृ० २५७–३१६), अ. १० (पृ० ३१७–३२४)

(१२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १४२–१४४

(१३) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक १, अ. १

(१४) वही

(१५) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६२७–६२९

(१६) वही, पृ० ६३३

(१७) वही, पृ० ६२४

(१८) वही, पृ० ६३५–६३८

(१९) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक १, अ. ५

(२०) वही: "The building resembles to a very great extent, an early Christian Church in its arrangement.

(२१) वही

(२२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १७७

(२३) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक १, अ. ५

(२४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २०१, २०२
(२५) वही, पृ० १७४
(२६) वही
(२७) वही, पृ० ३२३, ४४२–४४३
(२८) वही,
(२९) वही, पृ० ४४४–४४५, ४४७
(३०) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक १, अ. ५
(३१) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २१९, टि. १
(३२) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक १, अ. ५
(३३) जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक ऑफ लन्डन, १८९१, पृ० ४१८–४२१; स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३५८
(३४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० ३२९
(३५) स्मिथ—ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इन्डिया, एन्ड सिलोन, पृ० २०, ५९–६२, प्लेट २, १३, चित्र २८, २९; एन्युअल रिपोर्ट, आर्केयालॉजिकल सर्व्हे, १९०६–१९०७, पृ० ९८:

Sir J. H. Marshall speaks of the "extraordinary precision and accuracy which characterizes all Maurya Work, and which has never, we venture to say, been surpassed even by the finest workmanship on Athenian buildings."

(३६) वराहमिहिर—बृहत्संहिता, अ. ५६; ब्रजेन्द्रनाथ सील—पॉज़िटिव्ह साइन्सेज़ ऑफ दी हिन्दूज़, अ. १
(३७) फर्ग्युसन—इन्डियन एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, बुक २, अ. १–२; बुक ३, अ. १–२
(३८) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३२३
(३९) वही, पृ० ३१९–३२०
(४०) वही, पृ० ३२३

(४१) स्मिथ—ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इन्डिया एन्ड सीलोन, अ. १ (भूमिका)
(४२) वही
(४३) वही
(४४) वही
(४५) वही
(४६) वही
(४७) यजु. ३०।६–७, ११,१७,२०
(४८) मेके—फर्दर एक्स्केव्हेशन्स एट मोहेन्जोदारो, जि. १, अ. ८,९,१०
(४९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६१८–६४९
(५०) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६२०
(५१) वही, पृ० ६२४–६२६
(५२) वही, पृ० ६२०, ६२२
(५३) वही, पृ० ६२७ और आगे
(५४) वही, पृ० ६२६–६३०
(५५) वही, पृ० ६२६
(५६) ६३०–६३२
(५७) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० २३३, और आगे
(५८) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० ६४८,६४९
(५९) वही, ६२९–६३०
(६०) वही, ६४८, प्लेट ३४, (८९)
(६१) जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जि. २, पृ० ९४३–९४४
(६२) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६३३, ६४१
(६३) वही, पृ० ६३२ और आगे
(६४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० २७२
(६५) ग्राउज़—मथुरा (तृतीया आवृत्ति), पृ० ३९१

(६६) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६३३ और आगे
(६७) वही
(६८) वही
(६९) वही
(७०) वही
(७१) वही
(७२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३२३
(७३) वही, पृ० ३०७, टि.
(७४) स्मिथ—ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, हिन्दू पिरियड (गुप्तकाल)
(७५) वही
(७६) स्मिथ—ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इन्डिया एन्ड सिलोन, अ. ७,८
(७७) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० १–२४, २६, २७
(७८) वही, और पृ० २४–३६
(७९) वही
(८०) भवभूति—उत्तररामचरित, अङ्क १
(८१) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० १०
(८२) वही, पृ० ११
(८३) वही, पृ० २६ और आगे
(८४) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३२३ और आगे
(८५) वही
(८६) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० २८, २९
(८७) वही, पृ० १४ और आगे
(८८) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० १–४
(८९) वही, पृ० १: विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम् ।
(९०) वही, पृ० २
(९१) मानसोल्लास, अ. ३, प्र. १, पृ० १९५–२५८

(९२) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० २
(९३) वही, पृ० ३: पश्चाच्चित्रं विचित्रं च तस्यां भित्तौ लिखेद्बुधः । नाना-भावरसैर्युक्तं सुरेखं वर्णकोचितम् ॥ १५० (मानसोल्लास)
(९४) वही, पृ० ३
(९५) वही, पृ० ३–४
(९६) वही, पृ० ४
(९७) वही, पृ० ५; शिल्परत्न, चित्रलक्षण अध्यायः–जङ्गमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये । तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥
(९८) वही, पृ० ५–६: एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे । फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत् ॥
(९९) चित्रसूत्र ४२।७२–९०
(१००) वही, ४३।१७: चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप ।
(१०१) रामचन्द्रगणी—कुमारविहारशतक, श्लो. ९३: यत्रालेख्यसभासु चित्ररचना सौभाग्यसंपादना संरंभः फलमेति शिल्पकृतिनामेकत्र भित्तौ क्वचित् । सांमुख्यं भजतां पुनर्मणिशिलाव्यासङ्गरङ्गत्विषां बिम्बोल्लासवशेन चित्रघटना भित्त्यंतराणामपि ॥
(१०२) ना. च. मेहता—भारतीय चित्रकला, पृ० ११
(१०३) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५६६–५६८; भागवत ३।१२।३८
(१०४) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० १६९
(१०५) वही
(१०६) वही
(१०७) ऋग्वेद १०।९०
(१०८) वही
(१०९) यजुर्वेद ३०।६–७, ११,१७,२०
(११०) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० १७१ और आगे
(१११) कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५६६ और आगे
(११२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३०४–३०५
(११३) कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१

(११४) महाभारत, विराटपर्व
(११५) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति) पृ० ३०५, देखो समुद्रगुप्त का अलाहबादस्थित स्तम्भलेख ।
(११६) वही, पृ० ३०५
(११७) यह प्राचीन परिपाटी अपने विकृत रूप में आज भी वर्तमान है ।
(११८) कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५७४ और आगे ।
(११९) एम. आर. तैलङ्ग—ट्वेन्टीटू श्रुतिज ऑफ इन्डियन म्युजिक, पृ० ६-१६, और आगे
(१२०) वही
(१२१) वही
(१२२) वही
(१२३) हरबिलास शारदा—हिन्दु सुपिरीयॉरिटी, पृ० ३१९-३२१
(१२४) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५८४-५८५
(१२५) वही, पृ० ५८५
(१२६) ऋग्वेद १।९२।४, ६।२९।३
(१२७) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५८६
(१२८) यजु. ३०।२१
(१२९) दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५८६-५८७

अध्याय १८

शारीरिक विकास

(१) कुमारसंभव ५।३३: अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते । अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥
(२) मुण्डकोपनिषद् ३।२।४: नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो नाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

(३) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३०; कर्न—ए मेन्युअल ऑफ बुद्धिज़्म, वि, २

(४) ऋग्वेद ७।६६।१६, १।८९।८; यजुर्वेद ३६।२४

(५) प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्य नियमितरूप से व्यायाम करते थे क्योंकि साहित्य में किसी राजा या महान् व्यक्ति के वर्णन में 'व्यूढोरस्क,' 'वृषस्कन्ध,' 'गजगामी' आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं जो कि शारीरिक विकास के परिचायक हैं।

(६) छान्दोग्योपनिषद् ६।५

(७) वही

(८) गीता ६।१७: युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(९) अथर्ववेद २।३१–३३, ५।२३

(१०) मनु. ४।२५–२८

(११) वही, ४।२६

(१२) प्राचीन गृह्यादिसूत्र, स्मृत्यादि ग्रन्थों व अन्य साहित्य के पठन से ज्ञात होता है कि अन्त्येष्टि-संस्कार के समय अग्नि में सुगन्धित द्रव्य डाले जाते थे। यह प्रथा अपने विकृत रूप में उच्च वर्णीय हिन्दुओं में आज भी वर्तमान है । किन्तु घृतचन्दनादि नाममात्र को ही रहते हैं।

(१३) मनु. २।७५, ६।६९–७३

(१४) वही, ६।४६

(१५) किन्तु नदीके जल की शुद्धि का भी उल्लेख मनुजी ने किया है। मनु. ५।१०८

(१६) ऋग्वेद, १।३२, २।१२, ७।८३, ७।८८,

(१७) मनु. ४।२०३, ५।१०९

(१८) वही, २।५३–५७, ४।६२

(१९) छान्दोग्योपनिषद् ६।५–६; चरकसंहिता, सूत्रस्थान, २८।४

(२०) मनु. ११।१५२, १५४–१५६, १५९, १६०

(२१) हमारे आयुर्वेद में भोजन के द्रव्यों का बहुत ही बारीक विश्लेषण किया है। चरक सं. सूत्र. अ. २६–२७; षड्रस भोजन के सम्बन्ध में देखो, चरक सं. सूत्र. २६।९: षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः; मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः•••।

(२२) भवभूतिके उत्तररामचरित से इस व्यवस्था का अल्प दिग्दर्शन होता है। उत्तर. ४।१: नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यःप्रसूतप्रिया—पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति। गन्धेन स्फुरता मनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः, कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते॥

(२३) लक्ष्मीधर बाजपेयी—आहारशास्त्र

(२४) चरक-संहिता सूत्र. २६।९

(२५) वही २६।३८।४०: षड्विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्। षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः॥ तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव।

(२६) वही, २६।३९: सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः॥

(२७) वही १।६७

(२८) वही ४।९

(२९) वही ४।९–१८

(३०) वही, चिकित्सास्थान, अ. २ (वाजीकरणाध्यायः)

(३१) गीता ६।१७

(३२) चरकसंहिता, शारीरस्थान, अ. ७,

(३३) वही सूत्रस्थान ७।३१–३३: शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥ ३१॥

(३४) योगासनों से शारीरिक विकास में कितनी सहायता मिल सकती है, इस सम्बन्धमें भारत में कितने ही स्थानोंमें सक्रिय प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(३५) इस दिशा में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उनके सुखद परिणाम को देख इस कथन की तथ्यता समझ में आसकती है।

(३६) गृह्यादिसूत्रों तथा अन्य साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययनसे इस कथन का स्पष्टीकरण होता है।

(३७) विभिन्न संस्कृत नाटक व महाकाव्यों में यत्र तत्र विभिन्न क्रीड़ाओं का उल्लेख आता है।

(३८) कुमारसंभव १।२९: मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च। रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥, ५।११: विसृष्टरागादधरान्निवारितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्। कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥

(३९) ऋग्वेद १।९२।४, ६।२९।३; दी कल्चरल हैरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. ३, पृ० ५८६; यजु. ३०।२१

(४०) उदयशंकर ने इस कला की जो सेवा की है व इसके उत्कृष्ट स्वरूप को विश्वके सामने रखा है यह किसी से छिपा नहीं है।

(४१) महाभारत, विराटपर्व।

(४२) आधुनिक कालमें गरबा (गुजरात), फुगड़ी (महाराष्ट्र) आदि पश्चिम व दक्षिण भारतमें अधिकांश खेले जाते हैं।

(४३) राजपूताना, मध्यभारत आदि में कितनी ही जातियों में विवाहादि के अवसर पर स्त्रियों के लिये नाचना आवश्यकीय समझा जाता है।

(४४) रामायण (बालकाण्ड) में कैकेयी के दशरथ के साथ देवासुर-संग्राम में जाने व वहां वीरतापूर्वक राजा के प्राणों की रक्षा करने की कथा वर्णित है।

(४५) रानी दुर्गावती का अकबर से व लक्ष्मीबाई का १८५७ के महायुद्ध में अंग्रेजों से वीरतापूर्वक युद्ध करना इतिहास प्रसिद्ध ही हैं।

(४६) प्राचीन साहित्य में यत्र तत्र इन मल्लशालाओं का उल्लेख आता है।

रामायण में रावण की मल्लशाला व महाभारत, पुराण आदि में कंस की मल्लशाला उल्लेखनीय है।

(४७) रामायण (बालकाण्ड)

(४८) भागवत (कृष्णचरित)

(४९) महाभारत में कितने ही स्थलों पर भीम के मल्लविद्यानैपुण्य के रोचक उदाहरण मिलते हैं।

(५०) कौरव व पाण्डवों के बालपन-वर्णन के अवसर पर ऐसी कितनी ही घटनाएँ उल्लिखित हैं।

(५१) प्राचीन व्यायामप्रणाली विकृतरूप में आज भी वर्तमान है।

(५२) गामा के कारण भारतकी मल्लविद्या के महत्त्व को पाश्चात्य जगत् भी समझने लगा है।

(५३) प्राचीन काल में शुभ अवसरों पर खेलकूदादि के जलसे होते थे।

(५४) नागपञ्चमी आदि के अवसर पर आज भी कितने ही स्थानों पर कुश्तियें होती हैं।

(५५) धनुर्वेद उपवेद माना जाता है व यजुर्वेद से सम्बन्धित किया जाता है।

(५६) रामलक्ष्मणादि विश्वामित्र के आश्रम में धनुर्विद्या सीखे थे।

(५७) द्रोणाचार्य का कौरव-पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाना महाभारत में प्रसिद्ध ही है।

(५८) ऋग्वेद १०।९०

(५९) सीतास्वयंवर में राम को, द्रौपदी-स्वयंवर में अर्जुन को व इन्दुमती-स्वयंवर में अज को अपनी वीरता व युद्धकौशल का परिचय देना पड़ा था।

(६०) राजा दशरथ, दुष्यन्तादि राजाओं का मृगया के लिये जाना इतिहास-प्रसिद्ध बात बन गई है।

(६१) प्राचीन भारतीय तैलमर्दन के बड़े शौकीन थे।

(६२) चन्द्रगुप्त मौर्य अपने दर्बार में तैलमर्दन करवाते थे। स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० १३०

(६३) यजुर्वेद ३०।२१

(६४) र्‍हीस डेव्हिड्स—बुद्धिस्ट इन्डिया; पृ० १०७–१०८
(६५) कुमारसंभव १।२९, ५।११
(६६) भास—स्वप्नवासवदत्ता अं. २, (गणपति शास्त्री, १९१६), पृ० ४०–४२
(६५ अ) मेघदूत, उत्तर. श्लो. ४ः अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः, संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥, संजी.—"रत्नादिभिर्वालुकादौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः । कुमारीभिः कृता क्रीड़ा नाम्ना गुप्तमणिः स्मृता ॥"
(६६ ब) वही, श्लो. १४ः तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
(६७) मनु. २।८८–१००
(६८) वही, २।१७७, २१५
(६९) वही, २।१८०–१८२
(७०) वही, ३।४५–५०
(७१) हनुमान्, भीष्मादि की शारीरिक शक्ति के आश्चर्यमय विकास का स्पष्टीकरण रामायण, महाभारतादि में कितने ही स्थलों पर किया गया है ।
(७२) स्वामी दयानन्द ने कितनी ही बार अपने असाधारण शारीरिक बल का परिचय दिया था । देखो, उनका जीवनचरित
(७३) बसु—इन्डो-आर्यन पॉलिटी, पृ० ११५–११८
(७४) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, प्लेट १६, नं. ४३–४६ इत्यादि
(७५) जायस्वाल, हिन्दुपॉलिटी, भा. १, पृ० ६७–६९

अध्याय १९
भारतीय संस्कृति व विदेश

(१) ऋग्वेद, १०।६५।११
(२) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति); पृ० १९३–१९४

(३) दी पूना ओरियन्टलिस्ट, जि. ८, अङ्क १–२, पृ० ५४–६४
(४) वही
(५) स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृत्ति), पृ० ३११–१६, ३६०–३६८, ३७३
(६) मनु. २।२०
(७) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० १–१५
(८) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, जि. १, पृ० ६६,६७
(९) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४०८–४२७
(१०) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ८५–१७०
(११) हॉग—एसेज़, पृ० २८०
(१२) अवेस्ता भा. १, भूमिका, पृ० ३३; गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीज़न, पृ० ९९–१००
(१३) वेनिदाद, फरगर्द, १८
(१४) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० १४७–१४८
(१५) वही, पृ० ४३–८३
(१६) हॉग—एसेज़ पृ० ४–५
(१७) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ५२
(१८) हॉग—एसेज़, पृ० १९५, एक्सोडस, ३।१४
(१९) 'यदा यदा हि धर्मस्या'दि कितने ही गीता के श्लोकों में 'अहम्' शब्द प्रयुक्त है और वह परमात्मा के अर्थ में उपयुक्त होता है।
(२०) ऋग्वेद ९।७५।१, ८।१३।२४, १०।११०।३,
(२१) निघण्टु १।१२, २।९, ३।३; निरुक्त ८।८
(२२) थॉमस टेलर—रिलीजस सिस्टम्स ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० ११
(२३) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ५६
(२४) वही
(२५) ऋग्वेद १।३२।१,२,५; निघण्टु १।१०
(२६) शोपनहॉर—रिलीजन एन्ड अदर एसेज, पृ० १११; गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ६१
(२७) हॉग—एसेज़, पृ० १९२

(२८) जेनेसिस, १।१–२६
(२९) ऋग्वेद १०।९०
(३०) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ६७ और आगे
(३१) शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१
(३२) कुरान में इस का उल्लेख हज़रत नूँ की किश्ती के नाम से किया गया है।
(३३) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ६४, हॉग—एसेज़ पृ० ३०५–३०६
(३४) मिल्स—ज़ेन्द अवेस्ता, भा. ३, पृ० १४५; गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ६४
(३५) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ७३–७५
(३६) रमेशचंद्र दत्त, एन्शन्ट इन्डिया, जि. २, पृ० ३३८; गंगाप्रसाद उपाध्याय–फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० १८
(३७) रमेशचन्द्र दत्त—एन्शन्ट इन्डिया, जि. पृ० ३३७
(३८) वही, पृ० ३३८
(३९) धम्मपद ५।१९७–२२३; मेथ्यू २३।२७, ५।४४,२३।३; ल्यूक ६।३१
(४०) शोपनहार—रिलीजन एन्ड अदर एसेज़, पृ० ११
(४१) रमेशचन्द्र दत्त—एन्शट इन्डिया, जि. २ पृ० ३३४ में उद्धृत
(४२) वही, पृ० ३३५–३३६
(४३) वही
(४४) कुरान, सूरये बकर, मंजिल १, पारा १, २
(४५) सेल—कुरान, वि. ४, पृ० ८१
(४६) गंगाप्रसाद—फाउन्टेन हेड ऑफ रिलीजन, पृ० ११–१२
(४७) वही
(४८) वही
(४९) वही
(५०) यस्न १।५९–६१
(५१) सिनोबस—एन्शन्ट सिव्हिलिज़ेशन, पृ० १००–१०१

(५२) वही, ११४–११५
(५३) वही पृ० २१४–२१५
(५४) वही, पृ० २१५
(५५) वही,
(५६) वही
(५७) वही, २१७
(५८) पारस्कर गृह्यसूत्र, विवाहप्रकरण
(५९) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२२
(६०) वही,
(६१) सर विलियम जोन्स वर्क्स, १।३६०; कोलब्रूक—मिस्लेनियस एसेज़ १।४३६; राधाकृष्णन्–इन्डियन फिलॉसफी, जि. १, भूमिका
(६२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२२–४२३,
(६३) वही, पृ० ४२३–४२४
(६४) वही, पृ० ४२४
(६५) वही,
(६६) वही
(६७) वही पृ० ४२४–४२५
(६८) वही, पृ० ४२६; कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ५१३–५१५
(६९) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२४–४२७
(७०) ऑस्कर ब्राउनिङ्ग—ए जनरल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० २७६–२८२
(७१) भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी), जि. ३, भा. १, पृ० ८०
(७२) वही
(७३) एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जि. १७, पृ० ६२६
(७४) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२६–४२७
(७५) वही, पृ० ४२७
(७६) भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी), जि. ३. भा. १, पृ० ८०
(७७) वही
(७८) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४२७
(७९) वही, पृ० ४२०–४२१

(८०) वही, पृ० ४१७
(८१) कीथ—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ३५७-३५९
(८२) मैकडॉनेल—संस्कृत लिटरैचर, पृ० ४१७-४१८
(८३) वही
(८४) वही, पृ० ४१९-४२०
(८५) वही, पृ० ४२१
(८६) चाइल्ड—दी आर्यन्स, पृ० १८
(८७) वही
(८८) वही
(८९) वही
(९०) वही, पृ० २१
(९१) वही, पृ० १९
(९२) वही, पृ० १८
(९३) ऑस्कर ब्राउनिंग—एजनरल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० १५-१६
(९४) वही
(९५) वही
(९६) सिनोबस—एन्शन्ट सिव्हिलिजेशन, पृ० २७. और आगे
(९७) भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी) जि. ३, भा. १, पृ० ८२
(९८) पूना ओरियन्टलिस्ट, जि. ८, अङ्क १-२, पृ० ५६
(९९) भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी), जि. ३, भा. १, पृ० ८३
(१००) वही;
(१०१) टाकाकासु—इत्सिंग, भूमिका
(१०२) जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी, ऑक्टोबर, १९३३, पृ० ८९७-९००
(१०३) पूना ओरियन्टलिस्ट, जि. ८, अङ्क १-२, पृ० ५८-५९; भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी) जि. ३, भा. १, पृ० ८३-८४
(१०४) वही
(१०५) वही
(१०६) वही

(१०७) वही
(१०८) कन्निङ्घम—एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया (एस. एन. मजुमदार द्वारा सम्पादित), भूमिका, पृ० ३५–३६
(१०९) भारतीय विद्या (अंग्रेज़ी), जि. ३, भा. १, पृ० ८४–८५
(११०) कन्निङ्घम—एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया (एस. एन. मजुमदार द्वारा सम्पादित) भूमिका, पृ० ३५–३६
(१११) भारतीय विद्या, (अंग्रेज़ी), जि. ३, भा. १, पृ० ८५
(११२) कन्निङ्घम—एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया, (एस. एन. मजुमदार द्वारा सम्पादित), भूमिका, पृ० ३५–३६
(११३) ऐयङ्गार—बिगिनिङ्गज़ ऑफ साउथ इन्डियन हिस्ट्री, पृ० ११३–११४
(११४) वाल्मीकि—रामायण, किष्किंधाकाण्ड, ४०।३०
(११५) कन्निङ्घम—एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया (एस. एन. मजुमदार द्वारा सम्पादित), भूमिका, पृ० २४
(११६) लेगी—फाइयान, अ. ३९
(११७) दी इन्टरनैशनल ज्यॉग्रफी बाय सेव्हेन्टी ऑथर्स (एच. एल. मिल द्वारा सम्पादित), पृ० ५६२
(११८) वही, पृ० ५६३
(११९) पूना ओरियन्टलिस्ट, जि. ८, अङ्क १–२, पृ० ६०–६३

अनुक्रमणिका।

BHARATIYA VIDYA BHAVAN

PUBLICATIONS

Bharatiya Vidya, six-monthly Indological research journal in English—Annual subscription Rs. 4/-. Vol. V in the press.

भारतीय विद्या, similar research journal in Hindi-Gujarati, published quarterly—Annual subscription Rs. 5/-. Vol. III in the press.

Bharatiya Vidya Patrika, Hindi monthly bulletin, re. topics of Hindu culture and news and views—Annual subscription Rs. 2/-. Vol. III in progress.

Visuddhimagga, of Buddhaghosachariya, 4th century Pali work on Buddhism. ed. Prof. Dharmananda Kosambi—Roy. 8vo. pp. xviii + 512, Rs. 12/8-.

Bharatesvara Bahubalirasa, oldest Gujarati poem, ed. Acharya Jinavijayaji—Roy. 8vo. pp. 24, As. 8.

Jnanadipika Mahabharatatatparyatika on the Udyogaparvan, by Devabodha, ed. Dr. S. K. De,-Roy 8vo. pp. xvi + 74, Rs. 3/-.

Bhasa, by Dr. A. D. Pusalker, a critical study of the dramatist and his works-Crown 8vo. pp. xvi + 244, Rs. 3/-.

The Schools of Vedanta, by Shri P. Nagaraja Rao, an exposition of the three systems of Hindu philosophy-Crown 8vo. pp. viii + 132, Rs. 2/-.

भारतीय संस्कृति by Prof. S. D. Gyani, A comprehensive work in Hindi on the various achievements of Hindu Culture, Crown 8vo. pp. 516, Rs. 6/-.

The Glory that was Gurjaradesha—Pt. I.—The Prehistoric West Coast—The first of four volumes of an exhaustive history of Greater Gujarat upto 1300 A. C.—Crown quarto pp. xiv + 142, Rs. 6/-.

The Glory that was Gurjaradesha—Pt. III.—The Imperial Gurjaras,—by Shri K. M. Munshi, (history of Greater Gujarat from the 6th to the 13th cent. A. C.)—Crown quarto pp. xvi + 280 and Plates 18, Rs. 15/-.

Prabandhachintamani of Merutungacharya, Sanskrit text, ed. by Acharya Jinavijayaji, Introduction etc. in Hindi,—Demy quarto pp. 148, Rs. 3/12-.

Puratanaprabandhasamgraha, collection of many historical prabandhas, ed. Acharya Jinavijayaji, Demy quarto pp. 211, Rs. 5/-.

Prabandhakosha, of Rajashekharasuri, ed. Acharya Jinavijayaji. Sanskrit text, Introduction etc. in Hindi, Demy quarto pp. 166. Rs. 4/-.

Vividhatirthakalpa, of Jinabhadrasuri, historical description of Jain places of pilgrimage, ed. Acharya Jinavijayaji-Demy quarto pp. 152, Rs. 4/4-.

Devanandamahakavya, of Meghavijayopadhyaya, historical poem completing the samasyas of Magha, ed. Pandit Bechardas Doshi, Demy quarto pp. 104, Rs. 2/12-.

Jainatarkabhasha, of Yasovijayopadhyaya, ed. with commentary by Pandit Sukhlalji,—Super Royal 8vo. pp. 108, Rs. 2/-.

Pramanamimamsa, of Hemachandracharya, with exhaustive critical Commentary by Pandit Sukhlalji, Super Royal 8vo. pp. 386, Rs. 5/-.

Akalankagranthatrayi, of Bhattakalankadeva, work on Nyaya, with Hindi Commentary by Pt. Mahendra Kumar, Super Royal 8vo. pp. 384, Rs. 5/-.

Prabandhachintamani, Hindi translation, by Acharya Jinavijayaji, Demy quarto pp. 180, Rs. 3/12-.

Prabhavakacharita, of Prabhachandrasuri, historical Jain work in Samskrit, ed. Acharya Jinavijayaji, Demy quarto pp. 242, Rs. 5/-.

Life of Hemachandracharya, of Dr. Buhler, English Translation by Dr. Manilal Patel. Demy quarto pp. 120, Rs. 3/8-.

Bhanuchandraganicharita, of Siddhichandropadhyaya, unique autobiography in Samskrit, ed. with English Introduction by Shri B. D. Desai, Demy quarto pp. 192, Rs. 6/-.

Jnanabinduprakarana, of Yoshovijayopadhyaya, a manual of Jaina epistemology, critically ed. by Pandit Sukhlalji, Super Royal 8vo. pp. 240, Rs. 3/8-.